॥ ॐ तत्सत् ॥

ब्रह्मज्ञान अपूर्व भण्डार

— लेखक तथा प्रकाशक —
श्री स्वामी आत्मदेव जी परमहंस
मोहनाश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार ।

द्वितीयावृत्ति, १००० } भादों, सम्वत् २०१८ सितम्बर, सन् १९६१ { मूल्य ४.००

मुद्रक—देवेन्द्र विज्ञानी, विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश ।

— पुस्तक मिलने के पते —
१. बाबूराम बुकसेलर, बड़ा बाज़ार, हरिद्वार ।
२. रामेश्वरदयाल बुकसेलर; बड़ा बाज़ार, हरिद्वार ।
३. रामकुमार महावीरप्रसाद बुकसेलर, धामपुर (ज़ि॰ बिजनौर) ।

विषय-सूची

भूमिका

ओम् ब्रह्मानन्दं परं सुखदं केवलं ज्ञान मूर्तिम् ।
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्वमस्यादि लक्ष्यं ।
एकं नित्यं विमल मचलं सर्वधी साक्षि भूतम् ।
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरुं तं नमामी ।

संन्यास आश्रम सुलभ प्राव्रज्यावृत्ति के कारण विचरण करता हुआ मैं सन् १९५२ में जिला हिसार जा पहुंचा । वहाँ के निवासी लाला हरचरनदास नामक एक सज्जन ने उर्दू लिपी में सन् १९८४ में लिखी हुई एक पुस्तक अर्पण की जो कि जीर्ण अवस्था में आ चुकी थी उस पुस्तक के कुछ पन्ने तो चिर विदाई भी ले चुके थे । अतः पुस्तक का पढ़ना अति परिश्रम साध्य था । वहाँ के कुछ सज्जनों ने उस पुस्तक के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रगट की और आग्रह तथा प्रार्थना की कि हे भगवन् ! आप इस पुस्तक को देवनागरी में लिख दें और इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को प्रकाश में लायें। मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और उस पुस्तक को लेकर हरिद्वार आ गया ।

भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर निर्जन स्थान में बैठकर मैं पाँच महीने में इस पुस्तक को उर्दू से हिन्दी में लिख सका और नष्ट-भ्रष्ट पन्नों को समन्वित एवं सम्बद्ध करने में अनेक कठिनाइयाँ मूर्त हो उठीं तथापि परमपिता परमात्मा की असीम अनुकम्पा से मैं इस कार्य को जैसे-तैसे पूर्ण कर सका । पुस्तक का नाम ब्रह्मज्ञान अपूर्व भण्डार रख दिया है । इस ग्रंथ में आत्मतत्वदर्शन के प्रतिबन्धों को दूर करने एवं आत्मदर्शन की विधियाँ बतलाई गई हैं । जो मनुष्य मध्यम अधिकारी हैं और आत्मतत्व का विचार एवं अनुसन्धान नहीं कर सकते, परन्तु दर्शन-शास्त्रों पर श्रद्धा रखते हैं, उनके लिये अनेक प्रकार की उपासना विधि-शास्त्रों में वर्णित की गई हैं । इस पुस्तक में भी एक ही आत्मतत्व को षोडश प्रकार से वर्णन किया गया है। जो लाभ दश उपनिषदों से देर में होता है, वही इस ग्रन्थ के द्वारा सुलभता से हो सकता है । उपनिषद् संस्कृत भाषा में होने से हिन्दी जानने वाले लाभ नहीं उठा सकते । इस पुस्तक में उनका सरल अनुवाद छपाया गया है ।

वस्तुतः इस ब्रह्मज्ञान अपूर्व भण्डार की प्रथमावृत्ति हरिद्वार की अर्धकुम्भी–सन् १९५६–में प्रकाशित हुई थी जो उसी समय समाप्त हो गई । परन्तु माँग अधिक थी । कुछ जिज्ञासु निराश होकर चले गये, पश्चात् अनेक जिज्ञासुओं के बाहर से बारम्बार पत्र आते रहे, तथापि छपाने का कोई प्रबन्ध न हो सका । अब इस समय एक धर्मानुरागी श्रेष्ठप्रवर की शुभ प्रेरणा से इस दूसरी आवृत्ति के छपाने का निश्चय हो गया ।

प्रथमावृत्ति में बारह ही अध्याय थे । किसी कारणवश चार अध्याय रह गये थे । वे अब इस दूसरी आवृत्ति में जोड़ दिये गये हैं । चौथे नचिकेता–अध्याय में वैराग्य तथा त्याग की पराकाष्ठा दिखाई गई है । राजा प्रतर्दन नाम के पाँचवें अध्याय में बोधवान को क्रियमाण कर्मों की अस्पर्शता दिखाई है । सुलभा

नाम के ग्यारहवें अध्याय में सूक्ष्म तथा कारण अहंकार के नाश हुए बिना बोध की अपूर्णता दिखाई गई है और जनक तथा उसकी रानी के सम्वादरूप पन्द्रहवें अध्याय में क्षत्रिय के लिये संन्यास का अभाव तथा स्वधर्म निष्ठा दिखाई गई है।

वस्तुतः यह पुस्तक सब उपनिषदों का संग्रह ही है जो दृष्टान्तों तथा सरल व्याख्यानों सहित अत्यन्त रोचक और जिज्ञासुओं के लिए हृदयस्पर्शी है। सामान्य भाषा जानने वाले मुमुक्षु भी इससे तत्व-ग्रहण करके कृतार्थ हो सकते हैं।

इस ग्रन्थ को श्रद्धा से पढ़कर यदि पाठकों ने लाभ उठाया तो मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी और ग्रन्थ का लिखना भी सार्थक होगा।

क्षमा-याचना

पाठकों की रुचि बढ़ाने के लिए एवं उनके कल्याणार्थ कुछ प्रसङ्गों को विस्तारपूर्वक लिखा गया है। कुछ पृष्ठों के नष्ट हो जाने के कारण उनमें उचित प्रसङ्ग अपनी बुद्धि से भी समन्वित किये हैं। शब्दों में भी अनेक जोड़-तोड़ करने का दुस्साहस किया गया है। ऐसे प्रसङ्गों के औचित्यानौचित्य का प्रमाण विद्वान् एवं अनुभवी पाठकों का विवेक ही हो सकता है। अन्त में यह कह देना भी आवश्यक है कि उपनिषद् के रहस्य-भाग का प्रवचन एवं लेखन साधारण बुद्धि के मानव के लिए अगम्य ही है, परन्तु समुचित मनोयोग एवं रुचि को तन्मुखी कर लेने पर निश्चय ही एक अनिर्वचनीय आनन्दमई भूमिका के दर्शन हो जाते हैं और इसी दर्शन में जीवन का साफल्य जान पड़ता है। इस समय संसार की यावद् विभूतियों के प्रलोभन उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। कितने सुखमय होते होंगे वे क्षण जिनमें संसार की समस्त वासनायें हृदय-पटल से सदा के लिये विलीन हो जाती होंगी और एक आनन्द, परमानन्द, केवलानन्द की अनुभूति होती होगी? इतने गहन विषय के लेखन में निस्सन्देह त्रुटियाँ हुई होंगी क्योंकि "स्खलनं भवत्येव गच्छतो हि प्रमादतः"। परन्तु "हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधीत साधवः" के सिद्धांतानुसार विद्वान् पाठक समाधान करेंगे। इस कार्य में होने वाली अशुद्धियों के प्रति जो कुछ भी अपराध है, वह मेरा है और पुस्तक से यदि पाठकों को कोई लाभ होता है तो आभार मूललेखक का है। इसमें मेरा अपना कुछ महत्व नहीं है। इतना कहकर मैं भूमिका रूपी रंगमंच से विदा लेता हूँ। इस पुस्तक का मूल्य लागत मात्र ही रखा गया है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

—आत्मदेव परमहंस

ब्रह्मज्ञान अपूर्व भण्डार

प्रथम अध्याय

ॐ पूर्ण मदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते ।।

आत्मा प्रकाश रूप है और सर्व प्रकाशों का प्रकाशक है, सर्व आधारों का आधार है, सर्व चैतन्यों का चैतन्य है, सर्व ज्ञातों का ज्ञाता है। जिस आत्मा का प्रतिबिम्ब अव्याकृत अर्थात् ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट, प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व—इन छः स्वरूपों को धारण कर स्थित है और इन छः स्वरूपों द्वारा अनेक रूप हो रहा है और फिर इनसे पृथक् होकर इनका तमाशा देखता है, सोई आत्मा है। जो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण का अनुभवी चेतन है, सोई आत्मा है। ऐसे आत्मप्रकाश स्वरूप को आत्मदेव हिरण्यगिरि नमस्कार करता है। मैंने अपने गुरु के मुख से अपने परमानन्द प्रत्यग् आत्मा का बड़ा महत्त्व सुना है। इसलिये अपने आप प्रत्यग् के जानने के लिये यजुर्वेद के ईशावास्य उपनिषद् द्वारा अपने स्वरूप को मनन किया चाहता हूं। भला क्यों? क्योंकि वेद ने भी इस आत्मा की बड़ी महिमा कथन करी है और इस आत्मा की प्राप्ति इस मनुष्य शरीर में होती है और किसी शरीर में नहीं होती जिसको जानने के लिये ब्रह्मवेत्ता गुरु की सहायता से स्वरूप का मनन किया चाहता हूँ। हे महाराज! आत्मा शुद्ध मेरा स्वरूप है, सोई तुम्हारा स्वरूप है। इस शंका का उत्तर यह है कि तू प्रथम सावधान होकर सुन—जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीन अवस्था हैं, उनमें पांच तत्वों के सात्विकी अंश से बुद्धि का निर्माण हुआ है। उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ा, उस काल में तीन हो गये अर्थात् बुद्धि, चिदाभास, अन्तर्यामी। फिर इस बुद्धि के पूर्व जन्म के संस्कारों से शरीर रूपी मकान बना। हे शिष्य! बुद्धि में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब है सो तुम्हारे प्रत्यग् आत्मा का ही है। जैसे सूर्य जल के साथ मिलने से तीन रूप हो जाता है, एक सूरज, दूसरा जल, तीसरा प्रतिबिम्ब। उसी प्रकार यह चैतन्य भी बुद्धि के साथ मिलकर अन्तर्यामी, बुद्धि और जीव कहाता है। तुमने अपनी आत्मा को बुद्धि के साथ मिलाकर भुला दिया है और अनात्म शरीर आदिकों को अपना स्वरूप जाना है। जैसे तुम पराये धर्मों को अपने में मानकर अहंकार करते हो और अन्तर्यामी परमात्मा भी तुम्हारे कर्मों के अनुसार तुमको सुख-दुःख देता है। सो बुद्धि के धर्म तुमने अपने में माने हैं—जब तुम इन धर्मों को त्यागोगे तब तुम अपने आप प्रत्यग् ब्रह्म को जान कर प्राप्त होओगे और सब प्रकाशों का प्रकाश करने वाले तुम ही ठहरोगे। क्योंकि यह आत्मा स्वयं प्रकाश, सच्चिदानन्द स्वरूप, जीवनमुक्तों का स्वरूप है। तुम भी जब इस सत्स्वरूप को प्राप्त होकर अपने आपको शुद्ध तुर्या मानोगे और अपने महत्त्व को जानोगे तब फिर तुम ब्रह्माण्ड पिण्ड से लेकर अव्याकृत

पर्यन्त एक अपने चैतन्य स्वरूप को देखने लग जाओगे—'एकोऽहं'-'ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार उच्चारण करने लग जाओगे।

शिष्य—हे गुरु! सब में अपने आपको कैसे देखें? हमको तो यह संसार भिन्न-भिन्न दीखता है।

गुरु—हे शिष्य! जब तुम दीनभाव को त्यागकर अपने महत्व को देखोगे, तब सत् स्वरूप को प्राप्त होगे। जो सत् बुद्धि का बुद्धि है, मन का मन है, चक्षु का चक्षु है, श्रोत्र का श्रोत्र है, सर्व व्यापारों का कर्त्ता है और परमार्थ से कुछ नहीं करता—जैसे कमल जल में रहता भी है और पृथक् भी है। उसी प्रकार तुम इस ब्रह्माण्ड में स्थित भी हो और पृथक् भी हो। हे पुत्र! तुम्हारे इस शरीर में ब्रह्म चार प्रकार का होकर रहता है। एक साक्षी, दूसरा अन्तर्यामी, तीसरी बुद्धि और चौथा चिदाभास। इन चारों को केवल एक जीवनमुक्त महात्मा देखता है—दूसरा नहीं। क्योंकि वही इन चारों को अपना आपा जानता है कि मैं ही चार प्रकार का होकर शरीर रूपी नगर में रहता हूँ और आकाश की नाईं इनसे प्रथक भी हूँ। जैसे चन्द्रमा और तारागण तब ही तक दीखते हैं जब तक सूर्य का प्रकाश नहीं हुआ। सूर्य का प्रकाश होते ही तारे तो नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश कुछ फीका सा दीखने लगता है, वह तत्काल नष्ट नहीं होता। उसी प्रकार शरीर-इन्द्रियाँ तभी तक दीखती हैं जब तक ब्रह्मविद्या रूपी सूर्य उदय नहीं हुआ। ब्रह्मविद्या के उदय होते ही इन्द्रियां रूपी तारे नष्ट हो जाते हैं। एक शरीर रूपी चन्द्रमा क्षणमात्र के लिये दीखता है। वह तत्काल नष्ट नहीं होता। पश्चात् एक सूर्य का प्रकाश ही शेष रहता है। उसी प्रकार यह शरीर रूपी चन्द्रमा भी प्रारब्ध को भोगता हुआ क्षण-क्षण में अदृश्य होता जाता है। तत्पश्चात् सूर्य की तरह एक साक्षी परब्रह्म स्वरूप ही शेष रहता है। जीवन्मुक्त महात्मा उस साक्षी को अपना आप प्रत्यग् स्वरूप मानते हैं, इसी कारण से निःशंक होकर साक्षी रूप से लीला करते हैं। जैसे नीलता आकाश को स्पर्श नहीं करती, तैसे ही संसार का विमोह हमको नहीं स्पर्श करता। हम प्रतिबिम्ब की तरह सब में हैं और सबसे प्रथक भी हैं। जैसे गुञ्जा के वन में बन्दर रत्तियां इकट्ठी करके अग्नि की भावना करते हुये जाड़े के दिनों में उसके चारों तरफ बैठ जाते हैं। वह अग्नि दाह से रहित है, क्योंकि केवल प्रतीति मात्र है। इससे बन्दरों को कुछ भी खेद नहीं होता और अपना काम भी कर लेते हैं। उसी प्रकार यह शरीर रूपी वन है, इन्द्रियाँ रूपी रत्तियां हैं, जीवन्मुक्त पुरुष बन्दर है। इन्द्रियां रूपी रत्तियां इकट्ठी करके अपना कार्य इनसे निकाल लेता है। वह इन्द्रियां अपनी सत्ता से शून्य केवल प्रतीतिमात्र हैं। इसी कारण से जीवन्मुक्त पुरुष को वर्तमान में कुछ कष्ट नहीं होता और अपने प्रारब्ध को भी निर्विकार हो कर भोग लेता है। यदि प्रारब्धवश कोई रोग आदि अनिष्ट आ जाय अथवा कोई लाभ हानि प्राप्त हो जाय तो अनिष्ट की प्राप्ति में शोक नहीं करते और इष्ट की प्राप्ति में हर्ष नहीं मानते। अपना प्रारब्ध समझ कर संतोष के साथ सहन कर लेते हैं। किसी को बुरा या भला नहीं कहते। स्वयं इच्छा अनिच्छा से रहित हैं। हे वत्स! विद्वान् इस प्रकार अज्ञान का नाश कर लेते हैं और आप अक्रिय, निर्विकार, ज्यों के त्यों रहते हैं।

शिष्य—हे प्रभो! वेद में ऐसा लिखा है तथा जीवन्मुक्त महात्माओं का भी अनुभव है कि आत्मा एक रस, परम आनन्द स्वरूप है। परन्तु इस प्रपंच का कर्त्ता दूसरा तो देखने में आता नहीं। आप त्रिपुटी रूप बनें तो यह प्रपंच सिद्ध हो, अन्यथा नहीं।

गुरु—हे शिष्य! सावधान होकर सुनो। जैसे मकड़ी मुख से तार निकालती है। फिर किसी

लकड़ी के साथ लगा कर आप स्वयं झूलती रहती है और जब झूल चुकती है तब अपने मुख में उस जाले को समेट लेती है। फिर तार को निकाल कर घर बनाती है और उस तार में सब चेष्टा करती है। जब उसके घर में कोई चींटी तथा मक्खी आदि फँस जाती है तो वहां से उसको तो निकलना कठिन हो जाता है, पर स्वयं मकड़ी उन तारों में नहीं फंसती। यदि मकड़ी के तार, घर और स्वयं मकड़ी के स्वरूप को देखा जाय तो सब के सब एक दूसरे से विलक्षण प्रतीत होते हैं। परन्तु जब वह तार को खा लेती है तब तार, घर और मकड़ी का स्वरूप एक ही हो जाता है, भिन्न-भिन्न नहीं रहता। यदि कुछ भिन्न रहता तो उसका कंठ रुक जाता, जाले को निगल नहीं सकती थी। इससे सिद्ध हुआ कि मकड़ी में तार को उत्पन्न और लय करने की एक शक्ति है और स्वयं मकड़ी तार की दृष्टि से निर्विकार है। उसी प्रकार परमात्मा ने भी स्फुरण रूपी माया को सृष्टि को उत्पन्न करने की आज्ञा प्रदान की। उसने आज्ञा के अनुसार अनेक प्रकार का प्रपंच बना डाला। हे वत्स! जब तक परमात्मा की इच्छा रहती है तब तक वह प्रपंच में क्रीड़ा करता है। जब प्रपंच का दुख देखता है तो अपने में लीन कर लेता है। उस काल में यह संसार उसका स्वरूप भूत हो जाता है। फिर ऐसा कहता है 'अहं ब्रह्मास्मि'। यह ब्रह्म मकड़ी की तरह स्वतन्त्र है और सर्वशक्ति सम्पन्न है। कुम्हार की नाईं इस जगत् के रचने में चाक, दण्ड, मिट्टी आदिक की अपेक्षा नहीं करता। और जो यह नाना जीव हैं, वह मक्खी और चींटी आदिक की तरह हैं। जब यह ब्रह्म की सृष्टि में प्रवेश करते हैं तो फंस जाते हैं। उनका फिर इस संसार रूपी जाल से निकलना कठिन हो जाता है। भला क्यों? क्योंकि विचार रूपी निकलने की युक्ति उनको नहीं आती। जो पुरुष मरने से पहिले ही परमात्मा की नाईं विचार रूपी युक्ति को जान लेते हैं, वे संसार जाल से निकल जाते हैं और फिर प्रवेश नहीं करते। जैसे रण विजयी उस के किले-बन्दी में आने-जाने की सब युक्ति को जानते हैं, उसी प्रकार यह जीव भी जब आने-जाने की युक्ति को जान लेते हैं तब संसार रूपी फांसी में नहीं फंसते, जन्म मरण की फांसी से निकल जाते हैं अर्थात् फिर गर्भवास में नहीं आते। संसार की तरफ दृष्टि करें तो कहाँ निर्विकार परमात्मा और कहां यह विकारी प्रपंच! इसका उसका कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं बनता। परमात्मा सत् है, प्रपंच असत् है। जैसे जल किंवा पृथ्वी एक रस है। उपाधि के भेद से अनेक प्रकार की प्रतीति होने लगी है। खट्टे के साथ मिलकर खट्टी और मीठे के साथ मिलकर मीठी होती है। जिस उपाधि के साथ मिलती है तद्रूप हो जाती है। उसी प्रकार परब्रह्म भी जिस शरीर के साथ मिला है उसी का स्वरूप हो जाता है। ब्रह्मा के शरीर के साथ मिलने से ब्रह्मा, देवताओं के शरीर के साथ मिलने से देवता, दैत्यों के शरीर के साथ मिलने से दैत्य, मनुष्य शरीर के संयोग से मनुष्य, पशु के शरीर के संयोग से पशु, पक्षी, चींटी आदि के देह के साथ मिलने से पक्षी, चींटी आदिक और वृक्ष के शरीर के साथ मिल कर वृक्ष, पत्थर के शरीर के साथ मिलने से पत्थर अर्थात् पर्वत हो रहा है। यह जो तुम को अनेक प्रकार का आकार दिखाई देता है यह सब परब्रह्म का ही स्वरूप है। पृथ्वी की नाईं परब्रह्म कहो अथवा संसार कहो, नाम, रूप, देवता, दैत्य, मनुष्य कहो, दोनों पर्याय शब्द हैं। जैसे पृथ्वी में खट्टे मीठे का भेद नहीं; नामरूप का भेद है। उसी प्रकार इस परमात्मा में भी संसार रूपी प्रपंच का भेद है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, नाम-रूप का भेद है। यह नाम-रूप भ्रम मात्र है और यह संसार नाशवान है। एक अपना आप प्रत्यग् ही सदा नित्य है। आकाश की नाईं एकरस है?

शिष्य—हे गुरु ! परमात्मा की सोलह कला कौन सी हैं ?

गुरु—हे वत्स ! पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और पांच प्राण, तीसरी क्षुधा, चौथा आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, रूप क्रम से हैं। नवीं मन, दशवीं अन्न है। ग्यारहवीं बल है, बारहवीं तप है, तेरहवीं कर्म है, चौदहवीं वेद का मंत्ररूप है और पन्द्रहवीं चौदह लोक स्वरूप है। भू-लोक मनुष्य का है, भुवः लोक गंधर्व और किन्नरों का है। स्वः लोक इन्द्र का है, महलोक ब्रह्मचारी का है, जनः लोक ग्रहस्थ का है, तप लोक वानप्रस्थ का है, ब्रह्मलोक संन्यासी का है। यह सप्त लोक ऊपर के हैं और नीचे के सात दैत्य, सप आदिकों के हैं। इनको ही सोलह कला का नाम दिया जाता है। इन सोलह कला के अन्तर्गत ही सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति और प्रलय होती है। यह प्रपंच सोलह कला वाला है अर्थात् कलारूप है। साक्षी आत्मा इन सोलह कलाओं से पृथक है। सो सबका अपना आप है। हे वत्स ! तू अपनी इन सोलह कला में ही नित्य प्रति वर्तता है और इनसे प्रथक भी है। हे वत्स ! इस संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय का प्रकार भी सुन ले। जैसे पृथ्वी में बीज बोते हैं, वह बीज फूल कर अंकुर द्वारा निकलता है। उसी प्रकार परमात्मा में भी एक बीज रक्खा हुआ है जो काल पाकर बाहर निकलता है। एक अद्वैत ब्रह्म में माया पृथ्वी स्थानीय है, समष्टि जीवों के पूर्व कर्म जन्य संस्कार और उससे उत्पन्न हुआ जो संकल्प रूप स्फुरण है वह बीज स्थानीय है और समष्टि जीवरूप हिरण्यगर्भ अंकुर स्थानीय है। आशा रूपी जल के आश्रय वह अंकुर बाहर आता है। जैसे चना, मूँग आदिक फूल कर अंकुर द्वारा बाहर निकल आते हैं और प्रथम दो पत्तेरूप होकर दिखाई देते हैं, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ से संकल्प विकल्परूप दो पत्र उत्पन्न हुए और उस संकल्प विकल्परूपी मन से सत् हुआ। सत् से ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड से चौदह लोक और लोक से समष्टि ईश्वर और व्यष्टि देवता, मनुष्य आदिक उत्पन्न हुए। फिर जीव तथा ईश्वर ने अपना अपना प्रपंच बनाया और प्रारब्ध कर्म के द्वारा प्रेरित हुए उस अपने-अपने ब्रह्माण्ड में बर्तने लगे। कोई तो ईश्वर की तरह कर्मों को करने लगा। कोई जीव की नाईं कर्म करने लगा। सब से अधिक विभूति वाले को ईश्वर कहने लग पड़े। क्योंकि वह सबका कर्ता है और थोड़ी सी विभूति वाले को जीव कहने लग पड़े, क्योंकि वह मांगता है, हाथ फैलाता है और लेकर कभी तृप्त नहीं होता, सदा ईश्वर से मांगता ही रहता है। इन जीव ईश्वर (अर्थात् ब्रह्मा) की कर्मों के अनुसार उत्पत्ति और प्रलय भी होतीरहती है। दूसरा कोई भी इनकी उत्पत्ति और प्रलय करने वाला नहीं है।

शिष्य—हे प्रभु ! अब जिस प्रकार हो सके आप जन्म-मरण का जीव से कलंक दूर करो।

गुरु—हे शिष्य ! जो तुम जन्म-मरण रूपी कलंक को नष्ट करना चाहते हो तो प्रथम निष्काम कर्म फल और आसक्ति को छोड़कर करो। इसमें एक राजा की गाथा है, वह तुम ध्यान पूर्वक सुनो। एक समय किसी राजा को सब जीवों के सुख पहुँचाने की इच्छा हुई और करुणा से पूर्ण होकर विचार करने लगा कि मेरी जो प्रजा है सब को सुख मिले, मैं कोई ऐसा उपाय करूँ। उसने बड़े-बड़े विद्वानों को बुलाया उनसे विचार किया और दूसरे-दूसरे राजाओं को भी बुलाया। विचार किया गया तो सबने मिलकर यही कहा कि महाराज अन्न के क्षेत्र खोल देने चाहियें। राजा बड़ा बुद्धिमान था। उसने अपने राज्य में जहाँ-तहाँ मार्गों पर सदाव्रत लगा दिये और मुनादी करा दी कि हमारे देश में कोई भी प्राणी भूखा न रहने पावे। जिसको इच्छा हो, वह हमारे भण्डार से अपनी रुचि के अनुसार भोजन करें। रुचि के अनुसार इसलिये मुनादी कराई कि राजा ने विचारा कि दाल, भात, साग, रोटी तो सब लोग सर्वत्र सदा

ही खाते रहते हैं। हम राजा हैं। कुछ विशेष स्वाद देने वाले स्निग्ध सुन्दर भोजन बनने चाहियें। इस कारण से इच्छापूर्वक भोजन देना चाहिये जो मेरी प्रजा खाकर प्रसन्न होवे। हे शिष्य! इस पर एक पुरानी गाथा चली आती है। किसी प्राचीन काल में एक राजा ने अपने महत्व को विचार कर दान दिया था। एक दर्जी ने राजा के अंगरखे में तनी लगा दी। राजा ने दर्जी से पूछा कि 'भाई दर्जी, इस तनी लगाने की क्या मजदूरी हुई? बतलाओ तुम को क्या देना चाहिये?' दर्जी ने कहा—'हे महाराज! आपके राज्य में रहते हैं, इसकी क्या मजदूरी लें? जरासा काम है। हम तो आपकी प्रजा हैं।' 'नहीं दर्जी, हम राजा हैं, तुमको हम से मजदूरी जरूर लेनी चाहिये। कोई हम प्रजा से बेगार थोड़े ही लेते हैं। हम कलियुग के राजा नहीं हैं'—राजा ने कहा। दर्जी बोला—'महाराज! जब आप नहीं मानते तो आपकी जो मर्जी हो सो ही दीजिये।' राजा ने विचार किया 'जो मैं अपनी तरफ ख्याल करूँ तो इस दर्जी को एक लाख रुपया मिलना चाहिये, क्योंकि मैं राजा हूं और जो इसकी मजदूरी का विचार किया जाय तो दो आना पैसा दे देना चाहिये।' ऐसा अपने मनमें राजा ने विचार करके दर्जी को अपने खजाने से एक लाख रुपया दिलवा दिया। उसी प्रकार, हे शिष्य! इस राजा ने भी विचार किया कि मैंने जो सदाव्रत लगाये हैं तो लोगों को इच्छा पूर्वक ही भोजन देना चाहिए। कोई हमको नाम तो नहीं करना है। हे शिष्य! तब उस राजा की प्रजा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि प्राणी जिसकी जैसी इच्छा होती, सोई राजा के भण्डार से इच्छा पूर्वक भोजन करता और मन में बड़ा ही प्रसन्न होता। कोई उनको मना नहीं करता और न कोई किसी को टोकता। अर्थात् यह कोई न कहता कि तू खाने का अधिकारी नहीं है। इस वार्ता को सुन कर प्रजा के लोग परस्पर चर्चा करने लगे कि ऐसा धर्मात्मा राजा पहले कोई भी नहीं हुआ, जैसा यह हुआ है। धन्य है! धन्य है!! ऐसा कह कर सम्पूर्ण प्रजा राजा से प्रसन्न तथा सन्तुष्ट रहने लगी और कहने लगी कि यह राजा बड़ा ही धर्मात्मा है। देखो भाई, इस राजा की कीर्ति तो देश-देशान्तरों में फैल गई। हे भाइयो! यहाँ तक ही नहीं, किन्तु इसकी कीर्ति तो ब्रह्मलोक तक पहुँच गई। इस कीर्ति को सुनकर ब्रह्मादि देवता बहुत ही प्रसन्न हुये और कहने लगे कि ऐसा धर्मात्मा राजा संसार में होना दुर्लभ है। ब्रह्मा ने विचार किया कि इस राजा ने निष्काम कर्म किया है। इसको कोई कामना नहीं है। इस कारण इसका अन्तःकरण स्वाभाविक दया-प्रेम से भरा हुआ है। इसी कारण से इसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। इसने सब प्राणियों की रक्षा की है, अब इस राजा को ब्रह्मज्ञान की इच्छा हुई है। इसकी इच्छा को हमें पूर्ण करना उचित है, अनुचित नहीं। कर्म तो इस राजा ने पूरा-पूरा उतार दिया है। क्योंकि कर्म तो उसी का नाम है कि जो फल से असंग रह कर किया जाय। ब्रह्मा ने फिर विचार किया कि अब इस राजा से कर्म छुड़ा कर उपासना में इसको प्रवृत्त करना आवश्यक है। जैसे अध्यापक लोक पढ़ने वाले विद्यार्थियों की परीक्षा करके नीचे की कक्षा से ऊपर की कक्षा में प्रवेश करा देते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मा ने विचार किया कि यह राजा ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो गया है। सूर्य, चन्द्रमा आदि देवताओं को बुलाकर कहा कि—"हे व्यष्टि इन्द्रियों के देवताओ! अहंकार पूर्वक अनेक प्रकार के भोगों को भोगकर तुम लोग इस राजा से प्रसन्न हो और इसको तुम लोग आशीर्वाद दो। अतः तुम लोग मेरी आज्ञा मानकर मेरी तरफ से इसको उपदेश करो जिससे यह कर्म कलाप को छोड़ कर उपासना में प्रवृत्त हो जाय। अब यह मोक्ष को प्राप्त होने वाला है। हे देवताओ! मैंने इसका भविष्य देख लिया है। ब्रह्मा की आज्ञानुसार हंस का रूप धार कर आधी रात्री के समय अपनी पंक्ति बांध

कर देवता राजा के नगर में प्रवेश कर गये। राजा अपने महल के चौबारे पर सो रहा था। चाँदनी खिल रही थी। राजा का पलंग सफेद वस्त्रों से आच्छादित था। फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध चारों दिशाओं में फैल रही थी। उस समय ऐसी शोभा हो रही थी मानो साक्षात् ब्रह्मपुरी बन गई है। जब वह देवता सफेद हंसों के रूप में राजा के पलंग के ऊपर अपनी पंक्ति लगा कर उड़े तो राजा उन हंसों को देख कर बहुत ही प्रसन्न हुआ और विचार करने लगा कि यह दिव्य मोतियों की लड़ियाँ कहाँ से आई हैं और कहाँ जा रही हैं? इतने में सब से पीछे का हंस आगे के हंस से बोला कि "हे भोले देख! अन्धे की नाई आगे नहीं चले जाना। देख भाल कर चलना चाहिये। तू देखता नहीं कि यह धर्मात्मा राजा जानश्रुति सफेद पलंग पर सो रहा है। बड़े पुरुषों को उलांघ कर जाना योग्य नहीं है। कोई अंधेरी रात्री तो नहीं है। अरे, शुक्ल पक्ष एकादशी का चन्द्रमा खिल रहा है। इस राजा की ख्याति ब्रह्मलोक पर्यन्त फैल रही है। इसके शरीर में परमात्मा ने प्रवेश किया है। इसी कारण इसको उलांघ करके नहीं चलना चाहिये। क्योंकि, हे भोले! हम लोग नीति को जानते हैं। कोई मनुष्यों के समान प्रमादी नहीं हैं कि जान-बूझ कर फिर नीति को न मानें।" यह सुनकर अगले हंस ने पीछे के हंस से कहा कि "हे भोले! मैं कोई अंधा हूँ? तू ही अंधा है। यह तूने क्या कहा कि इस जानश्रुति राजा की कीर्ति ब्रह्मलोक तक फैल रही है। अरे, इस राजा की कीर्ति क्या है? एक जरासी है, जिसको तू सुनकर बड़ा आश्चर्य चकित हो रहा है। देख, एक रैक्व नामक ऋषीश्वर गाड़ीवान की कीर्ति से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पूर्ण हो रहा है, क्योंकि उसने प्राण की अहंग्रह उपासना करके सब के प्राण को वश में कर लिया है। इसीलिये सब प्राणधारी उसके कहे में चलते हैं। हम भी तो उसके कहे में रहते हैं। क्योंकि यदि वह पुरुष अपने प्राणों का निरोध करले तो सम्पूर्ण प्राणियों का प्राण रुक जाय और संसार प्रलय के समान हो जाय। उस रैक्व महात्मा का ऐसा प्रताप है, पर ऊपर से उसकी ऐसी आकृति है कि शरीर में कुष्ठ का रोग है, कपड़े बड़े ही गन्दे रहते हैं और शरीर पर मक्खियाँ भिन-भिनाती रहती हैं, कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि जीविका के लिये गुड़ का व्यापार करता है। परन्तु शरीर की रक्षा के लिये किसी के आगे दीन नहीं होता, हाथ नहीं फैलाता कि हम को कुछ मिले। सदा शान्त आत्मा रहता है और पर्वत की कन्दरा में सदा फिरता-फिरता रहता है। एक जगह जमकर नहीं बैठता। राग-द्वेष से रहित उदासीन भाव से रहता है। उस रैक्व ऋषीश्वर की कीर्ति जैसी फैल रही है, वैसी कीर्ति भला इस राजा की कहाँ है? जब हमारे आगे उस रैक्व की गाड़ी आवेगी, तब उसके ऊपर होकर हम नहीं चलेंगे, बचकर चलेंगे। इतना ही नहीं, उसका सब प्रकार से पूजन भी करेंगे। इस राजा के समान तो संसार में कितने ही पुण्यात्मा भरे पड़े हैं। हम किस-किस से बचें। यह तो हमारा सदा का रास्ता है। हाँ, कदाचित् यह राजा भी रैक्व के समान हो जाय, तब तो इस से भी हम बचकर चला करेंगे और सब प्रकार से पूजन भी करेंगे। अब हम अपने रास्ते को नहीं छोड़ते। अधिकार के अनुसार बर्ताव करना चाहिये। हम तो देवता हैं, किस-किस से बचकर चलें?

हे वत्स! ऐसा कहते हुए वह हंस चले गये। राजा उन देवताओं के मुख से इन बातों को सुनकर अहङ्कार से रहित हो गया और शोक सहित विचार करने लगा कि अरे! हमने क्या पुण्य किया है कि जिसका मैं गर्व करूँ? इस ब्रह्माण्ड में ऐसे-ऐसे पुण्यात्मा रहते हैं कि जिनके पास न तो धन है और न कोई उनकी सहायता करने वाला है। जिनका शरीर कुष्ट से युक्त है, दिन-भर खुजाता रहता है, ऊपर से

मक्खियाँ भिन-भिनाती हैं, कपड़े भी मलीन और गन्दे हैं। ऊपर से कोई प्रसिद्ध गुण भी दिखाई नहीं देता। हमारे राज्य में रहता हुआ भी हमको ज्ञात न हो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। बस एक प्राण की उपासना के कारण उसका प्रताप या यश ब्रह्मलोक पर्यन्त फैल रहा है। उसकी कीर्ति के आगे हमारी कीर्ति तुच्छ प्रतीत होती है। हम राजा जरूर हैं, धनी भी हैं, परन्तु अनेक प्रकार के पाप भी तो हम करते रहते हैं। अनेक प्रकार का हमारे में पराक्रम है। तो भी हमारा यश उस रैक्व ऋषि के सामने तुच्छ ही है। ऐसा विचार करता, शोक के मारे रात्रि-भर न सोया। प्रातःकाल उठा और कहने लगा कि अरे! क्या मैंने कोई स्वप्न देखा है? मुझको जो सफेद मोतियों की लड़ियों ने बात सुनाई है, तो भला कहीं मोतियों की लड़ी भी बोलती-चालती सुनी हैं? हे देव क्या है? कुछ समझ में नहीं आता। इस उलझन को आप ही सुलझायेंगे, दूसरा कोई नहीं। उसी दम भाट आदिक आये और राजा का यश गान करने लगे। नक्कारे, तुरई, भेरी आदिक अनेक बाजे बजने लगे। राजा ने अपनी कीर्ति सुनकर अपने मन में विचार किया कि यह नक्कारे, तुरई, भेरी, भाट आदिक सब विभूति तो रैक्व ऋषी के दरवाजे पर शोभा पा सकती हैं। इस संसार में कीर्ति के योग्य तो वही रैक्व मुनि है। हम इस कीर्ति के अधिकारी नहीं हैं। राजा ऐसे विचार में लगा रहा, अन्दर से बाहर नहीं आया। मन्त्री लोग विचार करने लगेकि बहुत देर हो गई, अब तक महाराज बाहर नहीं आये। पता नहीं क्या कारण है? मन्त्री ने द्वारपाल से कहा—"द्वारपाल! तुम मन्दिर में जाओ और राजा के पास जाकर देखो कि उनके न आने का क्या कारण है?" तब द्वारपाल मन्त्रियों की आज्ञा के अनुसार राजा के पास गया। राजा द्वारपाल को देखकर कहने लगा "हे द्वारपाल! यह भाट आदिक जो स्तुति करते हैं और नक्कारे आदिक बाजे जो बज रहे हैं, हम उनके योग्य नहीं हैं। यह सब बाजे आदिक रैक्व ऋषि के दरवाजे पर बजने चाहियें।" द्वारपाल ने सुनकर सोचा कि आज राजा को क्या हो गया? वह कौन रैक्व है, जो यह बाजे उसके द्वार पर बजें? राजा से कहने लगा—"हे राजन! ऐसा रैक्व कौन है? हमने तो आज तक उसका नाम भी नहीं सुना। आप क्या कह रहे हैं?"

राजा बोला—"हे द्वारपाल! देवता उसका महा यश वर्णन करते हैं। ब्रह्मलोक तक जिसकी कीर्ति फैल रही है। जिसने प्राण की अहंग्रह उपासना करके सब प्राणियों के प्राण अपने वश में कर लिये हैं, इसी कारण से तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके भय से थर-थर काँपता है। इस प्रकार उसका महत्व आज रात्रि में हँसों के रूप में देवता हमको सुना गए हैं। तुम लोग उसको नहीं जानते हो। उसके सामने हमारा महत्त्व कुछ भी नहीं है। उस महात्मा का दर्शन जरूर करना चाहिये। जाओ और मन्त्री से जाकर कहो कि बहुत जल्दी उस महात्मा की खोज करो।" द्वारपाल ने कहा—"जी सरकार! अभी जाता हूँ, महाराज की जय हो! जय हो!!" माथा झुकाकर चलने लगा तो राजा ने कहा—"हे द्वारपाल! एक बात और सुनलो कि वह किसी गुफा में पड़ा होगा, खूब देख-भाल लेना; कहीं वैसे ही देखकर चले आओ। उसकी और पहिचान यह है कि उसके शरीर में कुष्ट का रोग है, खुजली की बीमारी है और गुड़ बेचकर अपना पेट भरता है। रोटी नहीं मांगता और न उसके कपड़े ही रंगे हुए हैं। साधुओं के जैसा कोई भी चिह्न नहीं अर्थात् अनाश्रमी सा है। टिककर एक स्थान पर नहीं रहता। मक्खियाँ उसके शरीर पर भिन-भिन करती रहती हैं। रैक्व उसका नाम है। इन सब चिह्नों से उसकी खोज करो और शीघ्रता से आकर हमको खबर दो।" द्वारपाल ने मन्त्री के पास पहुँच कर राजा का सारा वृतान्त कह सुनाया। मन्त्री ने राजा की आज्ञा

सुनते ही इधर-उधर, जहाँ-तहाँ हलकारे भेज दिये और कह दिया कि राजा साहब उस महात्मा का दर्शन करना चाहते हैं। बहुत जल्दी से उसका पता लगाकर लाओ। हलकारे चारों दिशाओं में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक गये पर किसी जगह भी उस महात्मा का पता न लगा। एक साल के पश्चात् वापिस आ गए और राजा से आकर कहा कि "हे महाराज! उस रैक्व का कोई भी पता नहीं लगा। कोई मनुष्य भी उसका पता नहीं देता। जिससे भी हम पूछते हैं, यही कहता है कि हम नहीं जानते।" राजा कहने लगा कि "जिसकी कीर्ति ब्रह्मलोक तक फैल रही है, वह तो सर्वत्र प्रसिद्ध होना चाहिये। देवताओं की वाणी मिथ्या नहीं हो सकती। हे द्वारपालो! तुम लोग फिर जाओ। उत्तर दिशा में किसी पर्वत की कन्दरा में एकान्त में पड़ा होगा। जाकर उसको देखो, जरूर मिलेगा। बैठना नहीं चाहिये।" तब सब हलकारे जगह-जगह खोजते हुए हिमालय पर्वत की कन्दरा में खोज करने लगे। खोजते-खोजते देखें तो एक पर्वत की छोटी-सी गुफा में पड़ा हुआ है। शरीर में कुष्ट है, कपड़े पुराने, मलीन तथा फटे हुए और मक्खियों की भरमार है। दोनों हाथों से कोढ़ को खुजा रहा है। हलकारे नमस्कार करके उसके पास बैठ गए। नम्रता सहित सब वृतान्त पूछा और राजा से आकर सब हाल कह सुनाया। द्वारपाल बोला—"हे राजन्! आप चलिए और रैक्व मुनि का दर्शन करिये।"

राजा यह खबर सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और द्वारपालों को बहुत-सा इनाम दिया। दो सहस्र गौ और रत्नों की माला तथा बहुत-सा धन और मोती साथ लेकर रैक्व के दर्शन को चल दिया। वहाँ जाकर सब सामग्री ऋषि के सन्मुख रख बड़ी नम्रता सहित नमस्कार करके स्तुति करने लगा "हे भगवान आप सर्वात्मा, सत् स्वरूप, गम्भीर, उदार, दयालु हैं। महाराज आज मेरे बड़े भारी भाग्य उदय हुए जो आपका दर्शन हुआ। आप सब प्राणियों के आधार अर्थात् अधिष्ठान हो।" बस प्रकार स्तुति करके फिर राजा ने कहा—"हे प्रभो! हम आपके पास प्राण की विद्या का उपदेश लेने के वास्ते आये हैं। सो कृपा करके आप सब अङ्गों सहित उपदेश करिये। हमको यह उपासना करने की अत्यन्त अभिलाषा है। देवताओं के मुख से हमने आपका बड़ा भारी यश सुना है।" यह बात राजा की सुनकर रैक्व मुनि एक दम क्रोध में भर गया और बोला कि "हे राजा! तू यह धन देकर प्राणविद्या को लेना चाहता है। तू ने समझा होगा कि यह कोई कंगाल-सा दिखाई देता है। थोड़े धन से यह प्रसन्न हो जायगा। सो इस धन से तू सारे ब्रह्माण्ड की विद्या मांगता है और उस विद्या के बदले में यह तुच्छ धन देता है। तू इस विद्या का महत्व नहीं जानता। हे शूद्र! तू हमारे पास से चला जा। हमने पहले से ही जान लिया था कि तुमने कर्म बहुत उत्तम किये हैं जो तुमको इस प्राणविद्या की इच्छा हुई है। परन्तु आश्चर्य है कि इतनी महान विद्या को इस तुच्छ धन के बदले में लेना चाहते हो। इसी बुद्धि के भरोसे तुम यहाँ आये हो और प्राण विद्या सीखना चाहते हो? ठीक है कि राजाओं को कुछ अक्ल नहीं हुआ करती। यह लोग भैंस के दादा गोबर गणेश होते हैं। आया है यहाँ प्राणविद्या सीखने के लिये! भाग जा और अभी यहाँ से चल खड़ा हो।" इतनी बात सुनकर राजा जानश्रुति अपना-सा मुँह लेकर अपने नगर में चला आया। कुछ काल विचार करता रहा कि अब क्या करें? कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिये कि जिससे ऋषि रैक्व प्रसन्न हों। यह द्रव्य का तो लालची है नहीं। विचार करते-करते यह निश्चय हुआ कि इस ऋषि की सेवा करने वाला कोई नहीं है। तमाम शरीर में कुष्ट हो रहा है। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि इसको स्त्री की इच्छा है। क्योंकि स्त्री के समान प्रेम सहित और कोई सेवा नहीं कर सकता। इस कारण से अपनी पुत्री को इस ऋषि

सेवा में देना चाहिये। यह कैसे हो सकता है? वह ऐसे कुष्टी को भला क्यों अंगीकार करेगी? ऐसा विचार कर एकदम शोकसागर में डूब गया और धीरे-धीरे अपनी सब क्रिया और इन्द्रियों के रस संयुक्त विषयों को त्याग बैठा।

राजा का शरीर दुर्बल होकर मुख की कान्ति नष्ट होने लगी। जैसे कमल सूखकर पीला पड़ जाता है वैसे ही राजा का मुख पीला पड़ गया। राजा की यह दशा देखकर मंत्री तथा कर्मचारियों ने पूछा कि 'हे प्रभू! यह आपको क्या हुआ? पहले तो आप बहुत प्रसन्न रहते थे। आप तो रैक्व मुनि के दर्शन करके उदास रहते हो। इसका क्या कारण है? आपको क्या दुःख प्राप्त हुआ है कि जिससे आप शोक मग्न रहते हो।' इतनी बातें सुन कर राजा कहने लगा कि मुझको और मेरे क्षात्रबल को तथा राजबल को भी धिक्कार है। मैं समझ गया कि मुझ में जो अहंकार है इसने मुझको दीन किया है। इसी महा दुष्ट ने मुझको बड़ा नीचा भी दिखाया है। यह अहंकार अज्ञान से उदय हुआ है। जो कुछ मैंने अहंकार से भजन-पूजन तथा दान-पुण्य आदि किये हैं वह सबके सब व्यर्थ हैं। इससे परमार्थ की सिद्धि नहीं होती। जैसे राख में आहुति व्यर्थ हो जाती है, वैसे ही मैं इसको मानता हूं। इस सब का बीज शरीर अभिमान है और शरीर अभिमान के कारण ही मुनि ने मुझको शूद्र कहकर धिकारा है। शान्ति रूपी चन्द्रमा के ढकने को यह अहंकार राहू रूप है। जब राहू चन्द्रमा को ग्रसित करता है तब उसकी शीतलता और प्रकाश ढक जाता है। वैसे ही जब अहंकार बढ़ जाता है तब समता आदि गुण भी ढक जाते हैं। बहुत ही अच्छा हुआ कि जो मुनि ने मुझ को धिक्कारा। अहो! बड़ा आनन्द हुआ। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः। अहा, बड़े दिनों के पश्चात् समझ आई। जैसे सर्दी के दिनों में तालाबों का जल शुद्ध हो जाता है, वैसे ही राजा का चित्त अहंकार रूपी मल से रहित निर्मल हो गया। एक दिन राजा रानी के महल में चले गये। रानी ने उठकर राजा का पूजन किया और सुन्दर आसन देकर कोमल शब्दों में पूछने लगी—"हे राजन्! यह आपकी क्या दशा है? आपको क्या दुःख है?" रानी भी राजा की दशा को देखकर बड़ी दुःखी हुई और कहने लगी कि हाय-हाय, राजा की यह क्या दशा हुई है? इसका क्या कारण है? कुछ समझ में नहीं आता। रानी कहने लगी कि हे राजन् आपको क्या चिन्ता है कि जिससे आप दुखी हुए हो? राजा बोला कि हमको तो कोई भी चिन्ता नहीं है। हम तो आनन्द में मग्न हैं।

राजकुमारी भी वहीं पर बैठी थी। झट-पट उठकर राजा से लिपट गई और गोदी में बैठकर कहने लगी—'हे पिता जी! आप उदास क्यों रहते हो? राजा ने कहा—"नहीं बेटी, हम तो उदास नहीं रहते।" राजकुमारी बोली—"ऊँ-ऊँ, नहीं पिता जी बताना पड़ेगा। लो मैं भी नहीं बोलती और न खाना खाऊँगी। राजा ने समझाया "नहीं बेटी, बच्चे ऐसी हट नहीं किया करते। तुम बच्चा हो ना।" राजकुमारी बोली "नहीं पिता जी, चाहे कुछ हो आज तो बताना ही पड़ेगा।" रानी ने कुछ हंस कर बातें कीं—तो राजा कुछ नहीं बोला और कहने लगा—"अरे, न राज्य सत्य है, न यह जगत सत्य है और न भोग ही सत्य है। न रानी सत्य है, न भ्राता ही सत्य है और न मित्र। अरे, मिथ्या पदार्थों के निमित्त मूर्ख मनुष्य ही प्रयत्न करते हैं, वैराग्यवान् नहीं। जिन पदार्थों को सत्य और सुख दायक जानते हैं, वह सब बन्धन के कारण हैं। जो भोग पदार्थ हैं, वह रोग हैं। जो लोग स्त्री-पुत्र, राज-पाट देख कर प्रसन्न होते हैं, वह पशु हैं। यह लोग आशा रूपी फांसी से बंधे हुए हैं। हे रानी! तुम लोग

इससे छूटने का उपाय करो। इसमें सुख कदापि नहीं है। मैं तो बे प्रयोजन मारा गया। अरे मूर्खों, तुम संसार समुद्र में क्यों डूबते हो? अरे यह संसार अनर्थ का कारण है। ओ३म् आनन्द! आनन्द!! आनन्द!!! अहा-हा, परम शान्ति मिली। राजकुमारी बोली—"हे पिताजी! यह आपको क्या हुआ? आप तो बड़े बुद्धिमान और उदार आत्मा हैं और फिर दुखी हो। बड़े आश्चर्य की बात है। हे पिताजी! मैं आपकी प्यारी पुत्री हूँ। आप मुझ से अपने शोक का कारण कहो। सम्भव है कि मैं आप की इस चिन्तारूपी अग्नि को शान्त कर सकूं।" राजा बोले—"हे बेटी, बच्चों को क्या बतलावें?" राजकुमारी बोली—"नहीं पिता जी बतलानी ही पड़ेगी। यदि आप नहीं बतलाओगे तो मैं भी अन्न जल छोड़कर बुत बन कर बैठ जाऊँगी और जब तक आप अपनी चिन्ता का कारण नहीं बताओगे, मैं भी अपनी प्रतिज्ञा से नहीं हटूंगी।" राजा ने कहा—"ठीक है, लोक में बालहट, राज हट, तिरियाहट—यह तीन हट हैं। सो बालहट सबसे बलवान है। अब तो कहना ही पड़ेगा। राजा ने रानी से कहा 'हे प्रिय, तुम्हारी बेटी कैसा हट कर रही है?" रानी बोली—"हे राजन्! ठीक कहती है। बच्चों को हट स्वभाव से होती है। बतलाते क्यों नहीं? यदि आप नहीं बतायेंगे तो आज से मैं भी शृंगार करना छोड़कर उपवास करूँगी।" राजा ने विचार किया कि अब तो बतलाना ही पड़ेगा। गुप्त रखना ठीक भी नहीं है। क्योंकि बालहट, तिरियाहट प्रसिद्ध हैं। अब सब वार्ता कह देनी चाहिए। राजा बोला "हे रानी, मैंने एक समय देवताओं से रैक्वमुनि की प्रशंसा सुनी थी जो कि प्राण उपासना में बड़ा ही कुशल है। सो मैंने उसको कर्मचारियों द्वारा तलाश कराकर बहुत सा धन लेकर उसके पास गया और मैंने बड़ी नम्रता पूर्वक नमस्कार किया और कहा—मुनि प्राण विद्या की उपासना मुझको भी बतलाइये। इस बात को सुन वह एक दम क्रोध में भर गया और मुझको शूद्र कहकर धिक्कारा। मैं वहां से चला आया। उस दिन से ही मेरा मन चिन्ता से युक्त रहता है। क्या उपाय करें कि जिस से मुनि प्रसन्न हो। हे बेटी, यह तो मैं समझ गया कि मुनि ने मुझको जो शूद्र कहा था, वह शास्त्र दृष्टि से कहा था। शास्त्र में शरीर अभिमानी को शूद्र कहा है। जो शोक करे वह शूद्र ही है, न कि क्षत्री। हे बेटी, इस कारण मुनि ने मुझको जो शूद्र कहा सो उचित ही है। अनुचित नहीं। हे बेटी, मैंने काम-क्रोध शत्रुओं को वश नहीं किया। अनात्मज्ञ हूं। शरीर अभिमानी हूँ। हे बेटी, कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मुनि को अपनी सेवा के लिए एक स्त्री की जरूरत है, क्योंकि उसको कुष्ट का रोग है। दिन भर खुजाता रहता है। हे बेटी, वैसे तो रैक्व मुनि महान आत्मा है। इस से ब्रह्मविद्या अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। यह विचार करते हुए यह भाव उत्पन्न हुआ कि अपनी जो कन्या है, मुनि की सेवा में अर्पण कर देनी चाहिए। यदि वह इस बात को स्वीकार करें तो मैं आशा करता हूं कि वह मुझको प्राणविद्या दे देंगे। लड़की के देने में लड़की का भी कल्याण है और मेरा भी कल्याण है। अकल्याण नहीं। और हे बेटी, मैं यह भी सोचता हूँ कि यदि मैंने किसी राजकुमार के साथ में इसकी शादी कर दी तो इसका जीवन नष्ट हो जाएगा, क्योंकि एक तो राजा लोग दुर्विषयी होते हैं। विषयी होने से उनका जीवन थोड़ा होता है। ऐसी लड़की राजाओं को नहीं देनी चाहिए। मेरी कन्या विदुषी है और धर्म के रहस्य को बहुत अच्छा जानती है। ऐसी कन्या रैक्वमुनि की सेवा में रहने से इसकी विद्या भी सफल हो जाएगी और इसका परलोक भी बन जाएगा। हे बेटी, यह मेरा अपना विचार है। इस संकल्प-विकल्प के आन्दोलन ने मुझको एक ऐसी चिन्ता में डाल दिया है कि इसकी कोई औषधी नहीं पाता हूँ।

राजकुमारी ने कहा—"हे पिता जी! जैसे आपका धन, गौ, अश्व, गज, राज, भूमि, पुत्र आदि हैं, उसी प्रकार मैं आपकी पुत्री भी आपका धन हूँ। जिसको भी आपकी देने की इच्छा हो, दान कर दीजिये। मेरे को किंचित भी शोक नहीं होगा। माता-पिता तो अपनी सन्तान के लिये हित की ही बात सोचा करते हैं। मैं भी रैक्वमुनि की सेवा करके अपने मानव-जीवन को सफल करूँगी और आपका भी परम कल्याण होगा, इससे श्रेष्ठ और कौनसी बात है? मैं तो आपके ऐसे उदार वचन सुन कर बड़ी प्रसन्न हुई। मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है कि जो मुझको रैक्वमुनि की सेवा मिल जाय। भगवान ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है। मेरा कोई पिछला पुण्य उदय हुआ है कि जो आपके चित्त में ऐसा भाव प्रगट हुआ है। हे पिता जी! संसार के भोग तो नाशवान हैं। प्राणी भोगों को नहीं भोगता, किन्तु भोग ही प्राणी को खा जाते हैं। हे पिता जी! हम और आप अनन्त जन्मों से संसार के भोग भोगते आये हैं परन्तु आज तक तृप्ति नहीं हुई। हे पिता जी! कभी-कभी मेरे मन में भी यह विचार हुआ करता था कि किसी ब्रह्मज्ञानी की सेवा करके मानव-जीवन को सफल बनाना चाहिये। मेरा मनोरथ आज सफल हुआ है। मैंने भूतकाल के जन्मों में भगवान की निष्काम भक्ति की थी कि जो आपके मन में ऐसा विचार आया। हे पिता जी! यह शरीर आपका है, मेरा नहीं है, क्योंकि आप ही इसके जन्मदाता हैं। आप इसके मालिक हैं। रैक्वमुनि को अवश्य दान कर दीजिये। मैं सहर्ष कहती हूँ। मैं रैक्वमुनि की तन-मन से श्रद्धा तथा उत्साह के साथ सेवा करूँगी। राजा जानश्रुति बोले कि हे बेटी! मुनि के शरीर में खुजली वाला कुष्ट है। तुम उससे तो घृणा नहीं करोगी? राजकुमारी ने कहा, हे पिता जी! कदापि नहीं, प्रत्युत हे पिता जी! जैसे पार्वती ने शिव की सेवा की थी, उसी प्रकार से करूँगी। हे पिता जी! उज्ज्वल पात्र अनन्त साधु तपस्वियों में कोई विरला होता है। जितने भी मनुष्य हैं वह सब पशु से दृष्टि में आते हैं क्योंकि जिसको संसार-समुद्र से पार होने की उत्कट इच्छा है और जो पुरुषार्थ करता है, वही तो मनुष्य है। हे पिता जी! वृक्ष बहुत हैं, परन्तु चन्दन का वृक्ष कोई होता है। वैसे ही शरीरधारी तो बहुत हैं, परन्तु आत्मा की खोज करने वाला कोई विरला ही होता है। बड़े-बड़े वेषधारी साधु पण्डित सबके सब हाड़-माँस-रक्त के पुतले से मिले हुए इधर-उधर भोगों के लिये भटकते फिरते हैं। जैसे यंत्र की पुतली होती है वैसे ही अज्ञानी जीव हैं। हे पिता जी! ऋषि-मुनियों की सेवा बिना जीव पञ्चक्लेशों से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। देखो न, मैत्रेई ने याज्ञवल्क्य मुनि की सेवा करके ही संसार के जन्म-मरण भयंकर रोगों से मुक्ति पाई। हे पिता जी! मैं तो विचार किया करती थी कि मैं राजकुलों में उत्पन्न हूँ, कहीं पिता जी इन विषयी राजकुमारों को न दे दें, क्योंकि राजकुमारों का जीवन अल्प होता है और राजकुमारियों को सदैव के लिए बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। काम, क्रोध तथा अहंकार आदि का तो दरवाजा खुल जाता है और जीवनकाल में ही नर्क की यातनायें भोगनी पड़ती हैं। हे पिता जी! आप जैसे धर्मात्मा राजा की सन्तान होकर क्या मैं अनित्य संसार के सुखों में मूर्खों की भांति अपनी आयु को नष्ट करूँगी? क्या यही मानव जीवन की पराकाष्ठा है कि खाकर सो गए, सोकर उठे, टट्टी गए, खाया-पिया, फिर सो गए। कदापि नहीं। यह तो पशुपना ही है, न कि मनुष्यपना। इस अनित्य नाशवान शरीर को सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से तथा भूषणों से अलंकृत करना और अपने को जेष्ठ-श्रेष्ठ जानना तथा मानना अति मूर्खता है। हे पिता जी! देखो यह जीव कितना मिथ्यावादी है कि माता के उदर में जब यह आठ मास का होता है, उस काल में इसको जन्म-जन्मान्तरों की स्मृति हो आती है। उन जन्म-जन्मान्तरों को स्मरण करके और उनके कष्टों को

याद करके यह बड़ा ही दुखित होता है। गर्भ के कष्टों को अनुभव करके अन्तर्यामी भगवान से प्रार्थना करता है कि हे पतित पावन, दया सिन्धु, कृपा निधान, मुझको इस कष्ट से बचाओ, मैं आपका ही होकर रहूंगा। अब संसार में नहीं फसूँगा। परन्तु गर्भ से बाहर आकर कुछ काल के पश्चात् ही इतना ढीट हो जाता है कि ईश्वर को भी नहीं मानता। धर्म-कर्म को त्याग कर खाने, पीने तथा शौक में पड़कर परलोक को भी नास्ति कहने लग जाता है। हे पिता जी! देखो यह जीव कितना ढीठ है। जिन बर्तनों में खाता है, उनमें ही छेद करता है। जिस भगवान ने हमको मानव चोला पहराया है, उसकी रक्षा के लिए आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी प्रदान किये हैं, उस भगवान को नास्ति कहना कितनी बज्र मूर्खता है। उसको अपने शरीर के सिवाय और कोई दीखता ही नहीं। हे पिता जी! ऐसे असत् प्रत्यक्षवादी के लिये ही नर्क में अग्नि के कुण्ड तैयार हुए हैं कि जिन में यह फेंका जायगा। हे पिता जी! यह शरीर गुणों और इन्द्रियों की तहसील है और इसमें वात, पित्त, कफ—इन तीनों धातुओं का त्रिकूट है। इसी में पाँचों महाभूतों का मिश्रण हुआ है, जो कि बहुत ही भयङ्कर हैं। यह पाँच डंकों वाले बिच्छू के समान हैं। इसको पाँचों तरफ से सुलगाने वाली भयङ्कर अग्नि ही समझना चाहिये। इस प्रकार के शरीर में रहकर भला कौन ऐसा होगा कि जो नित्य बुद्धि की छुरी अनित्य भाव के पेट में भोंक कर निश्चिन्त हो जायेगा। अस्तु!

हे पिताजी! आपने रैक्वमुनि की सेवा के लिए जो मुझ से कहा है सो क्या पुण्यात्मा लोग जब किसी वस्तु का दान करते हैं, तो उस वस्तु से पूछा करते हैं? कदापि नहीं। जैसा दान होता है, उसी प्रकार के पात्र को पहुंच जाता है। यदि शुद्ध धन होता है तो शुद्ध पात्र को पहुँच जाता है और यदि अशुद्ध धन होता है तो वह अशुद्ध स्थान में चला जाता है। अस्तु, हे पिता जी! मैं समझती हूं कि आप जैसे धर्मात्मा की मैं राजकुमारी, आपकी पुत्री, शुद्ध धन हूँ। भला मैं अशुद्ध राजकुमारों को कैसे प्राप्त हो सकती हूँ? कदापि नहीं। अहा-हा! हे प्रभू, आपको धन्य हो। मेरा कोई पूर्व का पुण्य फल है। हे पिता जी! मुझको आशा है कि मुनि रैक्व मुझ दासी को अवश्य स्वीकार करेंगे और आपको ब्रह्म उपासना की विधि का उपदेश करेंगे। हे पिता जी! मुनि ने जो आपको शूद्र कहा था, वह शास्त्र दृष्टि से ठीक ही कहा था। क्योंकि जब तक शरीर अभिमान है तब तक चाहे वह क्षत्री या ब्राह्मण किंवा द्विज भी हो, शूद्र ही है और जब तक शरीर अभिमान है, शोक से मुक्त नहीं रह सकता, वह शास्त्र दृष्टि करके शूद्र ही है। द्विजाति नहीं। आप शोक का त्याग करो और प्रसन्न हो। हे पिताजी! जिसको स्थूल देह का अभिमान है, जो अपने प्रत्यग् आत्मा को नहीं जानता, संसारी विषयों में काल को खोता है, शरीर की रक्षा करने में ही मानव जीवन की सफलता समझता है और शरीर की रक्षा के लिए ही दिन रात तजवीजें सोचता रहता है तथा जिसको लोक-परलोक की खबर ही नहीं है, जो यह समझता है कि कहीं शरीर को कष्ट न हो जाय, शरीर दुबला पतला न हो जाय, स्थूल शरीर ही मैं हूँ, हे पिताजी! ऐसा मनुष्य बिना पैसे का गुलाम है। इन लक्षणों से युक्त को शूद्र कहा है। अर्थात् जो प्राणी सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषणों से शरीर को सजाते रहते हैं वह संसार के गुलाम ही हैं, सदा रोते चिल्लाते रहते हैं। ऐसे रुदन करने वाले मनुष्य को शूद्र कहा है। इसी कारण मुनि ने आपको शूद्र करके सम्बोधन किया। हे पिताजी! मैंने पिछले जन्मों में दुर्गा माता की आराधना की थी कि हे माता! आप घट-घट के भावों को जानती हो, मैं तो यही चाहती हूं कि आप मुझको अनात्मज्ञ, अज्ञानी, मूर्ख जीवों का संग मत होने देना। यदि अब

के मेरा जन्म हो तो, हे माता! तुम मुझको किसी ऋषि की सेवा में अर्पण करना ताकि उनकी सेवा करके मैं तुझ में अभेद भाव से आ मिलूँ। हे पिताजी! शीघ्रता से मुनि के पास चलने के लिये तैयारी कीजिए। आप मंत्री को आज्ञा करें कि वह मुनि की भेंट के लिए सब सामग्री लेकर, धूम-धाम के साथ तैयार हो जाय।

राजकुमारी के ऐसे उदार वचन सुन कर राजा बड़ा ही प्रसन्न हुआ और कहा कि हे बेटी! तुमको धन्य है कि जो तुमने ऐसे उदार वचन कहे। हमने आज तक सन्तान से ऐसे वचन नहीं सुने। हे बेटी! लो मैं चलने की तय्यारी करता हूं। राजा के चले जाने पर राजकुमारी महल के अन्दर जा कर और दुर्गा देवी के सन्मुख बैठ कर प्रार्थना करने लगी—"हे माता! तू शुद्ध, सुप्रसिद्ध, उदार और अखंड आनन्द की वर्षा करने वाली है। आप अपने भक्तों का सब प्रकार से कल्याण करती हैं और आप ही जन्म-जरा-मरणरूपी मेघ मंडल का नाश करने वाली प्रचंड प्रभञ्जन वायु हैं। हे माता! आप समस्त अमंगलों का नाश करती हैं। आप तो काल की सामर्थ्य को भी टाल देती हैं। मैं तुमको नमस्कार करती हूं। हे माता! तुम अत्यन्त प्रेमपूर्ण होने के कारण अपने सेवकों की कामना को पूर्ण करने वाली कल्पलता हो। मैं तेरी शीतल छाया कभी नहीं छोड़ूंगी। हे माता! तुम तो वैभव वाली हो। तुम मुनि के हृदय में बैठ कर प्रेरणा करो कि जो मुझको वह अपनी सेवा में स्वीकार कर लें। हे माता! जिनकी योग समाधि के द्वारा इस नाम रूपात्मक जगत का बंधन टूट जाता है और संसार से सदैव के लिए छुटकारा मिल जाता है, ऐसी आप श्री दुर्गा माता को मैं दासी नमस्कार करती हूं। हे माता! वेद ही तुम्हारा प्रतिपादन कर सकते हैं। मैं तो केवल आपको नमस्कार के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। आप तो ऐसी आत्मस्वरूप हो कि जिसका ज्ञान केवल स्वानुभव से ही हो सकता है। हे माता! यह नम्र सेविका आपकी शरण आई है। मुझको आप स्वीकार कर लें और कुछ नहीं चाहती।"

हे वत्स! राजा जानश्रुति ने राजकुमारी की आज्ञानुसार मंत्री को बुला कर कहा कि हे मंत्री! रैक्व मुनि के दर्शन करने के लिए साज-समाज सहित चलने की शीघ्र तय्यारी करो। मंत्री बोला—"जी सरकार, अभी तय्यारी करता हूं।" राजा अपनी राजकुमारी को तथा कुछ गौ, धन, द्रव्य तथा वस्त्र आदिक बहुत सी सामग्री ले कर बाजे-गाजे सहित चल दिया और रैक्व मुनि के पास जाकर बड़ी नम्रता पूर्वक विनती की। हे वत्स! और भी सब प्रकार से मुनि को प्रसन्न किया और कहा—"हे प्रभु! मेरी वाणी ने अनेक कल्पों तक सत्य बोलने का व्रत धारण किया था और मन ने भी अनन्त कल्पों तक शंकर भगवान की आराधना की थी। इसी कारण से आपके फटकारे जाने पर भी मुझको फिर आपके दर्शन करने की इच्छा हुई है। हे मुनि! मैंने कोई बहुत ही अलौकिक पुण्य सम्पादित किया था और उसी पुण्य ने आपके पास आने की बुद्धि दे कर मुझको आज यह दिवस दिखाया है। हे मुनि! मैं इस जीव अवस्था के वन में प्रविष्ट हो कर मृत्यु के गांव में फँस गया था। वह दुर्दशा का चक्कर आपके दर्शन मात्र से बिलकुल दूर हो गया। मैं यह भी समझता हूँ कि आपका उपदेश इस उद्दण्ड विश्व के आभास को पूर्ण रूप से नष्ट कर देगा। हे मुनि! आप सब से श्रेष्ठ हैं तथा सबके पूज्य हैं। हे प्रभो! आप अपनी दयालुता की तरफ देखो, मेरी लघुता, मूर्खता, अज्ञानता, अनाथ दीनता के ऊपर दृष्टि मत करो। मुझको इस संसार के जेलखाने से छुड़ाइये। मैं आपकी शरण में आया हूँ। इस भेंट को स्वीकार करो। हे मुनि! प्रथम मुझको अज्ञान से अहंकार रूपी पिशाच का संयोग हुआ था, इस कारण से मुझको इस

हाड़-माँस के पुतले में आस्था हुई थी। हे मुनि! यह नियम की बात ही है कि जब अहंकार रूपी पिशाच गर्जता है और गर्ज कर तृष्णा की वर्षा करता है, उस काल में तृष्णा रूपी कांटे बढ़ जाते हैं। हे महाराज! जब अहंकार का नाश हो, तब तृष्णा का भी नाश हो। हे मुनि! जैसे बीज से प्रथम अंकुर होता है, फिर अंकुर से वृक्ष होता है। उसी प्रकार अहंकार से शरीर की और शरीर से अहंकार की आस्था हुई है। इसलिये, हे मुनि! मुझको वही उपाय कहो कि जिससे अहंकार रूपी पिशाच का नाश हो। हे मुनि, जैसे बिजली स्थिर नहीं रहती वैसे ही शरीर भी स्थिर नहीं रहता। अतः इसकी मैं इच्छा नहीं करता। इसका अभिमान मैंने त्याग दिया। जैसे कोई पक्षी सूखे वृक्ष को त्याग देता है, वैसे ही मैंने अहंता तथा ममता का त्याग किया है। हे मुनि, ऐसे हाड़-माँस युक्त शरीर को पुष्ट करना दुःख का निमित्त है। यह शरीर किसी अर्थ नहीं आता। यह केवल जलाने योग्य है, जैसे सूखी लकड़ी जलाने के सिवाय और काम में नहीं आती। हे मुनि, जिसको मूर्ख प्राणी सम्पदा जानते हैं, वह सब असत्य है। हे महाराज, जिन स्त्री-पुत्रों को मूर्ख मित्र जानते हैं, वह सब बन्धन करने वाले हैं। इन्द्रियां महाशत्रु रूप हैं। यह शरीर विकार रूप है। मन चंचल और सदा अशान्त रूप है और अहंकार महा नीच है। इसने मुझे दीनता को प्राप्त कराया है। हे मुनि, बस विचार के बिना मनुष्य अपना नाश आप करता है। बड़े बड़े पर्वत, समुद्र, यक्ष, राक्षस, दैत्य, दानव, गंधर्व, देवता, अग्नि, वायु, पृथ्वी, यम, कुबेर, रुद्र, सिद्ध, गन्धर्व, वरुण, इन्द्र, ध्रुव, चन्द्रमा, सूर्यादि तथा जगत के कर्त्ता ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु इन तक को भी काल भक्षण करता है। काल की स्त्री, सबका आधार आकाश और जितना भी जगत् है—यह सब के सब नष्ट हो जायेंगे। तो मेरी भला किस में गिनती है? हे मुनि, जैसा रोग होता है उसी के अनुसार जो औषधि होती है तो रोग निवृत्त होता है और कुपथ्य से रोग बढ़ जाता है। इसलिये महाराज, मेरे रोग के अनुसार औषधि करो। हे मुनि, ज़रा मेरा रोग तो सुनलो। यह बुढ़ापा और मौत मुझको बड़ा रोग है। इसके नाश की औषधि मुझ को दीजिए। यह स्त्री, पुत्र, धन, राज, पाट, आदि भोग तो रोग के बढ़ाने वाले हैं। हे मुनि, जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि बढ़ती है, उसी प्रकार भोग से तो जरा-मृत्यु आदि रोग बढ़ते हैं। इसलिये मेरे रोग की निवृत्ति करो। मैं आपकी शरण आया हूँ। यदि आप नहीं करोगे तो मैं यहाँ ही धरना देकर अपने प्राण त्याग दूंगा। अब की बार वापिस नहीं जाऊँगा। हे मुनि, अज्ञान की अवस्था को लेकर जीवन को धारण करना व्यर्थ है। हे मुनि, जो जगत् दृष्टि में आता है वह कभी सम्पत्तिमान और कभी आपत्तिमान है और महा चंचल है। भला ऐसे पदार्थों का, विचार बिना अज्ञानी की नाईं, मैं कैसे आश्रय करूँ? किस की इच्छा करूँ? सब के सब नाश रूप हैं। हे मुनि, यह सब मैं जानता हूं। यह जो जीव परमार्थ, सत्य स्वरूप को भूला हुआ भटकता है और अज्ञान से संसार में मेरा-मेरा करता फिरता है, स्त्री आदिक भोगों को सुखरूप जान कर उन में तृष्णा करता है, वह नीच है, हे मुनि! यह भी जानता हूं कि जो सुख-दुःख इस जीव को होने होंगे, वह अवश्य करके होंगे। मिट नहीं सकते। चाहे पहाड़ की कन्दरा में जा बैठे और चाहे कोट में जा कर छुप जाय। इसके निमित्त प्रयत्न करना तो महा मूर्खता है। हे मुनि, जैसे मोर की पूँछ हिलती रहती है, उसी प्रकार अज्ञानी शरीर अभिमानी का चित्त सदा चंचल रहता है। इसलिये वह मनुष्य पशु है। जैसे पशु दिन में जंगल में जा कर घास चुगते इधर उधर फिरते रहते हैं और रात्री में उनको खूँटे से बाँध देते हैं, वैसे ही मूर्ख मनुष्य भी दिन को घर बार छोड़ कर अपने-अपने व्यवहार में इधर-उधर फिरते हैं और रात को आकर अपने घर में

स्थिर हो जाते हैं। तो क्या इतना करने से कुछ परमार्थ की सिद्ध हो गई ? कदापि नहीं हुई। अपना मानव जीवन वृथा खोया। हाय-हाय, मैं अनाथ मारा गया कि जो अब तक कुछ भी हाथ न लगा। वृथा खा-खा कर समय काटा। इतना कह कर राजा जानश्रुति शान्त हो गया।

रैक्व मुनि ने जानश्रुति की श्रद्धा, भक्ति भाव को देख कर तथा उसकी दीनता पर ध्यान दे कर धनादि सब अङ्गीकार कर लिया और राजा से बोले—"हे राजा ! तुम बड़े बुद्धिमान और उदारात्मा ज्ञात होते हो। तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। ऐसा शुद्ध वैराग्यवान तपस्वियों, वैरागियों, संन्यासियों तथा राजाओं में कोई विरला ही होता है। हे राजा, जितने भी मनुष्य हैं वह सब पशु से दृष्टि में आते हैं क्यों कि जिसको संसार समुद्र के पार होने की इच्छा है और जो पुरुषार्थ, प्रयत्न करता है वही मनुष्य है। बाकी तो सब के सब संसारी बोझ से लदे हुए गर्दभ हैं। हे राजा, वृक्ष तो बहुत होते हैं परन्तु चंदन का वृक्ष कोई होता है। वैसे ही शरीरधारी तो बहुत हैं, परन्तु ऐसा बुद्धिमान कोई कदाचित् ही होता है जो अपने जीवनकाल में ही संसार की झपट से बचे। सब अस्थि, माँस, रक्त के पुतले से इधर उधर भटकते फिरते हैं। जैसे यन्त्र की पुतली होती है वैसे ही अज्ञानी जीव हैं। हे राजा, तुमको धन्य है! तुम्हारी बुद्धि बहुत ही विशेष है. दीपक सी प्रकाश वाली और बोध का परम पात्र है। हे राजा, हमारी बताई हुई प्राण उपासना से ही तुमको बोध हो जायगा। जिसको भोगों की अभिलाषा रहती है, जो मुझ प्राण आत्मा की उपासना से विमुख है, वह मनुष्य नहीं, गर्दभ है। वह मेरी उपासना का अधिकारी नहीं है। जो मनुष्य विषय सुख के लिये व्याकुल रहते हैं, वह मनुष्य महा पापी हैं। जैसे शराब रखने का बर्तन कभी शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार विषय अभिलाषी प्राणी कभी पवित्र नहीं हो सकता। हे राजा, अहंभाव से, वाणी से, मन से तथा शरीर से तुम उस प्राण की उपासना करोगे जिसकी सत्ता में रहकर ही यह माया भी काम करती है। हे राजा, जिस प्रकार गंगा का जल समुद्र में प्रवेश करता है, उसी प्रकार तुम प्राण आत्मा में प्रवेश करोगे। स्वयं उत्पत्ति भी जिस से उत्पन्न होती है; विश्राम को भी जहाँ विश्राम मिलता और अनुभव को भी जहाँ अनुभव मिलता है, उस आत्मरूपी पीठ के तुम अक्षय राजा बनोगे। फिर तुम्हारा नाश कभी नहीं होगा। हे राजा, जरा अच्छी तरह विचार करके देखो कि इन विषयों के जाल में कौन फँसता है ? जिनको आत्म स्वरूप के दर्शन नहीं होते, वही तो इन विषय सुखों के हेर-फेर में पड़ते हैं। जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित मनुष्य भूसी या चोकर भी खा जाता है अथवा प्यास से व्याकुल हिरन असली पानी के स्वरूप को भ्रम से भूल कर रेतीली भूमि को ही पानी समझ कर दौड़ते हुए उसके पास आ पहुँचते हैं और व्याकुल होते हैं, उसी प्रकार जिनको आत्म स्वरूप के दर्शन नहीं होते, जिनके पल्ले आत्म-सुख के नाम से सदा दरिद्रता ही पड़ी रहती है, उन्हीं मनुष्यों को विषय सुख बहुत प्रिय जान पड़ते हैं। हे राजा, यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो विषय के उपभोग में किंचित् मात्र भी सुख नहीं होता। कदाचित कोई मनुष्य अपनी मूर्खता से कहने लग जाय कि विषयों में सुख है, तो फिर बिजली की चमक दमक में ही संसार के काम चल जाने चाहियें। दूसरे प्रकाशों की क्या जरूरत है ? यदि आकाश रूपी छत्र की छाया से वायु तथा वर्षा-धूप का निवारण हो सकता है, तो फिर पक्के तिमंजले मकान क्यों बनाये जायें ? इसलिये हे राजा, विषय सुख का शब्द प्रयोग ही अर्थहीन है।

विषयी मूर्ख मनुष्य ही विषय सुख शब्द का प्रयोग करते हैं। परन्तु ऐसा कथन करना व्यर्थ की बकवाद है। हे राजा, मछली को फँसाने वाली बंसी में माँस का जो टुकड़ा लगाया जाता है, वह मछली

को तब ही तक अच्छा जान पड़ता है जब तक कि मछली उसे नहीं निगलती। उसी प्रकार तुम निसंदेह रूप से यह बात समझो कि ठीक यही दशा विषय संग (अर्थात्—स्त्री, पुत्र, धन, राज-पाट, यश, ख्याति आदि) की है। हे राजा, यदि इन विषयों की तरफ विरक्तों की दृष्टि से देखा जाय तो ऐसे पाण्डु रोगियों के समान हैं, जो ऊपर से देखने में तो फूले हुये मोटे ताजे जान पड़ते हैं और अन्दर से महाविकार भरा रहता है। इसलिये विषयों के उपभोग में जो सुख जान पड़ता है वह वास्तव में आदि से अन्त तक केवल दुख ही दुख है। सुख तो नाम निशान को भी नहीं है। परन्तु हे राजा! अज्ञानी शरीर अभिमानी मनुष्य करें क्या? उन से विषयों का सेवन करे बिना रहा ही नहीं जाता। क्योंकि उनको उनके अन्दर का रहस्य तो ज्ञात ही नहीं होता और अन्दर का भाव सूक्ष्म बुद्धि के बिना जाना नहीं जाता। क्यों कि विषयों के उपभोग में सूक्ष्म बुद्धि रहती ही नहीं कि जिससे वह सूक्ष्म विचार कर सकें, इसलिये वह विचारे बड़े शौक से उत्साह के साथ विषयों का सेवन करते हैं। हे राजा, पीप के कीचड़ में रहने वाले कीड़ों को क्या कभी पीप से घृणा होती है? नहीं। उन दुखी जीवों के लिये तो वह दुःख ही परम प्रिय जीवन होता है वह प्राणी तो उपभोग रूपी जल में मछली के समान रहते हैं, फिर वे उस कीचड़ और पानी को भला कैसे छोड़ सकते हैं? कदापि नहीं छोड़ सकते। हे राजा! विषय दुःखों को जन्म देने वाले होते हैं यदि मनुष्य इन विषय-भोगों के प्रति निस्पृह और उदासीन रहने लगें तो विषय भोग जड़ से ही नष्ट हो जायें और कहीं नाम मात्र को भी विश्राम न मिले। यदि यह विषय आसक्त प्राणी विषयों को छोड़ दें तो बिचारे महादोषों का कहाँ ठिकाना लगे? और फिर जगत् में संसार शब्द ही मिट जाय। परन्तु गर्भवास आदि के संकटों और जन्म-मरण की यातनाओं का विकट मार्ग अतिक्रमण करने के लिये भला कौन तैयार होता है? इसलिये, हे राजा, ऐसे झूठे सुखों के हेर-फेर में पड़े हुए जिन लोगों ने विषयों के द्वारा होने वाले दुःखों को अंगीकार किया है, उन्होंने ही तो इस कोरे मायिक भ्रम को सच्चा बना दिया है। हे राजा, जो वैराग्यवान विरक्त पुरुष होते हैं वह विषयों को विष की नाईं परित्याग करते हैं विषयासक्त पुरुष को ही विचार हीन होने के कारण सब आपदा प्राप्त होती हैं। इतना हायवैला तो रोगी भी नहीं करते जितना कि विचार रहित यह भोगी विलासी जीव करते हैं। बता, क्यों यहाँ आया है और क्या चाहता है?

जब राजा ने मुनि को बहुत प्रसन्न देखा तब बड़ी नम्रता से हाथ जोड़ कर कोमल वाणी से कहा कि हे प्रभू, अब कृपा करके जिस प्राण की आप उपासना करते हैं और जिस प्राणविद्या की उपासना करके ब्रह्मलोक में विख्यात हैं तथा इतना कष्ट होने पर भी आप प्रसन्न मुख रहते हैं, आप राग-द्वेष से रहित उदासीन हैं, उस प्राणविद्या का सम्पूर्ण अंगों सहित उपदेश दीजिये।

मुनि—हे राजा! चित्त को सावधान करके सुन। देव तत्त्व शोधन में प्राणोपासना उपयोगी है इसलिये प्राण का स्वरूप जानना ही प्राण की उपासना है। हे राजा, प्राण के मुख से ही प्राण का स्वरूप तुझको श्रवण कराते हैं, क्योंकि ऐसा करने से पाठकों को रुचिकर होगा और उनकी समझ में ठीक बैठ जायगा।

प्राण—हे राजा! वह प्राण ब्रह्म है कि जिसकी वाणी प्रतिष्ठा है, चिदाभास जिसका आयतन प्रतिमा जिसकी गुण है और अव्याकृत ईश्वर जिसका देवता है। हे राजा, सोई प्राण है। सर्वत्र वेद भगवान

इसी को ब्रह्मरूप कहकर वर्णन करते हैं। क्योंकि अग्नि, जल, सूर्य, चन्द्रमा आदिक सबका आत्मा यह प्राण ही है। हे राजा, व्यष्टि में मेरा नाम सूत्रात्मा है। वेदवेत्ता मुझे हिरण्यगर्भ और प्रजापति नाम से पुकारते हैं। क्योंकि सृष्टि के आदि में मैं ही सृष्टि की रचना करता हूँ। मैं पूर्व जन्म में एक कुलीन ब्राह्मण था। क्योंकि मेरे सम्बन्ध से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और माता, पिता, गुरु आदि का व्यवहार होता है। जब मैं शरीर से बाहर निकल जाता हूँ तो शरीर प्रेत समझा जाता है और कोई व्यवहार नहीं होता। मैं प्राण ही सबको ग्रास करता हूँ। शरीर के भीतर प्राणरूप होकर जो कुछ खाया जाता है, सबको मैं ही ग्रास करता हूँ। यह ब्रह्मरूप प्राण प्रथम इन्द्रियों को ग्रास करता है, फिर मन, बुद्धि तथा अहङ्कार आदि को ग्रास करता है। बाहर समष्टि वायुरूप होकर सूर्य, चन्द्रमा आदिक सबका ग्रास करता है। हे राजा, यह वायु ही ब्रह्म है, क्योंकि सबके बाहर तथा भीतर व्यापक है और सबको यही खा जाता है। सो प्राण ब्रह्म तू ही है। इस प्रकार अहंग्रह उपासना किया कर कि उक्त लक्षण वाला प्राण मैं ही हूँ। सूक्ष्म भूतों को स्थूल बनाकर मैंने ही विराट् रूप होकर सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा की और मैंने ही सृष्टि की वृद्धि के लिए प्रजापति बनकर विचार किया कि अग्नि और सोम यह दो देवता मिलकर अनेक प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ होंगे। ऐसा विचार कर मैंने भोक्ता रूप अग्नि को और भोग्यरूप सोम को प्रथम प्रगट किया। मेरी इच्छा से यह दोनों देवता प्रगट हुए।

हे राजन्, अध्यात्म और अधिदैव रूप से अग्नि दो प्रकार का है। व्यष्टि संघात शरीर में रहा हुआ प्राण अध्यात्म अग्नि कहलाता है और सूर्य में रहा हुआ अधिदैव अग्नि के नाम से प्रसिद्ध है। ये दोनों प्रकार का अग्नि सर्वजगत् में भोक्ता रूप से वर्तता है। अधिदैव रूप अग्नि साक्षात् आदित्य रूप है और प्रत्येक वस्तु का समस्त जगत् को प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है। सोम भोग्य रूप होने से चन्द्रमा स्वरूप है और अग्नि रूप से भोक्ता होकर मैं ही प्रजादि को उत्पन्न करता हूँ। इसीलिए तो प्रजा आदि का मैं आदि कारणरूप हूं और मैं ही इन दोनों स्वरूपों से समस्त प्रजा को जीता रखता हूं। मैं प्राण आत्मा जब तक इस शरीर में रहता हूं तब तक दूसरे देवता (कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मनादि) अपना-अपना कार्य करके इस संघात शरीर का निर्वाह करते हैं और जब मैं प्राणदेवता इस शरीर से निकल जाता हूँ, तब दूसरे देवता भी इस संघात को छोड़कर चले जाते हैं। इसीलिए तो मैं सब से श्रेष्ठ देवता हूँ। चक्षु आदिक इन्द्रियाँ मेरी उत्कृष्टता देखकर मेरी स्तुति करती हैं, क्योंकि जब तक शरीर में मेरी स्थिति है तब तक उनकी भी शरीर में स्थिति रहती है। हे राजन्! जैसे यह व्यष्टि शरीर मेरे आधार पर स्थित है, उसी प्रकार समस्त जगत् मेरे आधार पर रहता है। इसीलिए मैं जगत् का मुख्य और सर्वोत्तम देवता हूँ।

हे राजन्! अब मैं तुमको बताता हूँ कि मेरा इस शरीर से सम्बन्ध किस निमित्त से होता है? भिन्न-भिन्न स्वरूपों से शरीर में किसलिए रहता हूँ? किस कारण से और किस द्वार से मैं शरीर में से उत्क्रमण करता हूं? अधिभूत और अधिदैव जगत् को मैं किस प्रकार धारण करता हूं? आध्यात्म जगत् को किस प्रकार धारण करता हूं? ध्यान देकर सुन। जैसे दर्पण की समीपता रूप निमित्त से दर्पण में स्थूल देह का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार परमार्थ सत्यरूप आत्मा से जीवभूत में प्राण रूप प्रतिबिम्ब होता हूँ। जीवरूप मुझ प्राण का शरीर के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह विज्ञान रूप से किए हुए पाप-पुण्य के निमित्त कारण मात्र से होता है। आत्मा के प्रतिबिम्ब से चैतन्यता को प्राप्त हुआ मैं प्राण ही मन से किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर से सम्बन्ध करता हूं। मानस कर्मों के कारण मुझ

जीवभूत प्राण को यह शरीर धारण करना पड़ता है, जो वास्तविक नहीं है। जैसे राजा अपने सेवकों को भिन्न-भिन्न कर्मों में नियुक्त करता है, उसी प्रकार क्रिया शक्ति वाला मैं (प्राण) ही अपानादिक वायु को उनके कर्मों में नियुक्त करता हूँ। मैं प्रधानरूप प्राण शरीर को प्राप्त होकर अपानादिक भिन्न-भिन्न प्राणों के द्वारा छोटी-छोटी नाड़ियों के मार्ग में होकर समस्त शरीर में घूमता रहता हूं। हे राजा, वायु और उपस्थ में मैं अपान को नियुक्त करता हूँ। चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिका में मैं राजा रूप प्राण रहता हूँ, मध्य में मैं समान रूप वायु रहता हूँ। बहत्तर करोड़ दश हजार एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उन नाड़ियों में मैं व्यान वायु रूप से रहता हूं। उदान वायु ऊपर को जाता है। यह जीव को उस के पुण्य से पुण्य और पाप से पाप लोक अर्थात् नीच योनियों को ले जाता है। और पुण्य पाप मिश्रित कर्म से मनुष्य लोक को ले जाता है। इस प्रकार मैं प्राण पाँच रूप से अध्यात्म रूप शरीर को धारण करता हूँ। हे राजा, आदित्य मंडल का अभिमानी बाहर का प्राण वायु है। यह अध्यात्म रूप नेत्र में रहने वाले प्राण के ऊपर प्रकाश देकर अनुग्रह करता है। पृथ्वी का अभिमानी देवता अपान वायुरूप है। यह आध्यात्मिक अपान वायु को रोक कर शरीर को गिरने नहीं देता। यही अधिदैव अपान का आध्यात्मिक अपान के ऊपर अनुग्रह है, नहीं तो शरीर भारी होने से गिर जाय। आदित्य और पृथ्वी के मध्य में यह जो अवकाश वाला आकाश है उस आकाश का अभिमानी देवता समान वायु है। यह अधिदैव रूप से आध्यात्मिक समान वायु का सहायक है। बाहर के वायु का अभिमानी देवता व्यान है। यह आध्यात्मिक व्यान वायु पर अनुग्रह करता है। दाह और प्रकाश करने वाले समान तेज का अभिमानी देवता उदान है। यह अधिदैव उदान अध्यात्म उदान का अनुग्राहक है। हे राजन्! इस प्रकार आदित्य रूप से मैं मुख्य अधिदैव प्राण ही, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन अध्यात्म प्राणों का अनुग्राहक हूँ और समस्त ब्रह्मांड का धारण करने वाला हूं। अर्थात् आदित्य, अग्नि, आकाश, वायु और तेजरूप होकर बाहर के अधिदैव रूप आदित्य आदि को धारण करता हूं। अर्थात् उनके रूप से स्थित होना ही मेरा धारण करना है। प्राण, अपान आदि रूप से चक्षु आदि पर अनुग्रह करता हूं। इस प्रकार मैं अधिभूत का धारण करने वाला हूं। मैं ही तेज रूप अधिदैव उदान वायु पर अनुग्रह कर्त्ता हूं। इसलिए शरीर गत तेज के शान्त होने पर पुरुष शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को प्राप्त होता है।

जब मनुष्य के मरने का समय आता है उस काल में सब इन्द्रियों की वृत्ति वाणी में लय हो जाती है। पश्चात् वाणी की वृत्ति मन में लय होती है। फिर मन की वृत्ति मुक्त प्राण में लय होती है। हे राजन्! जाग्रत अवस्था में पाँच ज्ञान इन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियां सहित मन मेरे सामर्थ्य से अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त होते हैं। स्वप्न अवस्था में पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ तादात्म्य-भाव को प्राप्त हो कर अपने-अपने व्यापार को त्याग कर सो जाती हैं और सुषुप्ति अवस्था में मन सहित इन्द्रियाँ लय हो जाती हैं। तो भी प्राण आदि वायु अपने-अपने व्यापार करते ही रहते हैं। निद्रा में पड़े हुए मनुष्य को कुछ भी खबर नहीं रहती – तो भी मैं (प्राण) उसके पेट के अन्न को पचा कर जाग्रत रहता हूँ। जैसे गार्हपत्य अग्नि रक्षणीय है और अग्निहोत्री के घर में सदैव रहती है तथा उस में से होम के लिए आह्वनीय अग्नि ली जाती है, उसी प्रकार अपान वायु अपना व्यापार करता रहता है। इस अपान वायु में से जब प्राण वायु का उत्थान होता है; उस काल में मनुष्य को जाग्रत अवस्था प्राप्त होती है और मन तथा इन्द्रियाँ अपना-अपना व्यापार आरम्भ करती हैं। इस प्रकार

अपना वायु मल-मूत्र को निकालने वाला रक्षणीय होने से गार्हपत्य अग्नि है। अपान वायु के अन्दर जाने से प्राण बाहर आता है। इसलिये प्राण आह्वनीय अग्नि है। हे राजा, जैसे रसोई बनाने का अग्नि दक्षिण कोने में रहने से दक्षिणाग्नि कहलाता है, उसी प्रकार भोजन किये हुए अन्न का पचाने वाला होने से और हृदय के दक्षिण कोने में रहने से अपान-वायु दक्षिणाग्नि है। समान वायु श्वास-प्रश्वास को समान भाव में करने वाला होने से इसका नाम "होता" (अर्थात् हवन करने वाला) है, क्योंकि होता प्रातः और संध्या दो आहुति देता है। मन यजमान है और उदान-वायु इष्ट फल देने वाला होने से इस अग्निहोत्र का फल है। हे राजा, जैसे संध्याकाल में दशों दिशा के पक्षी एक बड़े वृक्ष के ऊपर जा कर आश्रय लेते हैं, इसी प्रकार पृथ्वी आदिक पाँच भूत, गंधादिक उनके गुण और प्राणादिक सर्व प्रपंच रूप पदार्थ सुषुप्तिकाल में मुझ चैतन्य प्राण का आश्रय लेकर रहते हैं। विद्वान् मुझ प्राण के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है कि प्राणात्मा से पांचों वायु, दशों इन्द्रियां अर्थात् व्यष्टि जगत् उत्पन्न होता है और उसमें ही स्थिर रह कर अन्त में उस में ही लय भाव को प्राप्त होता है। हे राजा, और भी सुन कि मैं ही समष्टि रूप को धारण करके सूर्य आदि रूप से व्यापक होता हूं और मेरा पाँच प्रकार से विभक्त होना जो कोई जानता है वह विद्वान् शरीर त्याग के पीछे अमृत हो जाता है।

हे राजा! बिना अंगों के निराकार ब्रह्म की उपासना ऐसी है कि जैसे किसी स्त्री का पति के अभाव में अग्नि की चिता पर बैठना। मृत्यु के साथ बराबर युद्ध करना पड़ता है। जो साधक बिना उपासना के ही निराधार तथा अव्यक्त तत्त्व की साधना करना चाहते हैं, उनके मार्ग में विघ्न बहुत आते हैं तथा उनके मार्ग में काम-क्रोध के उपद्रव बहुत होते हैं। जो उपासक अपनी मूर्खता से इतनी धृष्टता और दुस्साहस करके उस शून्य जैसे ब्रह्मतत्व को प्राप्त करना चाहते हैं, उनको बहुत ही क्लेश होता है। इसलिये हे राजा, अपने-अपने वर्ण आश्रम के अनुसार जो जो कर्म अपने हिस्से में आते हैं, उन सब को लोग अपनी कर्मेन्द्रियों के द्वारा शान्ति पूर्वक, फल की इच्छा छोड़ कर शास्त्रोक्त विधि से करते रहते हैं और शास्त्र विरुद्ध कर्म छोड़ देते हैं तथा जो लोग भोग-मोक्ष प्रद दोनों ही दुर्बल तथा दरिद्र कुल को भी छोड़ देते हैं वही मेरी बताई हुई उपासना में जुड़ते हैं। हे राजा! जो साधक इस मेरी उपासना का सम्पादन कर लेता है और निःशंक होकर कर्मों के फलों की आशा को छोड़ देता है, उसको इस संसार में शान्ति स्वयं ही आगे बढ़ कर जयमाला पहना देती है। ऐसे साधक कर्मों की तरफ से उदासीन रहने लग जाते हैं। वह यह जानते हैं कि यह सब कर्म हमारे किये हुए नहीं हैं। हे राजन्! ऐसा उपासक जिस तरफ देखता है, उस तरफ आनन्द की ही वर्षा होने लगती है वह जहाँ रहता है, वहीं आत्मबोध का निवास होने लग पड़ता है। वह नौछिद्रों वाले शरीर में रह कर भी शरीर भाव से हीन रहता है। जिस समय यह अनात्म अभिमान पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, उससमय भ्रान्ति की कालिमा भी नहीं रहती और उसको अनुभव होने लगता है कि मैं ईश्वर और अकर्ता हूं। यह बात अच्छी तरह से मन में जम जाती है। ऐसी दशा में मनुष्य स्वानुभव से तमाम जगत् को मुक्त स्थिति (अर्थात् आत्मस्वरूप) में ही देखता है। भला कभी ऐसा भी हुआ है कि पूर्व की दिशा में सूर्य का उदय हो और वह उसी दिशा को प्रकाशित करे तथा दूसरी दिशाओं का अंधकार ज्यों का त्यों बना रहे। कभी नहीं! हे राजा! मेरी (प्राण) उपासना करने से बुद्धि स्थिर होकर मन में यह बात अच्छी प्रकार जम जायगी कि मैं प्राण आत्मा हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ। मन बिना चंचल हुए ब्रह्मतत्त्व में

रहने लगेगा और "मैं कूटस्थ साक्षी हूं" यह भेद भाव जड़ से उड़ जायगा।

हे राजा! जो मनुष्य प्राण आत्मा के साथ वैर करते हैं, उनकी वह प्राण आत्मा किस प्रकार की व्यवस्था करता है, उसको भी सुनो। वह प्राण आत्मा उनकी ऐसी दुर्गति करता है कि क्लेश रूपी ग्राम का सारा कूड़ा करकट जहाँ जमा होता है और जहाँ संसार रूपी नगर का सारा पानी बह कर जमा होता है, उसी स्थान की तामस योनियों में मैं प्राण आत्मा इन मूर्खों को रखता हूँ कि जिस स्थान पर खाने के लिए उनको कुछ भी नहीं मिलता। हे राजा! अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूं कि जितनी भी छोटी या बड़ी चराचर वस्तुयें इस संसार में हैं, मन या बुद्धि में जितने भी विषय आ सकते हैं, जो-जो वस्तुयें पंच महाभूतों से बनी हैं, जिन-जिन का नाम और रूप है, जो-जो तीनों गुणों की व्याप्ति में आती हैं, तू और मैं जिस सोने के भूतमात्र रूपी सिक्के बनते हैं, जिन कौड़ियों के सहारे कालरूपी ज्वारी का खेल होता है, जो कुछ प्रत्येक क्षण में विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम या मोह से जिन-जिन बातों का ज्ञान होता है, जो प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होता या नष्ट होता है, जिस भ्रान्ति रूपी जंगल को छान कर, न होने पर भी, संसार का रूप खड़ा किया जाता है, मूर्ख प्राणी जिसको संसार कहने लगते हैं, जो प्रकृति या माया के कारण अष्ट प्रकार के भेदों से युक्त हुआ है, जो शरीर क्षेत्र के द्वारा इन छत्तीस तत्वों से बना है, वह सब मुझ प्राण आत्मा के रहने का नगर है, जहाँ हे राजा! तू या मैं ही निवास करते हैं। अर्थात् प्राण ने ही यह सब रूप धारण किए हैं। जिस प्रकार जल में रहने वाले आकाश तत्व पर ही आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अद्वैत भी द्वैत को स्वीकार करता है और द्वैत को स्वीकार करके (अर्थात् मैं शरीर आदि हूँ) यह समझने लगता है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ और फिर स्वप्न के समान अहंता के शब्दों में बड़-बड़ाने लगता है। वह सोचने लगता है कि यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूं, बहुत हीन हूँ, दुर्बल हूँ, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, क्या यह सब मेरे नहीं हैं? नहीं, मेरे हैं। इसी स्वप्न में पड़ कर वह इस लोक और परलोक के चक्कर में पड़ता है। जो अपने आपको भूल कर भूतमात्र के गुण धर्म के आधीन होकर व्यवहार करने में लग जाता है, उसी प्राण आत्मा को शरीर नाम से कहने लग जाते हैं। हे राजा! विचार की दृष्टि से वह पूर्ण ब्रह्म ही है। प्राण आत्मा है। इस दृष्टि से उसको "अहं ब्रह्मास्मि" कहा गया है और तभी यह जीव शोभा भी पाता है।

हे राजा! अब मैं तुम को अच्छे प्रकार से यह बतलाता हूँ कि यह प्राणात्मा ज्ञान-अज्ञान के अंगों से लिप्त नहीं होता, न वह शुद्ध ज्ञान से एकता ही प्राप्त करता है और न अज्ञान के कारण उसमें द्वैतभाव ही आता है। इस प्रकार केवल ज्ञातृत्व से युक्त तटस्थ ही इसका स्वरूप है। जिन्होंने मेरा सच्चा स्वरूप जानकर भेद-भाव का उसी प्रकार परित्याग कर दिया है जिस प्रकार मनुष्य सोने के भूषणों को मिथ्या कहता है, जो यह जानता है कि भूषण सोने के हैं, सोने से भिन्न नहीं। उसी प्रकार जो यह कहता है कि मैं ही सर्वव्यापक, अद्वितीय और स्वयं सिद्ध प्राण हूँ। जो स्वयं अपने आपको मुझ से भिन्न नहीं समझता और जो मेरा आत्मस्वरूप पहिचानता है, उसी के सम्बन्ध में यह समझना चाहिये कि उसने सब कुछ जान लिया है। हे राजा! देख, सबका विवेचन मैंने तेरे सामने शास्त्रीय रीति से कर दिया है। इस संसार की छोटी और बड़ी सभी वस्तुओं में कर्ता, कर्म और कर्म-फल की त्रिपुटी के सिवाय और कुछ नहीं है। जिस प्रकार कपड़े में तार बुने हुए होते हैं, उसी प्रकार इस त्रिपुटी में तीनों गुण ओत-प्रोत हैं।

हे राजा ! यह आत्मा अलौकिक वस्तु है और मन वाणी का अविषय है। इसी कारण उपाधि द्वारा ही इस प्राणात्मा को जानने में समर्थ होता है। स्थूल शरीर और इन्द्रियादिक उपाधियों की अपेक्षा क्रिया-शक्ति वाला प्राण और ज्ञान-शक्ति वाली बुद्धि, यह दोनों आत्मा के समीप हैं। इसलिये लोक प्रसिद्ध प्राण को और बुद्धिरूप उपाधि को ग्रहण करके मैं तुमको इस अलौकिक आत्मा का फिर उपदेश करता हूँ।

हे राजा ! प्राण और बुद्धि के विद्यमान रहते हुए ही शरीर और इन्द्रियाँ आदि की स्थिति होती है तथा प्राण और बुद्धि का अभाव होते ही शरीर व इन्द्रियों की स्थिति रहती नहीं। इसलिये तमाम उपाधियों की साधक प्राण प्रज्ञा ही सिद्ध होती है। प्राण और प्रज्ञा दोनों ज्ञान के हेतु हैं, क्योंकि जैसे स्तम्भ आदि जड़ होने से अपनी प्रतीति में दीपक की सहायता चाहते हैं। उसी प्रकार प्राण और प्रज्ञा भी जड़ होने से अपनी प्रतीति में किसी दूसरे प्रकाश की सहायता चाहते हैं। सो प्राण प्रज्ञा का प्रकाश करने वाला कूटस्थ आत्मा मैं हूं। इस प्रकार की युक्ति पूर्वक प्राण प्रज्ञा ही आत्म-ज्ञान का कारण है। हे राजा ! प्राण और प्रज्ञा शब्द शक्ति-वृत्ति करके तो आत्मा के बोधक नहीं हैं, किन्तु लक्षणावृत्ति करके आत्मा के बोधक हैं। प्राण और प्रज्ञा तथा प्राण-प्रज्ञा का प्रवर्तक चैतन्य जो मैं आत्मा हूँ, यह लक्षणा-वृत्ति करके है। प्राण कहते हैं जो शरीर आदि को प्रेरणा करे और प्रज्ञा कहते हैं अन्तःकरण की वृत्ति विशेष को, अर्थात् बुद्धि, घट-पट आदि पदार्थों को जो अतिशय करके जानें। इसी से इसको प्रज्ञा कहते हैं। यथार्थ में तो प्राण में चेतनता का अभाव है और बुद्धि में भी पदार्थों के ज्ञान करने की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि दोनों जड़ हैं। जड़ में स्वतन्त्र क्रिया नहीं होती। जड़ वस्तु अपने को और दूसरे को नहीं जानती। हे राजा ! मुझ तुर्या आत्मा के पास होने से शरीर इन्द्रिय आदि में और अन्तर वायु प्राण में जो चैतन्यरूप क्रिया होती है, सो चैतन्यात्मा तू ही है। क्योंकि चैतन्यात्मा ही सम्पूर्ण जड़ पदार्थों का प्रकाशक है। प्रकाशरूप होने से भेद रहित अपने स्वरूप को भी मैं चैतन्यात्मा प्रकाश करता हूं। दूसरे जड़ पदार्थ मुझ आत्मा को प्रकाशित नहीं करते। ऐसा आनन्द स्वरूप "मैं" आत्मा ही प्राण और प्रज्ञा शब्द का अर्थ हूं। हे राजा ! तेरे से भिन्न कोई भी वस्तु प्राण और प्रज्ञा शब्द का अर्थ नहीं है। अनेक प्रकार की क्रिया का कारण सिवाय तेरे दूसरा नहीं, तू ही है। इसी से तो "तू-मैं" प्राणस्वरूप हैं। भेद से रहित स्वयं प्रकाश तू ही है। इसी से "तू" प्रज्ञा स्वरूप है। ऐसा जो प्राणात्मा अपना निजी स्वरूप, मैंने तेरे लिए कथन किया है, उसको तू बारम्बार विचार कर और अपने को कह कि—"अहं प्राणोऽस्मि, प्रज्ञात्मा, अहं अन्नं अहं अन्नं, अहं अन्नाद अहं अन्नाद" इस प्रकार तू मेरी उपासना किया कर।

भेद-भाव से रहित इस प्राणात्मा की उपासना करते-करते जब "मैं" पूर्णरूप से भर जाऊँगा, तब समझ लेना कि रैक्व का पूरा-पूरा प्रसाद प्राप्त हो गया और फिर अनेक प्रकार के वह कष्ट, रोग के स्थल, भी तुमको सुख का मार्ग जान पड़ने लगेंगे जो जन्म और मृत्यु के कारण भोगने पड़ते हैं। हे राजा ! तुमको अधिकारी जानकर स्वीकार किया है। चित्त को सावधान करके मेरी एक बात सुन ! देख, ग्रीष्म-ऋतु के सूर्य की किरणों की तरह विवेक वैराग्य का विस्तार होने के कारण जिनके अन्दर स्वरूप का स्फुरण हो जाता है, केवल वही बोधवान पुरुष उस शुद्धात्मा को जान पाते हैं, दूसरे नहीं। बहुत ही अच्छा हुआ कि जो तू फिर मेरी शरण में आ गया, नहीं तो तू भी अज्ञानियों की तरह मौत की चक्की में बार-बार पीसा जाता। तेरा कोई महान् पुण्य काम कर गया। जो लोग प्राणात्मा की सहायता से तमाम संसार

को अपने में ही देखते हैं, उन्हें शरीरधारी होने पर भी परब्रह्म कहने में कोई हानि नहीं है। हे राजा! जो मनुष्य निष्कामी होते हैं, वही मेरी बताई हुई उपासना के अधिकारी होते हैं। आत्मज्ञानियों का ध्येय जो परब्रह्म है, वही परब्रह्म ऐसे उपासक भी होते हैं।

यदि तुम यह शंका करो कि यह उपासक इस स्थिति में किस प्रकार पहुँचे हैं? और शरीर रहते हुए भी उन उपासकों ने किस प्रकार ब्रह्मरूपता को प्राप्त किया है? तो मैं यह भी बतलाता हूँ। सावधान होकर सुन।

जो मनुष्य विवेक वैराग्य के बल से सम्पूर्ण विषयों की वासनाओं को निकाल कर बाहर फेंक देते हैं, अपना शरीर केवल मनोमय (अर्थात् संकल्प मात्र) बना लेते हैं और जो मनुष्य अपनी दृष्टि को उलट कर प्राणात्मा में जमा लेते हैं, जिनका शरीर आदि अभिमान धीरे-धीरे नष्ट होने लग पड़ता है, उनकी सम्पूर्ण वासनाओं का आप से आप परिहार हो जाता है। जिस मनरूपी वस्त्र पर यह जगत्रूपी चित्र अंकित होता है, वह इस अवस्था में आकर विलीन हो जाता है अर्थात् इधर-उधर को हट जाता है, जैसे मेघ वायु के चलने से हट जाते हैं। उसी प्रकार यह मनरूपी बादल पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है और यह पुरुष आत्म साक्षात्कार के बल से स्वयं निर्लेप रहकर यह सब प्रपंच का काम भी चलाते रहते हैं। स्वयं प्रत्यक्ष रूप से शान्त रस बनकर सब व्यवहार करते रहते हैं। हे राजा! यह जगत् भ्रममात्र जानकर इसकी तरफ से वृत्ति को हटा लो और अपने आप में जुड़ जाओ। बस यही मुक्ति है और मुक्ति कुछ नहीं। बन्धन का कारण वासना है। प्राणी वासना से ही नाना योनियों में भटकता फिरता है। जिसको तुम मन या चित्त कहते हो, वह वासनाओं का एक पुतला ही तो है, और कुछ नहीं। जैसे जल सर्दी के कारण बर्फ हो जाता है और सूरज की धूप से पिघलकर फिर जल हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी जल है। उस में संसार की सत्यतारूपी जड़ता तथा शीतलता है और उसमें मनरूपी बर्फ का पुतला हुआ है। हे राजा! जब तुम मेरी बताई हुई उपासना को करोगे और उपासना से परिपक्व हुआ ज्ञानरूपी सूरज प्रकाशेगा, तब संसार की सत्यतारूपी जड़ता और शीतलता निवृत्त हो जायगी और जब मन से जगत्-सत्यता की वासना भाग जाएगी, उस काल में मन आप से आप नष्ट हो जाएगा। हे राजा! यह जो तुम अपना पंचभूत का शरीर देखते हो सो सब वासनारूप है, इसको वासना ही लिए फिरती है और वासनाओं के कारण ही यह जीता भी है। जैसे माला के दाने डोरे के आश्रय से गुथे रहते हैं, जब डोरा टूट जाता है तब वह दाने अलग-अलग हो जाते हैं, फिर ठहरने नहीं पाते। उसी प्रकार अहंता-ममता का नाश होने पर पंचभूत का शरीर नहीं रहता अर्थात् प्राण आत्मा की शुद्ध वासना के द्वारा जगत् के अत्यन्त अभाव का निश्चय हो जाता है। यही जगत् का न रहना है और कुछ नहीं।

हे राजा! यह मैंने शास्त्रों से सम्मत महातत्व तुमको सुनाया है, जो शब्द ब्रह्म के आलोड़न से होने वाला अर्थ और सर्वस्व है, यह उसी प्राण की सहायता से निकला हुआ सार है। यह ज्ञानरूपी अमृत की गङ्गा है। अथवा आनन्दरूपी चन्द्रमा की सत्रहवीं कला है। अथवा विचार रूपी क्षीर सागर से निकाली हुई लक्ष्मी है। इसीलिए वह अपने पद, वर्ण और अर्थरूपी जीवन से मेरे सिवाय और कुछ जानता ही नहीं। जो नाम रूपात्मक सृष्टि से परे है, जो कि तुर्या का जन्म स्थान है, जिसे प्राण आत्मा किंवा परब्रह्म कहते हैं, जिसमें उसी प्रकार मोक्ष आदि समस्त पद विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र में

लीन हो जाती हैं, हे राजा! उस प्राण आत्मा की प्राप्ति का आनन्द और सुख आपसे आप मिल जाता है। तू चित्त को सावधान करके अच्छी तरह समझ ले। तेरा आत्मा सब ही अवस्थाओं में निरन्तर अपने ही स्थान पर रहता है और शरीर के धर्म शरीर में ही रहते हैं। आत्मा पर उनका प्रभाव कभी नहीं पड़ता। परन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह से वास्तविक रूप में देखने वाले विवेकी पुरुष कोई विरले ही होते हैं। वह इस शरीर के ऊपरी आवरण में नहीं फँसते। अर्थात् वह शरीर की बनावट से हट जाते हैं। परन्तु इसके विपरीत शरीर अभिमानी, शरीर से जकड़े रहने के कारण, संसार की बड़ाई तथा प्रशंसा सुनते रहने के कारण अहंभावना शरीर में ही डूबी रहती है। इसी कारण से तो वे उस विकार रहित आत्म सत्ता पर शरीर के जन्म और मरण का मिथ्या आरोप करते रहते हैं। इसीलिये तो उनके हिस्से में दुःख का ही विशिष्ट अंश पड़ता है। हे राजा पानी का गड्ढा कभी तो पानी से भर जाता है और कभी सूख जाता है। जब वह पानी से भरा रहता है उस काल में उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है और पानी के सूखने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता। परन्तु सूर्य ज्यों का त्यों रहता है। ठीक इसी प्रकार विवेक-वैराग्य युक्त मनुष्य यह समझते हैं कि शरीर चाहे जन्म ले और चाहे मर जाय, पर मैं सदा ज्यों का त्यों एक रस अविकृत रहता हूँ। घट अथवा मठ चाहे बनें और चाहे नाश हो, परन्तु आकाश सदा ज्यों का त्यों और स्वयं सिद्ध ही रहता है। ठीक इसी प्रकार मैं भी सदा अखण्ड और अव्यय रहता हूँ। केवल अज्ञान के द्वारा कल्पित शरीर ही जन्म लेता और मरता रहता है। यदि सूरज की सहायता से आँखें बनकर तैयार हुई हों तो फिर उनके सामने अन्धकार क्या वस्तु है? कुछ भी तो नहीं। इसी प्रकार मेरी परम कृपा से जिसका अहं जीव भाव वाला कण अच्छी तरह से पिस जाता है, भला उसको क्या कभी शरीर अभिमान हो सकता है! कदापि नहीं। हे राजा! ऐसे साधक आत्म सुख से परिपूर्ण और आत्म-रूप ही हो जाते हैं। उनको त्रैलोक्य रस के पुतले समझना चाहिये। वह तो आनन्द की मूर्ति, सुख के अंकुर या आत्म बोध के विश्राम स्थल ही होते हैं। उनको विवेक की जन्म भूमि, ब्रह्म तत्व का केवल स्वरूप अथवा ब्रह्म विद्या के शृङ्गारित अवयव समझना चाहिए। उनको सतोगुण की सात्विकता अथवा चैतन्य की गति ही समझना चाहिए। संसारी लोग उनको चाहे कुछ कहें।

हे राजा! यदि मन में तो अहंकार भरा रहता है कि मैं शरीर हूँ, यह मेरी जाति है, आश्रम है, तथा शास्त्रों की चर्चा करके अपना विद्वानपना जताता है, विवेक की बहुत-सी बातें भी बनाता है और ऊपर से नङ्गा होकर वैराग्य का ढोंग भी दिखाता है तो यह निश्चिन् है कि वह सहस्रों जन्मों में भी आत्म लाभ नहीं कर सकता।

हे राजा! चित्त को सावधान करके मेरे वचन सुन। वह प्राण आत्मा जिसका मैंने तुमसे कथन किया है, जिस वृत्ति का ज्ञेय है वह बोधमयी वृत्ति अग्नि से उष्णता के समान प्राण आत्मा से अभिन्न है। उस आत्म स्वरूप अजन्मा ज्ञान से अजन्मा ज्ञेय रूप जो मैं हूँ वह जाना जाता हूँ। इसीलिये तो वह किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर हम लोग उस सूर्य के प्रकाश से ही सूर्य को देख पाते हैं, उसी प्रकार मेरे ही साधन से मेरा ज्ञान होता है। इसके विपरीत शरीर अभिमान से जकड़े रहने तथा सदा अज्ञानी जीवों से बड़ाई और प्रशंसा का रस पान करने के कारण जिनकी अहं भावना शरीर में ही डूबी रहती है, वह लोग ही इस लोक और परलोक के सुख प्राप्त करने के लिए कर्म काण्ड की अनेक क्रियायें करने लगते हैं। इसीलिए तो उनके हिस्से में दुःख ही दुःख आते

हैं। मेरा स्वरूप तो स्वयं प्राणियों में ही स्वतः सिद्ध है। फिर उसको प्राप्त करने के लिए व्यर्थ साधनों के चक्कर में पड़ने की क्या जरूरत है? परन्तु यदि इस प्रकार के शब्द अज्ञानी शरीर अभिमानी जीवों के सामने कहे जायेंगे तो उनको कुछ नहीं जान पड़ेगा। अर्थात् वह भ्रष्ट हो जायेंगे। जीवों की आँख पर माया का धुन्ध छाया रहता है। जिससे उनको कुछ भी दिखाई नहीं देता। इसीलिये वह मुझ प्राण आत्मा को नहीं देख पाते। क्या तुम ऐसी एक भी वस्तु बता सकते हो कि जिसमें मेरा निवास न हो! भला कौन सा ऐसा जल है कि जिस में मेरा निवास न हो? कौन सा ऐसा पदार्थ है कि जिस में वायु न हो? कौन सा ऐसा स्थल है कि जिस में आकाश न हो? बस, सारे विश्व में एक मैं ही मैं हूँ। मैं प्राण आत्मा ही आकाश में चन्द्रमा के रूप में अमृत के चलते फिरते सरोवर के समान हुआ हूं। वहाँ से मेरी जो किरणें पृथ्वी लोक में आती हैं उनको मैं ही प्राणात्मा अमृत से भर कर सम्पूर्ण वनस्पतियों का पोषण करता हूं। इस प्रकार धान आदि का सुकाल करके अन्न के द्वारा भूतमात्र के जीवन का निर्वाह करता हूँ। उस अन्न को पचाकर जीवों को सुखी करने वाली जठराग्नि की जो शक्ति है, वह कहाँ से आती है? वह भी तो मुझ प्राणात्मा से ही आती है। हे राजा! बात यह है कि जितने भी जीव वर्ग हैं, वह सब मैं ही हूं और जीवों को जो जीवन प्राप्त हुआ है वह भी मैं ही प्राण आत्मा हूँ। इनकी अपनी सत्ता कुछ नहीं। वह तो मिथ्या अभिमान करके कष्ट उठाते हैं। हे राजा! बीजों के धर्म के अनुसार ही जल किसी वृक्ष के रूप में रूपान्तरित होता है। ठीक इसी प्रकार जीव के रूप में मेरा ही स्वरूप परिणत होता है। एक मनुष्य तो मूर्ख है और दूसरा बुद्धिमान है। दोनों के सामने नीलमणी का हार रक्खा है। मूर्ख को वह सर्प जान पड़ता है और भय का कारण होता है। परन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष है वह उसका वास्तविक स्वरूप समझ लेता है। उसके लिए वह हार आनन्द दायक हो जाता है। जिस प्रकार स्वांति नक्षत्र का जल सीपी में पड़कर मोती हो जाता है और सर्प के मुख में पड़कर विष हो जाता है उसी प्रकार मैं ज्ञानियों के लिये सुख रूप और मूर्खों के लिए दुःखरूप हो जाता हूं। हे राजा! ज्ञानवानों की सङ्गति करके, प्राणात्मा की उपासना करके, ज्ञान का अभ्यास करके और वैराग्य से सम्पन्न होकर जिनका अज्ञान अर्थात् अहं भाव मुझ प्राण आत्मा में मिलकर रमण करने लगता है, वह मनुष्य आप ही आप मुझे पहिचान लेते हैं और पहिचान कर अत्यन्त सुखी हो जाते हैं। वे शरीर के तमाम विकारों को पूर्ण रूप से अपने में विलीन कर लेते हैं। उनके लिए विषय जन्य दुःख कहीं नाम को भी नहीं रह जाते क्योंकि उन्होंने अहंभाव का पर्दा हटा दिया है। उनके अन्दर एक अखण्ड सुख भरा रहता है। इस आनन्द सुख का आस्वादन करते समय वे अपने भोक्ता होने की बात बिलकुल भूल जाते हैं अर्थात् त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। हे राजा! ऐसा उपासक मुझ प्राण आत्मा के साथ बिलकुल एक रूप हो जाता है जिस प्रकार पानी के साथ पानी मिलकर एक रूप हो जाता है। तब मैं, केवल सुख या आनन्द, ही अपने वास्तविक स्वरूप में बच रहता हूँ। इस प्रकार भेद रूपी कलंक का नाश हो जाता है। अहंभाव के गलते ही इस स्पष्ट रचना से ही सब कुछ समझ लेगा कि मैं कौन हूँ और संसार क्या वस्तु है। अर्थात् अहंभाव का सर्वथा नाश हो जाएगा।

हे राजा! अब मैं तुमको कुछ बातें और भी बतलाता हूँ। चित्त को सावधान करके सुनो।

राजा बोला—"हे मुनि! मैं बिलकुल शांत हूँ। आप कहो।"

प्राण बोला—"हे राजा! जिस समय अहङ्कार और शरीर का परस्पर प्रेम होता है उस समय

उनके योग से एक इच्छा नाम की कन्या का जन्म होता है। जब यह इच्छा नाम की कन्या अभिलषित वस्तुओं का दूध पी-पी कर जवान हो जाती है तब राग-द्वेष के साथ अपना शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। फिर इच्छा और द्वेष दोनों की जोड़ी से द्वन्द्व मोह अर्थात् सुख, दुःख, हर्ष, शोक, हानि, लाभ आदि से होने वाला अज्ञान उत्पन्न होता है। इस अज्ञान रूपी बालक का पालन-पोषण इसका बाबा या नाना अहंकार करता रहता है। यह बचा मानसिक धर्मों का शत्रु होता है। वह अज्ञानरूप बालक इतना अधिक उद्दण्ड होता है कि इन्द्रियों को रोकना तो जानता ही नहीं। वह आशा का दूध पी-पी कर खूब मोटा-ताजा हो जाता है। फिर असंतोष रूपी शराब पीकर पागल बन जाता है। विषय रूपी कोठरी में विकृति रूपी स्त्री के साथ रहने लगता है अर्थात् भोगों के सिवाय और कुछ जानता ही नहीं। फिर क्या करता है ? हे राजा ! यह भी सुनो। फिर वह शुद्ध भावना के मार्ग में संकल्प-विकल्प के काटों की बाड़ लगाने लग जाता है और अनुचित कर्मों के टेढ़े-तिरछे मार्ग तैयार करने लग जाता है। द्वन्द्व मोह में इस प्रकार के कर्मों से सब जीव भ्रम में पड़ जाते हैं और संसार के जंगल में आकर भटकने लगते हैं। फिर महा-दुःख रूपी बोझ के नीचे दबकर चीं-चीं (अर्थात् हाय हम मरे, क्या करें ? इत्यादि) शब्द करते रहते हैं। हे राजा ! यह प्राण उपासना मैंने तुमको अधिकारी समझ कर कह दी। यह प्राण उपासना उपनिषद् ब्रह्मविद्या को तुम ऐसे मनुष्य से कदापि नहीं कहना जो चरित्रहीन हो, मलिन भावना वाला हो, नास्तिक हो, साधु ब्राह्मण की निन्दा करता हो। विवेक वैराग्य से जी चुराता हो, जिसको तीव्र वैराग्य न हो, तितिक्षु न हो, तपहीन हो और गुरु भक्त न हो, उसको कदापि उपदेश नहीं करना। इस मेरे उपनिषद् ज्ञान को ऐसे बचाना चाहिये जैसे अन्त्यजों से वेद का पाठ बचाया जाता है।"

जब मुनि ने सब अङ्गों सहित प्राण आत्मा का उपदेश कर दिया, तब राजा समष्टि प्राण को अपना आपा निश्चय करके अपने घर पर चला आया और उपासना में तत्पर हो गया। हे शिष्य ! यह हमने मध्यम अधिकारी राजा जानश्रुति की बात कही।

शिष्य—हे गुरु ! रैक्व मुनि जैसे त्यागी, वैराग्यवान् ने, जिसका कि आदर्श जीवन था, राजा जानश्रुति का तथा उसके धन का निरादर करके और शूद्र कहकर तिरस्कार कर दिया फिर लोभ-मोह में आकर धन एवं उनकी कन्या तक को स्वीकार कर लिया। वह माया के सपाटे में क्यों आ गया ? यह तो ऊपर से नीचे को गिरना है। त्याग करके फिर ग्रहण करना अनुचित ही है तथा मानव समाज में एक प्रकार का अपवाद भी है।

गुरु—हे वत्स ! ऐसे बोधयुक्त रैक्वमुनि के विषय में स्वप्न में भी मोह किंवा लोभ की शङ्का नहीं करनी चाहिए। जो लोग बुद्धि के हीन, भाग्य के दीन तथा माया के अधीन होते हैं और जिनके हृदय कोट में सब प्रकार से परदा पड़ा हुआ है, वह मूर्ख ही हठधर्मी से अपना अज्ञान रैक्वमुनि पर आरोपण करते हैं। हे वत्स ! जड़ मूर्ख जो अध्यात्म शिक्षा से रहित हैं, ऐसे प्राणियों ने ही भगवान के अवतारों पर भी अपना अज्ञान आरोपण कर दिया कि राम ने सीता की रक्षा क्यों नहीं की ? जब कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न थे तो सीता को वृक्षों से क्यों पूछा ? रावण से युद्ध के लिए सुग्रीव, हनुमान की सहायता क्यों ली ? इत्यादि अनेक तर्क करते हैं। कृष्ण भगवान के विषय में भी अनेक शङ्कायें किंवा आक्षेप करते हैं। इसी प्रकार अपना अज्ञान रैक्वमुनि के ऊपर भी थोपते हैं। गो स्वामी तुलसी दास ने तो ऐसे बज्र मूर्खों के लिए यही उत्तर दिया—

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं, बुध होहिं सुखारे॥

हे शिष्य! ऐसे रैक्वमुनि आदि महापुरुषों द्वारा जो कुछ भी क्रियायें होती हैं, उनसे जगत् क अमङ्गल नहीं हो सकता। चाहे वह क्रियायें लोक दृष्टि से प्रतिकूल ही क्यों न हों। सत में स्थित औ केवल सत्य पर ही चलने वाले की क्रियायें विपरीत गति, असत्य परायण लोगों को बुरी ज्ञात हो सक हैं और ऐसे पुरुष ही कुछ न कुछ दोष आरोपण कर सकते हैं। ऐसी दृष्टि के मानव प्रत्येक युग में ह रहे हैं, अब भी हैं और आगे भी होते रहेंगे। परन्तु सत्य पर स्थिर महात्मा लोग उन लोगों की कं परवाह नहीं करते। हे वत्स तुम देखो न कि संसार में ऐसी बहुत सी बातें होती हैं जो अधिक मनुष्यों विचार से बुरी होती हैं तथापि तत्वज्ञानी के मत में अच्छी होती हैं। देखो, एक उदाहरण कहते हैं। महाभारत युद्ध से भारतवर्ष की बहुत हानि हुई, उसके प्रेरक श्री कृष्ण हुए। परन्तु भगवान कृष्ण के संब से अर्जुन महा संग्राम के लिए बड़े उत्साह से तैयार हो गया। माया के चकाचौंध में जिनकी आं मिची हुई हैं, वे कहते हैं कि श्री कृष्ण ने ठीक नहीं किया। वे कहते हैं कि भगवान् से तथा उनके अवत से भी कभी-कभी जगत् की हानि होना सम्भव है। परन्तु इस रहस्य को समझने वाले साधुजनों की दृ में उनसे विश्व का बड़ा भारी मंगल हुआ। इसी प्रकार कैकई के वरदान से भगवान राम को चौदह वर्ष वनवास में बहुत से पुरुषों की दृष्टि में अमङ्गल जान पड़ा। परन्तु इस रहस्य को समझने वाले श्र मुनियों की दृष्टि में उससे विश्व का बड़ा भारी मंगल हुआ। हे शिष्य! ठीक है न?

शिष्य—हे गुरु! बहुत ठीक है।

गुरु—हे शिष्य! इस रैक्वमुनि के प्रकरण से एक बात तो यह सिद्ध हुई कि किसी के भी न रूप तथा आकृति से घृणा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि रैक्वमुनि के अन्दर तुमसे और तुम्हारी कामनाओं से भी बहुत ऊँची आत्मा थी। संसार में वह मनुष्य धन्य है कि जिसके जन, परिवार, कु मान, प्रतिष्ठा, पद, गौरव आदि कुछ भी न हो। कोई विशेष गुण भी न हो, परन्तु जिसके अन्तःकरण ब्रह्म प्रकाश हो। अपनी खुदमस्ती में अलमस्त रहता हो। रंक के समान दीख पड़े, परन्तु राजे महा की हस्ती भी उसके सामने कोई वस्तु न हो। अपनी इच्छा से उठता-बैठता हो और साधारण रू शरीर का निर्वाह कर लेता हो। अपने को प्रकाशित न करता हुआ शान्ति पूर्वक काल को बिताता हो न किसी से राग करता हो और न द्वेष तथा घृणा। न अपने त्याग तथा विद्या की मुनादी पिटवाता किन्तु अपने नाम-रूप को मिटाने का प्रयत्न करता हो। अर्थात् आसुरी भाव को अपने हृदय में आने देता हो और अपने स्वरूप में तल्लीन रहता हो। किसी के सामने दीन न होता हो। विक्षेप से रहि निर्भय रहता हो तथा दैवी सम्पदा, अलौकिक गुणों से युक्त, आनन्द में मग्न रहता हो। मूर्ख अज्ञानी किसी का कुछ थोड़ा सा चमत्कार जानकर या देखकर उनके दर्शन के लिए भागे जाते हैं। ऐसे लोग मार्थ से शून्य हैं। हे वत्स! जो जल्दी से चमक उठते हैं, जैसे वर्षाकाल का जुगनू पैदा होते ही चम लगता है, तुम समझ लो कि उसकी चमक-दमक मिथ्या है। इस चमक-दमक में स्थिरता नहीं है। चमक वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं दिखा सकती और जल्दी से बुझने वाली है। इसी प्रकार अ से चमक उठने वालों के शब्दों के प्रकाश में सार कुछ नहीं होता, उनके वचनों में स्थिरता भी नहीं हो रैक्व महात्मा अपने को छिपाये रखता था। कुछ-कुछ और कभी-कभी गुनगुना लेता था। हे शि जानश्रुति राजा और रैक्वमुनि के प्रकरण से एक बात यह भी सिद्ध हुई कि जब निष्काम कर्म से

शुद्ध हो जाता है तो फिर देवता लोग ही ऐसे ज्ञानी गुरु से भेंट करा देते हैं जो कि निस्पृह होते हैं। राजा जानश्रुति और रैक्वमुनि का प्रकरण समाप्तः ॥

शिष्य—हे गुरु महाराज ! जो मुमुक्षु ब्रह्मभाव में आ गया है। उसके तीनों शरीरों की रक्षा कौन करता है ? उसकी जाग्रति को कौन रचता है ? कौन उससे उपराम होता है ? स्वप्न को कौन रचता है ? कौन उसको देख कर उससे उपराम होता है ? सुषुप्ति के आनन्द को कौन भोगता है ? परमानन्द तुर्या का क्या स्वरूप है ? मेरे बोध के निमित्त कहिये।

गुरु—हे शिष्य ! ध्यान देकर सुन। इन तीनों शरीरों में यह प्राण ही नित्य आता जाता रहता है। कभी भी उपराम नहीं होता और यही उनकी रक्षा भी करता है। जाग्रत का स्वरूप सुनो। जैसे सूर्य के उदय होने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में क्रिया होती है। सूर्य के बिना यह सब ब्रह्माण्ड जड़ के समान होकर सो जाता है। इस शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में पाँच प्राण और मन की अनेक वृत्तियाँ रहती हैं जो मनरूपी सूर्य के आश्रय रह कर वर्तती हैं। शरीर में सूर्य की नाईं इसकी किरणें फैल जाती हैं और इन्द्रिय आदिक ब्रह्माण्ड अपने-अपने व्यापार को करने लगते हैं। जब सूर्य की तरह मन छिप जाता है तब इन्द्रियाँ रूपी ब्रह्माण्ड जड़ होकर पड़ा रहता है। क्योंकि मनरूपी सूर्य की सहायता नहीं रही। इस प्रकार, हे शिष्य ! यह जाग्रत अवस्था इन्द्रियों के आश्रय सिद्ध हुई। जाग्रत धर्म है और इन्द्रियाँ धर्मी हैं। धर्म धर्मी में ही रहता है और मन के आश्रय इन्द्रियाँ रहती हैं। यही जाग्रतावस्था में पदार्थों को देखती भालती तथा अनुभव भी करती हैं। अब आगे स्वप्न का हाल भी सुनो। जब मन जाग्रति का त्याग करता है, उसकाल में जाग्रत काल के पदार्थों के संस्कारों को अपने साथ ले जाता है। उन्हीं संस्कारों के अनुसार साक्षी चैतन्य के आश्रय से अनेक प्रकार के स्वप्न पदार्थों का स्वरूप बन जाता है। फिर पृथक कुछ नहीं रहता। क्योंकि साक्षी के प्रकाश बिना यह मन स्वयं कुछ नहीं है। क्योंकि स्वरूप से जड़ है। हे शिष्य ! यह स्वधर्म है और मन धर्मी है। धर्म धर्मी के साथ ही रहता है। जो स्वप्न में मन और मन की चेष्टा का अनुभव करता है सोई साक्षी है। स्वप्न-सृष्टि साक्षी आत्मा का धर्म नहीं। जब मन स्वप्न को त्याग कर सुषुप्ति में जाता है, तब वहाँ जाकर सब नाड़ियों में फैल जाता है और वहाँ जाकर सब नाड़ियों के आनन्दरूपी भोग का अनुभव करता है। उस काल में मन को कुछ भी खबर नहीं रहती। इस विशेष व्यावहारिक ज्ञान के भूल जाने को ही अज्ञान का नाम दिया जाता है। जाग्रत और स्वप्न में तो एक-एक नाड़ी का ही भोग होता है, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में सब नाड़ियों का भोग होता है।

शिष्य—हे गुरु ! सुषुप्ति में तो ज्ञानी अज्ञानी दोनों ही जाते हैं और दोनों ही आनन्द का अनुभव करते हैं। ज्ञानवान को विशेष क्या लाभ हुआ ?

गुरु—हे शिष्य ! सुषुप्ति में ज्ञानी तथा अज्ञानी में बड़ा भेद है। अज्ञानी सुषुप्ति में सत्-असत् के विचार बिना पशु की तरह जाते हैं। क्योंकि उन्होंने जाग्रत अवस्था में विवेक नहीं किया है। और व्यापार में लगे रहने से उनको कुछ भी खबर नहीं रही कि जाग्रत क्या है ? स्वप्न क्या है ? सुषुप्ति क्या वस्तु है ? मन बुद्धि का क्या स्वरूप है ? हम कौन हैं ? बन्ध-मोक्ष क्या वस्तु हैं ? निरन्तर अज्ञानरूपी मूर्छा में पड़े हुए इन अविवेकी शरीर अभिमानियों को तीनों अवस्थाओं में आनन्द नहीं मिलता। सदा दुःखी और अशान्त रहते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं। वे बोधयुक्त जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति और मन, बुद्धि, इन्द्रियादिक सबसे अपने को पृथक असंग देखते रहते हैं। जैसे लोग मेले को

देखकर चले जाते हैं, देखने वालों को उस मेले की हानि-लाभ की कोई चिन्ता नहीं होती। उसी प्र॰ ज्ञानवान अहंकार रहित हुए जाग्रत, स्वप्न रूपी मेले को देखते हैं। उनको रागद्वेष कुछ स्पर्श नहीं करता वह तो जाग्रतावस्था को भी स्वप्न के समान ही मायामय, असत्, कल्पित जानते हैं और सदा आ॰ आनन्द में मग्न रहते हैं।

शिष्य—हे प्रभु ! आनन्द का क्या स्वरूप है ?

गुरु—हे शिष्य ! जिसमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा मन, बुद्धि आदिक लीन हो जाते हैं औ॰ फिर उसमें से ज्यों के त्यों निकल आते हैं, जो इन इन्द्रियों और इनकी वृत्तियों, इनके आनन्द तथा शो॰ मोह को साक्षी होकर अनुभव करता है, वही आनन्द है और वही तुर्या है। वही पृथ्वी, जल, अग्नि, वा॰ आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, ईश्वर, जीव, नक्षत्र, देवता, दैत्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिक इन सबके ल॰ होने का स्थान है। वही सबका आधार तुर्या प्रकाश स्वरूप है। जैसे सूर्य के छिप जाने पर जब स॰ पक्षी वृक्ष पर आकर बैठ जाते हैं, तब एक वृक्ष ही देखने में आता है, पक्षी प्रतीत नहीं होते। उसी प्र॰ जब इस संसार की तीनों अवस्थायें इस तुर्या में लय हो जाती हैं, तब सब प्रकाशों का प्रकाशक एक चैत॰ रहता है। हे शिष्य ! जब यह मन, जाग्रत, स्वप्न आदिक सब के अहंकार को दूर करे और विवेक द्वा॰ सत्-असत् का निर्णय करके तीनों शरीर और तीनों अवस्थाओं से पृथक होकर देखे कि मैं इनसे भि॰ हूँ। फिर विचार करे कि यह मुझसे भिन्न भी नहीं हैं और हम भी इन से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि यह स॰ पदार्थ मुझ आत्मा में ही कल्पित हैं। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती अर्थात् तद्रूप ही हो॰ है। हे वत्स ! जब हमारा इस प्रकार सामान्य चैतन्य में अभेद हो जाता है तब वहाँ यह सब कुछ न॰ रहता। इससे हमने जाना कि वेद भगवान, जिसको ब्रह्म चैतन्य कहते हैं, सो परब्रह्म स्वरूप हम ही हैं क्योंकि हमारे से ही यह तीनों अवस्थायें सिद्ध होती हैं और हमारे में कल्पित होने से हमारे अद्वैत आ॰ में कुछ भी दोष नहीं आने पाता। हे शिष्य ! जैसे सीपी में चाँदी का भ्रम होता है, परन्तु विचार करने॰ केवल सीपी जान पड़ती है। चाँदी का पता नहीं चलता कि कहाँ गई। उसी प्रकार विचार के बिना जाग्र॰ स्वप्न और सुषुप्ति सिद्ध होते हैं और जब विचार करें तब एक चैतन्य आत्मा ही रहता है। औ॰ कुछ नहीं।

शिष्य—हे प्रभु ! किस प्रकार की उपासना करने से यह जीव सुखी होता है।

गुरु—हे शिष्य ! अन्तर्यामी परमात्मा की उपासना करने से यह जीव सुखी होता है। जिस प॰ मानन्द के लाभ से सम्पूर्ण कामना पूर्ण हो जाती हैं, कोई इच्छा शेष नहीं रहती, हे वत्स ! वह अन्त॰ र्यामी ईश्वर है जो सबको व्याप्त करके स्थित है। जिसकी आज्ञा में वायु, अग्नि, विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा॰ दिक बड़े-बड़े बलवान देवता भी थर-थर काँपते हैं। जिसके भय से अव्याकृत से लेकर अ॰ पर्यन्त सब के कार्य सिद्ध होते हैं और जिसके भय से कोई अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं कर सकता सो हे शिष्य ! अधिकारी पुरुष आनन्द स्वरूप अपने आत्मा की प्राप्ति के लिए गुरु द्वारा शास्त्रोक्त कार्य॰ अथ ईश्वर के लक्षणों को जानकर उपासना करे। हे शिष्य ! उस अन्तर्यामी का किंचित् मात्र महात्म्य॰ सुन। हे शिष्य ! एक समय दैत्य बहुत ही बढ़ गए और सब जगह भ्रष्टाचार फैलाकर देवताओं को अने॰ प्रकार से दुःख देने लगे। उन्होंने संगठन करके जाति पांति तोड़ मण्डल बना डाला। उस काल में स॰ देवता और ब्रह्माण्ड के प्राणियों ने बड़ा ही कष्ट उठाया। हे वत्स ! उन दैत्यों ने सब आचार-विचा॰

धर्म-कर्म, तेज-बल, नष्ट कर दिया। अधर्म बहुत ही बढ़ गया। चारों जातियाँ अपने-अपने वर्ण-आश्रमों के धर्मों से भ्रष्ट हो गईं। अभक्ष भक्षी बन गए। प्रजा आदिक दुर्भिक्ष, लूट-मार से नष्ट होने लगी। यहां तक हुआ कि देवता भी पर्वतों की गुफा में जाकर छिप गए। कुछ काल तक तप, जप, व्रत करके देवताओं ने अपना बल बढ़ाया और दैत्यों के साथ युद्ध करना आरम्भ कर दिया। बड़ा भारी युद्ध हुआ। दोनों तरफ से खून-खराबियाँ हुईं, रक्त की नदी बहने लगी। अन्त में दैत्यों की हार हुई और देवताओं की जय हुई। तमाम संसार का उपद्रव धीरे-धीरे शान्त होने लगा। दैत्यों ने भी जाना कि कोई हम से भी बलवान पृथ्वी का रक्षक है जिसने हमारी इतनी सेना को मार डाला। निस्तेज होकर दैत्यों का अभिमान चूर-चूर हो गया और चुपचाप होकर बैठ गए। अब देवताओं को अहंकार ने घेर लिया और मारे अभिमान के आपे से बाहर हो गये। परस्पर इस प्रकार कहने लगे कि हे मित्र! यदि मैं तुम्हारे में न मिलता तो तुम इन दैत्यों को नहीं जीत सकते थे। इस प्रकार दूसरे ने तीसरे से तथा तीसरे ने चौथे से कहकर सबने अपना-अपना अहंकार प्रगट किया कि भाई जो मैं न होता तो इन दैत्यों का जीतना कठिन था। एक कहने लगा कि भाई मेरा पराक्रम सब से अधिक है। दूसरा बोल उठा कि भाई मेरे समान कोई भी देवता नहीं हैं, यदि मैं न होता तो दैत्यों को जीतना कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव भी था। इस प्रकार वह सब देवता परस्पर विवाद करने लगे। प्रत्येक देवता को बड़ा अहंकार हुआ।

हे शिष्य! तब अन्तर्यामी ने विचार किया कि इनका अहंकार कहीं बल न पकड़ जाये। यदि इनका अहंकार बढ़ गया तो यह भी दैत्यों की तरह प्रजा को दुःख दे-देकर नष्ट-भ्रष्ट करने लग जायेंगे। अतः शीघ्र ही इनके अहंकार को नष्ट कर डालना चाहिए। अस्तु, यह विचार कर अन्तर्यामी परमात्मा एक यक्ष का स्वरूप धारण कर देवताओं को दिखाई देने लगा। सब देवता उस यक्ष को देखकर भयभीत हो गए और डर से थर थर कांपने लगे। कोई-कोई विचार द्वारा निर्भय भी रहे। उस यक्ष का कैसा स्वरूप था? हे शिष्य, यह भी सुनो। मानो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अभी एक क्षण में भस्म कर देगा। उसके तेज के सामने देवताओं का तेज फीका पड़ गया। इतना ही नहीं, मुख की कान्ति नष्ट होकर चेहरे पर पीलापन छा गया। देवता लोग मिलकर कहने लगे, हे भाई! धीरज धरो। घबराने से काम नहीं चलेगा। हे भाइयो! इस यक्ष के तेज ने तो सब दिशाओं को आच्छादित कर लिया है। जिसका ऐसा प्रताप है, यह तो कोई हमसे भी बड़ा विलक्षण देव है। हे भाइयो! इसका पता तो जरूर लगाना चाहिए कि यह कौन बला है? कोई माया का रूप धारण करके दैत्य ही न आ गया हो। एक ने कहा कि हमारा भेद लेने के लिये यह कोई दैत्य ही आया मालूम होता है। दूसरे ने कहा कि भाई यह तो स्वयं परमात्मा ही मालूम होता है। पर कुछ निश्चय न हुआ। पश्चात् सब देवताओं ने मिलकर एक सभा की कि इसके पास चल कर पूछना तो चाहिये। फिर विचार किया कि किसको इसके पास जाना चाहिए? तब इन्द्र ने कहा कि हे भाइयो! इसके पास जाना हो तो अग्निदेवता के समान भला और कौन समर्थ हो सकता है? क्योंकि अग्नि भी प्रकाश स्वरूप है और यह यक्ष भी प्रकाश स्वरूप है। यह अग्निदेव अपने को सबसे श्रेष्ठ भी मानता तथा जानता है। यह कहता भी रहता है कि मेरे समान प्रकाश और किसी का भी नहीं है। इन्द्र की यह वाणी सुनकर सब देवताओं ने अग्नि से कहा कि आप इस यक्ष के पास जाओ, क्योंकि आपका तेज इसकी बराबर है। अग्नि ने कहा कि बहुत अच्छा, हम जाते हैं, आप सब लोग यहीं बैठो। मैं अभी जाकर खबर लाता हूँ। अग्नि ने मन में विचार किया कि कहीं ऐसा न हो कि कोई दैत्य माया का स्वरूप

धार कर आ गया हो। अपने आपको साधारण रूप से न चलना चाहिए। इसलिए उसने प्रलय अग्नि के समान रूपको धारण कर और सब सामग्री को अपने साथ लेकर उस यक्ष को चारों ओर से घेर लिया। परन्तु यक्ष को घेरते ही अग्नि का बल एक दम नष्ट हो गया, बोलने की भी शक्ति न रही। बहुत बोलना चाहा, परन्तु यक्ष से बातचीत न कर सका। तब अन्तर्यामी यक्ष ने अग्नि की दशा जानकर उसका समाचार पूछा।

यक्ष बोला—हे देव! तू कौन है और तेरा नाम गोत्र क्या है? हमारे पास क्यों आया है? बहुत जल्दी उत्तर दो। शान्ति से कहो, डरो मत।

अग्नि बोला—अरे! तुम हमको नहीं जानते कि हम कौन हैं? मैं तीनों लोकों को भस्म करने वाला अग्निदेव हूँ। मेरे पराक्रम के सामने तुम नहीं ठहर सकते। मैं एक क्षण में सम्पूर्ण संसार को जला डालूँ। मैं कोई साधारण देवता नहीं हूँ, समझे कि नहीं।

यक्ष ने कहा—हे भाई अग्नि देव! मैं तो समझ गया, परन्तु तू अभी भी नहीं समझा। बताओ कि तुम में ऐसा क्या पराक्रम है जो तुन इतने कूदते-उछलते हो और बढ़-बढ़ कर बातें मारते हो। शान्ति से बात करो। भाई, कहने मात्र से काम नहीं चलता है। कुछ करके दिखाओ।

अग्नि—हाँ, हम करने को तैयार हैं। बताओ क्या करके दिखायें?

यक्ष बोला—हे भाई अग्निदेव! हम तुमको यह एक घास का तिनका देते हैं। पहिले तुम इसको भस्म करो, संसार को पीछे भस्म करना। इसी में तुम्हारा तेज, बल सब मालूम हो जायेगा।

अग्नि ने विचार किया कि कहीं ऐसा न हो कि जो यह तृण माया शक्ति रूप हो, क्योंकि उसमें सब सामर्थ्य रहती है। इसलिये इसको विचार कर स्पर्श करना चाहिये। तब प्रलयकाल का स्वरूप धारण कर अग्नि उस घास के तिनके को जलाने लगा। परन्तु तिनका गरम भी न हुआ। अग्नि में जितना भी बल और तेज था, सबका सब लगा दिया। परन्तु वह तिनका ज्यों का त्यों ही रहा। तब अन्तर्यामी ने कहा कि हे अग्नि! बस यही बल था जिसका तुम अहंकार करते थे। तुम्हारे अभिमान को धिक्कार है। देखो, मिथ्या अभिमान सज्जनों को नहीं हुआ करता। अग्नि बुरा-भला न कह कर निरभिमान हो गया। नीचा मुख करे नमस्कार करके आज्ञा लेकर देवताओं के पास आ गया और देवताओं से कहने लगा कि हे भाइयो! हम उस यक्ष को नहीं जान सके कि वह कौन है? इतना कह कर चुपचाप होकर बैठ गया।

तब इन्द्र ने वायु को बुलाकर कहा कि हे वत्स! तुम भी तो बड़े पराक्रमी, बलवान देवता हो और तुमको सबसे श्रेष्ठता का अभिमान भी है। तुम इस यक्ष के पास जाओ और जाकर मालूम करो कि यह कौन है? हे वायु! किसी देवता में तेरे समान बल नहीं है जो इसके सन्मुख जाय। तेरा पुत्र अग्नि तो निष्फल चला आया।

वायु ने कहा—अच्छा, मैं अभी इसके पास जाता हूं। आप बैठिये। वायु ने विचार किया कि न जाने यह कौन बला है? प्रलयकाल की सब ही सामग्री ले चलनी चाहिये। न जाने किसके साथ कितना युद्ध करना पड़े। ऐसा अपने मन में विचार कर सम्पूर्ण प्रलय काल की सामग्री अपने साथ ले और उस यक्ष को चारों तरफ़ से घेर कर खड़ा हो गया, परन्तु कुछ बोलने की सामर्थ्य न रही। तब अन्तर्यामी यक्ष वायु के मन का हाल जानकर कहने लगा कि देव, तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? तुम हमारे पास किस लिये आये हो? जल्दी बोलो।

वायु ने कहा—तुम मुझको नहीं जानते ! मेरा नाम वायु है। तुमने मेरा पराक्रम नहीं सुना ! मैं एक क्षण में इस सम्पूर्ण त्रिलोकी को तुच्छ तृण के समान इधर-उधर उड़ा डालूं। हे यक्ष ! भला मेरे वेग के सामने कोई ठहर सकता है ? कदापि नहीं। तुम बतलाओ कि यहाँ किस कारण से आये हो ?

यक्ष बोला—अरे, पहिले भी एक छलिया जल्दबाज सा देवता आया था। अग्नि अपना नाम बतलाता था और अपना बड़ा भारी पराक्रम बकता था। हमने उसको एक घास का तिनका दिया था, पर वह उस तिनके को भी न जला सका और चुपचाप लज्जा के मारे नीचा मुख किए यहाँ से भाग गया। तुम से कहा या न कहा हो, क्योंकि लुटा बनियां और पिटा ठाकुर किसी से कहता नहीं है। अब तुम भी अपना बड़ा भारी पराक्रम प्रगट करते हो। अच्छा, तुम भी इस तिनके को जरा उड़ा तो दो। जो तुमने इसको उड़ा दिया, तो मालूम हो जाएगा कि तुम्हारा ऐसा पराक्रम है। बकने से कुछ नहीं होता। तब वायु ने कहा कि अरे ! यह जरा सा तिनका क्या होता है ? कोई भारी वस्तु रखकर हमारा बल देखो। अन्तर्यामी ने वही तृण वायु के आगे रख दिया। वायु पहिले उस तृण को हाथ से उठाने लगा। परन्तु वह घास का तिनका अपने स्थान से हिला भी नहीं। फिर वायु ने अपना सारा बल लगा दिया, परन्तु वह घास का तिनका टस से मस न हुआ। ज्यों का त्यों पड़ा रहा। तब वायु अहंकार रहित हो गया और कुछ बोलने की शक्ति न रही। अन्तर्यामी यक्ष ने कहा कि हे वायु ! यही बल था जिसका तुम अहंकार करते थे ? तुम्हारे बल और पराक्रम को धिक्कार है। खबरदार, अब आगे ऐसा मिथ्या अभिमान न करना। वायु कुछ न बोला और नीचे को आँखें किए नम्रता सहित नमस्कार करके और आज्ञा मांग कर चला आया। देवताओं से आकर कहा कि हे भाइयो ! इस यक्ष के सामने हमारी शक्ति ने कुछ काम नहीं दिया। हमको तो इससे बोलने की भी शक्ति नहीं रही। इस यक्ष का अत्यन्त भारी पराक्रम है। तब तो सब देवताओं ने बड़ा ही आश्चर्य माना और परस्पर कहने लगे कि हम सब देवताओं में प्रधान जो वायु है, जिसके आश्रय से हम सब देवता चेष्टा करते हैं, उसका बल भी इसके सामने कुछ न चला तो दूसरे किसी की क्या सामर्थ्य है जो उसके पास जा सके ? यह विचार कर देवताओं ने इन्द्र देवता से कहा कि हे प्रभू ! हे देवेन्द्र ! आप सब देवताओं के स्वामी और सबसे बलवान हैं। आप इस यक्ष के पास जाकर इसका हाल मालूम करो। यह जो स्थूल शरीर धारी ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव हैं इनको भी सूक्ष्म में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं है। आप सबसे अधिक पराक्रमी और सबके आधार हो। उस यक्ष के समीप आप ही जाने को समर्थ हैं, दूसरे देवता नहीं।

इन्द्र—हे देवताओ ! तुम सब यहाँ ही बैठो। हम उसके पास जाते हैं और खबर लाते हैं कि यह कौन है ? तब इन्द्र भी अपने सम्पूर्ण पराक्रमों को संभाल कर चला। जब यक्ष के पास पहुँचा तो झट वह अन्तर्धान हो गया। इन्द्र बड़ा ही आश्चर्य चकित हुआ और विचार करने लगा कि क्या हुआ ? वह प्रकाशरूप यक्ष कहाँ गया ? अग्नि, वायु के सामने तो वह छिपा नहीं और मेरे सामने अन्तर्धान हो गया। किसी प्रकार इसका दर्शन जरूर करना चाहिये। नहीं मालूम यह कोई मायारूपी दैत्य था जो मेरे भय से छिप गया। अथवा कोई बलवान देवता था जो हमको इसके दर्शन करने का अधिकार नहीं, इस कारण से छिप गया। बड़ा ही आश्चर्य है। हाय ! मैं ऐसा अभागी कि जो दर्शन भी न कर सका। यह विचार कर श्रद्धा भक्ति भावना सहित इन्द्र एक मुहूर्त पर्यन्त जिज्ञासु की नाईं वहाँ ही खड़ा रहा। तब अन्तर्यामी ने विचार किया कि यह इन्द्र अपने को बड़ा बुद्धिमान, पराक्रमी मानता तथा जानता है।

इसका भी अहंकार तोड़ना चाहिये। क्योंकि यह अहंकार दुर्गति की प्राप्ति का कारण है। इसके रहने पर शुभ कार्य भी अशुभ हो जाते हैं। इन्द्र तो श्रद्धालु और हमारा भक्त भी है। यह विचार कर अन्तर्यामी देवी का स्वरूप धार कर उसके सामने प्रकट हो गया। वह देवी कौन थी? जिसको ब्रह्मविद्या कहते हैं, जिसको उमा पार्वती भी कहते हैं, वही देवी इन्द्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिये प्रगट दिखाई देने लगी। इन्द्र ने देवी का दर्शन करके कहा—

इन्द्र—हे भगवती! यह यक्ष कौन था और मेरे आते ही क्यों छिप गया? अग्नि और वायु के सामने क्यों नहीं छिपा था?

देवी—हे इन्द्र! वह ब्रह्म था। तुम्हारा मिथ्या अहंकार तोड़ने के लिये आया था। क्यों कि तुम देवताओं के चित्त में बड़ा भारी अहंकार हो गया था। तुम लोग दैत्यों को जीत कर आपे से बाहर हो गये थे। अहंकार के नाश करने के लिये ही तेरे सामने से भी छुप गया। क्यों कि तूने भी अपने को सब देवताओं से श्रेष्ठ और बलवान माना था। अब मैं तुम को दया करके कहती हूँ कि तुम सब देवता जो अहंकार करते थे कि हमने दैत्यों को पराजय किया है, वह वृथा है। जिसके बल को पाकर तुमने दैत्यों को जीता था, वह यही प्रकाश रूप ब्रह्म था। यह ब्रह्म अति सूक्ष्म है और सब के भीतर रहता है। यही सबको बल-पुरुषार्थ भी दे रहा है। इसी के सहारे से तुम सब देवता चेष्टा करते हो। खबरदार! अहंकार नहीं करना। नहीं तो मारे जाओगे।

इन्द्र देवी के वचन सुन कर बहुत ही प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि हे देवी! तुमको मैं इन्द्र नमस्कार करता हूँ। हे माता! मैंने उस महात्मा का दर्शन नहीं किया, इस बात का मुझको बड़ा भारी पश्चात्ताप है। हे माता! क्या फिर भी उस अन्तर्यामी का दर्शन हो सकेगा कि नहीं।

उस ब्रह्म विद्या ने आचार्यों की तरह कहा—हे इन्द्र! अब तू उस ब्रह्म की उपासना कर कि जिस ब्रह्म के भय से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपनी मर्यादा में वर्तता है। अन्यथा नहीं कर सकता। यह वही ब्रह्म था जो सबको अपने-अपने धर्म में प्रेरता है। हे इन्द्र! वही सबका आत्मा ब्रह्म है। वही सबकी क्रियाओं का अन्तर्यामी, परब्रह्म परमात्मा है। हे इन्द्र! समझे कि नहीं।

इन्द्र बोला कि हे माता! मैं समझ गया। आपने बड़ी कृपा की जो हमको घर बैठे दर्शन देकर कृतार्थ किया। हम देवता तो दैत्यों को पराजय करके अभिमान में चूर हो गये थे। हे माता! तुमको धन्य है! तुमको धन्य है!! तुमने हमारा अहङ्कार रूपी पिशाच नष्ट कर दिया। मैं इन्द्र आपको नमस्कार करता हूँ।

हे वत्स! इस प्रकार देवी के उपदेश से परब्रह्म को जानकर अपने को कृतकृत्य मानता हुआ इन्द्र चला गया और देवी अन्तर्ध्यान हो गई। इन्द्र अपने महत्व को जानकर आनन्द सहित अपने आश्रम पर आ गया और सभा में बैठकर आचार्यों की न्याईं उपदेश करने लगा।

इन्द्र—हे देवताओ! तुम अपने मन में अहङ्कार न करो कि हमने अपने बल से दैत्यों को जीता है, हमने दैत्यों को मारा है, हम बड़े बलवान तथा बुद्धिशाली हैं, हमारे समान कौन है? हे देवताओ! इस मिथ्या अभिमान का त्याग करो। तुम लोग याद रक्खो कि जो हम सबको शक्ति प्रदान कर रहा है तथा बल-बुद्धि दे रहा है, वह प्रकाश स्वरूप ब्रह्म चैतन्य है। वही तो कृपा करके यक्ष का रूप धारण कर हमारा अहङ्कार तोड़ने के लिये प्रकट हुआ था। तुम लोग देखते हुये भी उसको नहीं देख सके। उसी

बल से सब देवताओं ने दैत्यों को जीता था। हे देवताओ ! तुम लोग शोक न करो कि हमको उसका यथार्थ रूप से दर्शन न हुआ। वह परब्रह्म परमात्मा तो हम, तुम, सबके भीतर विराजमान है। सबकी बुद्धि का साक्षीरूप होकर स्थित है। हे देवताओ ! वेद भगवान भी इसी परमात्मा का पुकार-पुकार कर वर्णन करते हैं। जो सब प्रकाशों का प्रकाशक है, सोई परब्रह्म है। सो सबका अपना आप है।

हे शिष्य ! उस काल में सब देवता इन्द्र के मुख से इस उपदेश को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए तथा अपने आप को ब्रह्म स्वरूप जान कर कृतार्थ हुए अर्थात् उनका परिच्छिन्न अहंकार नष्ट हो गया। हे शिष्य ! इन्द्र, वायु, अग्नि इन तीन देवताओं ने तो ब्रह्म का दर्शन किया और दूसरे देवताओं ने आचार्यों द्वारा उस ब्रह्म को अपना प्रत्यग् रूप समझा। इसी कारण से यह तीनों देवता ब्रह्मज्ञानी कहे जाते हैं।

इन्द्र – हे देवताओ ! इस ब्रह्म का महत्व और भी अच्छे प्रकार से सुन लो। हे देवो ! जैसे बिजली एक क्षण में सर्वत्र प्रकाश कर देती है, उसी प्रकार उस अन्तर्यामी ने एक क्षण में हम देवताओं को प्रकाश करके दर्शन दिया और हमको उपदेश भी किया। उपदेश करके छुप भी गया। देखो, कैसा आश्चर्य है ? हे देवताओ ! जैसे मनुष्य को आँख के खोलने तथा बन्द करने में कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार उस तेजोमय परमात्मा को जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करने में कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। भला कैसे ? जैसे योगी जब समाधि से उतरता है, उसी समय उसका मन सब इन्द्रियों में प्रवेश कर जाता है। इसी प्रकार जिस समय सृष्टि होती है उसी समय अन्तर्यामी सब में प्रवेश कर जाता है। जैसे योगी विषयों से मन को हटाकर योग में स्थित करता है, उसी प्रकार अन्तर्यामी ने हम देवताओं को दर्शन देकर उपदेश किया और फिर अन्तर्ध्यान हो गया। बड़ा आश्चर्य है !

गुरु—हे शिष्य ! तू भी इस अन्तर्यामी को जानकर उसकी अहंग्रह उपासना कर। जिस मनुष्य को जन्म-मरण रूपी दुःख से छुटने की इच्छा हो, उसको इस अन्तर्यामी भगवान की उपासना करनी योग्य है। क्योंकि इस अन्तर्यामी की उपासना से वह अपने आप परम आनन्द प्रत्यग् स्वरूप को जानकर तद्रूप हो जाता है। फिर वह जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता। हे शिष्य ! जिस पुरुष को महावाक्यों का श्रवण नहीं हुआ, उनको भी यही उपासना करनी चाहिए। जिसकी उपासना में रुचि न हो वह गुरु द्वारा ब्रह्मविद्या को श्रवण करके विचाररूप मनन को करे। मनन करने के पश्चात् निदिध्यासन करके अपने आप प्रत्यग् स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् निर्विकल्पता रूप समाधि का रसपान करने लग जाता है। संशय, विपर्यय सब भाग जाते हैं। हे शिष्य ! बोलो क्या इच्छा है ?

शिष्य—हे गुरु ! हमको तो ब्रह्मविद्या की इच्छा है, इसलिए ब्रह्मज्ञान का ही उपदेश करिये।

गुरु—हे शिष्य ! ध्यान देकर सुन। जैसे मनुष्य का प्रतिबिम्ब शीशे में पड़ता है, शीशे को हटाने से प्रतिबिम्ब का अभाव हो जाता है। बिम्बरूप पुरुष का अभाव नहीं होता। उसी प्रकार इस चैतन्य पुरुष के सामने जब तक अज्ञान रूपी शीशा (अर्थात् मैं शरीर आदि हूँ) रहता है, तब तक संशय, विकल्प अनेक प्रकार का प्रपंच दिखाई देता रहता है। हे शिष्य ! जब यह मनुष्य ब्रह्मविद्या द्वारा विचार करके अज्ञान रूपी शीशे को हटाता है अर्थात् मैं शरीर, मन, बुद्धि, प्राण, ब्राह्मण, क्षत्री आदि नहीं हूँ ऐसा मानता है, उस काल में तमाम संशय निवृत्त हो जाते हैं और एक अपना आप प्रत्यग् आनन्द स्वरूप रह जाता है। जैसे विचार द्वारा मृग तृष्णा के जल का अभाव हो जाता है और तब एक पृथ्वी ही

से दिखाई देती है। उसी प्रकार यह मनुष्य जब विवेक (अर्थात् पञ्चकोश आदिक विचार) द्वारा अपने आप को देखता है, तब अज्ञान रूपी मृग तृष्णा का जल नष्ट हो जाता है और फिर अपना आप प्रत्यक्ष अद्वैत रह जाता है।

शिष्य—हे गुरु! अज्ञान का क्या स्वरूप है?

गुरु—हे शिष्य! जैसे प्रथम दीपक, तैल और उसमें बत्ती यह तीन वस्तु होती हैं, तब अग्नि द्वारा प्रकाश होता है जो अन्धकार को हटाकर सब पदार्थों को दिखा देता है। उसी प्रकार इस पुरुष का चित्तरूपी तो दीपक है, वृत्तिरूपी बत्ती, जिज्ञासा रूपी तैल है और अग्निरूपी ब्रह्मविद्या गुरु की वाणी है। जैसे प्रथम दीपक को अग्नि के पास ले जाते हैं, फिर वायु अग्नि को प्रेरित कर बत्ती को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार जब यह अधिकारी ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाता है और गुरु अपनी वाणी द्वारा जिज्ञासु की बुद्धि को जाग्रत करता है, तब मुमुक्षु उस प्रकाश को पाकर अपने को ब्रह्मरूप जानकर शान्तात्मा हो जाता है और अज्ञानरूपी अन्धकार का कुछ भी पता नहीं चलता कि कहाँ गया। तब वह ब्रह्मज्ञानी इस प्रकार कहता है और जानता है कि "अहंब्रह्मास्मि"। हे शिष्य! जैसे फूली हुई रुई को हथेली से बटकर दीपक में रखते हैं, उसी प्रकार चारों तरफ बिखरी हुई जो मनोवृतियाँ हैं, उनको एक चित्तरूपी चिराग में इकट्ठी करके अर्थात् चित्त की चञ्चलता को विचार से दूर करके, फिर सत्-असत् का मन्थन (अर्थात् आत्मा क्या वस्तु है और यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार क्या वस्तु है?) करे, यही बत्ती का बटना है। अपने सत् स्वरूप आत्मा को ज्यों का त्यों जानना, यही बत्ती का चित्तरूपी दीपक में रखना है। और अपने आप आनन्द स्वरूप का साक्षात्कार करना यही बत्ती का जलाना है। इस प्रकार मुमुक्षु पुरुष श्रुति-स्मृति द्वारा ज्ञान स्वरूप प्रकाश को प्राप्त होता है। हे शिष्य! आत्मा का बोध उन्हीं जिज्ञासुओं को प्राप्त होता है कि जिन्होंने देहाभिमान का त्याग किया है और जो शरीर इन्द्रियों के व्यवहार को साक्षी हुआ देखता है। फिर उसको कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। वही ब्रह्मस्वरूप है। बोधवान पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण और उनकी क्रिया इन चतुर्दश पदार्थों को उदासीन रूप से साक्षी हुआ अनुभव करता है। हे शिष्य! जो पुरुष इनको प्रेरणा करता है और आप अचल हुआ इनका तमाशा देखता है, वही तो परब्रह्म है। जो पुरुष बन्ध-मोक्ष, भय-अभय, जन्म-मरण, प्रवृत्ति-निवृत्ति को जानता है, वही ब्रह्मस्वरूप है। हे शिष्य! बोधवान का ऐसा निश्चय होता है कि मान-अपमान, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, देखना-सुनना तथा आना-जाना इत्यादि सब के सब इन्द्रिय और मन के धर्म हैं, मेरे धर्म नहीं। दूसरे के धर्मों को अपना मानना ही संसार है, और संसार कुछ नहीं। इसका ज्ञाता पुरुष ही जीवन्मुक्त है। हे शिष्य! जैसे अग्नि जहाँ प्रज्वलित होती है, वहाँ बिना जलाए किसी को नहीं छोड़ती। वैसे ही जहाँ इन्द्रियाँ प्रगट होती हैं, अर्थात् चेष्टा करती हैं, वहाँ प्रारब्ध के भोगे बिना शान्त नहीं होतीं। प्रारब्ध भोगकर अग्नि की तरह आप ही शान्त हो जाती हैं। इस विचार द्वारा जीवन्मुक्त महात्मा किसी में आसक्त नहीं होते। उदासीन हुए तमाशा देखते रहते हैं। इसी कारण से तो जीवन्मुक्त निर्विकार कहे जाते हैं। हे शिष्य! यह ब्रह्मस्वरूप आत्मा खाता हुआ भी नहीं खाता, देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, चलता हुआ भी नहीं चलता, लेता-देता हुआ भी नहीं लेता-देता। जब यह बोधवान अज्ञानी पुरुषों के साथ में व्यवहार करता है तो वह उन्हीं के समान कहता है कि मैंने यह किया, यह वस्तु मेरी है, मैं वहाँ गया था इत्यादि। यह सब व्यवहार वह बुद्धि आदि के ही

जानता है। स्वयं अकर्त्ता रहता है। अज्ञानी शरीराभिमानियों के साथ में मिलकर व्यवहार के पड़ने पर उन्हीं के समान बुद्धि से अपने कल्पित तादात्म्य संबन्ध द्वारा ज्ञानवान अपना कार्य निकाल लेता है। वह जानता है कि यह अज्ञानी सत्-असत् को नहीं जानते, इनके साथ कौन झक-झक करे। वह अपने निश्चय को छिपा जाता है और इन मूर्खों से अपना काम निकाल कर उन्हीं के समान बोल-चाल करता हुआ अपने एकान्त में बैठकर शान्ति से आनन्द का रस पान करता रहता है। यदि कोई मूर्ख प्राणी कुछ बुरा-भला कह देता है तो उनके सन्मुख नहीं होता। इस कान से सुना उस कान से निकाल दी। चुप लगा जाता है। यदि वह उनसे लड़ पड़े तो विवेकी और मूर्ख में भेद ही क्या हुआ? कुछ नहीं। यह जीवन्मुक्त पुरुष एक रस, निर्विकार रहता है, मूर्खों के निन्दा स्तुति करने पर वह उन्हीं के समान निन्दा स्तुति करने नहीं लग जाता।

शिष्य—हे गुरु! इस आत्मा से आकाशादि की उत्पत्ति कैसे हुई?

गुरु—हे शिष्य! तमाम संसार आत्मा से अनिवर्चनीय कल्पित उत्पन्न हुआ है अर्थात् ब्रह्मात्मा ही आकाश आदि हो गया। इसी ने उसमें प्रवेश किया। इसी कारण से यही ब्रह्म है।

शिष्य—हे गुरु महाराज! कभी सुवर्ण ने भी सुवर्ण में प्रवेश किया है? नहीं किया। कभी सूत ने भी सूत में प्रवेश किया है? कदापि नहीं। अर्थात् अपने आप में प्रवेश नहीं बन सकता।

गुरु—हे शिष्य! अपने आप में प्रवेश हो सकता है, सुनो! प्रथम परमात्मा ने आकारों को बनाया और पीछे उनमें प्रवेश करके मन, बुद्धि आदिकों को चैतन्य बनाया। जैसे सुनार सोने के बर्तन बनाकर उस में सोना भर देवे। जैसे सूत से बने कपड़े में पीछे से उस में बेल-बूटे रूप होकर सूत प्रवेश करता है, उसी प्रकार आत्मा ने प्रथम आकार बनाया पीछे स्वयं ही उसमें प्रवेश करके उनका अनुभव करने लगा। जैसे कोई पुरुष धन को खर्च करके घर बनाता है और वह घर पत्थर, मिट्टी, काष्ठ आदिक धन से बनता है। फिर मालिक-मकान धन, काष्ट, पत्थर आदिक सहित उस मकान में प्रवेश करता है। उसी प्रकार परमात्मा ने भी प्रथम नाम रूप प्रपंच को उत्पन्न किया और फिर उसमें प्रवेश कर गया। इस कारण से सबका अनुभव करने वाला यही आत्मा है। जैसे मालिक बिना घर शोभा नहीं पाता, वैसे ही आत्मा बिना नाम, रूप, संसार के शोभा नहीं पाता।

शिष्य—हे प्रभु! जीव ने प्रवेश किया अथवा कारण ने प्रवेश किया?

गुरु—हे वत्स! कारण, कार्य, ईश्वर, जीव सब परमात्मा ही है। ब्रह्म से भिन्न दूसरी कुछ वस्तु नहीं है। वास्तव में यह ब्रह्मात्मा न जीव है, न ईश्वर है, न कारण और न कार्य है। जैसे कार्य में प्रवेश करता है, उसी के अनुसार लीला भी करता है। बुद्धिमान को यह परमात्मा अभय कर देता है। जो अपने आप से प्रथक देखता है उस मूर्ख को यह परमात्मा भय देता है। भला क्यों? क्योंकि उसको अपने से प्रथक जानता तथा मानता है। परिच्छिन्न अहंकार करके कहता है कि मैंने यह पाप किया है, यह मैंने पुण्य किया है, ईश्वर इसका हमको फल देगा। इस प्रकार इन मूर्ख प्राणियों का अपना संकल्प ही इनको भय देता है और कोई नहीं। जब अज्ञान को छोड़ कर विचार करता है कि मेरा ही संकल्प था और वही मुझको भ्रम में डाल रहा था। मेरे से भिन्न कुछ नहीं। मैं ही परब्रह्म हूँ। इस प्रकार का ज्ञान होते ही अभय हो जाता है। नानात्व को मानने वाला बार-बार जन्मता-मरता है और कर्मों का फल भोगता है।

यह परमात्मा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय,आनन्दमय कोशों से अतीत रूप है । अर्थात् सब अधिष्ठान है । सम्पूर्ण संसार, क्या जीव, क्या ईश्वर आदि ब्रह्मात्मा में कल्पित हैं, इसी कारण से इसे परब्रह्म कहते हैं । इसको वाणी कथन नहीं कर सकती, मन भी कल्पना नहीं कर सकता, बुद्धि इस निश्चय नहीं कर सकती । इसी कारण से इसको अगोचर कहते हैं । कोई देवता, मनुष्य किंवा दैत्य इसे नहीं जान सकता, किन्तु यही देवता, मनुष्य, दैत्य सबका आत्मा हुआ सबको जानता है । जो यह ब्र स्वरूप अनुभवी पुरुष है, यही ब्रह्म है । 'अयमात्माब्रह्म'—ऐसा श्रुति कहती है । हे शिष्य ! जब यह अधि कारी पुरुष निष्कामता से जप, तप, व्रत, दान आदिक असंग (अर्थात् अहंकार से रहित होकर) करता है उस काल में श्रवण आदिक द्वारा ब्रह्मविद्या को प्राप्त होता है ।

शिष्य—हे गुरु ! जप, तप, व्रत, दान आदि का क्या स्वरूप है ?

गुरु—हे शिष्य ! नित्य अपने आपका विचार करना कि मैं कौन हूँ ? क्या शरीर हूँ कि मन, बुद्धि आदि हूँ ? यह जप का स्वरूप है। अपने आत्मा को ज्यों-का-त्यों (अर्थात् संशय विपर्यय से रहित जानना यह तप का स्वरूप है । ब्रह्मनिष्ठा से चलायमान न होना (अर्थात् पंचकोशों से तादात्म्य, अध्यास का अभाव) यह व्रत का स्वरूप है । अधिकारी शरणागत पुरुषों को आत्मा का साक्षात्कार कराकर उनको संशय विपर्यय से रहित निर्भय कर देना यह दान का स्वरूप है । हे शिष्य ! इन जप-तप आदिकों के क से ब्रह्मविद्या दृढ़ होती है । फिर उस ज्ञानवान पुरुष को वेद भगवान् कुछ कर्तव्य नहीं कहता । यह क उपासना आदिक अथवा श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि मैं न करूँगा तो मैं जन्म-मरण रूप बन्धन प्राप्त होऊँगा, ऐसी बुद्धि दृढ़ बोध हुए पीछे नहीं रहती । प्रारब्ध के अनुसार इच्छा अनिच्छा पर सुख दुःखों को भोगता है अपने स्वरूप से कदाचित् विचलित नहीं होता । हे शिष्य ! वह ब्रह्मविद्या गौरूप है जप, तप, व्रत, दान यह गौ के चार खुर हैं । षट् शास्त्र इसके अङ्ग हैं । सत् इसका आहार है । यह ब्रह्म विद्या रूपी गौ अधिकारियों के घर में रहती है । इस ब्रह्मविद्या रूपी गौ की सेवा इस प्रकार करनी चाहि कि एक तो निरन्तर इसको देखता रहे । वाणी से इसका कीर्तन भी करता रहे । 'अहं ब्रह्मास्मि' यह मह वाक्य इस गौ का आहार है । इस घास को निरन्तर खिलाता रहे, क्योंकि इसी महावाक्य के सहारे ब्र विद्या रूपी गौ पुष्ट होकर स्थिर रहती है । नहीं तो चली जाती है । इस ब्रह्मविद्या का सहारा लेकर संसार को इस प्रकार देखने लग जाय कि मैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों से प्रथक हूं । मैं इनको जानता हूँ, यह मुझको नहीं जानते हैं । चैतन्य, शान्त, अक्रिय स्वरूप हूँ मेरे से भिन्न कुछ नहीं है । 'अहंब्रह्मास्मि' । हे शिष्य ! पूर्व में याज्ञवल्क्य, सनत्कुमार, व्यास आदिक इस चैतन्य ब्रह्म को अपना स्वरूप जानकर परमानन्द स्वरूप हुए हैं । जहाँ जिस अन्तःकरण में अद्वैत सत् चित् आनन्द का दृढ़ निश्चय है वहाँ ही ब्रह्मविद्या का निवास स्थान समझना चाहिए । जहाँ दम्भ, क से रहित मन हो, वाणी, शरीर की चपलता किंवा राग-द्वेष का जहाँ अभाव हो, ऐसे स्थान को देखकर ब्रह्मविद्या रूपी गौ वहाँ निवास करती है । इसके विपरीत स्थान से भाग जाती है । जिस चैतन्य की आ में इन्द्र, वायु, अग्नि, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदिक सब देवता रहते हैं, सोई अपना आप परब्रह्म है । इसी कूटस्थ साक्षी कहते हैं । शुद्ध तुर्या भी इसी का नाम है । इसका नाम अमृत है । इसी प्रत्यग् आत्मा प्राप्त होकर अधिकारी पुरुष अभय और अमृत होते हैं । दूसरे नहीं ।

शिष्य—हे गुरु ! इन इन्द्रियों तथा प्राण में कौन बलवान है ?

गुरु—हे शिष्य ! एक प्राचीन गाथा है। सावधान होकर सुन। एक समय यह इन्द्रियाँ और प्राण आदिक सब परस्पर श्रेष्ठता का भाव करके झगड़ा करने लगे। एक ने कहा कि यदि मैं न हूँ तो तुम्हारा कुछ भी कार्य सिद्ध न हो। दूसरे ने कहा कि मैं न हूँ तो तुम्हारा कुछ काम-काज ही न बने। इस प्रकार सब ही अपनी-अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने लगे। बड़ा ही गुल-गपाड़ा मचा, बड़ी कूद फांद हुई। प्रत्येक इन्द्रिय कहने लगी कि मैं ही बड़ी हूँ। परन्तु कौन बड़ी है इसका निर्णय कुछ भी नहीं हुआ। प्राण जो सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ है, वह अपने गम्भीर स्वभाव से कुछ न बोलता हुआ चुप-चाप सब की कूद फांद को देखता रहा। वह अपने महत्व को जान कर सन्तुष्ट रहा। भला कैसे ? जैसे कि कोई मूर्ख किसी श्रेष्ठ मनुष्य को गाली गलौज करने लगे, तो बुद्धिमान् उसको नीच या पागल कहते किंवा उसकी उपेक्षा कर देते हैं। अपने महत्व को विचार कर उस से कुछ नहीं कहते। अपने गम्भीर स्वभाव में स्थित रहते हैं। उसी प्रकार प्राण ने विचार कर और अपना महत्त्व न बता कर सब से कहा कि अरे भाइयो ! क्यों झगड़ा करते हो ? हमारा तुम्हारा सबका पिता ब्रह्मा है। चलो हम तुम सब उनके पास चलें। ब्रह्मा जिसको श्रेष्ठ कह दें, उसी को श्रेष्ठ समझना। जब प्राण ने सभा में यह कहा, तब सबने इस बात को अंगीकार कर लिया। सब ने माना कि पिता ब्रह्मा का कहना हमको प्रमाण है। वहाँ जा कर सब ने मिल कर ब्रह्माजी से यह कहा कि हे प्रभु ! आप हम सबसे श्रेष्ठ हैं। हमारा न्याय कर दीजिये। हम देवता परस्पर अपने-अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु बहुतों में सब से बड़ा कोई एक ही होता है। सब तो नहीं होते। हमको इस में संशय है कि हम सब में कौन बड़ा है कि जिसके आश्रय हम सब का व्यापार होता है ? आप जिसको बड़ा कहोगे, वही बड़ा है। उसी को हम बड़ा मानेंगे।

ब्रह्मा ने इन्द्रियों की बात सुन कर विचार किया कि प्रत्येक इन्द्रिय अपनी-अपनी जगह पर श्रेष्ठ और समर्थ है। कोई किसी से कम नहीं। अगर मैं इन सबको बड़ा कह दूँ—तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सब अपने-अपने को बड़ा मानते हैं। यदि देखा जाय तो सब से श्रेष्ठ प्राण है। परन्तु जो मैं इनसे ऐसा कह दूँ कि तुम प्राण को श्रेष्ठ मानो, तो यह नहीं मानेंगी। क्योंकि यह बड़ी मूर्ख, अभिमानी और हठी हैं। इसी कारण इन सब को साक्षात् अनुभव करा देना चाहिये। ऐसा विचार कर ब्रह्मा ने कहा कि हे देवताओ ! तुम सब अपने-अपने स्थान पर जा बैठ जाओ और एक-एक की परीक्षा करके तुम ही देखो। जिसके बिना शरीर और इन्द्रियों का व्यापार न चले उसी को तुम श्रेष्ठ जानो। जाओ, तुम सब अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करलो।

तब सब इन्द्रियों ने कहा कि हे प्रभु ! आपने ठीक कहा और नमस्कार करके अपने-अपने आश्रम पर आ गए। सब से पहिले आँख ने कहा कि हे भाइयो ! तुम हमको कुछ नहीं मानते हो तो हम अपने देवता के पास जाते हैं। देखें हमारे पीछे तुम्हारा क्या हाल होता है ? यह सुन कर सब इन्द्रियों ने कहा कि जाइये। हम तुमको कुछ नहीं समझते हैं। आँख अपने देवता सूर्य के पास चली गई। उसको यह अहंकार था कि मेरे बिना इनको कुछ न दीखने के कारण इनका सब व्यापार बन्द हो जायगा। तब यह सब इन्द्रियाँ तङ्ग होकर हमें बुलाने आयेंगी और श्रेष्ठ भी समझेंगी। चक्षु इन्द्रिय को बुलाने कोई भी इन्द्रिय न गई। जब बहुत दिन बीत गए तो आँख ने विचार किया कि मुझको बुलाने तो कोई नहीं आया, न जाने क्या कारण हुआ ? चलो, अब अपने आप ही नगर को चलें और देखें कि उन सब इन्द्रियों का क्या हाल हुआ ? तब चक्षु अपने नगर में आया और देखा कि नगर ज्यों का

त्यों बस रहा है। सब इन्द्रियां हृष्ट-पुष्ट हुई अपना-अपना कार्य कर रही हैं। तब चक्षु ने अपनी गर्द नीची करके और लज्जित होकर उन से पूछा कि हे बहिनों! तम हमारे बिना कैसे रहीं ? मैं तो य समझ रही थी कि मेरे बिना किसी भी इन्द्रिय का व्यापार नहीं चलेगा। तुम तो अपना-अपना व्याप खूब मज़े से चलाती हो। बड़ा आश्चर्य है। इन्द्रियों ने कहा कि हमारा काम तेरे बिना कुछ भी नहीं बिगड़ा। तेरा काम हमने लाठी से ही चला लिया। यह सुनकर चक्षु इन्द्रिय लज्जित होकर अपने गोलक में जा बैठी।

इसके पश्चात् वाणी ने कहा कि हे बहिनों! अब हम अपने देवता के पास जाते हैं। स इन्द्रियों ने कहा कि जाओ, हम तुमको कुछ नहीं समझते हैं। वाणी अपने अग्नि देवता के पास जा बैं और अपने मन में कहने लगी कि मेरे बिना यह क्या कर सकेंगी ? क्योंकि सब बातों का उत्तर तो मैं ह देती हूं। इन के पास कुछ कहने की शक्ति नहीं रही। बहुत दिन के पश्चात् फिर वाणी ने विचारा कि मुझको बुलाने तो कोई नहीं आया। मुझे चल कर उस नगर को देखना चाहिए कि मेरे बिना उनकी क्या दशा हुई ? यह विचार कर वाणी उस नगर में गई। यह देख कर वह आश्चर्य में पड़ गई और पूछने लगी कि हे बहिनों! मेरे बिना तुम कैसे अपना काम-काज करती रहीं ? सब इन्द्रियां कहने लगीं कि वाणी! हमको तुम्हारी कुछ भी परवाह नहीं रही। हमने अपना काम काज इशारे से ही कर लिया। यह सुन कर वाणी भी लज्जित होकर अपनी गोलक में जा बैठी। उसके पास अधिक बोलने की शक्ति न रही। इसी प्रकार कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, मन, बुद्धि आदिक सब इन्द्रियाँ बारी-बारी से काम छोड़ कर अपने-अपने देवता के पास गईं, परन्तु किसी एक के न होने से सब इन्द्रियों का काम-काज ठीक रीति से चलता रहा। किसी का भी कार्य रुका नहीं।

इन सब के बाद प्राण ने कहा कि हे भाइयो! अब मैं भी अपने देवता के पास जाता हूं। आप सब लोग आनन्द पूर्वक बैठो। देखो घबराना मत। सब इन्द्रियों ने कहा कि आप भी जाइये, देखा जायगा कि तुम्हारे बिना हमारा कौन सा काम-काज न चलेगा ? हमको तुम्हारी कुछ भी जरूरत नहीं है। जाओ, तुम भी चले जाओ। यह सुनकर प्राण अपने देवता वायु के पास जाने को तैयार हुआ और अपनी सब सेना अर्थात् प्राण, अपान आदि को भी साथ लिवा ले गया। तब सब इन्द्रियाँ क्रिया रहित जड़ की तरह होने लगीं। हाय-हाय मच गई। रोने-पीटने लगीं। उनके चेहरे मुरझा गये यह दशा देख कर सब इन्द्रियों ने मिलकर प्राण देवता से प्रार्थना की कि हे प्रभू! आप मत जाओ तुम्हारे बिना हम कुछ भी नहीं हैं। आप कृपा करके बैठिये। इस प्रकार प्रार्थना करके सब इन्द्रियों ने आदर भाव सहित प्राण को अपने स्थान में बिठाया और कहा कि हे प्रभू! आप हम सबसे बड़े हो और पूज्य भी हो। हम सब आपकी शरण में हैं। आपके सेवक हो कर इस शरीर रूपी नगर में रहेंगी और आपकी आज्ञानुसार चलेंगी। हे शिष्य! तब प्राण सबसे श्रेष्ठ हो कर अपने राजसिंहासन पर (अर्थात् हृदय में) जा बैठा। सबकी उछल-कूद शांत हो गई। सब मन में समझ गईं कि प्राण ही हम सब में सबसे ज्येष्ठ और श्रेष्ट है। हम तो कुछ भी नहीं हैं। हे शिष्य! इस गाथा से प्राण की श्रेष्ठता सिद्ध हुई, क्योंकि प्राण बिना कोई व्यापार सिद्ध नहीं हो सकता। जिस परमात्मा का बालक भी इतनी शक्ति रखता है, उसकी महिमा हम तुमसे क्या कहें ? हे शिष्य! यह सब उसी की विभूति फैल रही है। जो पुरुष इस प्राण का महत्त्व जान कर इसकी अहंग्रह उपासना करता है, उसकी सब कामना पूर्ण होती है

शिष्य—हे गुरु! पहले किसी ने इस प्राण की अहंग्रह उपासना करके अपनी सब कामनायें पाई हैं या नहीं। यदि पाई हैं तो आप कृपा करके मेरे बोध के निमित्त कहिये।

गुरु—हे शिष्य! एक ब्रह्मचारी ने इस प्राण की अहंग्रह उपासना करके अपने सब कार्य सिद्ध किये हैं। वह ब्रह्मचारी सदा प्राण की अहंग्रह उपासना में स्थित रहता था। उसके घर के तथा सम्बन्धी सदा उसके साथ झगड़ा करते रहते थे, क्योंकि वह उनका काम-काज नहीं किया करता था। इसी कारण वह ब्रह्मचारी घर वालों से उदास हो कर वैरागी वन कर घर से चला गया। क्योंकि समाधि में लगे हुए प्रेमी पुरुष को दिन-रात्रि लड़ाई-झगड़ा करना अच्छा नहीं लगता है। इस कारण वह घर वालों को छोड़ कर कहीं एकान्त वन में चला गया और वन की शोभा को देख कर बहुत ही प्रसन्न हुआ। चित्त एक दम शान्त हो गया। वह तीन दिन एक आसन पर बैठा रहा। खाने-पीने को कुछ भी न मिला। तीन दिन के पश्चात् भूख ने कुछ-कुछ वेदना पहुँचाई। विचार किया कि जो थोड़ा-सा खाने को यहाँ मिल जाया करे तो मैं इस वन को छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगा। हे शिष्य! गाना उसको बहुत अच्छा आता था। एक दिन मौज में आकर सामवेद को स्वर सहित गाने लगा। प्राण देवता उसका गाना सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसके निश्चय और धैर्य को देखकर भी बहुत ही प्रसन्न हुआ। हे शिष्य! मुख में जो प्राण है वह सब से श्रेष्ठ है। वह मुख वृत्ति प्राण एक सफ़ेद कुत्ते का रूप धारण कर उस ब्रह्मचारी के सामने आकर बैठ गया। फिर एक मुहूर्त के पश्चात् सब इन्द्रियाँ छोटे-छोटे कुत्तों का रूप धार कर उस ब्रह्मचारी के चारों तरफ आ बैठे और प्राण की हजारों वृत्तियाँ भी सफेद कुत्तों का रूप धार कर उस ब्रह्मचारी को चारों तरफ से घेर कर बैठ गईं। ब्रह्मचारी ने उन कुत्तों को देखकर मन में विचारा कि ऐसे कुत्ते तो मैंने आज तक कहीं भी नहीं देखे थे, जैसे ये हैं। ये कुत्ते तो हंसों के समान सफेद हैं। इतने में सब कुत्तों ने बड़े कुत्ते से कहा कि हे भाई! हमको तो बहुत भूख लगी है। अब सामवेद गाओ, क्योंकि आपका गाना बहुत अच्छा है। सामवेद के गाने से हमको अन्न की प्राप्ति होगी। उसको खाकर हम तृप्त होंगे तथा शांति भी मिलेगी। यह सुनकर बड़े कुत्ते ने कहा कि हे भाई! तुम ठीक कहते हो। हमको भी भूख लग रही है। परन्तु इस समय सामवेद के गाने का समय नहीं रहा है। आज तुम जाओ, कल फिर आना, तब हम तुमको अपना गाना सुनायेंगे। ऐसा कहकर सब प्राण रूपी कुत्ते अन्तर्धान हो गये। यह दशा देखकर ब्रह्मचारी को इच्छा हुई कि मैं भी किसी प्रकार इनका गाना सुनूँ कि ये कैसा गाते हैं। भूखे बैठे-बैठे तीन दिन बीत चुके हैं और चौथा दिन भी बीता जा रहा है। इनका गाना सुने बिना यहाँ से नहीं जाना चाहिये। मैं भी तो देखूँ कि सामवेद के गाने से इनको अन्न कैसे मिलेगा? यह कौतुक किंवा तमाशा जरूर देखने योग्य है। क्योंकि मैं भी तो भूखा हूँ। इनके द्वारा मुझको भी अन्न मिल जायेगा, ऐसा विचार करके उस ब्रह्मचारी ने धीरज किया और भूखा ही बैठा रहा।

प्रातःकाल के समय वह सम्पूर्ण कुत्ते फिर आये। बड़ा कुत्ता बीच में बैठ गया तथा छोटे-छोटे कुत्ते चारों तरफ से मण्डल बाँधकर बैठ गए और बड़े कुत्ते से कहने लगे कि हे भाई! अब कुछ गाओ। तब बड़े कुत्ते ने कहा कि तुम सब एक दूसरे की पूँछ को पकड़ कर चक्राकार (अर्थात् गोल मण्डल) हो जाओ और हूँ-हूँकार सहित नाच करो। यह सुनकर वह छोटे-छोटे कुत्ते हूँ-हूँकार करते हुये मण्डलाकार होकर नाचने लगे। फिर वह बड़ा कुत्ता बीच में खड़ा होकर स्वर सहित सामवेद को गाने लगा। तब वायु देवता इनका गाना सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने मेघ वर्षाया। मेघ के बरसते ही वृक्षों के

फल तत्काल ही पक गए और पृथ्वी पर पक-पक कर एकदम गिरने लगे। सब कुत्तों ने उन फलों को रुचि पूर्वक खाया और अन्तर्धान हो गए। ब्रह्मचारी ने भी उन फलों को खाया और क्षुधा का कष्ट निवृ किया। फिर विचार किया कि इस स्थल में फल तो बहुत लगे हैं। कुछ काल इसी जगह रहना चाहिं क्योंकि इस एकान्त स्थान में तपश्चर्या बहुत अच्छी होती है, अर्थात् इन्द्रियाँ संयमपूर्वक रहती हैं। किं से माँगना भी नहीं पड़ता और न हीनता ही उठानी पड़ती है। वैसे तो माँगना कुछ अच्छा भी नहीं है वह ब्रह्मचारी फिर समाधि में जुट गया। हे शिष्य, देखो ! कि जिस परमात्मा के बालक प्राणी में ऐ शक्ति है तो उस परब्रह्म का महत्व हम तुमसे क्या कहें ? देखो उसी का प्रताप सम्पूर्ण संसार में छा रह है। तुम भी उसी की शरण में जाओ।

शिष्य—हे प्रभु ! वह परमात्मा कहाँ रहता है ?

गुरु—हे शिष्य ! वह परमात्मा इस शरीर में ही रहता है। इस कारण तुम इस शरीर को मूर्खों तरह नष्ट न करो। इस शरीर की रक्षा करके विवेकी अधिकारी पुरुष शान्ति को प्राप्त हुए हैं और अज अमर, अभय, सत् स्वरूप कहलाये हैं। मूर्खों की तरह कामनाओं की प्राप्ति के लिए कर्म में पच-पच क शरीर को नहीं खपाया। पुरुषार्थ करके इस शरीर में ही केवल मोक्ष को प्राप्त कर सब संसार शोभा पाई है।

शिष्य—हे गुरु ! इस शरीर के द्वारा जिन्होंने आनन्द पाया है और शोभित हुए हैं, वह कौन हमारे बोध के निमित्त कहिये।

गुरु—हे शिष्य ! एक उशस्थ नामी ब्राह्मण कुरुक्षेत्र भूमि में हुआ है। वह चारों वेदों का व और ब्रह्मवेत्ता सत्यवादी था। सर्व ब्राह्मणों में श्रेष्ठ और प्रसिद्ध था। एक समय कुरुक्षेत्र में बड़ा भयान दुर्भिक्ष पड़ा। ओले और टिड्डियों ने खेती नष्ट कर दी। सारी प्रजा में हा-हा कार मच गया। वह ब्राह्म भी अन्न के न मिलने से स्त्री को साथ लेकर अपने देश से चला गया। जहाँ-तहाँ फिरता-फिरता ए नगर में पहुंचा। तीन दिन और १२ घण्टे अन्न नहीं मिला था। क्षुधा के मारे दोनों का शरीर बहु दुर्बल, शक्तिहीन हो गया था। उनका शरीर मृतक के समान हो गया था। तब वह ब्राह्मण उस नगर एक महावत के घर चला गया। वह महावत हाथी के लिए उबले हुए उर्द अपने पास लिए बैठा था औ उसमें से खाता भी जाता था। उस महावत से ब्राह्मण ने कहा कि हे अज्ञ ! हम भी भूखे हैं। कुछ हम भी इसमें से दोगे ? ब्राह्मण का नम्रतायुक्त यह वचन सुनकर उसने विचार किया कि यह कोई ब्राह्मण है क्योंकि गले में इसके तार (अर्थात् जनेऊ) पड़ा है और भूखा है। इसको अन्न अवश्य देना चाहिए फिर विचार करने लगा कि जो हमने ये झूठे उर्द इसको दे दिये और यह बात कहीं राजा ने सुन ली हमको राजदण्ड देगा कि तुमने जान बूझकर इस ब्राह्मण को झूठे उर्द क्यों दिए। इससे तुम दण्ड अधिकारी हो। इसलिए देना ठीक नहीं है। महावत ने ब्राह्मण से कहा कि हे ब्राह्मण ! हम तुमको य अन्न नहीं दे सकते, क्योंकि यह उच्छिष्ट है। और इस अन्न के अतिरिक्त हमारे पास और अन्न है नह जो उसमें से तुमको कुछ दे दें। और जो तुमको इसमें से दे दें तो जो राजा सुन लेगा तो हमको ताड़ करेगा। इसलिए हे ब्राह्मण ! हम तुमको अन्न नहीं दे सकते। अतः हम असमर्थ हैं। ब्राह्मण ने कहा कि हे महावत ! हमको तो भूख बहुत लगी है। भूख के मारे प्राण निकला जाता है, अरे महावत, देख

साढ़े तीन दिन से अन्न नहीं मिला है। तुम राजा का भय मत करो, वह तुम को कुछ भी न कहेगा और कदाचित् कुछ कहेगा भी तो उसको हमारे पास भेज देना। हम उसको समझा देंगे। अब जल्दी करो, हमको कुछ थोड़ा-सा अन्न दे दो जिससे मेरा प्राण बच जाय। महावत ने फिर कहा कि हे ब्राह्मण! आप पढ़े-लिखे ऋषि-मुनि होकर एक शूद्र जाति का उच्छिष्ट अन्न मत खाओ, झूठा खाने से धर्म नष्ट होता है। ब्राह्मण ने कहा कि अरे महावत! तुम धर्म को क्या जानो? एक प्राण की रक्षा करने से अनेक धर्म हो जायेंगे। देख प्राण की रक्षा करने से धर्म नष्ट नहीं होता है। महावत ने कहा कि ब्राह्मण! झूठा अन्न देने से कहीं मुझको तो दोष नहीं लगेगा? ब्राह्मण ने कहा कि हे महावत! तुमको दोष तो नहीं लग सकता, किन्तु महान् पुण्य प्राप्त होगा। तुम अन्न दे दो। जल्दी करो। तब महावत ने उसमें से कुछ उर्द दे दिये। ब्राह्मण ने आधे तो अपनी स्त्री के लिए रख छोड़े और आधे वहीं बैठकर महावत के सामने खा लिये। जब खा चुका तब महावत ने पूछा कि हे ब्राह्मण! लो जल भी पी लो। तब ब्राह्मण ने कहा कि हे महावत! जल तेरा झूठा है। हम नहीं पीते। महावत ने कहा कि झूठे तो उर्द भी थे उनको क्यों खाया? ब्राह्मण ने कहा कि अरे महावत! जल तो कूप-तड़ाग में बहुत है, यदि प्यास लगेगी तो वहाँ से पी लेंगे। जिसकी हमको इच्छा थी सो हमने तुमसे ले लिया। अब हमको अपना धर्म वृथा नष्ट नहीं करना चाहिये। महावत ने फिर कहा भला अब तुम अपने धर्म की रक्षा करते हो, पहिले धर्म की खबर नहीं थी जो हमारे झूठे मलीन मिट्टी के भांडों में पकाये गये थे, सो उर्द तुमने खाये हैं। लो जल भी पीलो। कहाँ खोजते फिरोगे। अब धर्म का क्या विचार करते हो। धर्म का विचार करना था तो पहिले ही करना था। उपस्थ ने कहा कि हे महावत! उस काल में तो हमारे प्राण निकलना चाहते थे, उनकी रक्षा के लिए अन्न को तुमसे लिया था। दूसरी जगह हम जाने में ही असमर्थ थे। अब हम जल पीने को स्वयं ही समर्थ हैं।

शिष्य—हे गुरु! शास्त्रों में सुना है कि प्राण चाहे चले जायें, परन्तु अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिये और आपने कहा कि जिसका जैसा अन्न मिले खाले। यह विरोधी वचन शोभा नहीं पाते।

गुरु—हे वत्स! यथार्थ में तो धर्म नाम विष्णु भगवान का है जो सबका अपना आप है। उसको नहीं छोड़ना चाहिये, प्राण के न जाने से और विष्णु रूप आत्मा के न त्यागने से पुरुष की कुछ भी हानि नहीं होती। उलटा परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होता है और जो विष्णु की प्राप्ति के साधन कर्म हैं वह तो गौण धर्म हैं, उनको भी नहीं छोड़ना चाहिए और आपत्तिकाल में अथवा और किसी देश काल के अनुसार शरीर के निर्वाह मात्र में जैसे-तैसे कर्म करने में अधर्म नहीं होता। किन्तु उलटा धर्म ही होता है। हे शिष्य! यह मनुष्य का शरीर बड़े पुण्यों से प्राप्त होता है। परन्तु जिस मनुष्य पर कोई आपदा नहीं आई अथवा जो किसी म्लेच्छ आदि के वशवर्ती नहीं हुआ है और प्रमाद के मारे भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार भी नहीं करता, वह मनुष्य निस्सन्देह अधर्मी होता है। हे शिष्य! जो मनुष्य सामर्थ्यवान होकर शास्त्र के अनुसार नहीं बर्तता है, अपनी मूर्खता से प्रमादी बनकर हट करता है, न समाज को देखता है, न अपने कुल व गोत्र को ही देखता है, वह मनुष्य तीन अपराधियों में गिना जाता है। ऐसे अपराधी पुरुष का सत्संग साधक को कभी नहीं करना चाहिये।

हे शिष्य! वह तीन अपराध यह हैं—एक तो उपासक हैं, दूसरे कर्मी, तीसरे ब्रह्मज्ञानी। क्योंकि उपासक जान बूझकर पाप करता है, कहता है कि ईश्वर मेरी रक्षा करेगा, इसलिये वह अपराधी है। कर्मी

जानकर पाप करता है और फिर कहता है कि मैं इसका प्रायश्चित्त कर लूँगा। इसलिये वह अपराधी है। क्योंकि बुद्धिपूर्वक किया हुआ पाप प्रायश्चित्त से दूर नहीं होता। बद्धज्ञानी पाप कहता है कि हमको पाप-पुण्य कुछ नहीं लगते। आत्मा अद्वैत है, मैं ज्ञानी हूं। हमको संसार काल में स्पर्श नहीं कर सकता। कहता तो इस प्रकार है, परन्तु अहं, ममता, अभिमान रूप आस करके दूसरे पुरुषों का उपार्जन किया हुआ धन आदिक हरण करके खूब गुलछर्रे उड़ाता है। आपतो पाप करता है और दूसरों को धर्म का उपदेश करता है। आप में न तो विवेक है, न वैराग दूसरों को वैराग्य आदि का उपदेश कराता है। इस प्रकार का पुरुष बद्धज्ञानी अपराधी कहा जाता दृष्टान्तः—जैसे कोई दरिद्री मनुष्य किसी धनी मनुष्य से मित्रता रखता हो और दैवयोग से वह कदाचित् उस कंगाल के घर पहुँच जावे और वह मूर्ख कंगाल उस धनी के बड़प्पन को न विचार उससे कहे कि भाई जी एक पैसा की गाजर बाजार से लादो तो यह बात सुनकर वह साहूकार अपने में विचार करता है कि यह पुरुष महामूर्ख है। हमारी योग्यता की इसको खबर नहीं, यह पुरुष मित्रता योग्य नहीं, इसको तो नीच से ही मित्रता करनी चाहिये। फिर वह धनी उसको धिक्कार देकर चा जाता है। ऐसे बद्धज्ञानी बड़े यत्न से (अर्थात् कहीं योग वाशिष्ट पढ़कर, कहीं गीता-उपनिषद् आ पढ़कर) ज्ञानरूपी साहूकार पुरुष को अपने बुद्धिरूपी घर में बुलाता है। अर्थात् कहीं व्रत करता है, जप-तप करता है। कहीं उपासना, कहीं यज्ञ, कहीं तीर्थ आदिक और कहीं श्रुति-स्मृति का पठन-पा करता है। बिचारा बड़ा कष्ट उठाता है। तब कहीं ब्रह्मज्ञानियों के समान बात करने को मिलती अर्थात् कुछ-कुछ ज्ञानाभास होता है। परन्तु जब अपने नीच स्वभाव को देखता है अर्थात् विषय की लालसा करके, शरीर इन्द्रियों के आराम में आकर, खाने-पीने के चस्के में फँस कर, बाजारों दुकानों पर बहिर्मुख प्रमादी पुरुषों के साथ मिलकर इधर-उधर बकवाद करता-फिरता है और कृपण धनी मूर्खों की चापलूसी करके उनके सामने प्रार्थना करता-फिरता है कि आप तो बड़े धनी पुण्यात्मा हो, आप भक्त हो, हम साधु हैं, ब्राह्मण हैं। यह हमारा कार्य रह गया सो आप करदो, पर साधु लोग ठहरते हैं। बड़ा उपकार होगा। आपकी कृपा से हमारा भी निर्वाह हो जायगा। तो आपकी सदा जय मनाते रहते हैं। अरे मूर्ख बद्धज्ञानी ! तुझको शर्म नहीं आती। जैसे कुत्ता से टुकड़े के लोभ में रोटी के देने वाले को प्रसन्न करने के लिये कभी पैरों पर लोटता है, कभी पेट दिखा कभी पूंछ हिलाता है, कभी आगे-पीछे दौड़कर चलता है उसी प्रकार तू उस धनी को प्रसन्न करने लिये कभी श्लोक सुनाता है कभी मीठी-मीठी बातें करता है कभी महावाक्य की रचना करता है, आचार-विचार दिखला कर साथ-साथ इधर-उधर घूम कर प्रसन्न करता है। कभी सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धा करके उसको अपनी तरफ खींचता है।

हे वत्स ! इस प्रकार बद्धज्ञानी के उत्तम मानव स्वभाव को छिपाकर लोभ ने कुत्ते जैसा स्व उत्पन्न कर दिया है। हे वत्स ! ऊपर से तो वैराग्य का उपदेश करने वाले और अपने को त्यागी वाले और अन्दर से धन का लोभी, बातों का शिल्पी, ऐसे वंचक बाचाल को धिक्कार है। यह नीच वृत्ति का साधक है, यह दशा देखकर ब्रह्मविद्या हँसती है और धिक्कार करके कहती है कि यह क्या करता-फिरता है ? इसने मेरे महत्व को कुछ नहीं समझा ! इसको प्राप्त करके परम संतोष में होना चाहिये था। यह तो जब बोलता भी है तो दीन वचन ही इसके हृदय से निकलते हैं।

अपना पूर्व का नीच स्वभाव नहीं छोड़ा। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि इसने हमको छल-कपट करके बुलाया था। इस मूर्ख लोभी लालची ने अपने कष्ट का भी ध्यान न दिया कि जब मैंने ब्रह्मलोक आदि सब भोगों का त्याग किया था, तब यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था। इसलिये अब हमको इसका छल-कपट ज्ञात हो गया। इसने अनेक जन्मों में जो कुछ शुभ कर्म तथा उपासना आदिक किये हैं सो वृथा ही कष्ट उठाया है, यह तो पहिले से ही दीन था, संसारी लोगों से बहुत ही मिलता जुलता था। हे वत्स! देखो ना, कैसा आश्चर्य है! भगवान ने भी कहा है कि प्राणी कर्म द्वारा पहिचाने जाते हैं। राजा जनक ने भी कहा है कि चाहे ज्ञानी हो, चाहे अज्ञानी हो, वाणी के द्वारा पहिचाना जाता है। हे वत्स! जैसे कोई पुरुष बहुत सा पैसा खर्च करके अच्छी तलवार देखकर मोल ले और फिर उसकी बड़ाई को न जान कर उससे लकड़ी काटने लगे, तो फिर वह तलवार शत्रु के मारने में काम नहीं देती। उसी प्रकार उस पुरुष ने भी अधिष्ठान ज्ञान के लिये नाना क्लेश रूपी पैसा खर्च करके बड़े-बड़े बुद्धिमान आचार्यों की विनती करके ज्ञानरूपी तलवार जन्म-मरण रूपी फँदे को काटने के लिये सम्पादन करी थी। परन्तु मूर्खों की नाँई उस ज्ञानरूपी तलवार द्वारा भोग पदार्थों के लिये प्रयत्न करने लगा और जिस अज्ञानरूपी शत्रु को इस ज्ञानरूपी तलवार से मारना था उसको, तो मारा नहीं, जिस से इसका यश बढ़ता और ब्रह्मलोक में कीर्ति फैलती। उसके बदले में अब ब्रह्मलोक में धिक्कार होती है। जैसे कोई पुरुष मित्रता भाव से किसी सर्प को दूध पिलावे तो भी सर्प के अन्दर विष ही अधिक बढ़ेगा, अमृत नहीं। वैसे ही यह बद्धज्ञानी शरीर तथा इन्द्रियरूपी सर्प को दिन-रात भोग देता रहता है। उस में तृष्णारूपी विष बढ़ता रहता है और वह उसको बार-बार जन्म-मरण देती रहती है। यह दशा देखकर ब्रह्मविद्या इस बोधचंचु बद्धज्ञानी को देख-देख कर हँसती रहती है और कहती है कि तू मुझको अज्ञानरूपी शत्रु के मारने के लिये लाया था अथवा शरीर इन्द्रियों के द्वारा भोग देने के लिये किंवा हृष्ट-पुष्ट करने के लिये लाया था। या अज्ञानरूपी शत्रु को बलवान करने के लिये लाया था। हे शिष्य! इस प्रकार अन्त में फिर वह ब्रह्मविद्या इस बद्धज्ञानी को मूर्ख पशु जानकर धिक्कार दे कर छोड़कर चली जाती है। अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति नहीं कराती। इसी कारण ऐसे ज्ञान को ज्ञानाभास कहते हैं। हे वत्स! तुम ऐसे वाचक ज्ञानियों का संग कभी न करना और बात भी नहीं सुनना।

शिष्य—हे गुरु! उसी ब्राह्मण की कथा सुनाइये कि आगे उस उपस्थ ब्राह्मण का क्या हुआ?

गुरु—हे वत्स! उस उपस्थ ब्राह्मण ने वह आधे उरद जा कर अपनी स्त्री को दिये, वह ब्राह्मणी कहीं से तृप्त हो कर भोजन कर आई थी, इस कारण से उन उर्दों को उसने रख छोड़ा था। रात्रि भर उस नगर में रहे। नगर वालों ने उस उपस्थ ब्राह्मण से कहा कि हे ब्राह्मण! राजा जनक के एक यज्ञ प्रारम्भ हुआ है। वहाँ यज्ञ में तुम क्यों नहीं जाते? वहाँ तुमको दक्षिणा और भोजन भी मिलेगा। इससे तुम्हारी सब दरिद्रता भी दूर हो जायगी। जनकपुरी यहाँ से केवल चार कोस है। प्रातःकाल उठ कर आप वहाँ अवश्य जाना। अस्तु। उपस्थ ब्राह्मण ने यह समाचार सुनकर स्त्री से कहा कि यहाँ के ब्राह्मण ऐसा कहते हैं, तुम्हारा क्या विचार है? स्त्री ने कहा कि हे प्रभू! जैसी आपकी इच्छा हो। फिर अपनी स्त्री के पास उन बचे हुए उर्दों को देखकर कहा कि हे प्रिये! हमारा शरीर बहुत ही निर्बल हो गया है। चलने-फिरने की शक्ति नहीं रही। क्या करें, जो थोड़ा सा भी कुछ खाने को मिल जाय तो उसको खा कर धीरे-धीरे जनकपुरी में पहुँच जायें। स्त्री ने कहा कि हे भगवन्! आपने जो उर्द दिये थे,

वह रक्खे हैं, आप उनको खा कर धीरे-धीरे चलिये, मैं किसी और जगह पर भोजन कर लूँगी। प्रभु! जनकपुरी में अवश्य चलना चाहिये। क्योंकि कुछ न कुछ तो वहाँ से प्राप्त अवश्य होगा। हमें विश्वास है कि हम खाली नहीं आ सकते। उपस्थ ने कहा अच्छा, हे प्रिये! प्रातःकाल अवश्य चलेंगे अब यह अन्न हमको दे दो। स्त्री ने उन उर्दों को दे दिया और उपस्थ ने उन वासी उर्दों को खाकर कहा जो हम चलते हैं। फिर स्त्री ने कहा कि हे प्रभु! आप बड़े पंडित हो। जनक राजा का यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण जब आपका महत्व जानेंगे तब आप का बड़ा आदर करेंगे। अब आप अपने मन में किसी प्रकार का दुःख न मानो। उपस्थ ने कहा कि क्या तुम भी हमारे महत्व को देखना चाहती हो? अच्छा अभी हम क्या कहें, वहाँ चल कर जो होगा सो देखा जायगा।

हे वत्स! प्रातःकाल उठकर वहाँ से चल दिए और धीरे-धीरे जनकपुरी में पहुँच गये। पूछते पूछते राजा की यज्ञशाला में जा पहुँचे और द्वारपाल से कहा कि हे भाई द्वारपाल! हमको अन्दर जाने दो। द्वारपाल ने एकदम झुककर प्रणाम किया और कहा कि हे ब्राह्मण! महाराज की मुझको आज्ञा है कि किसी ब्राह्मण को रोकना मत, सो महाराज आप चले जाओ, परन्तु सभा के अन्दर नहीं जाना क्योंकि तुम्हारी आकृति कंगालों की सी है, पंडितों की सी नहीं मालूम होती और न कोई चिन्ह ही है इसलिए बाहर ही खड़े होकर यज्ञ को देख लेना, बस जाओ। उपस्थ ने कहा अच्छा भाई, अन्दर नहीं जायेंगे हम बाहर ही खड़े रहेंगे। हे वत्स! उपस्थ ब्राह्मण अन्दर जाते ही यज्ञ सभा के पास पहुँचे और अपने महत्व का विचार करके किसी का भय न किया और मन में विचारा कि अब अपना महत्व प्रगट करना चाहिए, नहीं तो यह सभा के ब्राह्मण हमको क्या जानेंगे? हमको कंगाल जानकर कर्मचारियों से बाहर निकलवा देंगे। इस कारण से पहले ही अपना महत्व प्रकट कर देना चाहिए। इतने ही में अग्निहोत्री ब्राह्मण ने मंत्र का उच्चारण किया तब उपस्थ ने उस ब्राह्मण से कहा कि हे ब्राह्मण! तुम इस मन्त्र का नाम, देवता तथा प्रतिष्ठा जानते हो कि नहीं, जानते हो तो तुम इसका उच्चारण करो और जो इस मन्त्र का नाम, देवता, प्रतिष्ठा नहीं जानते तो तुम मेरी आज्ञा के बिना मन्त्र का उच्चारण नहीं करना और जो तुम उच्चारण करोगे तो तेरा मस्तक नीचे गिर पड़ेगा, सावधान होकर समझ बूझ कर बोलना। मन्त्रों के कंठ कर लेने से सफलता नहीं मिलती। यह सुनकर अग्निहोत्री ब्राह्मण चुपचाप हो गया और कुछ न बोल सका। इसके पश्चात् दूसरे ब्राह्मण ने मन्त्र का उच्चारण किया। उपस्थ ने उस ब्राह्मण से भी यही कहा। फिर तीसरा ब्राह्मण मन्त्र का उच्चारण करने लगा, तब उससे भी यही कहा। फिर किसी ब्राह्मण ने डर के मारे मन्त्र का उच्चारण नहीं किया और सभा मौन हो गई। भय के मारे थर-थर कांपने लगी और विचार किया कि यह कोई बड़ा तेजस्वी ऋषि आया है अथवा साक्षात् ब्रह्मा ही आया हो। इसने सब सभा को भयभीत कर दिया। इसने किसी ब्राह्मण को कुछ भी न समझा। इस कारण से यह पुरुष बड़ा सामर्थ्यवान प्रतीत होता है। जब यह दशा राजा जनक ने देखी तो राजा सभा से उठा और उठकर उपस्थ ब्राह्मण के निकट आकर नमस्कार किया। पहिले उपस्थ की स्त्री को अपनी स्त्रियों में भेज दिया, उसकी अच्छे प्रकार से सेवा करने की आज्ञा देदी और फिर उपस्थ को सभा के अन्दर ले गया और नम्रतापूर्वक उसका देश, नाम, गोत्र पूछा। उपस्थ ने अपना देश, नाम तथा सारा वृत्तान्त ज्यों का त्यों कह दिया। राजा सब वृत्तांत को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और उपस्थ का पूजन करके कहा कि हे ब्राह्मण! आपने बड़ा अनुग्रह किया जो यहाँ आये। आप का आना हमारे

कल्याण करने के लिए हुआ है। परमेश्वर ने बड़ी कृपा की है। महाराज! हमने तो पहले ही आपके पास यह यज्ञ कराने के वास्ते एक पत्री भी भेजी थी। परन्तु आप नहीं आये, किंवा आपको न मिली हो, आप कहीं चले गये हों। तब मैं इन ब्राह्मणों से यज्ञ कराने लगा, अब परमेश्वर ने कृपा करके इस प्रकार प्रेरित कर आपको यहाँ तक पहुँचा दिया, सो महाराज बहुत ही अच्छा हुआ। अब आप कृपा करके यज्ञ कराइए। तब उपस्थ ने कहा कि हे राजन्! जितना धन इन सब ब्राह्मणों को दक्षिणा में दोगे, उससे दूना धन हम अकेले लेंगे, तब यज्ञ करायेंगे। हे राजा! पीछे ऐसा न हो कि तुम हमको कंगाल जान कर अपना काम निकाल कर नमस्कार मात्र करके सन्तुष्ट कर दो कि यह ब्राह्मण थोड़ी सी दक्षिणा में प्रसन्न हो जाएगा। इसलिए पहले हम अपना काम करेंगे, पीछे तुम्हारा कार्य करेंगे। हमको तुम्हारा विश्वास नहीं। जनक राजा ने कहा कि अच्छा महाराज, जैसा कहोगे वैसा ही करेंगे। तब उपस्थ ब्राह्मण उस यज्ञ सभा में ब्रह्मा हुआ और यज्ञ करने की सबको आज्ञा दी गई। यज्ञ विधिपूर्वक कराया गया और निर्विघ्न समाप्त किया। फिर राजा ने प्रथम तो उन सब ब्राह्मणों की पूजा की और दक्षिणा दी, पश्चात् उपस्थ की पूजा की और सबसे दूनी दक्षिणा दी और सब प्रकार से प्रसन्न किया। जैसे उपस्थ ने कहा था उसी प्रकार राजा ने किया। उपस्थ ने प्रसन्न होकर राजा को आशीर्वाद दिया। फिर सब सभा में शोभायमान हुये। हे शिष्य! देख, इस प्राण के रहने से इस शरीर में उपस्थ ने सब लोगों में आप भी शोभा पाई और दूसरों का कार्य भी सिद्ध कर दिया, जो प्राण को मूर्खों की नांई हठ करके खो देता तो आप भी वृथा मर जाता और उससे दूसरों का भी कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता। हे शिष्य! यह प्राण का ही महत्व है। इस कारण से इस प्राण को ऐसे आपत्तिकाल में खान-पान आदिकों का हठ करके वृथा नहीं खोना चाहिए। प्राण सहित शरीर के रहने से पुरुषार्थ करे तो परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसी शरीर में शोभा भी पाता है। यह प्राण ही सब गुणों की प्राप्ति का कारण है। भोगों की कामना करके विषयों की प्राप्ति के यत्न में दिन रात्रि पचपच कर इसको नहीं खोना चाहिए। हे वत्स! तुम भी प्राण की विधिपूर्वक रक्षा करके आत्मा को ब्रह्मरूप जानने का पुरुषार्थ करो। यह मानव शरीर बारम्बार नहीं मिलता है और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति इस मानव शरीर में ही होती है। क्योंकि हृदय में स्थित पुरुष का नाम ही वैश्वानर है।

शिष्य—हे गुरु महाराज! इस वैश्वानर का क्या स्वरूप है?

गुरु—हे वत्स! वैश्वानर की आख्यायिका सावधान हो कर सुन! प्राचीन काल में पाँच ब्राह्मण थे, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उनका नाम प्रसिद्ध था। वे पाँचों ही वैश्वानर की उपासना करते थे। हे वत्स! वैश्वानर ब्रह्म को कहते हैं। सोई आत्मा स्वरूप है। यह वैश्वानर ही विराट हुआ है, जिस विराट का मस्तक ब्रह्मलोक है, चक्षु सूर्य है, उदर आकाश है, प्राण वायु है, मूत्र जल है, चरण पृथ्वी है, मुख अग्नि है। इन सप्त अंगों का संघात रूप वैश्वानर है, जिसके यह ब्राह्मण उपासक थे। परन्तु हे शिष्य! वे पाँचों ब्राह्मण इस वैश्वानर के एक-एक अंग की उपासना करते थे। सम्यक् रूप से वैश्वानर के स्वरूप को पाँचों में से कोई भी नहीं जानता था और अपने आपको संसार में वैश्वानर के उपासक प्रसिद्ध करते थे। जैसे अन्धे पुरुष हाथी के जिस अंग को हाथ से टटोल कर देखते हैं, उसी अङ्ग को हाथी मानते तथा जानते हैं। उसी प्रकार वे पांचों ब्राह्मण वैश्वानर के एक-एक अङ्ग को वैश्वानर मानते थे। वैश्वानर के यथार्थ स्वरूप को कोई भी नहीं जानता था। एक काल में कुरुक्षेत्र का मेला था। वहाँ

यह पाँचों ब्राह्मण अकस्मात् एकत्र हो गये। दैवयोग से पाँचों ने एक ही जगह स्नान किया। स्ना करके कुंड के किनारे पर पास-पास आ बैठे और पाठ करने लगे। पाँचों ने अपनी-अपनी विद्या को स सहित वैखरी वाणी से गान किया। तब उन पाँचों को परस्पर एक-दूसरे की विद्या सुनने से संशय उत्प हुआ और अपने मन में विचार करने लगे कि हमारे में वैश्वानर की विद्या को कोई भी नहीं जानत हम लोग सम्यक् ज्ञान का मिथ्या अहंकार करते हैं। क्योंकि कोई तो ब्रह्मलोक को वैश्वानर मानता ता जानता है, कोई सूर्य में वैश्वानर का निश्चय किये बैठा है। कोई जल को ही वैश्वानर कहता है, वायु को, कोई आकाश को, कोई पृथ्वी को वैश्वानर (अर्थात् ब्रह्मात्मा) का निश्चय करे बैठा है। एक का वचन सुनकर इन पाँचों ब्राह्मणों ने वैश्वानर के अङ्गों को जाना और मन में कहा कि जो आचार्य वैश्वानर विद्या को यथार्थ जानता हो, उसी की शरण में चल कर उस से इस वैश्वानरी विद्या को ग्र करना चाहिये। उद्दालक मुनि इस विद्या को सब अङ्गों सहित जानता है और वह यहां इस मेले में आया है। चलो, हम पाँचों उसी की शरण को प्राप्त हों। सबने कहा बहुत अच्छा, चलो, हमारे कार्य सिद्ध होंगे। पाँचों ब्राह्मण इस प्रकार परस्पर विचार कर उद्दालक मुनि के पास चल दिये। उद्दालक ने भी सुना कि पाँचों ब्राह्मण वैश्वानर की विद्या सीखने को हमारे पास आते हैं। मन में वि किया कि हमतो स्वयं ही सब अङ्गों सहित इस वैश्वानरी विद्या को नहीं जानते, इनको क्या कहेंगे? इस हम पहिले ही से कह दें कि हे ब्राह्मणो! इस वैश्वानरी विद्या को सब अङ्गों सहित हम नहीं जानते, ता पीछे सभा में मिथ्यावादी न होना पड़े। इन ब्राह्मणों को हमारे पास आने में यह लाभ होगा कि का अश्वपति नामी राजा इस विद्या को सम्पूर्ण अङ्गों सहित जानता है। वैश्वानरी विद्या इस काल में अश्वपति राजा को आती है वैसी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में और किसी को नहीं आती। इन ब्राह्मणों को खबर नहीं है। हम इनको उसके पास भेज देंगे। इतने में वह ब्राह्मण उद्दालक मुनि के आश्रम में गये। मुनि ने ब्राह्मणों से कहा कि हे ब्राह्मणो! हमने तुम्हारे यहाँ आने का प्रयोजन जान लिया जिस विद्या की प्राप्ति के लिये आप हमारे पास आये हो, उसको तो सब अङ्गों सहित हम भी जानते। कन्धार का राजा अश्वपति इस वैश्वानर विद्या को अच्छे प्रकार जानता है। चलो, हम तुम उसके पास चलें। ब्राह्मणों ने कहा बहुत अच्छा, चलिये। यह कह कर सब चल दिये। उधर रा भी सुना कि छः ब्राह्मण जो सारे संसार में प्रसिद्ध हैं, हमारे पास वैश्वानर विद्या को पढ़ने के लिये हैं अथवा कोई दूसरा प्रयोजन है। यह ब्राह्मण सबसे पूज्य हैं। यह बिना प्रयोजन किसी के घर पर जाते। इन से पहिले ही मिलना चाहिये। इतने में ब्राह्मण भी राजा के नगर में आ पहुँचे। राजा सा धन साथ लेकर आगे ही ब्राह्मणों से जा मिला और सब धन उनके सन्मुख रख दिया। नमस्कार करके कहा कि हे ब्राह्मणो! आपका बड़ा ही अनुग्रह हुआ जो आप हमारे नगर में पधारे हमारे देश के बड़े भाग्य उदय हुए हैं। आपने अपने आने से नगर को पवित्र किया और हमको कृतार्थ किया है। हे महाराज! आपके प्रताप से अब मैं भी शोभा पाऊँगा और सारे ब्रह्माण्ड में यश होगा। महाराज, आप महात्मा लोग जिस देश में जाते हैं, वह देश पवित्र हो जाता है। जिस में ब्राह्मणों का आदर, सत्कार, पूजन आदि का अभाव होता है, वह राष्ट्र महा दरिद्री होता है। वहाँ का नाश हो जाता है, अधर्म फैल जाता है। अनेक प्रकार के रोग, दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित रहता है।

ब्राह्मण—हे राजा! हम लोग तेरे पास धन के लिये नहीं आये हैं, सब अङ्गों सहित वै

की विद्या सीखने आये हैं। जो हम उसको छोड़कर तेरे धन को ग्रहण करेंगे तो हमारे ऊपर दैव का कोप होगा। हे राजा! शास्त्र की आज्ञा है कि जिस प्रयोजन के लिये पुरुष कहीं किसी के पास जावे तो उसको प्राप्त करके और कुछ भी नहीं करना चाहिये। पश्चात् चाहे कुछ करे। हे राजा! कोई भी कार्य हो, चाहे तीर्थ यात्रा हो अथवा यज्ञ हो अथवा उपासना हो किंवा गंगा आदि स्नान हो या ज्ञान की इच्छा हो या विद्या पढ़नी हो, सत्संग करना हो, जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये अभिलाषी पुरुष किसी के पास जावे, उस वस्तु की प्राप्ति के यत्न को छोड़कर दूसरी वस्तु की प्राप्ति का यत्न करने से अथवा दूसरी वस्तु के लेने से वह देवता उस पुरुष से अप्रसन्न होता है और उस पुरुष का प्रयत्न निष्फल जाता है, वह पुरुष न यहाँ का रहता है और न परलोक का अर्थात् दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाता है। राजा ने कहा कि हे ब्राह्मणो! हमारा धनचोरी, ठगी, जबरदस्ती या दूसरे अनर्थों से उपार्जन नहीं किया गया है और न जुआ, छल, कपट, दण्ड, रिश्वत आदि का है। मेरे राष्ट्र में सब धर्मात्मा रहते हैं। चारों वर्ण अपने-अपने धर्म पर खड़े हुए हैं। किसी की भी उच्छृङ्खल वृत्ति नहीं है। हे ब्राह्मणो! हमारी प्रजा के मनुष्यों के हृदय उदार हैं। ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त सब अपनी-अपनी विद्या में कुशल हैं। अपने-अपने धर्म मर्यादा का कोई भी उल्लङ्घन नहीं करता। इसी कारण हमारी सम्पूर्ण प्रजा सब प्रकार से सदा प्रसन्नमुख रहती है। मेरे यहाँ डाक्टरों की दुकानें नहीं खुली हैं, इसलिए सब लोग निरोग हृष्ट-पुष्ट हैं। किसी की उल्टी बुद्धि नहीं होती और न कोई किसी को कष्ट ही देता है। हे ब्राह्मणो! मेरी प्रजा में किसी प्रकार का भी दुर्व्यसन नहीं है। आप फिर हमारे धन को क्यों नहीं स्वीकार करते? हमारा धन अवश्य ग्रहण कीजिये। मेरा कुछ नहीं है, यह तो सब आपकी विभूति है। सब जगह ब्राह्मणों का ही साम्राज्य है। जिस राष्ट्र में राजा का मन्त्री ब्राह्मण नहीं होता, वह राष्ट्र बहुत शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। यह सुनकर सब ब्राह्मणों ने कहा कि हे राजन्! हम आपकी कीर्ति पहिले से ही सुनते आये हैं कि राजा अश्वपति बड़ा धर्मात्मा है और ब्रह्मवेत्ता भी है। तुम्हारी प्रजा को भी देखते आये हैं। सब की सब धर्मात्मा और उदारचित्त है। आपके राज्य में सिंह और बकरी निर्भय इकट्ठे फिरते हैं। कोई किसी को क्लेश नहीं देता। यह सब आप का ही प्रताप है। जिस देश में ब्रह्मज्ञानी राजा होता है, उस देश की प्रजा भला क्यों न धर्मात्मा होगी? जहाँ राजा प्रमादी, मूर्ख, अनाचारी होता है, वहाँ अनेक प्रकार के दुराचार फैल जाते हैं, जिससे अनेक प्रकार के रोग, शोक आदिक पीड़ा देने लग जाते हैं। तब राजा ने कहा कि हे ब्राह्मणो! कुछ काल आप यहाँ निवास करो। आपको कोई कष्ट न होगा। तब हम आपको बहुत-सा धन देंगे और सब प्रकार से प्रसन्न करेंगे। यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा कि हे राजन्। हम आपसे धन लेने के अभिप्राय से नहीं आये हैं। हमने पहिले ही कह दिया था कि हम तो सब ब्राह्मण वैश्वानर की सम्पूर्ण विद्या आपसे सीखने के लिए यहाँ आये हैं। हमको यह विद्या सब अङ्गों सहित यथार्थ नहीं आती है। हमने सुना कि राजा अश्वपति इस विद्या को अच्छी प्रकार से जानता है। यदि ऐसा ही है, तो कृपा करके इस वैश्वानर विद्या का दान दीजिये। यह सुनकर राजा ने विचार किया कि जो मैं इनको विद्या का उपदेश न करूँ और कह दूँ कि मुझको नहीं आती है तो यह ब्राह्मण उद्दालक को मिथ्यावादी समझेंगे जबकि उद्दालक सत्यवादी और सब ब्राह्मणों में श्रेष्ठ धर्मात्मा है। ऐसा अपने मन में विचार करके राजा ने ब्राह्मणों से कहा कि हे ब्राह्मणो! आज तो हम आपको उपदेश नहीं कर सकते, कल करेंगे। भला क्यों? इसलिए कि सहज ही (अर्थात् एकदम) उपदेश करने से विद्या का निरादर होता है और तुमको सफलता भी न मिलेगी। कल

आचार्यों की तरह तुमको मैं उपदेश करूँगा। इसके पश्चात् ब्राह्मणों ने कहा कि हे राजन्! जैसे आ की इच्छा हो वैसा ही करिये। तब राजा ब्राह्मणों को विश्राम देकर अपने राजमहल में चला गया। प्रात काल उठकर ब्राह्मण राजा के आश्रम पर गये। विधि पूर्वक ब्रह्मचारियों की नाँई ताम्बूल आदिक लेकर नम्रता पूर्वक राजा के आगे रख दी और साष्टांग प्रणाम किया। राजा ने ब्राह्मणों को आदर सहि आसन देकर बिठाया और कहा कि हे ब्राह्मणो! आप सबके पूज्य और चारों वर्णों में श्रेष्ठ हो। महात्मा हम क्षत्री हैं, और विद्यार्थी को विद्या देना अपना धर्म समझते हैं। अब कहो आपको किस विद्या इच्छा है। यह सुनकर प्राचीनसाल ब्राह्मण ने कहा कि हे राजन्! हम ब्रह्मलोक को वैश्वानर विद्या जान कर उपासना करते हैं और उसी को ब्रह्मरूप भी मानते हैं। राजा अश्वपति ने कहा कि हे ब्राह्मण! य हमने पहले से ही जान लिया था। भला कैसे? क्योंकि तेरा शरीर सदा आरोग्य रहता है और तें जठराग्नि कभी मन्द भी नहीं होती। जो कुछ भी तुम खाते हो, सब भस्म हो जाता है (अर्था पच जाता है) और तुम्हारे कुल में भी सब धर्मात्मा हैं। तुम सबमें श्रेष्ठ और पूज्य हो यह सब प्रताप वैश्वानर ब्रह्म की उपासना का ही है। जैसे किसी पुरुष की चादर का ए कोना जल जाता है तो वह पुरुष इस प्रकार कहता है कि मेरी सारी चादर जल गई तथा जैसे कि नगर का एक किनारा जल जाय तो नाम सारे नगर का लेते हैं कि भाई तमाम नगर ज गया है। उसी प्रकार तुम भी वैश्वानर के एक अंग (अर्थात् मस्तक) की उपासना करते हो और अभिमा तुमको वैश्वानर की सम्यक् उपासना करने का है। यह तुमने बहुत अच्छा किया कि जो तुमने मेरे पा आकर शिष्यों की तरह सम्यक् वैश्वानर की विद्या का प्रश्न किया। क्योंकि जो तुम यहाँ आकर हम से न पूछते और हम सुन लेते तो हम तुम्हारे पर कोप करते और तुम्हारा मस्तक कट कर पृथ्वी पर गिर पड़ता (अर्थात् तुम बड़े ही लज्जित होते)। अब कुछ भी भय मत करो। बला तो आई थी, किन्तु सिर से ट गई। परमात्मा ने तुम्हारे ऊपर बड़ी कृपा की। तुम्हारे पुण्य उदय हो गये जो तुम मेरे पास चले आये बहुत अच्छा, यम की फाँसी से बच गये। राजा अश्वपति की इतनी बात सुनकर प्राचीनसाल को ब आश्चर्य हुआ और कुछ भी न बोला। इसके पश्चात् सत्ययज्ञ से राजा ने पूछा कि हे सत्ययज्ञ ब्राह्म तुम किस को वैश्वानर मानते तथा जानते हैं।

सत्ययज्ञ—हे राजन्! हमतो सूर्य भगवान् को वैश्वानर आत्मा जानकर उसकी ब्रह्मरूप उपासना करते हैं। उसी को ब्रह्मरूप जानते हैं। अश्वपति बोला कि हे ब्राह्मण! तेरा यह हाल ह प्रथम ही जान लिया था क्योंकि तेरे घर में रथ आदिक सवारियाँ अधिक हैं और सेवक भी तुम्हारे य अधिक हैं। तथा भोग्य पदार्थों की भी तुम्हारे यहाँ कुछ कमी नहीं है। सूर्य की उपासना का यही फ होता है। तेरा ब्रह्म तेज भी सब से अधिक है। हे ब्राह्मण! यह सब सूर्य की उपासना का प्रताप है तुमने भी बहुत अच्छा किया कि जो हमारे पास आकर सम्यक् विद्या का प्रश्न किया जो तुम मेरे पास आते और हम सुन लेते तो तुम्हारे ऊपर क्रोध करते जिस से तुम्हारे चक्षु नष्ट हो जाते, क्योंकि तु वैश्वानर के एक अङ्ग की उपासना करते हो। सम्पूर्ण की नहीं और अभिमान तुमको सब अंगों सहि उपासना का है, तुम भी बच गए। आपत्ति आई तो थी लेकिन चली गई। तुम मेरी शरण में आ ग तो सिर से बला टल गई। जान बची लाखों पाये। आप भी बैठिये कोई चिन्ता न कीजिये। सत्यय भी राजा का यह वचन सुनकर बड़े आश्चर्य में पड़ गया और कुछ न बोला। चुपचाप बैठ गया।

राजा ने इन्द्रद्युम्न से पूछा कि हे ब्राह्मण ! तुम किसको वैश्वानर जानकर उपासते हो ? इन्द्रद्युम्न ने कहा कि हे राजन् ! हम तो वायु को वैश्वानर जानकर उपासते हैं और उसी को ब्रह्मरूप मानते हैं। अश्वपति बोला कि हे ब्राह्मण ! हम पहले ही जान गये। क्योंकि तेरा ब्रह्मतेज सब से अधिक है। सब ब्राह्मणों में तेरा मान और प्रतिष्ठा होती है। तेरी जठराग्नि सदा प्रज्वलित रहती है और अश्वादिक वाहन भी तुम्हारे बहुत हैं। यह सब विभूति वैश्वानर वायु की अहंग्रह उपासना से तुमको प्राप्त हुई हैं। जो कोई प्राण की अहंग्रह उपासना करता है उसको ऐसा ही तेज प्राप्त होता है और सब में प्रतिष्ठा भी होती है। हे ब्राह्मण ! तुमने भी बहुत अच्छा किया कि जो हमारे पास आकर शिष्यों की तरह सम्यक् विद्या का प्रश्न किया। यदि तुम हमारे पास न आते और हम तुम्हारा हाल सुनते तो आप पर कोप करते जिस से तेरा प्राण नहीं रहता। क्योंकि तुम वैश्वानर के एक अङ्ग की उपासना करते हो और अभिमान तुमको सारी उपासना का है। तुम भी बच गये, बला टल गई। तुम्हारे माता पिता का कोई शुभ कर्म उदय हो गया जो मृत्यु के चक्कर से निकल गये। बहुत ही अच्छा हुआ जो तुम मेरे पास चले आये। अच्छा आप भी बैठिए। यह सुनकर इन्द्रद्युम्न आश्चर्य में पड़कर चुप हो गया।

इसके पश्चात् राजा ने जनाज ब्राह्मण से पूछा कि हे ब्राह्मण ! तुम किसको वैश्वानर जानकर उपासना करते हो ? जनाज बोला कि हे राजन् ! हम आकाश को वैश्वानर (अर्थात् ब्रह्म) जान कर उसकी उपासना करते हैं और उसको ही ब्रह्मरूप जानते हैं। राजा ने कहा कि हे ब्राह्मण ! तेरा प्रताप देखकर हमने प्रथम ही जान लिया था, यह सब वैश्वानर आकाश की अहंग्रह उपासना का प्रताप है कि सो सब प्राणियों में तेरा मान और प्रतिष्ठा होती है और इसी से तेरा गम्भीर स्वभाव भी है। तुम शान्तात्मा भी हो और ब्रह्म तेज भी तेरा सब से अधिक है। यह सब वैश्वानर आकाश की उपासना का फल है। तुमने भी बहुत अच्छा सोचा जो तुमने हमारे पास आकर शिष्य बुद्धि से सम्यक् विद्या की प्रार्थना की। जो तुम यहाँ नहीं आते और हम सुन लेते तो तुझ पर क्रोध करते। हमारे क्रोध से तेरा पेट फट जाता क्योंकि तुम उपासना तो वैश्वानर के एक अङ्ग की करते हो, सब अङ्गों की नहीं और अभिमान सम्यक उपासना का रखते हो (अर्थात् मैं सम्पूर्ण ब्रह्म को जानता हूं)। हे ब्राह्मण ! तुम भी बच गये, दैव का कोप तो हुआ था परन्तु उद्दालक मुनि की कृपा से बच गये जो तुमने उनको स्मरण कर लिया। नहीं तो तुम भी साधारण प्राणियों की तरह मौत की चक्की में पीसे जाते। बहुत अच्छा हुआ जो तुमको उद्दालक मुनि यहाँ पर ले आये। आप भी बैठिये। जनाज अश्वपति के यह वचन सुनकर बड़ा ही आश्चर्य में पड़ गया और चुपचाप होकर बैठ गया। फिर राजा ने बुडला ब्राह्मण से पूछा कि तुम किस को वैश्वानर (अर्थात् ब्रह्म) जानकर उपासना करते हो ?

बुडला बोला—हे राजन् ! हम तो जल को वैश्वानर मानते हैं और उसी की ब्रह्मरूप से उपासना भी करते हैं।

अश्वपति—हे ब्राह्मण ! तेरा प्रताप हमने पहिले ही जान लिया है कि तेरा पेट बहुत बड़ा है, मणि, रत्न आदिक तेरे घर में बहुत हैं ! ब्रह्मतेज भी तेरा बहुत है। यह सब प्रताप जलरूप वैश्वानर की अहंग्रह उपासना का है। तुमने भी बहुत अच्छा किया है जो हमारे पास आकर शिष्यभाव के साथ सम्पूर्ण विद्या की जिज्ञासा की। जो तुम यहां नहीं आते तो तुम्हारा वृत्तान्त सुनकर हम तुम्हारे ऊपर कोप करते। उस कोप से तुम्हारे उपस्थ इन्द्रिय में कष्ट हो जाता, क्योंकि तुम वैश्वानर के एक अङ्ग की उपा-

सना करते हो और अभिमान सम्पूर्ण उपासना का रखते हो (अर्थात् हम सम्पूर्ण ब्रह्म को जानते हैं) तुम भी काल के चक्र से बच गये। सिर पर बला तो आई थी मगर टल गई। पञ्चक्लेशों से बच गये। तुम्हारे ऊपर गुरु की कृपा हुई है। तुमने तन-मन से गुरु की सेवा की है। सब उन्हीं की कृपा का फल है। आप भी बैठिये।

यह ब्राह्मण भी आश्चर्य में पड़ गया और चुपचाप बैठ गया। फिर राजा ने उद्दालक से पूछा कि हे ब्राह्मण! तुम वैश्वानर का ज्ञान प्राप्त करके किसकी उपासना करते हो। उद्दालक ने कहा—हे राजन्! हम पृथ्वी की वैश्वानर रूप से उपासना करते हैं और उसी को ब्रह्म भी जानते हैं।

अश्वपति—हे उद्दालक! हम यह भी पहिले ही से जानते हैं, क्योंकि तेरी कीर्ति सम्पूर्ण संसार में फैल रही है कि उद्दालक ऋषि बड़ा तेजस्वी है और तेरा शरीर भी बहुत स्थूल है। भला क्यों? इसलिये कि अन्न बहुत खाने से शरीर भी बहुत मोटा हो जाता है तथा तोंद भी निकल आती है और भोग्य पदार्थ तेरे घर में बहुत हैं। यह सब प्रताप अहंग्रह वैश्वानर के एक पाद रूप पृथ्वी की उपासना का है। तुमने भी बहुत अच्छा किया जो तुमने हमारे पास आकर सम्पूर्ण वैश्वानर विद्या की जिज्ञासा की, क्योंकि तुम यहाँ जिज्ञासु की तरह न आते और हमको खबर हो जाती कि उद्दालक वैश्वानर के एक पाद की उपासना करता है, और मिथ्या अहंकार से अपने को सम्पूर्ण उपासना करने वालों में प्रसिद्ध करता है तो तुम्हारे ऊपर क्रोध करता क्योंकि तुम असत्यवादी होकर संसार में अपनी ख्याति फैलाते। यह ढोंग है। संसार में बड़ा अनर्थ फैल जाता। सब प्रजा ढोंगी हो जाती इसलिये मेरे कोप करने से तेरे चरण गिर पड़ते। तुम किसी काम के नहीं रहते। हमारी दृष्टि से भी तू पतित होता। बहुत अच्छा हुआ। तुम्हारा भी पिछला शुभ कर्म उदय हुआ। तुम्हारे ऊपर भी दैव की मार तो बहुत आई थी मगर खैर हो गई। नहीं तो तुम पीसे जाते। हे वत्स! उद्दालक भी अश्वपति राजा के मुख से भयानक वचन सुनकर बड़े आश्चर्य में पड़ गया। उसमें अधिक बोलने की शक्ति न रही। वह सम्पूर्ण ब्राह्मण राजा के भयानक वचनों को सुनकर विस्मय को प्राप्त हुए, और किसी में प्रश्न करने की भी सामर्थ्य न रही। तब राजा चुप होकर बैठ गये। राजा ने अपने महत्व को देखकर अनुग्रह करके यह कहा।

अश्वपति—हे ब्राह्मणो! तुम में से किसी ने भी वैश्वानर के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना। अब तक वृथा काल खोते रहे। अब तक जो तुमने अन्न का पान किया है सो अन्न को वृथा खोया है। हे ब्राह्मणो! जो वैश्वानर को जानता है उसका ही भोजन करना सफल होता है। बाकी खाने वाले चोर हैं। अभी तक तुमको वैश्वानर की खबर नहीं, तुम लोग अब तक क्या करते रहे? जैसे एक हाथी को बहुत से अन्धे नाना प्रकार की कल्पना करते हैं उसी प्रकार तुमने भी एक वैश्वानर में (अर्थात् ब्रह्म में) अपनी-अपनी मति से भिन्न-भिन्न कल्पनायें कर ली हैं। इसलिये तुमको वैश्वानर का यथार्थ ज्ञान नहीं।

यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा—हे राजन्! आप कृपा करके जैसा वैश्वानर का स्वरूप है स्पष्ट करके कहिये।

अश्वपति ने कहा—हे ब्राह्मणो! यह वैश्वानर सर्व आत्मा और सबका अपना प्रत्यक् है। यही ब्रह्मरूप है। यह तीनों वैश्वानर के ही स्वरूप हैं। इसी को वेद-सत् ज्ञान अनन्त ब्रह्मरूप कहते हैं। जो पुरुष आचार्य के द्वारा इस वैश्वानर को जानकर उसकी अहंग्रह उपासना करता है वह पुरुष अन्त में वैश्वानर को प्राप्त होता है। हे ब्राह्मणो! उसी का अन्न खाना संसार में सफल है। वह पुरुष अपने

को वैश्वानर निश्चय करके यह कहता है कि ब्रह्मलोक मेरा मस्तक है, सूर्य मेरा चक्षु है, वायु प्राण है, आकाश मेरा पेट है, अग्नि मेरा मुख है, नदियाँ समुद्र आदिक मेरा मूत्र हैं, पृथ्वी मेरे चरण हैं, समष्टि व्यष्टि वैश्वानर मेरा ही स्वरूप है। हे ब्राह्मणो! जो इस प्रकार अपने स्वरूप को वैश्वानर निश्चय करता है, उसी का अन्न भोजन करना श्रेष्ठ है। वेद कहते हैं कि वैश्वानर ही सब प्राणियों में स्थित होकर अन्न खाता है। क्या घास, क्या दूध, क्या पत्तियाँ इत्यादि सब वैश्वानर आत्मा के अन्न हैं और वह वैश्वानर का जानने वाला पुरुष ही इस प्रकार अपने निश्चय को बिना रोक-टोक प्रकट करता है कि यह सम्पूर्ण शरीर रूपी नगर मेरे ही हैं, दूसरे के नहीं। मस्तक रूपी बंगला है। इसमें बैठकर मैं दूर-दूर की सैर करता हूं। समष्टि में मेरा मस्तक ब्रह्मलोक है। अर्थात् ब्रह्मा के शरीर में बैठकर वहाँ का काम-काज करता हूँ और सृष्टि में मेरा मस्तक सबसे प्रसिद्ध है। समष्टि में सूर्य मेरा चक्षु है। यहाँ शरीर में प्रसिद्ध चक्षु है। यह सब चक्षु मुझ वैश्वानर आत्मा के जानना! हे ब्राह्मण! समष्टि में वायु मेरा प्राण है। व्यष्टि में मैं शरीर में बहने वाला प्राण हूँ। समष्टि में आकाश हमारा पेट है। व्यष्टि में, प्रसिद्ध आकाश रूप उदर है। समष्टि में अग्नि मेरी वाणी है, व्यष्टि में प्रसिद्ध वाणीरूप अग्नि है। समष्टि में नदियों का जल मेरी रसना का जल है। व्यष्टि में प्रसिद्ध जिह्वा का द्राव है। समष्टि में पृथ्वी मेरा शरीर है और यहाँ व्यष्टि में प्रसिद्ध यह शरीर है। समष्टि का अहंकारी होकर में हिरण्यगर्भ रूप से स्थित हूँ। व्यष्टि का अहंकारी होकर चिदाभास रूप से स्थित हूँ। कारण उपाधिरूप से मैं ही ईश्वर हूं। कार्य उपहित रूप से सुषुप्ति काल में प्राज्ञ आत्मा स्वरूप हूं। समष्टि में शुद्ध ब्रह्म हूँ। व्यष्टि में कूटस्थ तुरीय हूँ। फिर वह ब्रह्मज्ञानी ऐसा भी कथन करता है कि यह शरीर रूपी काशी है। दक्षिण भौं वरणा रूपी है। वाम भौं असी रूपी है। भृकुटि के मध्य तृकुटि मणि कर्णिका रूप है। जो पुरुष वरणा का ध्यान करता है उसकी विषय आसक्ति नष्ट हो जाती है। जो उपासक तृकुटि का ध्यान करता रहता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है क्योंकि तृकुटि में शिव विराजमान हैं। जो पुरुष इस प्रकार इस शरीर को काशी रूपी करके निश्चय करता है सो स्वर्गलोक को प्राप्त होता है और जो पुरुष ज्ञाता को (अर्थात् अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य) शिवरूप करके परोक्ष रूप से निश्चय करता है वह मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और जो अपने आपको शिवरूप संशय विपर्यय से रहित होकर अपरोक्ष रूप से जानता है सो ब्रह्मस्वरूप ही है। हे ब्राह्मणो! वही दूसरों को मोक्ष देने वाला है। हे ब्राह्मणो! वैश्वानर के एक देश की परोक्ष रूप से उपासना करने वाला न तो अपना ही कल्याण करता है और न दूसरों का कर सकता है। अब इनका यथार्थ अर्थ सुनो।

सब वृत्तियों के निवृत्त करने का नाम वरणा है और वृत्तियों के अभाव का नाम असि है। प्रमाता का नाम शिव है। इन तीनों के साक्षी का नाम महेश है, सोई मेरा स्वरूप है। दोनों भृकुटि के बीच में जो स्थान है उसको तृकुटि कहते हैं। इस जगह प्राप्त हुए जीवों की मोक्ष होती है। हे ब्राह्मणो! इस प्रकार जो पुरुष वैश्वानर को जानता है सोई वैश्वानर है। उसी का अन्न भक्षण करना योग्य है और सबको अन्न के भक्षण करने से पाप ही होता है। जैसे कोई पुरुष वैश्वानरी विद्या को जान कर अग्नि-होत्र आदि कर्म करता है उसका सब कर्म सफल होता है। उसी प्रकार जो पुरुष वैश्वानरी विद्या को जानता है उसका भोजन, स्नान, संध्या, पूजन, जप-तप, दान और तर्पण आदि सब कर्म सफल होते हैं और जो पुरुष वैश्वानर के यथार्थ स्वरूप को न जानकर अग्नि-होत्र आदिक कर्म करता है उसका किया हुआ सब कर्म निष्फल हो जाता है। जैसे राख में दी हुई आहुति वृथा ही जाती है, उसी प्रकार अज्ञानी (अर्थात् शरीराभिमानी)

मनुष्य की आहुतियाँ (अर्थात् वैदिक क्रियायें) वृथा जाती हैं। इसी प्रकार जो पुरुष वैश्वानर (अर्थात् ब्र के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता सो वृथा खाद्य पदार्थों को खा-खा कर नष्ट करता है। दृष्टान्त—ं अग्नि-होत्री मनुष्य नित्यप्रति अग्नि में आहुति देता है उसी प्रकार वैश्वानर का ज्ञाता (अर्थात् ब्रह्म जानने वाला) पुरुष मुख रूपी कुण्ड में नित्यप्रति आहुति देता रहता है। जो पुरुष वैश्वानर का ज्ञात वह अपने महत्व को आप भी जानता है और श्रुति, स्मृति, पुराण और काव्यादिक कोई भी उसके मह को साक्षात् कथन नहीं कर सकते, मूर्ख जीवों की तो बात ही क्या है। जैसे तुली के ऊपर तुल होता उस पर थोड़ी-सी अग्नि पड़ते ही उसको जला देती है। उसी प्रकार हे ब्राह्मणो! वैश्वानर विद्या का जा वाला पुरुष अनेक जन्मों के संचित किये हुए पाप-पुण्य के अनन्त भारों को अपने स्वरूप की ज्ञान अग्नि से क्षणमात्र में भस्म कर देता है और अपने आपको वैश्वानर सर्व आत्मा साक्षी ईश्वर देखता यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसकी ही आराधना करता रहता है, उसी का भजन-पूजन धर्म आदिक करता र है। दृष्टान्त—जैसे माता के भोजन करने से बालक तृप्त होता है उसी प्रकार वैश्वानरी विद्या के जा वाले पुरुष के भोजन करने से सब ब्रह्माण्ड तृप्त होता है। हे ब्राह्मणो! जब तुम अपने आपको वैश्वा स्वरूप से जानोगे उस काल में परमानन्द ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होगे। बोलो, अब क्या चाहते हो? य सब अंगों सहित वैश्वानरी विद्या है। तुम लोग इस प्रकार अभ्यास करो। हे वत्स! वह ब्राह्मण रा अश्वपति को नमस्कार करके अपने-अपने घर चले गये।

इति वैश्वानरी विद्या समाप्त
प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

शिष्य—हे गुरु! उत्तम अधिकारी किसको कहते हैं और उसका क्या स्वरूप है? ब्रह्मलोक में साधन के बिना किसको ब्रह्मज्ञान हुआ है?

गुरु—हे वत्स! इस विषय में एक प्राचीन गाथा है। तू चित्त को सावधान करके श्रवण कर। हम सुनते हैं कि पूर्व काल में जब प्रजापति इन्द्र और कश्यप को आत्मा की पहिचान की शिक्षा दे चुके और इन्द्र ने यही शिक्षा देवताओं में प्रचलित की तो कश्यप ने अपने पुत्र मनु को और सनकादिक ऋषियों को जो त्रिजन्मा उत्पत्ति में उत्पन्न हुए थे उन्होंने यही सिखाया और ये सनकादिक ऋषि सृष्टि की उत्पत्ति में इसी शिक्षा का प्रचार करते थे और दुःखों से घबराये हुए प्राणियों को न्याय (अर्थात् करनी भरनी) और प्रसाद की ओर बुलाते थे। किन्तु न्याय अर्थात् कर्मकाण्ड के रहस्य तो उनकी समझ में बैठ गये अर्थात् करनी भरनी की बात तो उनकी समझ में बैठ गई परन्तु ब्रह्मविद्या के रहस्यों से उनको आवरण ही रहा। इसलिए वे कर्मकाण्ड के शास्त्रों (अर्थात् पूर्व मीमांसा) में तो लग गये परन्तु आत्मज्ञान से वञ्चित ही रहे। तो भी उनमें कुछ मनुष्य ऐसे भी थे जो पवित्र और शुद्ध हृदय वाले थे और जो आत्मा के विवेक की अभिरुचि रखते थे, और उसके पूछने के लिये झुण्ड के झुण्ड सनकादि ऋषियों के पास जाते और आत्मज्ञान की शिक्षा पाते थे। उनमें से एक वामदेव नाम का अधिकारी ब्राह्मण था जो अच्छा स्वच्छ हृदय रखता था, किन्तु उसका एक पिछले जन्म का ऐसा पाप था जो दूसरे जन्म का कारण था और यही आवरण था जिसके कारण उसको आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता था। तो भी महावाक्य उसमें बीज के समान अपना प्रभाव डालते थे। जैसे कोई बीज भूमि में बोया जाय तो वह नियत काल तक अंकुर नहीं लाता। जब समय आता है तो अपने आप अंकुर निकलता है। हे वत्स! दूसरे जन्म के आवरण के कारण जो आने वाला था उसमें अंकुर (अर्थात् फल) नहीं लाता था। तो भी वह यज्ञ, तप और व्रत आदि से अपने विकारी मन को शुद्ध करता हुआ (अर्थात् निर्वासनिक) सनकादिक मुनियों की शिक्षा की वर्षा से उसे सींचता (अर्थात् मनन करता) था तो भी अदृष्टरूप भावी प्रतिबन्ध के वश से उस वामदेव को इस जन्म में आत्मा का साक्षात्कार न हुआ। अन्ततः वह युवावस्था में ही मर गया और पितृयान सड़क (अर्थात् मार्ग) पर चलता हुआ चन्द्रलोक में सोमराज हो गया और वहाँ के स्वर्ग के भोग भोगकर फिर नीचे के लोकों में आया। भला कैसे? प्रथम वर्षा के द्वारा भूमि रूपी अग्नि में होम कर अन्न हुआ। फिर ब्राह्मण अग्नि में होम हुआ (अर्थात् पिता ने उस अन्न को खाया) और वह अन्न पिता का वीर्य बन गया और फिर माता ब्राह्मणी अग्नि में जो पाँचवीं आहुति की अग्नि है होमा हुआ वह वीर्य माता के गर्भ में प्रवेश कर गया। यह उस वामदेव का दूसरा जन्म था। वहाँ वह पूर्व के संस्कारों से युक्त वामदेव नव मास पर्यन्त स्थित रहा। नवें महीने में नियमानुसार सब जीवों को माता के गर्भ में बोध उत्पन्न होता है। उस बोध से सब जीव पूर्व-पूर्व के अपने जन्मों को स्मरण करते हैं। हे वत्स! जब वह वामदेव ईश्वरीय

नियम से उत्पन्न इस अवस्था के समीप आया और अपने तमाम कर्मों को उस वामदेव ने उपस्थित पा
तो यह शिक्षा भी जो सनकादिकों से उसने आत्मा के विषय में पाई थी उसे याद आई। अतः उसने मा
के पेट में ही अपने आत्मा का पता लगाना प्रारम्भ कर दिया। उसने मनन और मनन से निदिध्यास
करके सम्पन्न हुआ अर्थात् वामदेव को गर्भ में ही आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा और वह प्रसाद
प्रविष्ट हो गया। आश्चर्य यह हुआ कि उसे पहिली उपासना के कारण जो चमत्कार का कारण थी गर्भ
ही बोलने की शक्ति भी आ गई। वह गर्भ में ही बातचीत करने लगा। उसकी माता तथा जो लोग उस
पास बैठते थे उसकी फिलासफी की वाणी सुनकर आश्चर्य करते थे और कहते कि यह बालक गर्भ में विचि
आया है जो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध पेट में बोलता है। हमने तो ऐसा न कभी देखा और न सुना, ब
आश्चर्य है। कोई कहे यह गर्भ नहीं वरन् कोई भूत पेट में आ गया है। कोई-कोई तो यह कहे कि भाई य
भूत-भात कुछ नहीं है वरन् कोई पवित्र आत्मा पेट में आया है क्योंकि यह तो भाई, वेदों की बातें कर
है। हे भाइयो! यह भूत-भात का काम नहीं। जो वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करता है वह भूत कैसा
कोई कहे—भाई, यह कोई गंधर्व है, कोई यक्ष कहे, कोई कुछ कहे, कोई कुछ कहे। इस प्रकार नगरों औ
ग्रामों में यह आश्चर्य की चर्चा फैल गई। क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय, क्या वैश्य, क्या शूद्र आदि सब
झुण्ड के झुण्ड उसको देखने आने लगे। सब उसकी माता के पास बैठकर गर्भ से बातचीत करते का
और कहते कि भाई ईश्वर की माया है, क्या कहें, कुछ समझ में नहीं आता। बड़ा ही आश्चर्य है। हमने
आज तक ऐसा बालक कभी न देखा और न सुना कि जो गर्भ में बोले। होते-होते झुण्ड के झुण
मनुष्यों की भीड़ होने लगी। बड़ा हल्ला-गुल्ला मचा। आखिरकार यह हुआ कि उसके पूर्व जन्म
सम्बन्धी भी यह चर्चा सुनकर आये, जिनके बीच में वह रहकर जप-तप, पठन-पाठन करता औ
सनकादिक मुनियों के पास शिक्षा पाता था। जब वह लोग आये और उन्होंने बातचीत करनी चाही
गर्भ में यह एकदम हँसा और बड़ा कहकहा मारा। इसके पहिले जन्म के साथियों ने कहा—अरे!
बालक, अभी तो तू गर्भ से बाहर भी नहीं आया, किस प्रकार तूने बात करने की शक्ति पाई? औ
कौन है और क्यों हँसता है? हमसे सारा हाल बता। हे वत्स! गर्भ में स्थित वामदेव ने पूर्व जन्म
जिन अधिकारियों के साथ मिलकर सनक आदिक मुनियों से ब्रह्मविद्या का श्रवण किया था तथा
विषयों में दोषों का विचार किया था, उन सब अपने मित्रों (अर्थात् पूर्व जन्म के सहपाठियों) से
प्रकार के वचन कहे—

वामदेव—हे मेरे पूर्व के मित्रो! पूर्व जन्म में 'मैं' भी तुम्हारे साथ में रहता था, परन्तु पूर्व जन
में परिच्छिन्न शरीर आदिकों में आत्म बुद्धि करके परिच्छिन्न भाव को मैं प्राप्त हुआ था। अर्थात्
स्वयं को शरीर ही मानता तथा जानता था। ऐ भाइयो! मैं तुमको जानता और पहचानता हूँ, परन्तु तु
लोग मुझको नहीं जानते पहचानते। इसीलिये तो मैं अपनी माया के आश्चर्य से हँसता हूँ। मैं तुम
ठीक-ठीक बतलाता हूँ। देखो मैं भूत, प्रेत, गंधर्व आदि कोई नहीं हूँ। ऐ भाइयो! मैं तो वही वामदे
नाम का तुम्हारा सगा सम्बन्धी हूँ जो तुम में उत्पन्न होकर बहुत काल तक तुम में रहा था और तुम्हा
साथ मिल कर जप, तप, यज्ञ, व्रत, नियम करता था और फिर तुम्हारे साथ सनकादिक मुनियों से आत्म
ज्ञान की शिक्षा पाता था। हे वत्स! और वही सब बातें जो पूर्व जन्म में हुई थीं, वामदेव ने सब
कह कर सुनाई और अच्छे प्रकार से अपने सब पते भी बता दिये कि जिससे उन अपने सम्बन्धियों

विश्वास हो गया कि वास्तव में वही वामदेव है, यह भूत, प्रेत या गंधर्व आदि नहीं। अरे, बड़ा आश्चर्य है कि यह जग सा बच्चा माता के गर्भ से बाहर भी नहीं आया, अन्दर ही बोलता है। ऐसा तो हमने आजतक न तो देखा ही और न सुना ही। हे भाइयो! कुछ बुद्धि काम नहीं करती। यह तो अवश्य है कि यह भूत प्रेत तो है नहीं।

वामदेव—हे भाइयो! तुम लोग आश्चर्य मत करो, विश्वास करो। तुम जानते नहीं कि मैं तुम्हारे साथ में सनकादिक ऋषियों के पास आत्मज्ञान की शिक्षा पाता था और तुम भी साथ में शिक्षा पाते थे। किन्तु मुझको भावी जन्म का रोग था इसलिए सनकादिक मुनियों की शिक्षा मुझपर कुछ प्रभाव नहीं डालती थी और यह परदा बिना दूसरा जन्म लिये दूर होने के योग्य नहीं था। फिर क्योंकर उस काल में मुझे ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार होता? हे भाइयो! जिस तरह बीज को खेत में बो दिया गया हो और उस पर एक भारी पत्थर रख दिया जाय तो उसमें भला क्योंकर अंकुर निकल सकता है, कदापि नहीं निकल सकता। इसी प्रकार भावी जन्म का पाप मेरे मन में एक कठोर पत्थर था और जो अंकुर सनकादिक मुनियों ने मेरे मन के खेत में बोया था, उस समय वह नहीं निकला, वहीं पड़ा रहा। इस प्रकार मैं तुम भाइयों में रहता-सहता, खेलता-कूदता, हँसता-हँसाता झट मर गया, मानो मैं तुम में से सो गया। तुमने मेरे शव को लेकर श्मसान में फूंक दिया। मैं उस वामदेव नाम के शरीर से निकलकर बड़ी-बड़ी सैर करता हुआ अर्थात् स्वर्ग पाताल की गश्त करता, प्रारब्ध कर्मों को भोगता हुआ स्वर्ग से वर्षा के द्वारा पृथ्वी पर आकर अन्न हुआ। वह अन्न पिता ने खाया। उस खाये हुए अन्न का वीर्य माता के पेट में गया। वह वीर्य नौ मास में पक पकाकर मैं फिर उठा तो आने वाले जन्म का पत्थर समाप्त हुआ। वही पूर्व की शिक्षा का बीज अब अंकुर लाया है।

हे भाइयो! मैं अपने आत्मा को उन मुनियों की वाणी से प्रत्यक्ष पाता हूँ और मैं निश्चय करता हूँ कि मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, वरन् सब में सब कुछ मैं ही हूँ। मैं अपने अद्वितीय स्वरूप से भिन्न किंचित मात्र भी वस्तु नहीं देखता, किन्तु सबको आत्मरूप जानता हूं। पूर्व दक्षिण आदिक आठ दिशाएँ भी मेरे लिए पूर्ण हैं। यहाँ तक कि आकाश भी मेरे लिए ही पूर्ण है। हे भाइयो! शक्ति सम्पन्न जो इन्द्र आदि लोकपाल हैं, वे मेरा ही स्वरूप हैं। मेरे से भिन्न इनकी सत्ता नहीं और अंडज, जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिज ये चार प्रकार के प्राणी भी मेरे से भिन्न नहीं, किन्तु मेरा ही स्वरूप हैं। हे भाइयो! तुम लोग विश्वास करो, आश्चर्य मत करो, मैं गर्भ ही में देखता हूं कि मैं अनादि काल से बार बार इन देवताओं में, पशुओं में, पक्षियों में, कीट, पतङ्ग सबकी योनियों में जो असंख्य हैं अनेक बार आया और गया। कभी देवता, कभी गंधर्व, कभी सूर्य, कभी प्रजापति, कभी मनुष्य, कभी गाय, कभी बैल, कभी घोड़ा, कभी ऊँट, कभी हाथी, कभी पक्षी आदि हुआ हूँ। हे भाइयो! जिनकी अब मैं तुमको गिनती नहीं बता सकता। जो मैंने गर्भ उपनिषद् में तुम्हारे साथ पढ़ा था कि गर्भ में पिछले जन्मों का प्रत्यक्ष होता है उसको मैं प्रत्यक्ष देखता हूं, बिल्कुल ठीक है। हे मित्रो! तुम लोग यह शंका कदापि न करना कि जब सब वस्तु तुम्हारे से पृथक नहीं है तब तो तुम में जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय और नाश—ये षट विकार आत्मा में प्राप्त होंगे! सो हे भाइयो! इन्द्रिय सहित शरीर के धर्म जन्मादिक षट विकार हैं। यह षट विकार युक्त शरीर मेरे में कल्पित है। इसीलिये तो कल्पित देह के धर्म मुझ अधिष्ठान को स्पर्श नहीं करते। जैसे शीत निवृत्ति के लिए गुंजाओं का ढेर करके एक काल में वानरों ने अग्नि की

कल्पना करली थी किइस से हमारा शीत निवृत हो जायगा। जैसे गुँजों के ढेर से शीत की निवृत्ति नहीं हो
है उसी प्रकार हे भाइयो ! कल्पित देहादिकों के धर्म जन्मादिक भी मुझ अधिष्ठान को स्पर्श नहीं क

हे भाइयो ! किंचित मेरी बात को ध्यान देकर सुनो कि मैं इस समय क्या अनुभव करता हूँ।
अनादि काल से इस संसार में अनेक योनियों को पलटता चला आया हूँ जो एक कठोर लोहे के पि
के अनुसार कहा जा सकता है। और मैं बलवान पत्ती की तरह इस संसार के पिंजड़े में कैदी था अ
अज्ञान काल में शरीर इन्द्रिय आदि के अध्यास से मैं ब्राह्मण हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं बधिर हूँ, मैं मूक
इससे आदिक लेकर शरीर इन्द्रिय आदिकों के धर्म मेरे में प्रतीत होते थे। वह सम्पूर्ण धर्म और
सहित इन्द्रिय तथा उन इन्द्रियों के देवता अब मुझको किंचित भी स्पर्श नहीं करते। क्योंकि अ
आत्मा के ज्ञान से उन शरीर आदिकों का अध्यास निवृत्त हो गया अर्थात् अहंकार रूपी पिशाच
गया। मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ। हे भाइयो ! यद्यपि संसार रूपी पिंजड़ा (अर्थात् चौरासी लक्ष योनि
लोहे से भी कठोर है तो भी मुझ बलवान पत्ती के बाहुबल के आगे कुछ भी सत्ता नहीं रखता। वि
मुझे अविद्या के कारण और उन चौरासी लक्ष योनि रूपी पिंजड़े के साथ आसक्ति के कारण योनि
पिंजड़ा ऐसा कठोर हो रहा था कि टूटता नहीं था। अब मैं सनकादिक मुनियों को धन्यवाद देता हूँ
उन्होंने मुझे आत्म-बल की शिक्षा प्रदान की और मुझे यह जतला दिया कि तुम तो एक बलवान प
हो। यह संसार का बन्धन तुम में भला कहाँ से आया ? क्या कहीं सिंह भी कच्चे तागे से बंधा
सकता है ? क्या बलवान पत्ती भी कच्चे डोरे में बँधा रहता है ? परन्तु मैं आने वाले जन्म
रुकावट के कारण विश्वास नहीं करता था, अर्थात् स्वीकार तो करता था, परन्तु कभी-कभी विपरीत भा
हो जाती थी। दृढ़ अपरोक्ष बोध नहीं हुआ था। हे भाइयो, अब जो रुकावट का पत्थर था वह अ
आप दूर हो गया और उन की शिक्षा का बीज गर्भ में अंकुरित हो आया। मैंने मस्त पत्ती की ल
अपने आत्मज्ञान के बल से इस शरीर रूपी पिंजड़े को तोड़-फोड़ दिया और मुझे आत्मा का दर्शन हुआ
अब मैं सब में, सब कुछ और सबसे पृथक पूर्ण स्वतन्त्र एवं मुक्त हूं। ऐसा वामदेव गर्भ में बोला
हे वत्स, बड़े जोर से कहकहा मारकर हँस पड़ा और कहने लगा—अहो आनन्द ! अहो आनन्द
अहो आनन्द !

हे भाइयो, तुम लोग आश्चर्य मत करो कि यह गर्भ में नव मास का बच्चा क्योंकर ज्ञान की
करता है ? हे वत्स, वह इतनी बात कह कर फिर एकदम कहकहा मारकर हँस पड़ा और कहने लगा
हे भाइयो, यह सब अपने आत्मा की जानकारी की महिमा है कि मैं अपने आप को सर्वरूप देखता
और यही आत्मज्ञान है जो इस प्रसाद में भी प्रविष्ट कराता है। और वे यज्ञ, तप और व्रत जो
करता था उनका ही फल है जो मैं गर्भ में बोलता हूँ। हे भाइयो, मेरी माया का यही दैवी विधान है
पूर्व में सनकादिक ऋषियों ने शरीर, स्त्री, पुत्र, कलत्र, वित्त आदिक में वैराग्य ही आत्मज्ञान का का
तुम से और मुझ से बताया था। सो मैंने तो अभी शरीर आदि में आत्म-बुद्धि रूप पाश को छेदन क
आत्मज्ञान रूप फल की उत्पत्ति से निश्चय किया और पूर्व जन्म में तुम्हारे साथ मिल कर मैंने विषयों
दोषों का विचार किया था। परन्तु भावी अदृष्ट रूप प्रतिबंध के वश से मेरे को उस जन्म में आत्म
नहीं हुआ। हे भाइयो, विषयों में दोष दर्शन से वैराग्य और गुरु की कृपा—ये दोनों आत्मज्ञान के
कारण हैं और तुम्हारे को जो आत्मज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ, वह किसी प्रतिबंध के वश से नहीं हुआ है

हे भाइयो! तुम देखो न कि गुरु की कृपा से हमें कैसा आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है कि जिसके बल से संसार से भी मैं भय को नहीं प्राप्त होता और काल से तथा मौत से भी मैं भय को नहीं प्राप्त होता क्यों कि द्वितीत वस्तु से भय की प्राप्ति होती है ऐसा श्रुति ने भी कहा है। और मैं तो अद्वितीय हूं। सर्व प्रपञ्च मेरे में कल्पित है। जैसें रस्सी में सर्प कल्पित है। कल्पित प्रपञ्च से द्वैत भाव मेरे में नहीं है। इसलिए मैं अद्वितीय हूँ। सर्व प्रपञ्च मेरे में कल्पित हैं और मैं मृत्यु से रहित हूँ क्योंकि मेरे में कल्पित जो मौत है सो मुझ अधिष्ठान की किञ्चित् भी हानि नहीं करती और जन्म-मरण तथा बाल्यावस्था, युवावस्था, जरावस्था—ये सम्पूर्ण देह की हैं, मुझ आत्मा की नहीं। जैसे दूसरे पुरुष के सुख तथा दुःख से अन्य पुरुष सुखी अथवा दुःखी नहीं होता, उसी प्रकार शरीर आदिकों से भिन्न जो मैं आनन्द रूप आत्मा हूँ भला मेरे को शरीर आदिकों के धर्म जन्म-मरण आदिक कैसे प्राप्त हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते। इच्छा, द्वेष, भय, मोह, क्षुधा, तृषा, निद्रा, विष्ठा, मूत्र की बाधायें—ये जो आठ दोष हैं मुझ आनंद स्वरूप आत्मा को स्पर्श नहीं करते। इच्छा, द्वेष, भय, मोह—ये चार मन के धर्म हैं और भूख, प्यास—ये दो प्राणों के धर्म हैं। निद्रा मन का तथा इन्द्रियों का धर्म है और मल-मूत्र की बाधा शरीर का धर्म है। और मैं साक्षी आत्मा मन इन्द्रयादिक सर्व दृश्य का प्रकाशक हूँ। हे भाइयो! मोक्ष की तथा स्वर्ग की और इस लोक के विषयों की मन ही इच्छा करता है। आनन्दरूप मैं आत्मा उनकी इच्छा नहीं करता। अज्ञान से तथा नरक से भी मन ही द्वेष करता है। मैं आनन्दरूप आत्मा किसी से भी द्वेष नहीं करता। मैं तो आप्त काम हूँ और अभेद दर्शी हूँ। मैं बोध स्वरूप हूँ।

हे भाइयो! जो कुछ सनकादिक ऋषियों ने तुमको शिक्षा दी है वह ठीक है। उस पर तुम ध्यान करो और ध्यान करके विश्वास करो। तुम भी मेरी तरह से अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाओगे। तुमको जो आत्मा का दर्शन नहीं हुआ उसका कारण तुम्हारे मन में पाप और संशय (अर्थात् अविश्वास) है। अहङ्कार रूपी पिशाच तुम्हारे मन में घुसा बैठा है जिस से तुम प्रसाद में नहीं आये। क्या तुम अब मेरी साक्षी नहीं देखते कि मैं इस प्रसाद के कारण किस विचित्र शक्ति में आया हूं। क्या कोई गर्भ में भी बात चीत इस निराले ढंग से कर सकता है? कदापि नहीं। हे भाइयो! देखो, मैं तुम्हारे सामने गर्भ में हूँ, अभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ और उस बड़े प्रसाद का निश्चय करता हूँ कि मैं सबमें सब कुछ हूँ। क्या मैं भी जब तुम में रहता-सहता था, तुम्हारी तरह ही डरता तथा भय करता था यह ईश्वरीय अभिमान नहीं है। हम अकिञ्चन मनुष्य हैं। परन्तु अब जो मैंने अपने आत्मा की पहिचान पाई और शरीरों तथा योनियों को कपड़ों की तरह बदलते देखा तो निश्चय करता हूँ कि मैं अनादि, अनन्त, आदि अन्त से रहित, बाहर तथा भीतर हूं। अहा हा हा! कहकर हे वत्स! वामदेव खूब हँसा और फिर कहने लगा—ऐ मृत्यु! तेरा डङ्क भला अब कहाँ? ऐ चिन्ता, तेरी तपन भला अब कहाँ? ऐ संसारी लोगो, तुम्हारी निन्दा, स्तुति, अपमान, अपवाद कहाँ? तुम मुझको छू नहीं सकते। अहो शान्ति! अहो शान्ति! अहो शान्ति! अहो आनन्द! कहकर एकदम कहकहा मारा और बोला—ऐ भाइयो, अब तो संसार मुझको यों दिखाई देता है मानो भात का एक ग्रास हो और यमराज जिसको बिल्कुल मौत कहते हैं, मेरे लिए चटनी है। मैं इसको इस प्रकार खाता हूं जैसे कोई मनुष्य भात के ग्रास को चटनी से खाता है और उसे स्वादिष्ट समझता है। ऐ भाइयो, इसे तुम ईश्वरीय अहंकार नहीं समझना। मैं अपने आत्मा की बड़ाई करता हूं। यह अहंकार (मैं ब्रह्म हूं) नहीं वरन् मेरी महिमा है। ऐ भाइयो, मैं भी जब तक तुम में रहता-सहता था,

अपने शरीर के ज्ञान से जो दुर्बल था, दीन-सा था, तुम्हारी तरह डरता था और शरीर को ही अ आपा निश्चय करता था कि मेरा स्वरूप यही है। किन्तु उस समय तुम लोगों से बढ़कर यह वि थी कि मैं सनकादिक मुनियों के वचनों को सत्य जानता तथा मानता था और तुम उन वचनों को सु हुए भी नहीं सुनते थे अथवा सुनकर भी मनन नहीं करते थे। यद्यपि पूर्ण विश्वास मैं भी नहीं करता इसी कारण मैंने इस दूसरे जन्म में प्रसाद-पर-प्रसाद पाया अर्थात् मोक्ष-पर-मोक्ष।

हे भाइयो, मैं सच कहता हूँ कि जो आचार्य तुमको डराते हैं कि यह निश्चय करना कि मैं ब्र बड़ी नास्तिकता है उन आचार्यों की बात मत सुनना। हे भाइयो, वह तो विरोचन के शिष्य हैं औ नास्तिकता में हैं, परन्तु यह तो ठीक आत्मा की पहिचान है। विरोचन स्वयं ही नहीं समझा, भला को क्या समझायेगा? उनका दृष्टान्त ऐसा है जैसा कि अन्धा अन्धे को मार्ग दिखाता है। अन्त में ही गड्ढे में गिरते हैं। हे मेरे मित्रो, देखो शरीर स्वयं तमरूप है। वह जो शरीर में अहङ्कार रखता है, के अभिमान से वासनाओं को बढ़ाता है। मानो अंधकार में दौड़ लगाता है, परन्तु जो आत्म-ज्योति अंधकार में भी चमकती है, जो इस आत्म-ज्योति में अहङ्कार रखते हैं वे लोग प्रकाश में चलते हैं औ स्पष्ट है कि अन्धकार का नाम ही नास्तिकता है। इसलिये मैं शरीर हूँ, मैं तुच्छ जीव हूँ, यही तो नास्ति है और कुछ नहीं। मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ यही सत्यता साक्ष्य और ठीक-ठीक कथन है। हे मित्रो, मैं सत्य कहता हूं कि जो अन्धकार में चलता है वही ठोकर खाता है क्योंकि दिन में वाला कभी ठोकर खाते नहीं देखा। जो मनुष्य आत्मा को नहीं जानता स्वयं अन्धकार के समान अन्धकार प्रकाश के पास नहीं आया करता क्योंकि उसमें जो उसकी बुराई छिपी हुई है ज्योति से जाती है। इसलिये वे जो इस निश्चय को नहीं माना करते वास्तव में पापी और अपराधी हैं और पाप उनके अन्धकार (अर्थात् अज्ञान) में छिपे हुए हैं। जो इस निश्चय को नहीं मानते, हँसकर उड़ा हैं और फिर पीछे से मखौल करते और ताली बजाते हैं और जो इस आत्मज्ञान के निश्चय करने को नास्तिक समझते हैं, यह उनकी महान् मूर्खता है अर्थात् बड़े अपराधी हैं। हे भाइयो, यही निश्चय जिस पर यह भेद खुल गया, बस, फिर क्या है प्रसाद पर प्रसाद अर्थात् मोक्ष पर मोक्ष आगे पीछे फिरेंगी। बस, यही विवेक का फल है। इसी ज्ञान पर क्षमा मिलती है। बस, यही ज्ञान है जिस पर मिलती है। बस तुम लोग इसी को ढूंढो और खोज कर इसी को पाओ। इसी को पाकर मनुष्य अ जाता है अर्थात् ज्ञान का ढिंढोरा पीटता है। इसी को पाकर जंगल की चिड़ियाँ सोने की चिड़ियाँ हो हैं। तुम लोग देखो न कि गर्भ में स्थित होकर भी तुम से किस प्रकार की बातचीत करता हूँ तथा हँस कर बातें करता हूँ, गर्भ का कष्ट मुझको बाधा नहीं पहुँचाता। मैं तो इस निश्चय से धन्य-धन्य हो हूँ और इसी निश्चय से तथा ज्ञान से मैं कृत्य-कृत्य हूँ। अहो आनन्द! अहो आनन्द! अहो पु अहो पुण्यं!

हे शिष्य, इस प्रकार वामदेव कहकहा मार कर हँस पड़ा। सुनने वाले लोगों ने बड़ा आश किया और परस्पर चर्चा करें कि भाई कुछ समझ में नहीं आता कि यह क्या बला है? जो इसके सम्बन्धी खड़े सुन रहे थे उनको तो उस वामदेव की वाणी सच्ची जान पड़ी क्योंकि वे लोग सनका मुनियों से शिक्षा पाये हुए थे और जो लोग मूर्ख तथा बेसमझ थे वे आश्चर्य करते रहे। हे वत्स, कोई कहे, कोई प्रेत कहे, कोई यक्ष कहे, कोई गंधर्व कहे। ऐसे कहने वाले बहुत ही बेसमझ थे।

हे शिष्य, जब वामदेव ने इस प्रकार उनको शिक्षा दी तो उनको आश्चर्य ने आ घेरा। वे बोले कि तू कब तक हम लोगों को उधेड़-बुन में रक्खेगा ? तेरी बातें हमारी समझ में नहीं बैठतीं। सच-सच बता तू कौन है और कहाँ से आया है और कहाँ रहता है ? हमको तू चक्कर में मत डाल। हम लोग तो संशयापन्न हो गये हैं। देख, इतनी बात तो हम जानते हैं कि वामदेव नाम का एक हमारा सम्बन्धी अकिंचन लड़का था जो हमारे साथ पढ़ता-लिखता था। विशेष तो कुछ लिखा-पढ़ा नहीं था। हमारी आँखों के सामने इसी अकिंचनता में मर गया। इस बात को बहुत ही समय हो गया है। यदि तुम मरकर भूत हो गये हो तो बता दो कि तुम क्या चाहते हो ? और यदि किसी देवता के अवतार हो तो भी बता दो। हम लोगों को तुम हैरान न करो। बताओ तुम कौन हो ?

वामदेव—ऐ मेरे मित्रो, मैंने तो तुमसे बता दिया, पर तुम लोग विश्वास नहीं करते इसमें मेरा क्या अपराध है ? में सच कहता हूँ परन्तु तुम नहीं मानते। जो कोई मेरी बात सुनता है मैं उसको अनन्त जीवन मुफ्त में प्रदान करता हूँ। पर तुम तो सुनते हुए भी नहीं सुनते। तुम्हारे सिर के कान तो खुले हुए हैं, पर हृदय के कान बन्द हैं। तुमने सनकादिक मुनियों से सुना पर निश्चय नहीं किया। ऐ अनजानो (अर्थात् बेसमझो) यदि तुम मेरी बात को नहीं मानते तो मेरे कामों को तो मानो कि अभी मैं पेट से बाहर नहीं आया और गर्भ में ही बोलता हूँ। क्या कहीं ऐसा कभी हुआ है ? क्या कभी तुमने ऐसा सुना है ?

हे अविश्वासियो, मैं अपनी ना समझी के कारण, अविद्या से तुम लोगों में बेचारा सा वामदेव के रूप में रहता-सहता रहा और थोड़ी-सी आयु में मर गया था। सो इससे क्या हुआ, मैं तो नहीं मरा, वामदेव नामी शरीर मर गया था। शरीरी तो नहीं मरा। अब तो तुम मुझे प्रसाद पर प्रसाद मिला हुआ देखते हो जबकि मैं बेचारा (अर्थात् गरीब) सा होकर तुम में रहता और तुम्हारे देखते-देखते मर गया। उस काल में मैं कुछ प्रसाद नहीं पहुंचा सकता था अर्थात् तुम्हारी मैं कुछ भी सहायता नहीं कर सका तो तुमने मेरे लिये कितना शोक किया और वर्षों तक तुम मेरे लिये रोते पीटते रहे। मेरे मृतक शरीर को छूकर तुमने तेरहवीं आदि की, तब तुम्हारा प्रायश्चित्त हुआ। अब मैं बहुत-से मन्दिरों की सैर करके ब्रह्मलोक में आया हूँ। घूमने-घामने में मुझको बहुत दिन लग गये तभी तो तुम लोग मुझको भूल-से गये। परन्तु मैं तुमको नहीं भूला। अब जो मैं प्रसाद और तेज से भाग्यवान होकर ब्रह्मलोक में सत्य काम, सत्य संकल्प सम्पत्ति से युक्त होकर आया हूँ, तुम लोग मेरी प्रशंसा नहीं करते। वरन् तुम लोग मुझे भूत प्रेत आदि ठहराते हो। शोक है, तुम्हारी समझ पर और तुम्हारे पढ़ने तथा लिखने पर। सनकादिक मुनियों से यही शिक्षा प्राप्त की थी ? तुम लोग कुछ भी समझ नहीं रखते। वाह रे विद्वानो, तब ही तो कहते हैं कि प्रायः पढ़े-लिखे मनुष्य भी मूर्ख के मूर्ख ही रहते हैं। अच्छा, सुनो ! मैं फिर तुमसे सच कहता हूं कि तुम्हारे मनों में बड़ा पाप है, तुमने सनकादिक मुनियों को जो ब्रह्मा जी के पुत्र हैं, भुला दिया और फिर मुझे भी जो प्रसाद और आश्चर्य में आया हूँ झूठा मानते तथा जानते हो। कभी भूत कहते हो, कभी गंधर्व कहते हो, कभी मिथ्यावादी बताते हो। याद रक्खो, यदि तुम मेरे वचनों पर विश्वास न करोगे तो तुम्हारे अनंत पापों का नाश नहीं होगा और तुम सम्प्रसाद में प्रवेश न कर सकोगे। चेत जाओ, मैं ठीक कहता हूँ और अपने आपको सँभाल करो अर्थात् पहिचान करो। अपने मन की मलीनता को दूर करो, विश्वास करो। हे मित्रो ! किञ्चित् तुम मुझको देखो, न तो मैं भूत हूँ और न प्रेत और न चुड़ैल चुड़ैलिनी हूँ वरन् वामदेव हूँ जो तुम में रहता-सहता था, साथ में मिलकर खाता-पीता था।

सम्बन्धी—हे वामदेव ! तुमको मरे हुये तो बहुत दिन हो गए थे। इतने काल कहाँ रहे ?

वामदेव—हे मित्रो ! तुमसे कहा तो था, परन्तु तुम्हारे हृदय के कान बन्द हैं, सुनते नहीं॥ काल दैवी विधान के अनुसार नाना योनियों में घूमता-घामता कुछ काल तो पितृयान मार्ग पर रहा अर्थात् स्वर्ग लोक में घूमता रहा। इसके पश्चात् देवयान सड़क पर घूमता रहा, फिर यहाँ आ भाई, मैं लोक लोकान्तरों में भ्रमण करता रहा, इससे इतने दिन लग गये, किन्तु अब मैं प्रसाद हुआ निश्चय करता हूं कि मैं ही भूत, प्रेत या चुड़ैल आदि हूं। अरे ! मैं ही अवतार हूँ, मैं ही इन्द्र ही प्रजापति हूं। मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है वरन् मैं सब में सब कुछ हूं। हे वत्स ! इस प्रकार वह एकदम हँस पड़ा। वहाँ के लोग बड़े आश्चर्य में पड़े। हे शिष्य ! जब इस प्रकार वामदेव बोला और हँसा तब उसके सम्बन्धियों ने निश्चय किया कि हे भाइयो ! यह भूत-भात नहीं है वह वामदेव है जो हमारा सम्बन्धी था क्योंकि यह जो सब पते बताता है, वे सब ठीक हैं। आश्चर्य नहीं सनकादिकों की शिक्षा के फल से इसने प्रसाद (अर्थात् मोक्ष) पाया हो। इसलिए हे वत्स ! सच जान उस पर विश्वास कर लिया, अपने अपराधों की क्षमा माँगी और कहने लगे—हे वामदेव, हमें क्षमा करो, हम बहुत गल्ती पर थे। हे भाई वामदेव ! अब हमने विश्वास किया है कि तू वही वामदेव हमारा सम्बन्धी था और प्रसाद पर प्रसाद (अर्थात् जीवन्मुक्ति) पाकर तू यहाँ आया है। किन्तु हम बड़ी अविद्या के कारण अपने आत्मा को नहीं जानते। निस्सन्देह सनकादिकों ने हमको बहुत सम बुझाया, परन्तु हमारे पापों के कारण यह पर्दा जो वाणी के द्वारा उठता है, नहीं उठा। इसलिये तो विश्वास रहा और तू श्रद्धा भी रखता रहा और उनके वचनों को मानता भी रहा अर्थात् श्रवण, और निदिध्यासन करता रहा। इसलिये तूने मोक्ष पर मोक्ष पाया जो कि हम अपनी आँखों के देखते हैं। अब हमको भी इसमें बुला और यह भेद की बात भी बतला जो तू आप देखता है। हम भी तो तेरी कृपा से तत्व पदार्थ पा जायेंगे और तेरे समान निर्द्वन्द होकर यही अनुभव करेंगे जो तू है। हे भाई वामदेव ! हमारे ऊपर दया कर और हमारा कहा-सुना माफ कर।

वामदेव—हे भाइयो ! चित्त को सावधान करके सुनो। यह आत्मा अकेला है, अपने सौं अद्वितीय है अपने कामों में सर्व शक्तिमान है। इसके सिवाय कोई दूसरा नहीं है जो उसको देख सके। लिए तो उसको यह चाव रहता है कि वह अपने आप को देखे। जैसे सुन्दर स्त्री को चाव होता है कि कोई देखे। इसी कारण से दूसरों को दिखाने के लिए वह श्रृङ्गार करती है, किन्तु जब परदे में रखी जाती उसी चाव के कारण वह अपने पास अपने अंगूठे में आरसी रखती है, और आप ही अपने आपको देख-देख कर बड़ी प्रसन्न होती है। हे मित्रो ! परदे में स्त्री का मुख भी अकेला होता है, दूसरा कोई जो उसको देख सके। इसलिए वह क्योंकर अपने आपको देखे ? आरसी के द्वारा ! यद्यपि एक मुख नहीं हो जाते तो भी दो से प्रतीत होते हैं और अन्य-सा हो जाता है अर्थात् एक के दो हो जाते होते हैं और जहाँ यह अकेला दो-सा प्रतीत होता है वहाँ अकेला दुकेले को देखता है। इसी सुन्दर स्त्री भी आरसी में दूसरी स्त्री होकर अपने आपको देखती है। हे मित्रो ! यह आत्मदेव तो बढ़कर अकेला और सुन्दर है क्योंकि न तो वह कोई गुण रखता है और न उसमें कोई अंश है। गुण और अंशों से पवित्र है और सौंदर्य रूप है क्योंकि सम्पूर्ण सौंदर्य और शोभा इसी की किरणें हैं। इसी की प्रभा हैं। भला कैसे वह अपने आपको देखे ? पर वह सौंदर्य रूप है। इसीलिए देखने का

अनादि अनन्त है। इसी कारण उसको भी दर्पण की जरूरत पड़ती है ताकि वह उसमें भिन्न-सा होकर और एक से दो-सा होता हुआ अपने प्रेम को पूरा करे और अपना दर्शन पाये। हे भाइयो! परन्तु उदाहरण में यद्यपि मुख एक ही होता है और आरसी के द्वारा दो-सा प्रतीत होता है, किन्तु आरसी तो भिन्न वस्तु-सी उसके समान विद्यमान होती है; लेकिन यहाँ तो सिवाय आत्मा के दूसरी वस्तु भी नहीं जो आरसी की तरह उपादान हो सके। यहाँ स्वयं ही दर्पण, स्वयं ही देखने वाला, स्वयं ही दिखाई देने वाला होता है। यहाँ दूसरे का सर्वथा अभाव है। हे भाइयो! इस विषय में तुम लोग आश्चर्य मत करो। जैसे कोई जादूगर वास्तव में दो या तीन नहीं हो जाता तो भी वह जादू के कारण दो या तीन हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी जादू है और अपने जादू के कारण ही दर्पण स्वयं देखने वाला तथा स्वयं ही दृश्य होता है। हे भाइयो! इसी जादू का नाम माया है।

हे मित्रो! और भी सुनो, यह बात तुम सब जानते हो कि जादूगर का जादू उसके आधीन होता है। उसे कुछ हानि या भय नहीं दे सकता, तो भी दूसरों को भय, हानि और हर्ष का कारण हो जाता है। देखो, जादूगर जब जादू से सिंह होकर दिखाई देता है तो वह बच्चों को डराता है, परन्तु मदारी उसी जादूगर से नहीं डराता। इसी प्रकार आत्मा की माया भी (अर्थात् मन इन्द्रियें) आत्मा पर कुछ प्रभाव नहीं डालती, वरन् उसके अधिकार में होती हैं, तो भी उसी को जब वह दूसरा-सा प्रतीत होता है तब डराती और बन्ध मोक्ष का व्यवहार करती है। इस तरह आत्मा अपने दर्शन के लिए आया और दर्पण में उतरा विचित्र संसार में आया है। जब यह इस दर्पण रूपी शरीर में आया फिर विषयों से उपराम होकर वैदिक नियम अनुसार उस दर्पणरूपी अन्तःकरण को शुद्ध करता है। और विधि-विधान से जो साक्षात्कार के लिए नियत है उसमें दृष्टि करता है, तो फिर अपने आपको अकेला देखता संपूर्ण (अर्थात् अद्वितीय) होता है। उस समय तमाम जादू का संसार एक दम भाग जाता है, फिर वही पूर्ण-का-पूर्ण, स्वतन्त्र-का-स्वतन्त्र होता है। हे भाइयो! यही उसका प्रारब्ध है, यही उत्तम भाग है।

सम्बन्धी—हे वामदेव! हमको विस्तार पूर्वक बतलाओ कि वह अपनी माया से भिन्न-भिन्न क्योंकर होता है, उसका दर्पण क्या वस्तु है? क्योंकर उसने इस दर्पण को तैयार किया, क्योंकर वह दर्पण में उतर आता है, फिर संसारी कैसे हुआ, क्योंकर वह उस मायारूपी शीशे में दृष्टि करता है, फिर क्योंकर वह अद्वितीय होता हुआ इस जादू के घर से निकला है? इस जादूगरी में वह क्या-क्या कारीगरियाँ करता है?

वामदेव—हे भाइयो! आरम्भ में यही एक अकेला आत्मा था, दूसरा कुछ भी कल्पित न था। तब उसने विचार किया कि मैं अपना दर्शन करूँ और अपने लिये दर्पण बनाऊँ। परन्तु जिस तरह एक बड़ा इञ्जीनियर प्रथम अपने मन में विचार करता है, फिर उसकी लकड़ी, पत्तियाँ तथा लोहे की कीलें तैयार करता है, फिर उन्हें परस्पर जोड़ता है और भीतर शीशे को जड़ देता है। उसी तरह उसने विचार करके अपने संकल्प से आकाश की कल्पना की, फिर आकाश से वायु की, और वायु से अग्नि को बनाया, अग्नि से जल को बनाया और जल से पृथ्वी को बनाया जो सब पदार्थों की मूल है। हे भाइयो! तुम लोग आश्चर्य मत करो कि उसने अपने अकेले आत्मा से यह क्योंकर बनाया जबकि उसके पास सिवाय आत्मा के दूसरा कुछ उपादान न था। जिस तरह पानी बिलोने से झाग प्रकट होते हैं उसी तरह उसके संकल्प से तीन गुण वाली माया झाग की तरह प्रगट हुई जो उसी की विभूति है, उससे पृथक नहीं और

वही संकल्परूप थी। इसलिये आप ही उपादान और आप ही कर्त्ता हुआ, जैसे सर्प अपने लम्बे हो गोल होने और टेढ़े होने में स्वयं ही उपादान और स्वयं ही कर्त्ता होता है। फिर उसने इच्छा की कि संसार के लोक बनाऊँ जिनमें संसारियों के भोग के लिए उनके अनुसार बस्तियाँ भी और मेरे कलाः दर्पण के लिए शृङ्गार के कमरे होने चाहियें। संस्कृत भाषा में ये ऊपर और नीचे के लोक कहलाते। उसने उन पाँच तत्वों से पहले अण्ड उत्पन्न करके फिर यह लोक भी बनाये। संक्षेप में वे लोक चार अंभ, मरीचि, मर और आप। जो प्रदेश देवलोक से लेकर ऊपर का है वहाँ अंभ लोक कहलाता। अम्भ जल को कहते हैं। दूसरा लोक मरीचि है और वह उतना ही विशाल है जितने में ऊपर नीचे सूर्य की किरणें फैलकर समाप्त होती हैं। विशालता अर्थात् खुलापन या आकाश को संस्कृत में अन्तरि बोलते हैं। यद्यपि यह अन्तरिक्ष अम्भ में भी है। किन्तु उसका उतना भाग जिसमें चारों तरफ से सूर्य किरणें फैलकर समाप्त होती हैं, मरीचि कहलाता है; क्योंकि मरीचि संस्कृत में सूर्य की किरणों का ही न है। जितने अन्तरिक्ष में सूर्य की किरणें फैलती हुई समाप्त होती हैं उतने अन्तरिक्ष को मरीचि बोल क्योंकि वह सूर्य की किरणों वाला है, इसलिये मरीचि है।

तीसरा लोक मर है और उसे मृत्युलोक भी बोलते हैं क्योंकि मर और मात संस्कृत में मृत्यु नाम है। जहाँ तक मृत्यु या मरने का निश्चय होता है वहीं तक मर या मृत्यु लोक कहलाता है और उसकी अन्तिम सीमा है। इसी में प्रायः जन्म-मरण का बर्ताव होता है। इस मृत्यु लोक में शरीर रहता है और प्राण निकल जाते हैं। पीछे शव रह जाता है। इसलिये यह केवल मृत्यु का बर्ताव होता। इसको मृत्यु लोक इस कारण भी बोलते हैं कि यहाँ मनुष्यों को मरने का ध्यान हर समय रहता है। चौ लोक आप है उसे पाताल लोक भी बोलते हैं। जो संस्कृत भाषा जानता है वह भली भाँति समझ सक है और इसी कारण यह सबसे नीचे का लोक है। इसे पाताल लोक भी बोलते हैं। फिर जिस तरह बुद्धि मिस्त्री तख्ते तैयार करता है और एक दूसरे तख्ते को ऊपर-नीचे ठोक देता है उसी प्रकार परमात्मा ने इन लोकों को इसी अण्ड के भीतर जो वृत्त है और परमात्मा के शृङ्गार का बंगला है उसी में एक-दूसरे ठोक कर खड़ा कर दिया है। अम्भ की चूल तो देवलोक में फाँस दी और उसे ऊपर रक्खा, नीचे उ मरीचि को फँसाया इसलिये अम्भ और मरीचि की सीमाबन्दी में देवलोक सम्मिलित है। इसी कारण लोक अम्भ की प्रतिष्ठा कहलाता है। फिर मरीचि लोक को दूसरी तरफ से भूमि में ठोक दिया और नीचे पाताल लोक बना दिया जो दूसरी ओर उसके नीचे घन्वाकार वृत्त है जिसे संस्कृत में अण्ड बोलते हैं।

हे भाइयो! जब इस प्रकार आत्मा ने लोकों को रचा तो फिर लोकपालों (अर्थात् देवताओं) भी संकल्प किया। क्योंकि लोक-पालों के बिना यह लोक किस प्रकार स्थिर रह सकते हैं। जब लोक भी बना दिये और उन्हें मेखों की तरह उन लोकों में दृढ़ता के लिये ठोक दिया, तो मानों देवता एक विचित्र संसार समुद्र में डाल दिये। हे भाइयो, इस विचित्र संसार समुद्र का हाल भी सुनो कि क्या कलायें और चतुराइयाँ इस में रक्खी गई हैं। यद्यपि संसार के बनाने का मुख्य प्रयोजन वही शृङ्गार बँगला है, तो भी जो क्षणिक चतुराइयाँ इसमें उसने बनाई हैं उनसे भी एक विचित्र समुद्र-सा हो गया इस संसार समुद्र में अविद्या, लोभ और कर्मों से उत्पन्न हुआ दुःख और शोक तो मानो पानी है। रोग बुढ़ापा और मौत मानों उसमें मछलियाँ हैं और अनादि तथा अनन्त उसमें दो किनारे हैं। विषय

भोगों से जो सुख होता है वही उसके टापू हैं। यहाँ ठहर कर प्राणी कुछ-कुछ आराम पाता-सा ख्याल करता है। पाँचों इन्द्रियाँ उनके विषय हैं विषयों की तृष्णा मानों उस पर वायु चलती है जिससे बड़े-बड़े पाप और अपराध रूपी लहरें उसमें उठती हैं। फिर रौरव आदि नरक और उसमें प्राणियों के क्रन्दन से उठता हुआ जो शब्द है (अर्थात् हाय मैं मर गया, मैं बड़ा दुःखी हूँ। मेरी कोई नहीं सुनता इत्यादि) वही इस समुद्र का जोश रूप शब्द है। और उसमें मानो सत्य कर्म, दान, दया, क्षमा और शम-दम आदिक जहाजियों (अर्थात् यात्रियों) का सामान है। अपने आत्मा की पहिचान मानो पक्का जहाज है जिससे यह समुद्र पार किया जाता है और महात्माओं का सत्संग (अर्थात् ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाना) मानों उससे पार होने का एक नियत मार्ग है जिस पर यह जहाज चलता है। कैवल्य मुक्ति और क्रमशः मुक्ति उसके मानो वार-पार हैं। ऐसे समुद्र में ये विचारे देवता डाल दिए गए हैं। इसलिए कर्मों से जो इन देवलोकों की प्राप्ति रूप मुक्ति है वह तो कुछ नहीं वरन् जन्म-मरण संसार ही बना रहता है। केवल इधर-उधर धक्का-मुक्की ही खानी पड़ती है। शान्ति कदापि नहीं मिलती, जब तक कि यह प्राणी अपने आत्मा का साक्षात्कार नहीं करता, संसार समुद्र से पार नहीं होता।

हे भाइयो! जब यह देवता भी जिनकी तुम उपासना करते हो इसी समुद्र में गिराये गये हैं तो तुम इनकी उपासना से यह समुद्र नहीं तैर सकते। ये तो स्वयं इस समुद्र में गिराये गए हैं। भला तुमको कैसे तार सकते हैं? हाँ, इतना तो जरूर है कि इनकी उपासना से चित की शुद्धि और दूसरी गति होती है जो कि अन्ततः सांसारिक है। हे भाइयो! तुम जागो और अपने आत्मा को पहचान कर शान्त आत्मा हो जाओ। क्यों इस तुच्छ संसार में पड़े भटक रहे हो? यह मनुष्य योनि इस संसार का केन्द्र है। यही वास्तव में ब्रह्मपुर या आत्मा के देखने का दर्पण तैयार हुआ है जिस में उसका दर्शन होता है। इसी में तमाम देवता तेरी सेवा के लिये प्रविष्ट हुए हैं। प्रथम तुम अपने पुर का ज्ञान (अर्थात् पंच कोष का विवेक) करो, फिर देवताओ को जानो। यह शरीर रूपी तुम्हारे लिये एक सवारी है और क्या आँख, क्या नाक, क्या कान सब के सब देवता इस शरीर रूपी पुर में इकट्ठे होकर कोई किसी की सेवा के लिये, कोई किसी की सेवा के लिये नियुक्त हुए हैं। उनमें मैं आत्मा ही द्रष्टा हूं जिसके लिये यह सब हैं और जैसे शीशे में अपना आपा दिखाई देता है उसी प्रकार इस पुर में विवेक के द्वारा तुम लोग मुझ आत्मा को अपने आत्मा में देखो। ये तीन अवस्थायें और तीन निद्रायें तुम्हारी नहीं हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों मनुष्य के शरीर की अवस्थायें हैं। जाग्रत में उसका स्थान नेत्र है। स्वप्न में उसका स्थान मन है और सुषुप्ति में हृदयाकाश है। नेत्र में आया हुआ सब बाहर की वस्तुयें देखता है। मन में आया हुआ मनो रचित जगत को देखता है, जिसे स्वप्न कहते हैं। हृदयाकाश में आया अपने परमात्मा स्वरूप ब्रह्म में आराम करता है। इस प्रकार रात-दिन तीन लोक में सैर सी करता होता है। तीन निद्रायें उसकी ये हैं। पहली वह निद्रा है जो पिता में गर्भित होती हैं, दूसरी निद्रा उसकी माता के उदर में है, तीसरी निद्रा उसकी अपने शरीर में है। यद्यपि यह अपने शरीर में सोया हुआ है तो भी बाहर के संसार के लिये तो जागता सा ही जान पड़ता है। किन्तु जिस आत्मा के दर्शन के लिये इस ब्रह्मपुर रूपी मनुष्य शरीर में आया है उसे नहीं पाता। सामान्य रीति से तो वह जागता ही है। पर वास्तव में सोया हुआ है।

जब कोई अत्यन्त कृपालु गुरु वेदों के महावाक्य रूप नर सिंहों का नाद उसे सुनाता है और

विवेक-विचार से उसे इस हृदयरूपी दर्पण में निज स्वरूप पर दृष्टि डालना सिखाता है तब वह निज स्व[illegible] को देखता और अनुभव करता है। तब वह इस अनादि प्राकृतिक निद्रा से जाग जाता है और [illegible] अन्वय व्यतिरेक के नियम के अनुसार इन्हीं अवस्थाओं और इन्हीं निद्राओं में घूमता-घामता अद्वैत [illegible] से देखता और निश्चय करता है कि न तो मैं जाग्रत हूं, न मैं स्वप्न और न मैं सुषुप्त हूँ, वरन् ये ती[illegible] अवस्थायें मेरे सैर करने के स्थान हैं। जब मैं जाग्रत में आता हूँ तो नासूति की सैर करता हूं अ[illegible] जाग्रत जगत में विचरण करता हूँ। और जब मैं स्वप्न में जाता हूँ तो मलकूती जगत की सैर करता [illegible] अर्थात् स्वप्न संसार में विचरण करता हूं। और जब मैं सुषुप्ति में जाता हूं तो जबरूती जगत की सैर क[illegible] हूं। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में विचरण करता हूं। क्या जाग्रत, क्या स्वप्न क्या सुषुप्ति सब के सब [illegible] स्थान हैं और मैं उनमें एक रस हूं वरन् उनमें मैं नहीं घूमता तथा नहीं फिरता ये ही तीनों अवस्[illegible] माला की मणियों के समान जो तार में हैं फिरती हैं। और मैं तो माला के सूत की तरह उनका आ[illegible] अथवा अधिष्ठान हूं जिसमें ये आती जाती हैं। परन्तु जिस प्रकार बादलों के चलने से चन्द्रमा [illegible] चलता दिखाई देता है उसी प्रकार बुद्धि को उनकी चाल भी मुझ आत्मा में प्रतीत होती है और [illegible] उसकी भ्रान्ति है। मैं तो अचल सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं। ऐसा जब अनुभव होने लगता है तो उस स[illegible] वह वास्तव में जागता है, नहीं तो सोया हुआ ही कहलाता है। और उसका यह जागना बिना [illegible] वाक्य के नहीं होता। महावाक्य ही उस समय उसका गुरु है। जब वह महावाक्य के कारण अपने [illegible] को देखता है, यह मैं हूं—तो तीनों अवस्थाओं से वह एक ही छलाँग में कूद जाता है और तुरीयाव[illegible] (लाहूत) में जो उसका निजी आत्मस्वरूप है प्राप्त हो जाता है।

हे भाइयो! यह उसकी विचार रूपी छलाँग देखो कैसी और क्या ही विचित्र ढंग की है। [illegible] कारण इस चौथे पद में देखता है कि यह मेरा स्वरूप है।

हे शिष्य! इस प्रकार वामदेव अपने मित्रों को उपदेश देकर फिर कहने लगा—हे भाइयो! [illegible] उसकी तीनों निद्राओं के भेद मुझ से सुनो। जब वह अविद्या से काम करने वाला होता है और [illegible] आदिक शास्त्रीय कर्म करता है तो इस लोक में आकर वह पितृयान सड़क से चन्द्रलोक को जाता [illegible] वहाँ के भोग जब समाप्त हो जाते हैं तो वर्षा में पृथ्वी पर उतरता है और अन्नरूप होकर पुरुष के [illegible] रूप मुख में होमा जाता है। वहाँ रक्त आदि होता हुआ वीर्य हो जाता है। यही उसका पहला ग[illegible] और यही उसकी पहली नींद है। जब पिता इस वीर्य को माँ के पेट में अर्पण करता है तो यही उ[illegible] दूसरा जन्म है अर्थात् दूसरी नींद है, मानो माँ के पेट में गर्भ होता है और पिता के वीर्य-कोष से [illegible] जाता है। जब यह माँ में गर्भित हुआ नियत समय पर निकलता है तो वीर्य की दृष्टि से यही [illegible] संसार जीव का तीसरा जन्म है। ये उसकी तीन निद्रायें हैं। हे भाइयो! जो मनुष्य कर्मफल की दृष्टि [illegible] संसारी होता है और शास्त्र के विरुद्ध पाप रूप कर्म करता है वह इस संसार समुद्र में डूबता है और [illegible] वह शास्त्रीय कर्म करता है तो ऊपर के लोकों में चढ़ता हुआ फिर नीचे गिराया जाता है। वह भी [illegible] संसार में रहता है, परन्तु जो निष्काम कर्म करता हुआ मन के दर्पण को साफ रखता है और फिर [illegible] उस दर्पण में अपने स्वरूप पर दृष्टि डालता हुआ निश्चय करता है कि मैं तो सच्चिदानन्द हूँ, वह [illegible] संसार-समुद्र से तर जाता है और न्याय (अर्थात् कर्मों के फल) से निकल कर प्रसाद में आ जाता [illegible] हे भाइयो, तुम भी न्याय के नहीं वरन् प्रसाद के अभिलाषी हो जाओ अर्थात् कर्म फल की इच्छा

छोड़ो। फिर अपने शुद्ध मन में विवेक लाकर आत्मा को देखो जैसा कि मैंने देखा और प्रसाद-पर प्रसाद पाया है।

हे वत्स! जब वामदेव ने गर्भ से इस प्रकार उपदेश किया तो उसके सम्बन्धियों ने जान लिया कि यह वही पूर्व का हमारा साथी वामदेव है।

प्रजाजन—हे वामदेव! हम मित्रों के लिए अद्वितीय अमृत अजर आत्मा है, इस प्रकार निषेध मुख से आत्मा का उपदेश क्यों करते हो? जैसे कोई पुरुष गाय के सींग पकड़ कर गौ को दिखाता है, वैसे ही विधिमुख से आत्मा को क्यों नहीं दिखाते? हमको तो तुम्हारा आत्मा परोक्ष-सा प्रतीत होता है, अपरोक्ष नहीं।

वामदेव—हे भाइयो! तुम्हारे कल्याण के लिए नाना प्रकार से जो मैंने आत्मा के स्वरूप का कथन किया है सो आत्मा का स्वरूप वास्तव में गौ आदिकों की नाईं "इदं" इस ज्ञान का विषय नहीं है और अद्वितीय अमृत, अजर आदि से लेकर निषेध वाक्य भी लक्षणावृत्ति करके आत्मा को कथन करते हैं और हे मित्रो! वह अद्वितीय आत्मा न तो इन्द्रिय का विषय है और न अन्तःकरण चतुष्टय का ही विषय है।

अधिकारी जन—हे भगवन! यद्यपि आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है तथापि वेदान्त-वाक्यों से उत्पन्न हुई जो बुद्धि की वृत्ति है उसका तो आत्मा विषय होगा।

वामदेव—हे मित्रो! बुद्धि की वृत्ति का तथा अज्ञान का प्रकाश करने वाला साक्षी आत्मा है। इसलिये आत्मा उनका विषय नहीं हो सकता। इसके विपरीत बुद्धि की वृत्ति तथा अज्ञान आत्मा करके प्रकाशित होते हैं, इससे आत्मा का विषय है। हे मित्रो! पूर्व सनकादिक मुनियों ने उपदेश किया था कि आत्मा देश, काल, वस्तु, परिच्छेद से रहित सबका प्रकाशक आनन्द स्वरूप है। उसको अच्छे प्रकार विचार करके तुम साक्षात् करो। तात्पर्य यह है कि भावी प्रतिबन्ध की शंका करके तुम लोग विचार करना मत छोड़ना क्योंकि पाप-पुण्य रूप अदृष्ट का नाम भावी प्रतिबन्ध है। सो वर्तमान प्रतिबन्ध की सहायता के बिना विचार का प्रतिबन्ध नहीं हुआ करता, किन्तु वर्तमान प्रतिबन्ध की सहायता को पा करके ही प्रतिबन्ध होते हैं। जब वतमान प्रतिबन्धों का अभाव हो जाता है तब अदृष्टरूप भावी प्रतिबन्धों का भी अभाव हो जाता है। इसलिये विषयों में आसक्ति, बुद्धि की मन्दता, कुतर्क, विपर्यय और दुराग्रह-इन पाँच प्रकार के वर्तमान प्रतिबन्धों का परित्याग करके तुम जल्दी से आत्म-विचार में प्रवृत्त हो जाओ। ऐसा होने पर हमारी तरह से तुम को भी पुनः जन्म की प्राप्ति नहीं होगी।

सम्बन्धी—हे वामदेव! आत्म-विचार में तो हम लोग प्रवृत्त हो जायें, परन्तु तत्ववेत्ता तुम जैसों को भी गर्भ-दुःख की प्राप्ति देख करके दुःख का निवृत्तिरूप जो आत्म-विचार का फल है उसमें हम लोगों को संशय है कि आत्म-विचार से भी [दुःखों की निवृत्ति होती है या नहीं। यह संशय आत्म-विचार की प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध है।

वामदेव—हे मित्रो! तुम्हारी दृष्टि में मैं गर्भ में हूँ तथा गर्भ के कष्टों को भी अनुभव करता हूँ। अपनी दृष्टि से तो मैं सर्व शरीर तथा इन्द्रियों आदि से रहित हूँ। मैं तो ब्रह्मलोक की सैर कर रहा हूँ, मैं गर्भ में नहीं हूं। हे मित्रो! पूर्व जन्म में मैंने और तुमने मिलकर जो गर्भ के दुःखों का विचार किया था

उतना ही दुःख अब भी मैं गर्भ में अनुभव करता हूं अथवा उससे भी अधिक दुःख का अनुभव करता हूं। परन्तु सब में आत्म-बुद्धि रूप पूर्णमासी के चन्द्रमा की शीतलता से गर्भ-दुःख रूप ग्रीष्म ऋतु का सूर्य मुझे सन्तप्त नहीं करता। इसलिये हे मित्रो ! तुम लोग आत्म-ज्ञान को ही सम्पादन करो। इसमें संशय न करो। मैं तुम से यथार्थ कहता हूँ।

हे शिष्य ! इस प्रकार आत्मज्ञान में श्रद्धा कराने के लिए बहुत प्रकार से वामदेव ने अपने बान्धवों को गर्भ से ही समझाया जो अब तक नहीं जाना गया। हे वत्स ! फिर वामदेव मुनि माता के गर्भ से निकल कर भूमिलोक से ब्रह्मलोक तक जीवन्मुक्त होकर पृथ्वी पर सनकादिक मुनियों की भांति विचरता रहा, वह वामदेव कैसा है ? सनकादिक मुनियों के समान है। इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के सुखों की जिसकी इच्छा निवृत्त हो गई है और तमाम व्यवहारों से रहित होकर जिसका हृदय शुद्ध है ऐसा जो वामदेव है वह प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के लिए मनुष्य-लोक के तथा स्वर्ग आदिक लोकों के विषयों को भोगता हुआ, प्रारब्ध कर्मनाश होने के पश्चात् शरीर छोड़कर अपने स्वरूप में प्राप्त हो सत्य-संकल्प, सत्य-काम और आप्त-काम होकर विदेह कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हुआ।

हे शिष्य ! इस प्रकार गर्भ में स्थित वामदेव के वचनों को सुनकर वे अधिकारी पुरुष बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुये कि यह तो वामदेव की विचित्र ही घटना रही। परस्पर मिलकर कहने लगे कि बड़ा आश्चर्य है। यह वामदेव हम सब अधिकारियों के बीच में से किस पुण्य के प्रभाव से निकल गया। जैसे कीचड़ में फँसी हुई गौ अपने किसी एक पुण्य के प्रभाव से निकल जाती है उसी प्रकार यह वामदेव हम में से निकल गया। देखो न, भाइयो ! काम, क्रोधादिक रूप रस्सी से बँधे हुए हम सब जनों को परित्याग कर यह वामदेव हमारे सामने ही संसार का त्याग करके चला गया। जैसे दुर्भिक्ष आदिक उपद्रवों के होते हुए भी मोह के वश देश का परित्याग लोग नहीं करते, उनमें कोई एक पुरुष स्नेह से रहित हुआ बान्धवों का परित्याग करके देश से भाग जाता है, उसी प्रकार यह वामदेव हम सब बांधवों का परित्याग करके चला गया और भी देखो, इसका कैसा कोई पुण्य उदय हुआ कि हम सब अधिकारियों के बीच आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त हुआ। अरे, हम लोग तो सब नपुन्सक के समान हैं। यह वामदेव ही निकला। जैसे बहुत से पुरुष किसी मन्त्र के जप में प्रवृत्त होते हैं उनमें से किसी एक पुरुष को ही सिद्धि होती है। उसी प्रकार विचार में लगे हुये हम सबों में इस वामदेव को ही विचारजन्य आत्म-ज्ञान का फल प्राप्त हुआ। देखो, हम सर्व दुःखी जनों के बीच में एक वामदेव ही संसार-बन्धन से छूटा है। इस बुद्धिमान वामदेव का कोई अद्भुत पुण्य-कर्म है, जिसके प्रभाव से गर्भ में रहते हुए आत्म-साक्षात्कार उत्पन्न हुआ है। हम लोगों को गुरु, शास्त्रादिक साधनों के द्वारा भी इस भूमिलोक में आत्म-ज्ञान नहीं हुआ। उस वामदेव ने गर्भ में स्थित होते हुए भी हम लोगों के प्रति ये वचन कहे। हे भाइयो ! हमको ऐसा जान पड़ता है कि इस वामदेव का हमारे में भी स्नेह नहीं, केवल हमारे ऊपर उसकी कृपा है। यदि स्नेह होता तो बाहर आकर अपने माता-पिता को भी उपदेश करता, परन्तु वह तो जन्मता हुआ माता-पिता आदि सर्व बान्धवों की उपेक्षा करके हमको ही उपदेश करता रहा। हमको स्नेह के कारण नहीं किया।

गर्भ में स्थित होकर वामदेव ने हम लोगों को जो उपदेश किया है उसके दो प्रयोजन हैं। एक पूर्व हमने जो गर्भ के दुःखों का विचार किया था वह ठीक ही है और दूसरा आत्मज्ञान के बल से

दुःख भी संताप नहीं देते हैं। बस, यह दो ही प्रयोजन ज्ञात होते हैं, और कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये हम लोगों को धिक्कार है। हम लोग तो नपुंसक की भांति निरादर के पात्र हैं क्योंकि हम मनुष्य शरीर को पाकर भी आत्मज्ञान से वंचित रहे। अज्ञान के कारण हमने व्यर्थ समय को खोया। हाय, बड़ा शोक है। ऐसे मानव जीवन को धिक्कार है कि जिसे इस मनुष्य लोक में अनन्त प्रकार के दुःखों को प्राप्त होकर भी वैराग्य नहीं होता। हम लोग विषय सुख की तृष्णा के पीछे कभी देव-शरीर को, कभी मनुष्य शरीर को, कभी वृक्ष, शूकर, कूकर आदिक शरीरों को धारण करते रहते हैं, जो केवल दुःख और शोक के देने वाले हैं। इस प्रकार, हे शिष्य ! सर्व अधिकारी जब परस्पर मिलकर विचार करने लगे और विचार करके वैराग्य भाव को प्राप्त हुए तथा वामदेव के उपदेशों से जिनको श्रद्धा हुई वे लोग आत्म-विचार करने लगे और कहने लगे—हे ब्राह्मणो, देखो वामदेव की विचित्र घटना को याद करो। वह न्याय (अर्थात् कर्म के फल) से निकल कर ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया। वह कौनसा आत्मा है जिसे वामदेव प्रत्यक्ष देख कर कि—मैं······यह हूँ—अमर हो कर सत्य-काम, सत्य-संकल्प भाव को प्राप्त हो गया और सब में सब कुछ हो गया। अच्छा आओ, हम सब विचार करें। पूर्व में सनकादिकों के उपदेश से और अब वामदेव के उपदेश से आत्मा के जानने का हम लोग परिश्रम करें। वह आत्मा कौन है ? हम लोग भी तो वामदेव के समान विवेक करके उसको देखें—और उसमें अहंता का निश्चय करें—ताकि हम भी वामदेव के समान संसार-समुद्र से पार हो कर जन्म, मरण के चक्कर से छूट कर ज्ञान फल में आजायें।

हे शिष्य ! जब इस प्रकार उन्होंने परस्पर पूछा, खोजा और प्रयत्न किया तो उन्हें याद आया कि श्रीवामदेव ने हमको गर्भ में सिखाया था कि इस मनुष्य में दो ब्रह्म (सगुण-निर्गुण) प्रविष्ट हुए हैं। एक तो वही प्रजापति जो मनुष्य की आकृति में जलों से बनाया गया था और फिर इन्द्रिय व देवता तथा लोकरूप हो कर इस तरह खुला जैसे कोई लिपटा हुआ कपड़ा खुलता है। फिर जो आँख, कान, नाक, मन आदिक रूप होकर हम में प्रविष्ट हुआ है और जो भूख तथा प्यासवाला भी है, यह शरीर जिसका भोजन है तथा जो उसे खाता है। जब भोग समाप्त हो जाते हैं तो फिर कपड़े की तरह लिपट जाता है और इस शरीर से निकल कर देवयान और पितृयान सड़क पर चलता उत्क्रान्त होता हुआ चन्द्रलोक से निकल कर और फिर नीचे को उतरता हुआ संसारी हो जाता है। इसी को जीव कहते हैं। दूसरा वह है जो सिर की खोपड़ी को भेदन करके ब्रह्मरंध्र के मार्ग से छाया की तरह शीशे में (अर्थात् मन में) आया है। जिसके प्रकाश में यह दूसरा ब्रह्म (अर्थात् प्रजापति) फैलने सिकुड़ने वाला तथा व्यापार करता हुआ संसारी होता है और दोनों (ब्रह्म) विधिवत् शरीर में प्रविष्ट हो कर इस शरीर से एक ही रूप से हो गए हैं। हे ब्राह्मणो, उन दोनों में से वह कौनसा है जिसकी हम लोगों को आत्मरूप समझकर उपासना करनी चाहिए।

हे शिष्य ! निदान इन ब्राह्मणों ने वामदेव की शिक्षा से यह जान लिया था कि शरीर तो एक पुर की तरह है और वह जो देवतारूप फिर इन्द्रिरूप होकर दूसरे नियत मार्गों से राज सभासदों की तरह प्रविष्ट हुआ है। एक तो प्राणात्मा है जो इस शरीर को खाने वाला है और इसी के लिए वह अन्न खाया जाता है जो खायें हुए शरीर के बदलने से बदलता रहता है और यह प्राणात्मा भूखा-प्यासा संसारी कहलाता है, किन्तु यह दूसरा जो ज्योतिस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सत्स्वरूप है, जिसके प्रकाश में वह (प्राणात्मा) काम करता, फैलता, सिकुड़ता जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म-मरण आदि संसार का बर्ताव

करता है, वही उसका अधिष्ठान साक्षी है और वही नित्य मुक्त है। हे ब्राह्मणो, जो इस शरीर से मि एक रूप हो रहा है, हम लोगों को विवेक के साथ नित्य मुक्त आत्मा को देखना चाहिये और इ अपना असली आत्मा जान कर अभ्यास करना चाहिए क्योंकि इसी के अनुभव और इसी के निश्च कि –यह मैं हूँ—हम लोग वामदेव की तरह अमृत, 'अजर' तथा मुक्त-स्वरूप हो जायेंगे।

हे भाइयो! जब तक हम लोगों के इस शरीर में अहंता का निश्चय है तब तक हम मनुष्य और जब इस प्राणात्मा अर्थात् सूक्ष्म शरीर में अहंता का निश्चय कर लेते हैं तो मनुष्य जाति अभिमान को त्याग कर प्रजापति (अर्थात् ब्रह्मा) की जाति में आ जाते हैं। उस काल में लोग द्वि हो कर यज्ञादिक वैदिक कर्मों का अधिकार पा जाते हैं अर्थात् उन वैदिक कार्यों का अधिकार हमको जाता है और पिता-पुत्र रूप होकर ऊपर नीचे संसार में संसारी और भोगी होते हैं। जो मनुष्य शरीर में अहंता का निश्चय भाव रखता है वह स्वयं शरीर ही है। वह तो कथन मात्र ही मनुष्य है देहाभिमानी है। परन्तु प्रजापति का पुत्र वह माना जाता है जो इस शरीर के भीतर आँख, कान, मन तथा बुद्धिरूप होकर प्रविष्ट हुआ है। वही असली मनुष्य है। प्रजापति का पुत्र जो सूक्ष्म शरी स्थूल शरीर के अन्दर प्रविष्ट हुआ है इससे मिल कर एक हो रहा है। वह सूक्ष्म शरीर किसी मनुष्य पुत्र नहीं क्योंकि वामदेव की शिक्षा से सुन लिया है कि वही सूक्ष्म शरीर मनुष्य है जो प्रजापति से रूप होकर उत्पन्न हुआ है और भूख प्यास के कारण इन्द्रियरूप होकर इस मानवीय चोले में आ जो इस शरीर को नित्यप्रति खाता रहता है और इसकी जगह बाहर का अन्न स्थान लेता है। यही है कि जन्म के आरम्भ में यह स्थूल शरीर बालक होता है और अन्दर से ईश्वर का पुत्र जो सूक्ष्म है इस स्थूल शरीर को खाता है। दूसरे अन्नों से यह बढ़ता भी रहता है। इसी तरह यह जवान हो है और फिर तो उतना ही अन्न इसका स्थान लेता है जितना भीतर का मनुष्य जो प्रजापति के वंश इस स्थूल शरीर को खाता है। इसके पश्चात् तो यह शरीर उतना भी बदला नहीं पाता, वरन् प्रजापति पुत्र का अन्न होकर घटता जाता है। इसी को बुढ़ापा कहते हैं, बुढ़ापा और कुछ नहीं है। जब यह में यहाँ तक पुराना हो जाता है तो फिर बिलकुल अन्न से बदलने नहीं पाता तो प्रजापति का पुत्र सूक्ष्म शरीर है उसके आहार के योग्य यह नहीं रहता है। तब यह होता है कि जब इस सूक्ष्म शरी भोग के कर्म समाप्त होते हैं, इस अवस्था में प्रजापति का पुत्र इस स्थूल शरीर को छोड़ इस से पृथक् गिर जाता है और फिर मिट्टी में मिल जाता है क्योंकि फिर इसे कुछ भी कर्मों के भोगने से संबंध रहता, वरन किसी का आहार हो जाता है।

हे ब्राह्मणो! इस निश्चय से यह सिद्ध हुआ कि यह स्थूल शरीर आत्मा नहीं और न सूक्ष्म शरीर ही आत्मा है, क्योंकि इसको भी भूख-प्यास लगती है और पुण्य पाप कर्मों से पुण्यात्मा पापी बन कर गमनागमन करता है। अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के कारण नीची-ऊँची योनियों को प्राप्त है, मोक्ष नहीं पाता।

हे शिष्य! फिर वह ब्राह्मण परस्पर कहने लगे कि हे भाइयो, वामदेव की शिक्षा में हमने आ को तमाम व्यवहारों का साक्षी, अकर्ता, अभोक्ता, असंग, आत्मा जाना है जो अपने सौंदर्य के दर्श लिए इस दर्पण में उतरा है। वही हमारी असली अहंता है अर्थात् वही हमारा निजी स्वरूप है। का पता लगाना चाहिये और हमें उसी की उपासना करनी चाहिये। उसी पर दृष्टि रखनी चाहिए

प्रसाद उसी पर निर्भर है। उसी के विवेक से हम लोग मोक्ष पा सकते हैं। उसी की पहचान से हम प्रसाद में प्रविष्ट हो सकते हैं और उसी की अहंता (अर्थात् मैं ब्रह्म) से हम अमृत हो सकते हैं। जैसा कि वामदेव को भी हुआ है। इस प्रकार पता लगाते-लगाते उनको यह सूझ पड़ी कि दोनों आत्मा इस शरीर में भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा बर्ताव करते हुए चेष्टा करते हैं कि जिससे ये इन्द्रियाँ चेष्टा करती हैं। वह परमात्मा नहीं वरन् जो इन सब को और इनकी गति को जानता है वही प्राप्तव्य है और वही परमात्मा साक्षी स्वरूप है। अब हमको ज्ञात करना चाहिए कि किसके कारण से यह वस्तुयें ज्ञात होती हैं और वह कौन है जो ज्ञात करता है ?

विचार करने से हमको ज्ञात होता है कि कान इन्द्रिय के कारण यह शब्द सुनता है, चक्षु इन्द्रिय के कारण यह रूप को देखता है, घ्राण इन्द्रिय के कारण यह गंध ग्रहण करता है, जिह्वा इन्द्रिय के कारण यह बोलता है और रसना इन्द्रिय के कारण खट्टा, मीठा रस लेता है। ये सब कारण तथा भिन्न-भिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ एक ही प्राण आत्मा है जो प्रजापति से देवतारूप होकर और फिर इन्द्रियरूप होकर शरीर में प्रविष्ट हुआ है। यद्यपि हमको श्री वामदेव ने सिखला दिया है कि यह अनेकरूप इन्द्रिय देवता एक ही प्रजापति है ? तो भी हम स्वयं विचार करके इसे सत्य पाते हैं क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही अन्तःकरण नेत्रों में आया चक्षु हुआ रूप रंग को दिखाने का साधन होता है। यही श्रोत्र में आया श्रोत्ररूप होता हुआ शब्दों के सुनने का साधन होता है, वही नासिका में आया प्राण रूप होता हुआ दुर्गन्ध के विवेक का कारण होता है, फिर वही हृदय के भीतर मनरूप हुआ उन्हीं दिखाई हुई वस्तुओं की स्मृति का और शुभाशुभ के ज्ञान का कारण होता है और विवेक के लिये सोच-समझ का साधन होता है। क्योंकि जो कुछ चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना के द्वारा हम पाते हैं उनकी अच्छाई और बुराई को छाँटते हैं और छाँट-छाँट तथा सोच-सोच कर उन्हें निश्चय करते हैं। यदि मन इन्द्रियों से भिन्न होता तो किस प्रकार इन्द्रियों का देखा हुआ मन से मनन किया जाता और स्मरण किया जाता और क्योंकर बुद्धि से निश्चय किया जाता। जो देखता है वही स्मरण करता है और जो जानता है वही सोचा करता है और जो सोचता या मनन करता है वही तो निश्चय भी करता है। इसीलिये एक ही अन्तःकरण विशेष-विशेष भवन में आया हुआ और विशेष-विशेष विवरण से फैला हुआ वृत्तिरूप होकर भिन्न-भिन्न काम-काज करता हुआ इन्द्रिय और मन तथा बुद्धि आदि भिन्न-भिन्न नाम पाता है। वास्तव में एक ही प्राण है।

हे भाइयो ! फिर चूँकि हमको याद पड़ता है कि सनकादिकों की शिक्षा के द्वारा जो हमको वेद (ज्ञान व उपनिषद्) सिखाया गया था कि यह आत्मा प्रथम मन में प्रविष्ट होता व उतरता है और मनोवृत्ति के द्वारा अर्थात् उसके साथ कंठ में सीढ़ी लगाता, बात-चीत करता है और वही मनोवृत्तियाँ यहाँ वाणी कहलाती हैं। फिर उसी मनोवृत्ति से नेत्र में आता चक्षु से देखता है और वही मनोवृत्ति यहाँ चक्षु इन्द्रिय नाम पाती है। हे भाइयो ! श्रुति कहती है कि मन द्वारा ही यह देखता है, मन द्वारा ही यह सुनता है। इस प्रकार एक मन अनेक रूप होकर विशेष-विशेष स्थानों में इन्द्रिय कहलाता है और वही सोच-विचार के समय मन, बुद्धि और स्मृति के समय चित्त और वही अहंकार के निश्चय के समय अहंकार कहलाता है। समस्त एक ही प्राण देवता प्रजापति है क्योंकि हमने पढ़ा है कि जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है, क्योंकि वहाँ जब केवल खाता, पचाता, बनाता, निकालता या खींचता है, प्राण कहलाता है। जब वह जानना चाहता है तो यही प्रज्ञा कहलाता है। इसलिये एक है। केवल काम करता

प्राण और विचार करता अन्तःकरण कहलाता है। यही प्रजापति वामदेव की शिक्षा में हमने सुना है यह प्रथम देवता रूप होकर उठा और फिर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के रूप में होकर मनुष्य प्रविष्ट हुआ।

हे मित्रो! इससे ज्ञात होता है कि यह प्राणात्मा जो सूक्ष्म शरीर है, किंवा प्रजापति का पु वही पुण्य-कर्मों से स्वर्गलोक की सैर करता हुआ भोग समाप्त होने के पश्चात् फिर कर्मों के लिए अ और इन्द्रियों के बन्धन में पड़ता है। और जब यह मन उसी के साक्षात्कार के लिए—मैं परमात्मा है इस प्रकार के निश्चय में पलट जाता है तो फिर पाप-पुण्य के बन्धन से स्वयं छूटकर ज्ञानात्मा हो ज है। इससे ज्ञात हुआ कि वह प्राणात्मा जिसे हमने अपना आपा जाना था वह आत्मा नहीं है, जैसे स्थूल शरीर जड़ अनात्मा है उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी जड़ अनात्मा विनाशी है। भूख, प्य रूप धर्मों से धर्मी है, अनित्य है। उस आत्मा की छाया है। जिस आत्मा की यह छाया है, वही हम परम आत्मा हैं। उसी की उपासना करनी चाहिये। उसी के पाने से हम मोक्ष पा सकते हैं। वही दाता है। वह तो सेवक और कर्मफल का वन्दी है। हे भाइयो! वैसे तो कर्म-मार्ग भी अच्छा है, कुछ नहीं है। क्योंकि हम शरीर के अभिमान से निकल कर सूक्ष्म शरीर के अभिमान से द्विजाति द्विज हुये थे। शरीर अभिमानियों की अपेक्षा हम प्राणात्माभिमानी हो गये थे। यह अभिमान कुछ अ है। परन्तु हम कर्म-बन्धनों से छुटकारा नहीं पा सकते। इसलिये हे मित्रो! प्रसाद ही माँगो, प्रसाद में मुक्ति है और कर्म-बन्धन से छुटकारा भी तभी हो सकेगा।

हे वत्स! फिर उन्होंने यह विचार किया कि जिस मनुष्य को शरीर में अहंता का निश्चय है यह शरीर ही आत्मा है, वह वास्तव में शरीर है और वह स्वयं अन्न ही है, भोक्ता नहीं, किन्तु दूसरों भोग्य है और स्वयं मृत है, अमृत नहीं। उसको वैदिक क्रियाओं की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह न तो भोक्ता है, न खाने वाला है, न जीवित है। इसी कारण से शूद्र जो शरीर में अहंता रखता है, में वह मनुष्य का पुत्र है। इसी कारण उसको यज्ञ आदिक कर्मों का अधिकार नहीं है और न कर्मों उस पर प्रभाव ही पड़ सकता है। वह तो केवल द्विजातियों की सेवा कर सकता है, ताकि वह उनकी तथा श्रद्धा से सेवा करके स्वच्छ, पवित्र होकर उनके उपदेश से जब तक कि वह शरीर के अहंकार छूटकर (जो मनुष्यजाति का है) प्रजापति के पुत्र रूप अहंकार में न आवे, तब तक उसको यज्ञ करने का अधिकार नहीं। किन्तु जो भी अपने शरीर में अहंता का निश्चय रखता है वह विशेष सम्प्रदाय है। यदि उसको धार्मिक शिक्षा न दें, स्वतन्त्र छोड़ दें और यवन भाषा पढ़-लिख कर वि बी० ए० भी हो जाय तो भी वह शरीर को अपना आपा ही निश्चय करता है। यद्यपि वह बुद्धिमान तो भी वह प्राण आत्मा के बोध बिना जड़ शरीर है। इसीलिये तो उस पर शुभ-कर्मों का प्रभाव भी नहीं पड़ता। क्योंकि प्राणात्मा का पैतृक पाप उसके सिर मँढ़ दिया जाता है जो कि उससे की आत्मा निश्चय करता है। हम लोग इस कलंक से निकल गए हैं और प्राण तक पहुंच गए! विचार करो।

हे शिष्य! फिर उन ब्राह्मणों ने इस प्रकार विचार किया कि यह प्राणात्मा जो प्रजापति का सूक्ष्म शरीर है यह एक छाया की तरह उसमें कल्पित है और उसकी अविनाशी शक्ति भी है। प्रकारों में विभक्त है, या तो वह ज्ञानरूप है, या क्रियारूप है। जब वह एक ही शक्ति ज्ञानेन्द्रि

रूप में पलटा खाती है तो वही शक्ति देखने-सुनने या जानने की शक्ति कहलाती है और जब वही शक्ति कर्मों के रूप में पलटा खाती है तो वह कर्म शक्ति कहलाती है। संस्कृत में इसको क्रियाशक्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राणात्मा में छाया की तरह तरङ्गें और विकार उठते रहते हैं क्योंकि जब वह ज्ञान में पलटा खाता है अर्थात् विकृत भाव को प्राप्त होता है तो निश्चय होता है कि वह जानता है। और जब वह ज्ञान के रूप में पलटा नहीं खाता अपितु क्रिया के रूप में बदलता है तो निश्चय होता है कि वह करता है। इस तरह जानना और करना इसी प्राणात्मा का उसमें भ्रम होता है। बिना इस प्राणात्मा के न तो वह जानता है, न करता है वरन् अपने स्वरूप में तो वह कर्म और ज्ञान से निर्लेप अकर्ता और अभोक्ता है।

हे भाइयो! यह जो प्राण हमारे अन्दर ज्ञान और कर्म के रूप में बदलता रहता है। उसी आत्म ज्योति के प्रकाश में पलटा खाता रहता है क्योंकि जब तक प्रकाश न हो, कोई भी काम काज नहीं कर सकता। इसलिये घन सुषुप्ति और मृत्यु में यह प्राणात्मा काम करता दिखाई नहीं देता। इससे ज्ञात होता है कि वह जो उसके अन्दर केवल ज्ञान का प्रकाश है वही हमारा साक्षी ज्ञान स्वरूप है तथा परमात्मा है क्योंकि साक्षी ज्योति स्वरूप आत्मा यद्यपि व्यापारों की प्रेरणा का कारण होती है, स्वयं व्यापारी नहीं हो जाती। इसी प्रकार वह ज्योति उसके कारबार की प्रेरणा तो अवश्य करती है, परन्तु स्वयं कारबार वाली नहीं हो जाती वरन् असंग साक्षी रहती है। यह ज्योति कोई पाँच भौतिक ज्योति नहीं समझनी चाहिये वरन् परमात्म ज्योति है जो साक्षी है। यद्यपि सूर्य आदि ज्योति हैं, किन्तु वे देखती नहीं। न तो सूर्य चन्द्रमा को देखता है और न चन्द्रमा सूर्य को। इसलिये पाँच भौतिक ज्योति हैं, किन्तु वह जो सूर्य, चन्द्र और बाहर, भीतर की मनोवृत्तियों को भी जानता और देखता है वही तो ब्रह्म है, वही आत्मा है। और ये मनोवृत्तियाँ उसके साक्षात्कार के लिये मानो एक शीशा सा हो रहा है क्योंकि जब-जब मनोवृत्तियाँ उठती हैं तो उसमें यह साक्षी रूप ज्योति टपकती है और इन मनोवृत्तियों को देखती फिर वृत्तियों के द्वारा आँख, कान में आकर इनको प्रकाशित करती और बाहर की वस्तुओं को भी देखती व सुनती है।

हे मित्रो! ये जो मनोवृत्तियाँ हैं वे तो केवल द्वार और दर्पण हैं जिनसे वह पाया जाता है। और वह जो इनमें आया हुआ नहीं वरन् इनके द्वारा सबको पाता है, वही तो प्राप्तव्य है। वही ज्योति है और वही परमात्मा है। जिस प्रकार दर्पण की गति से मुख भी हिलता सा दिखाई देता है किन्तु हिलता नहीं, उसी तरह इन वृत्तियों की गति से वह भी गति करता सा कल्पित होता है, वास्तव में वह गति और चेष्टा से रहित केवल द्रष्टा ज्योति की ज्योति है।

हे शिष्य! फिर उन ब्राह्मणों ने यह जान लिया कि वह निर्विकार निरवयव अर्थात् देश, काल, वस्तु, परिच्छेद से रहित है। सब का द्रष्टा है। उसको कोई देख नहीं सकता क्योंकि क्या मन, क्या प्राण, क्या शरीर, क्या सूर्य, क्या चन्द्र सब के सब जड़ हैं और भौतिक तत्व देखने की योग्यता नहीं रखते। वह ज्योति तो सबको देखती और जानती है। वह जो देखने की योग्यता नहीं रखता तो भी ज्यों-ज्यों मनोवृत्तियां उठती उस में दिखाई देती हैं, त्यों-त्यों उन्हीं के द्वारा देखने वाला भी एक साक्षी ज्योति निश्चय होता है। फिर क्योंकि हम यह भी निश्चय करते हैं कि हमने इन मनोवृत्तियों को देखा इसलिये

हम ही देखने वाले और हम ही साक्षी हैं, दूसरा नहीं। यही निश्चय इस ब्रह्म का देखना है और उसके जानने का ढंग है, दूसरा नहीं।

उन्होंने जिन वृत्तियों की छाँट की और जिन में परमात्मा का दर्शन किया, वे वृत्तियाँ ये हैं संज्ञान१, अज्ञान२, विज्ञान३, प्रज्ञान४, मेधा५, दृष्टि६, धृति७, मति८, मनीषा९, जूति१०, स्मृति११, संकल्प१२, क्रतु१३, असु१४, काम१५, वश१६, अहंकार१७, अविद्या१८। संज्ञान पूर्ण जानकारी वृत्ति का नाम है, प्रत्येक जीव को होती है। यह एक अन्तःकरण की वृत्ति है। जब यह खुलती है तो इसके कारण जागती जान या जीव इसी आत्मा का नाम होता है क्योंकि सब में जो जानकारी है वही जीव कहलाता है। वृक्षों में इस वृत्ति का अभाव है। पशुओं में यह पाई जाती है। अ... नाम उस पूर्ण बुद्धिमत्ता का है जिस बुद्धि से यह सब संसार बनता और दैवी काम होते... यह भी एक अन्तःकरण की वृत्ति है और यही आत्मा इस वृत्ति के कारण ईश्वर कहलाता... विज्ञान नाम उस बुद्धि का है जो शिक्षा से बोध (अर्थात् समझ) के रूप में प्राप्त होती है और इ... कारण लोग विद्वान, श्रेष्ठ, विचारवान तथा तत्ववेत्ता कहलाते हैं। यह भी एक अन्तःकरण की वृत्ति... जिसके गुण से वही आत्मा तत्ववेत्ता कहलाता है। प्रज्ञान नाम प्रतिभा या स्फूर्ति का है। विज्ञान युक्ति क्रम से परिणाम निकालता है और यह प्रज्ञान एक प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति है जो बिना यु... क्रम के तत्काल शुद्ध परिणाम पा जाती है। साधारण (शास्त्र ज्ञान से रहित) मनुष्य इसको संकल्प... वा अन्तःज्ञान (अर्थात् इलहाम) बोलते हैं। यह वृत्ति उन ऋषियों-मुनियों को प्राप्त होती है जो सृष्टि... आरम्भ में वेद को फैला देने के लिये प्रकट होते हैं। और यही आत्मा प्रज्ञान के कारण वेद को ... वाला ईश्वर कहलाता है।

मेधा उस अन्तःकरण की वृत्ति का नाम है जो सीखी हुई वस्तु को धारण और उसकी र... करती है। दृष्टि उस वृत्ति का नाम है जो ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होने वाले अनुभव की जाँच-पड़ताल... है। धृति नाम धारण का है। यह भी एक अन्तर की वृत्ति है, जिससे मनुष्य समस्त विक्षिप्त विचारों... निरोध कर सकता है और विक्षेप से धैर्य प्राप्त कर लेता है। इसकी प्रशंसा में साधारण लोग प्रायः... करते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा ही सहनशील है और धीर चित्त वाला है। इसको कभी क्रोध नहीं आ... यह गुण इसी वृत्ति के कारण से उसमें है। मति नाम उस वृत्ति का है जो विचार का काम करती... मनीषा स्वतन्त्र वृत्ति का नाम है। इसके विचार स्वतन्त्र होते हैं। जूति वह वृत्ति है जो शरीर के... और कष्टों को आत्मा में भ्रान्ति करा देती है। यही अनात्म अध्यास भी करा देती है। स्मृति ... शक्ति का नाम है, जो वस्तु कभी देखी या सुनी होती है उसको याद करा देती है। संकल्प वह वृत्ति है... श्वेत या श्याम हर प्रकार का देखी हुई वस्तु की ज्यों-का-त्यों उपस्थित करके उसीकी आकृति पर... दिखाई देती है। क्रतु नाम उस निश्चय की है जो एक ऐसी बात पर पक्का होता है कि उसके सिवा... कुछ भी उस बात के विरुद्ध हो उसे नहीं मानता, चाहे दुनियाँ इधर-से-उधर पलट जाये। यह वृत्ति... हठीली होती है। असु नाम प्राण का है जिसके कारण जीवन का व्यवहार होता है। काम नाम उस... का है जो वस्तु विद्यमान तो हो नहीं किन्तु उसी की तरफ ध्यान और बार-बार इच्छा कराती रहे कि... मुझको मिल जाये। इसी को तृष्णा भी कहते हैं जिसके कारण मनुष्य अशान्त रहता है। वश नाम... अन्तर वृत्ति का है जो स्त्री की लगन लगाती है। अहंकार उस अन्तर वृत्ति का नाम है जो शरीर में...

भाव का सम्बन्ध या आत्मा में अहंता का निश्चय कराती है। जब यह शरीर में अहंता का निश्चय कराती है तो इसे मलिन अहंकार कहा करते हैं क्योंकि अविद्या और स्वाभाविक मोह से यह ऐसा करती है। जब यह विवेक के पश्चात् आत्मा में अहंभाव का निश्चय कराती है और शरीर आदि पञ्चकोशों में अनात्मा का निश्चय कराती है तो इसे शुद्ध अहंकार कहते हैं और ज्ञान के कारण मलिन अहंकार शुद्ध अहङ्कार में बदल जाता है। इसी शुद्ध अहंकार रूप वृत्ति पर प्रसाद (अर्थात् स्वतन्त्रता) और मोक्ष निर्भर है।

अविद्या नाम मूढ़ता का है। वह दो प्रकार की है—एक तूल अविद्या है और दूसरी मूल अविद्या। संसार की वस्तुयें जब इसकी समझ में नहीं आतीं तो इसको तूल अविद्या कहते हैं और जो आत्मा का साक्षात्कार करने से रोक देती है वही मूल अविद्या है। तूल अविद्या तो सांसारी विद्या पढ़ने से निवृत्त हो जाती है, जैसे स्कूल आदि में पढ़ने से मूल अविद्या आत्मा के विवेक और ज्ञान से नष्ट हो जाती है। घन सुषुप्ति में तूल और मूल दोनों अविद्या स्वाभाविक होती हैं। वनस्पति और खनिजवर्ग में भी ये दोनों अविद्या अधिक रूप से निवास करती हैं। इसलिये न तो वे दूसरों को पहचानते हैं और न अपने आप को ही जानते हैं। इसी कारण से सर्व साधारण लोग उनको जड़ बोलते हैं, किन्तु जब संज्ञा वृत्ति स्वाभाविक खुलती है तो उसी को चैतन्य कहते हैं।

हे शिष्य! जब इन ब्राह्मणों ने ये सब वृत्तियाँ प्राणात्मा (अर्थात् सूक्ष्म शरीर) की जानकर ऐसा पता लगाया कि यह सब वास्तव में प्राणात्मा हैं। जिस प्रकार नदी मौज मारती हुई बुल-बुला, भँवर और फेन होती है, उसी प्रकार यह प्राणात्मा भी तरङ्गित होता हुआ इन वृत्तियों के आकार का होता है और स्वयं कुछ सत्ता नहीं रखता वरन् छाया की तरह आत्मा में केन्द्रित है। ये ही वृत्तियाँ जो रूप और नाम रखती हैं उन्हीं रूप और नाम में आत्मा भी दिखाई देता है। इसलिए बेसमझ मनुष्य को उसका भेद करना (अर्थात् अलग अलग समझना) कठिन हो जाता है। इन वृत्तियों का और आत्मा का विवेक करने के लिये शुद्ध मन होना चाहिये अर्थात् साधन चतुष्टययुक्त पुरुष ही विवेक कर सकता है, साधारण मनुष्य नहीं। सब की सब वृत्तियाँ संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान आदिक उसी प्रज्ञान के नाम हैं जो वास्तव में आत्मा है। जैसे—क्या घड़ा, क्या शकोरा, क्या प्याला सबके सब मिट्टी के ही नाम हैं तथा आकार हैं और मिट्टी तत्व नाम और आकारों से असंग है। इसी प्रकार ये सब नाम रूप आत्म-ज्योति में कल्पित हैं।

जब संज्ञान वृत्ति (अर्थात् पूर्ण जानकारी) उस में कल्पित होती है तो उसको जीव नाम से बोल देते हैं। यह कार्य उपाधि है और जब अज्ञान वृत्ति उस में कल्पित होती है तो उसी को ईश्वर कहने लग जाते हैं। यह आत्मा की कारण उपाधि है। विज्ञान में विज्ञान, प्रज्ञान में प्रज्ञान और मेधा में मेधा इत्यादि संकेत वा नाम वाला यही होता है। जब कोई बुद्धिमान विवेकी उसमें से यह सब बाध करके उसे देखता है तो वे नाम और वे विज्ञान अद्वितीय एक अकेले आत्मा की पहिचान हो जाती है। अब यों समझो कि जो शब्द जिस अर्थ के लिये नियत किया जाता है, जब इस शब्द से उस अर्थ की पहचान हो तो उसे वाच्यार्थ बोलते हैं, किन्तु जब उस शब्द से अभिप्रेत का एक अंश छोड़कर शेष अंश का ज्ञान हो तो उसे वाच्यार्थ नहीं कहते वरन् लक्ष्यार्थ कहा करते हैं। इसलिये संज्ञान, अज्ञान, प्रज्ञान और मेधा सब नामों से जो वाच्यार्थ है वह तो प्राण आत्मा जानना। और यह जो इन शब्दों का लक्ष्यार्थ है वही शुद्ध आत्मा है। इसलिए साधकों को लक्ष्यार्थ पहिचानने वाला होना चाहिए अर्थात् उनको चाहिए कि

उसमें से प्रज्ञा वृत्ति को हटा कर बाकी रहे हुए भाग को जो प्रज्ञान का लक्ष्यार्थ है उस पर ध्यान दें, जब हम उसको प्रज्ञान शब्दों से कहते हैं तो जानना चाहिये कि आत्मा और अन्तःकरण की प्रज्ञा दोनों मिलकर, प्रज्ञान शब्द का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ हैं। तत्ववेत्ता को चाहिये कि उसमें से प्रज्ञा को हटाकर शेष भाग (अर्थात् शुद्ध आत्मा) को प्रज्ञान का लक्ष्यार्थ समझे। यही रहस्यज्ञता है। इसी कारण आत्मा के कथन में वाणी स्तंभित (अर्थात् अशक्त) हो जाती है। क्योंकि उसके नाम तथा रेखा तो है नहीं, फिर बताओ कि वाणी क्योंकर कथन करे? तो भी वाणी उसे रहस्य और से जिज्ञासु के प्रति कथन कर सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि ये सब नाम उसी के हैं और वह स्व रूपों से निर्लेप है।

इसलिये हे मित्रो! जब एक वृत्ति उससे दूर होती है और शीघ्र ही दूसरी वृत्ति आन और दूसरी दूर हुई झट तीसरी आ जाती है। इसी प्रकार तीसरी चौथी आती और चली जाती स्थूल दृष्टि से देखो कि जाग्रत गई, स्वप्न आया, स्वप्न गया सुषुप्ति आई, किन्तु यह अकेले पर जो-जो वृत्ति उस पर जा लगती है अर्थात् उसके सामने आ जाती है उसी का रूप होता है। इसी कारण हे मित्रो! हम निश्चय कर सकते हैं कि अब वह वृत्ति गई और नई आ गई। इन वृत्तियों के भाव-अभाव को और इनके संयोग और वियोग का साक्षी-द्रष्टा है, हे मित्रो! हमारी आत्मा है। इन सब वृत्तियों से पवित्र है। और मुख की नाईं दर्पण में आया हुआ वृत्ति हुआ चमक मारता (अर्थात् मैं हूँ) इन्हें प्रकाशित करता है। वास्तव में तो प्रज्ञान उसी का नाम अन्तरवृत्ति तो उससे प्रकाशित हुई है जो प्रज्ञा कहलाती है। इसलिये वही वास्तव में प्रज्ञान है। अन्तर-वृत्तियाँ भी उसी आत्म-ज्योति से प्रकाशित हुई उसी प्रकार प्रज्ञानरूप होती हैं, जैसे प्रकाश पाकर चन्द्रमा प्रकाशित होता है। ये वृत्तियाँ बदलती हुई नाना रूप, नाम वाली हैं और वह इनका अधिष्ठान इन वृत्तियों में प्रतिबिम्बित एक अवस्था पर रहता है अर्थात् एक रस बदलता नहीं क्योंकि प्रतिभिज्ञा ज्ञान से जाना जाता है कि "मैं" वही हूँ जिसने कान से सुना मैंने ही आँख से देखा। कान, आँख बदले परन्तु 'मैं' ज्यों का त्यों ही रहा। जाग्रत अवस्था आई गई। स्वप्न आया और गया, पर 'मैं' ज्यों का त्यों रहा। इन वृत्तियों से वह नहीं रंगा गया। वह रंग जाता तो एक वृत्ति के भाव को और दूसरे के अभाव को क्योंकर कहता? इसलिये न वह बदलता ही है और न उस पर किसी वृत्ति का रङ्ग ही चढ़ता है, शुद्ध का शुद्ध है। इसी कारण विचारवान लोग इन वृत्तियों का नाम महिमा वा विभूति कहने लग जाते हैं और उस ज्योति को भूमा, द्रष्टा या साक्षी बोलते हैं और निश्चय करते हैं कि विभूति या महिमा बदलती है अर्थात् है और भूमा वा साक्षी आत्मा नहीं बदलता। वह एक रस रहता है।

हे मित्रो! वामदेव की शिक्षा के द्वारा यों समझो कि वही परमात्मा सूक्ष्म शरीर जो इसका और सेवक है अपना अस्तित्व कुछ नहीं रखता। वास्तव में इसकी ही विभूति वा महिमा है ज्योति जो उसका अधिष्ठान है, उन वृत्तियों में अपना प्रतिबिम्ब टपकाती है और जिसको आत्मा बोलते हैं, वही भूमा है और आत्मा की विभूति या महिमा, किंवा ज्ञान, ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति आदि होती हुई इसी में केन्द्रित रहती है। और इसी आत्म-ज्योति से ज्योतिर्मय और इसी के अस्तित्ववान होती हुई नाना रूप जगत होकर दिखाई देती है। हे प्यारो! यही निश्चय करना

और हमने श्रुति में पढ़ा भी है और सनकादिक मुनियों ने भी शिक्षा दी थी। अब हमको स्मरण आता है कि यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है और यही प्रजापति है। वरन् सब देवता और पाँचों तत्व भी यही है। क्या पृथ्वी, क्या जल, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या आकाश, क्या सूर्य, क्या चन्द्र, क्या तारागण—ये सब ज्योतियाँ और ये सब जीवधारी पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, यही आत्मा है और ये सब इसी की विभूतियाँ हैं। और उन सब विभूतियों का भूमा प्रत्येक में आया हुआ लक्ष्य वा संकेत की विधि से विवेकियों को दिखाई देता है। क्या चलने वाले, क्या उड़ने वाले, क्या स्थावर, क्या जङ्गम सब-के-सब प्रज्ञानब्रह्म में केन्द्रित और प्रज्ञान स्वरूप हैं। जिस प्रकार दर्पण देखने वाले के हाथ में होता है और देखने वाला आप ही उसमें होता है। उसी तरह ये सब मिथ्या प्रपंच उसी के सहारे और उसी के चमत्कार और दर्पण हैं। इसलिए सब संसार प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञा प्रतिष्ठा है और यही प्रज्ञान ब्रह्म है।

हे अधिकारियो! सृष्टि के आदि काल में सनकादिक ऋषियों ने इसी आत्मा का हमारे लिए उपदेश किया था और अभी वामदेव ने भी इसी आत्मा का हमारे लिए उपदेश किया है और इसी अद्वितीय आत्मा के जान लेने की इच्छा से हम सब अधिकारियों का समाज यहाँ स्थित हुआ है और इसी अद्वितीय आत्मा के जान लेने के लिए विचार के आरम्भ काल में हमने इस संघात में (अर्थात् तीन शरीरों में, तीन अवस्थाओं में) 'कौन-सी आत्मा है', इस प्रकार का कथन किया था। सोई अद्वितीय आत्मा इस काल में हम सबने अन्तःकरण की वृत्तियों का विचार करके निश्चय किया है। इस कारण से हम सम्पूर्ण अधिकारी कृतकृत्य हुए हैं और हमने आनन्द स्वरूप आत्मा को अन्तःकरण के विवेक से निश्चय किया है। इससे हृदय या अन्तःकरण की वृत्ति आदिक नाम अन्तःकरण के ही वाचक हैं। उन सब नामों को शुद्ध आत्मा में हम सब अधिकारी समर्पण करते हैं। तात्पर्य यह है कि जितने भी हृदय आदिक नाम हैं वे सम्पूर्ण अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य के वाचक हैं। उनमें भाग-त्याग लक्षणा करके अन्तःकरण तथा वृत्तिरूप जड़ भाग को त्याग करके सम्पूर्ण (अर्थात् हृदयादिक) यह शुद्ध आत्मा के बोधक हैं।

हे अधिकारी जनो! हम अधिकारी जनों को यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि जब शुद्ध आत्मा मन वाणी का अविषय है तो फिर विशिष्ट चैतन्य के वाचक हृदय, अन्तःकरण आदिक पदों का प्रयोग क्यों किया जाय? इनका प्रयोग करना व्यर्थ है। शुद्ध आत्मा में हृदय, अन्तःकरण की वृत्ति आदिक पदों का प्रयोग करना व्यर्थ नहीं है। इससे अर्थ सिद्ध होता है। जैसे हम अधिकारियों ने अन्तःकरण आदिक पदों करके शुद्ध आत्मा का निश्चय किया है, उसी प्रकार सब अधिकारियों को अन्तःकरण आदिक पदों के शुद्धआत्मा का अनुभव करना चाहिए। इस प्रकार से अधिकारियों के बोध करने के लिए अन्तःकरण आदिक पदों का शुद्ध आत्मा में हमने प्रयोग किया है जिसका फल यह है कि उपासना से तथा पंच-कोष के विचार से अन्तःकरण में आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसी कारण से आत्मा को हृदय भी कहते हैं। और यह आनन्द स्वरूप आत्मा तमाम विश्व को प्रकाशित करता है। इससे आत्मा को मन नाम से पुकारते हैं अथवा सर्व मुमुक्षुओं ने मन को आत्मा का जो निश्चय किया है इसी कारण से आत्मा को मन नाम से पुकारते हैं और आत्मा में कल्पित जो सर्व प्रपंच है, उसको यह आत्मा अच्छे प्रकार से जानता है। इस कारण से ही इस आत्मा को संज्ञान कहने लग गये हैं और इस आत्मा की आज्ञा में सर्व वाक् आदि इन्द्रिय और अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि देवता वर्तते हैं। इस कारण से आनन्द स्वरूप आत्मा को आज्ञान कहते हैं और यह आनन्द स्वरूप आत्मा जड़ चेतन रूप प्रपंच के भेद को विचार

पूर्वक तथा अपने स्वरूप को और परमात्मा को विशेष करके जानता है। इस कारण आत्मा को वि नाम से संबोधित करते हैं और यह आनन्द स्वरूप आत्मा सर्व प्रपञ्च का प्रकाशक जो अपना स्व उसको भी "मैं हूं", इस प्रकार से सर्वदा जानता है। इस कारण आत्मा को प्रज्ञान नाम से बोलते हैं।

यह आनन्द स्वरूप आत्मा एक बार जाना हुआ जो अपना स्वरूप तथा दूसरी अनात्म व स्वरूप भूलता नहीं, अतः मेधा कहलाता है। यह आनन्द स्वरूप आत्मा चक्षु आदिक इन्द्रियों द्वा वस्तुओं को देखता है। इसी कारण से आत्मा को दृष्टि कहते हैं। जैसे स्तम्भादिक घर के भीतर प्रवे के घर को धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी सब शरीरों में प्रवेश करके शरीर इन्द्रिय आ को धारण करता है। इस कारण से आत्मा को धृति नाम से कथन करते हैं। अथवा जैसे काष्ठ मृत्ति बने हुए पुल, घर आदिकों की मर्यादा को धारण करते हैं। यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी वर्ण आश्र मर्यादा को और उनके धर्म की मर्यादा को धारण करता है। इस कारण से इस आत्मा को धृति ना सम्बोधन करते हैं और जैसे काष्ठ आदिकों का पात्र धान आदिक अन्न के नाप को बता देता है। रस्सी अविच्छिन्न चैतन्य अपने में कल्पित जो सर्प दण्ड आदिक हैं उनके नाप तोल को बता देता उसी प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी सम्पूर्ण विश्व के परिमाण को निश्चय करता है। इस प्र इस आत्मा को मति कहते हैं। अथवा सर्व प्राणियों में स्थित हुआ यह आत्मा सर्व प्राणियों के हित अहित को भी अच्छे प्रकार से निश्चय करता है। इस कारण से भी आत्मा को मति कहते हैं।

यह आनन्द स्वरूप आत्मा 'यह वस्तु मेरे को प्राप्त हो और यह वस्तु हमारे को न प्राप्त हो' प्रकार का जो मन है, उसके निरोध करने में जो समर्थ है, उस आत्मा को मनीषा कहते हैं। और आनन्द स्वरूप आत्मा शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण अज्ञान आदिकों को प्रकाशित करता है। इसलिए आत्मा को ज्योति कहा जाता है। अथवा अध्यात्म दुःख अधिदैव दुःख, अधिभूत दुःख—इन प्रकार के दुःखों को जानने वाली जो अंतःकरण की वृत्तियाँ हैं, उनको आत्मा प्रकाशित करता है। इस क से आत्मा को ज्योति कहते हैं। आत्मा के प्रकाश से तमाम संसार अपने-अपने कार्य की सिद्धि को कर इस कारण से भी आत्मा को ज्योति बोला जाता है। और जैसे माता अपने पुत्र को याद करती है उसी प्र यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी 'मेरे बिना यह सम्पूर्ण संसार कैसे सिद्ध होवेगा' इस प्रकार का स्मरण क है। इस कारण से आत्मा को स्मृति कहते हैं। और यह आनन्द स्वरूप आत्मा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं की अच्छे प्रकार से कल्पना करता है, इस कारण से इस आत्मा को संकल्प नाम से क करते हैं। इस आनन्द स्वरूप आत्मा की इच्छा से यह सम्पूर्ण जगत उत्पन्न होता है, इसीलिए, इसे कहते हैं। अथवा आनन्द स्वरूप आत्मा के प्रपंच को जानने वाला जो माया की वृत्ति रूप ज्ञान है ज्ञान से यह सम्पूर्ण प्रपंच उत्पन्न हुआ है इस कारण से भी आत्मा को क्रतु कहते हैं। और यह आन स्वरूप आत्मा अपनी समीपता से प्राणों को अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त करता है, इस कारण से आत्मा को असु भी कहते हैं।

यह आनन्द स्वरूप आत्मा सुख प्राप्ति की इच्छा करता है, इसलिए इस आत्मा का नाम है और प्रजा की उत्पत्ति की कारण जो स्त्री संग की इच्छा है, उस इच्छा को यह आनन्द स्व आत्मा जब प्रकट करता है तो उसे वश बोला करते हैं। इस प्रकार हृदय-कोट में स्थित जो अन्तःकरण अन्तःकरण की वृत्तियाँ उनके ही सम्पूर्ण हृदयादिक शब्द वाचक हैं। उस अन्तःकरण में हम अधिकारि

ने आनन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार किया है इस कारण से वृत्ति सहित अन्तःकरण के हृदय आदिक नाम परमात्मा में भी हो सकते हैं। क्योंकि परमात्मा से भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्वप्रकाशित और अज्ञात जो चैतन्य है, वही प्रत्यक्षादिक प्रमाणों का विषय है। उस चैतन्य में ही प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणों की प्रमाणता है। अर्थात् अज्ञात अर्थ का जो बोधक होता है, उसको प्रमाण बोलते हैं। अज्ञान का जो आश्रय होवे, और का जो विषय हो उसे अज्ञान कहते हैं। अज्ञान का आश्रय और विषय चैतन्य है। चैतन्य से भिन्न जड़ वस्तु अज्ञान का आश्रय और विषय कदापि नहीं हुआ करता। आत्मा के बोध से ही सम्पूर्ण प्रमाणों में प्रमाणता सिद्ध होती है और वही आत्मा शुद्ध ब्रह्म है, द्वैत भाव से रहित निष्कल है।

हे मित्रो! हम सब समाज को ऐसा ही निश्चय करना चाहिए और श्री वामदेव ने भी हमारे लिए यही उपदेश किया था। जगत का कारण माया विशिष्ट ईश्वर भी यही आनन्द स्वरूप आत्मा ही है और समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी हिरण्यगर्भ भी यही आनन्द स्वरूप अपना आप प्रत्यग् ही है। समष्टि स्थूल शरीर का अभिमानी विराट भगवान भी यही अपना आप प्रत्यग् आत्मा ही है। विराट भगवान के शरीर में तथा अस्मदादिक तमाम प्राणियों के शरीर में भोक्ता और तीन लोकों को धारण करने वाला तथा सब को प्रकाश देने वाला जो परमात्मा इन्द्र है, वह भी यह हमारा अपना आप प्रत्यग् ही है। अथवा जो देवताओं का प्रसिद्ध राजा इन्द्र है, वह भी यही हमारा आनन्द स्वरूप आत्मा ही है। मरीचि आदि से लेकर जो प्रजापति तक है वह भी हमारा आनन्द स्वरूप आत्मा ही है और हे मित्रो! शरीर के आश्रय जो वाक आदिक इन्द्रियाँ और उनके अग्नि आदि देवता हैं वे सब के सब आनन्द स्वरूप हमारा आत्मा ही है। आत्मा से भिन्न किंचित मात्र भी नहीं। जैसे स्वप्न में भिन्न-भिन्न कल्पना करके जो प्रमाता है वह भी हम ही हैं। हमारे से भिन्न कोई भी स्वप्न में प्रमाता नहीं है। इतना करके एक तो बोध की दृढ़ता हुई, दूसरी आत्मा में सजातीय भेदों का खंडन हो गया अर्थात् आत्मा के अनेकपने का निषेध भी हो गया।

हे भाइयो! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पंचभूत आनन्द स्वरूप प्रत्यग् आत्मा से भिन्न नहीं। अंडज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकार के भूत प्राणी हैं। वह स्थावर, जंगम रूप तथा कारण कार्य रूप दो प्रकार के हैं। वह सम्पूर्ण आनन्द स्वरूप हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता और प्रकाश भिन्न नहीं, उसी प्रकार अपना आप प्रत्यग् से स्थूल सूक्ष्मरूप प्रपंच भिन्न नहीं। और जैसे जल से शीतलता और द्रवत्व भिन्न नहीं, उसी प्रकार आनन्दरूप आत्मा से प्रपंच भिन्न नहीं। जैसे पृथ्वी से काठिन्यता और गंध भिन्न नहीं, उसी प्रकार अपना आप प्रत्यग् आनन्द स्वरूप से स्थूल सूक्ष्म शरीर भिन्न नहीं। जैसे वायु से क्रिया तथा स्पर्श भिन्न नहीं, उसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा से प्रपंच भिन्न नहीं। जैसे आकाश से अवकाश तथा शब्द भिन्न नहीं, उसी प्रकार आनन्द स्वरूप हमारी आत्मा से जगत भिन्न नहीं। जैसे दोष से रहित सूर्य के प्रकाश में उल्लू आदिक सूर्य में अन्धकार की कल्पना करते हैं, इसी प्रकार प्रपंच से रहित आनन्द स्वरूप आत्मा में मूर्ख, अविवेकी, अज्ञानी पुरुष ही प्रपंच की कल्पना करते हैं। जैसे अमूर्त आकाश में बादलादिक मूर्त पदार्थ रहते हैं, इसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा में यह सम्पूर्ण जड़ जगत निवास करता है। जैसे अनेक प्रकार के मेघादिक आकाश में किसी काल में तो प्रतीत होते हैं और किसी काल में प्रतीत नहीं होते, उसी प्रकार

आनन्द स्वरूप आत्मा में यह सम्पूर्ण जगत कभी तो दीख पड़ता है और कभी नहीं भी दीख प अर्थात् सर्वकाल नहीं दीखता। जैसे शराब पीकर मद-मस्ती से अन्धा हुआ कोई पुरुप आवर रहित देश में भी दीवाल आदिक आवरण को देखता हैं, उसी प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा प्र जगत को भी देखता है।

हे मित्रो! जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अपनी एकता नहीं जानता है, किन्तु अनेक करके अपने को जानता है, उसी प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति रूप तीन रू को देखता हुआ अपनी एकता का अनुभव नहीं करता। कोई पुरुप अपने मन के दोप से अपने म पिता और गुरु आदि में दोपों का दर्शन करता है, उसी प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा प्रपंच रूप से रहित अपने स्वरूप में प्रपंच का अनुभव करता है। जैसे नलिका के घूमने से उसके ऊपर बैठा तोता नहीं बंधा हुआ भी अपने को बंधा हुआ मानकर घूमता हुआ जानता है, उसी प्रकार यह जीव नित्य मुक्त आनन्द स्वरूप आत्मा के अज्ञान से संसार रूप शूल अर्थात् पंच क्लेशों में ही घूमता है। जैसे गंध के लोभ से भौंरा कमल का त्याग नहीं करता और रात्रि में सुकड़ जाने से कमल के ही सुकड़ा हुआ बड़ा कष्ट पाता है और फिर विचार करता है कि जब रात खतम हो जाएगी और निकलेगा उस काल में मैं इस में से निकल कर भाग जाऊँगा। ऐसा विचार करते ही हाथी आकर कमल को मुख में डाल कर पीस देता है, उसी प्रकार यह जीव आत्मा स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि विषयों में आसक्त हुआ अनन्त प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है।

जैसे कोई धनी पुरुप भ्रान्ति से अपने पिता के बताये हुए धन को भूलकर फिर संसार में द का कष्ट भोगता है, उसी प्रकार हे मित्रो! यह आत्मा आनन्द का समुद्र जो अपना प्रत्यग् स्वरू उसको भूलकर तुच्छ विपय सुख की प्राप्ति के लिये अत्यन्त दीन दशा को प्राप्त होता है। जैसे पुत्रादिकों ने अपने पिता का निरादर किया है, सो पिता उस निरादर में पुत्र का दोप नहीं देखता है, प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा माया के दोपों को नहीं देखता। जैसे दुर्जन पुरुप के संग से पुरुप को दोप लग जाता है, वैसे ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा माया के संग से दोप को प्राप्त हो जैसे दुर्जन पुरुप की दृष्टि में निर्दोप पुरुप भी दोपी हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी शरीर अभि पुरुप की दृष्टि द्वारा आत्मा में अनन्त दोप युक्त संसार दीखता है। जैसे राजा अपनी प्रजा के होने को अपने में मानता है, उसी प्रकार जड़ अन्तःकरण में स्थित दुःख को तादात्म्य अध्यास आत्मा रूपी राजा अपने में मानता है और कारण सामग्री से रहित एक स्वप्न पुरुप में अक जगत प्रगट हो जाता है, उसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा में अकस्मात से स्थूल सूक्ष्म रूप प्रगट हो जाता है और जैसे स्वप्न में यह पुरुप बिना प्रयोजन के अपने को आप ही दुःख की कराता है। वहाँ अपने सिवाय कोई दूसरा नहीं है, उसी प्रकार यह आनन्द स्वरूप आत्मा भी में व्यर्थ ही अपने को दुःख की प्राप्ति कराता है और जैसे स्वप्न से जागे हुए पुरुप को स्वप्न के दु नाश देखने में आता है, वह पुरुप ऐसा अनुभव करता है कि हमारे को पूर्व में भी दुःख नहीं था अब वर्तमान काल में भी मेरे को किंचित् मात्र भी दुःख नहीं है, और आगे भी हमें दुःख नहीं है ऐसा वह निश्चय करता है। इस प्रकार तीन काल में स्वप्न के दुःखों का अनिश्चय करता है प्रकार जाग्रति, स्वप्न, सुपुप्ति, रूप संसार स्वप्न से आत्म-साक्षात्कार रूप जाग्रति के प्राप्त होने

आनन्द स्वरूप आत्मा के सर्व दुःखों का नाश हो जाता है। उस ज्ञान की भूमि में खड़ा होकर वह विद्वान् इस प्रकार का अनुभव करता है कि मुझे तीनों कालों में दुःख नहीं हुआ। इस प्रकार तीन काल में अपने प्रत्यग् स्वरूप तुर्या में खड़ा हुआ विद्वान् दुःखों का अनुभव नहीं करता किन्तु अन्तःकरण आदिकों के धर्म दुःखादि जानता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप संसार स्वप्न से ब्रह्म साक्षात्कार रूप जाग्रत हम सब अधिकारियों को प्राप्त हुआ है।

हे ब्राह्मणो ! इस कारण से हम सब महान पुण्यवान हैं, अपुण्यवान नहीं। और पूर्व जो हमने अन्तःकरण के वाचक हृदयादिक नाम अद्वितीय आत्मा में कथन करे थे उन सब नामों में प्रज्ञा नाम ही अत्यन्त सुन्दर है क्योंकि प्रज्ञा नाम में दो शब्द हैं। एक तो 'प्र' शब्द है और दूसरा 'ज्ञा' रूप शब्द है। वहां सजातीय भेद, विजातीय भेद, स्वगत भेद—इन तीनों भेदों से रहित उस (प्र) शब्द का अर्थ है। और (ज्ञा) रूप शब्द का प्रकाश अर्थ है। उन दोनों शब्दों के अर्थ आनन्द स्वरूप आत्मा में ही सम्भव हो सकते हैं। आत्मा से भिन्न अनात्म शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि पंचभूतों में भी सम्भव नहीं हैं। इसलिए तीन भेद से रहित और प्रकाश स्वरूप आत्मा "प्रज्ञान" नाम से पूर्व कथन किया था। प्रज्ञा शब्द का और प्रज्ञान शब्द का एक ही अर्थ है। प्रज्ञान शब्द का अर्थ आनन्द स्वरूप आत्मा ही ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त सब शरीरों में व्यापक है।

जैसे सम्पूर्ण काष्ठों में अग्नि स्थित है और आकाशादि जो पंचभूत हैं और उनके कार्य जो स्थावर जंगम हैं, उन सब का प्रज्ञारूप नेत्र ही निर्वाह करता है, जैसे अस्मदादिक पुरुषों के यह मांसमय चक्षु निर्वाह करते हैं। यहाँ इतना भेद है कि मांसमय चक्षु तो केवल निमित्त कारण होकर संसार का व्यवहार कराते हैं और यह प्रज्ञारूप नेत्र तो उपादान कारण हुआ, प्रपंच का निर्वाहक है। यह किस प्रकार है सो भी सुनो। सम्पूर्ण जगत की आत्मा से उत्पत्ति और आत्मा में स्थिति और आत्मा में ही लय श्रुति ने बताया है। वह उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की कारणता उपादान कारण में ही होती है। जैसे घट की उत्पत्ति, स्थिति, लय मिट्टी में ही देखने में आती है। इससे मिट्टी घट का उपादान कारण है। तीनों लोकों के भीतर सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदिकों का जो प्रकाश है वह भी प्रज्ञारूप नेत्र से भिन्न नहीं है किन्तु प्रज्ञा स्वरूप है। क्योंकि प्रज्ञास्वरूप चैतन्य के बिना सूर्य, चन्द्रमा आदिकों की सिद्धि नहीं होती।

हे ब्राह्मणो ! जो कुछ भी वस्तु जानने में आती है, वह सम्पूर्ण वस्तु प्रज्ञारूप नेत्र करके ही जानी जाती है। प्रज्ञारूप नेत्र के बिना किसी वस्तु का ज्ञान हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। यह बात सब प्राणियों को अनुभव द्वारा सिद्ध है क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी सर्व काल में, सर्व देश में सभी वस्तु को जानते हैं, सो प्रज्ञारूप नेत्र से ही जानते हैं। प्रज्ञारूप नेत्र के बिना किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता और वह प्रज्ञारूप नेत्र चैतन्य है, जड़ नहीं है और व्यापक है।

हे ब्राह्मणो ! इस प्रज्ञा रूप नेत्र द्वारा ही सुख तथा दुःख उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञारूप नेत्र के बिना सुख तथा दुःख की भी स्थिति नहीं हो सकती, क्योंकि जो प्रज्ञारूप नेत्र से सुख दुःख भिन्न होते तो खरगोश के सींग के समान असत ठहरते। इसलिये प्रज्ञास्वरूप नेत्र से सुख-दुःख भिन्न नहीं, किन्तु अभिन्न हैं। और अस्मदादिकों के सुख-दुःख प्रज्ञास्वरूप हैं उसी प्रकार सर्व शरीर धारी जीवों के सुख-दुःख प्रज्ञास्वरूप हैं, प्रज्ञारूप नेत्र से अतिरिक्त नहीं। हे ब्राह्मणो ! यह शंका नहीं करनी चाहिये कि कितने ही अर्थों का प्रकाशक तो बुद्धि है, इसलिए बुद्धि ही प्रज्ञा है। हे ब्राह्मणो ! देखो जैसे सुख दुःखादि

प्रपंच जड़ हैं, इसलिए इनकी सिद्धि में प्रज्ञारूप प्रकाश की अपेक्षा है उसी प्रकार बुद्धि भी जड़ है और अपनी सिद्धि में चैतन्य रूप प्रज्ञा की अपेक्षा रखती है। और पंचभूतों के सत्व का कार्य रूप बुद्धि में चैतन्य के प्रतिबिंब को ग्रहण करने की योग्यता है, इससे बुद्धि में प्रज्ञा शब्द है। जैसे सूर्य के प्रकाश में प्रकाश शब्द गौण है और सब प्रकाशों का प्रकाशक भेद रहित आनन्द स्वरूप आत्मा में ही प्रज्ञा शब्द मुख्य है। बुद्धि नाना है। प्रज्ञा नाना नहीं है, एक है और प्रपंच विवर्त उपादान कारण प्रज्ञा है। अपने असली स्वरूप को न त्याग कर जो अन्यथा की प्रतीति है, वह विवर्त उपादान कारण है। जैसे शुद्ध आकाश में गंधर्व नगर और नीलिमा की प्रतीति होती है, उसी प्रकार चैतन्य प्रज्ञा में सर्व जगत की प्रतीति होती है, इसलिये हे मित्रो! वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता महात्माजन प्रज्ञा को ब्रह्मरूप कहते हैं। क्योंकि 'प्रज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म,' इस महावाक्य से प्रज्ञान को ब्रह्मस्वरूप कहा है, इसलिये प्रज्ञान से भिन्न स्थूल सूक्ष्म प्रपंच नहीं है। इसीलिये तो प्रज्ञा को ब्रह्मस्वरूप कहा है।

हे ब्राह्मणो! जैसे आकाश में कल्पित गंधर्व नगर तथा मेघ और नीलापन आदिक के सब आकाश स्वरूप हैं, आकाश से भिन्न नहीं, उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप प्रज्ञा में कल्पित स्थावर, जङ्गम रूप प्रपंच सब प्रज्ञास्वरूप ही हैं, प्रज्ञा से पृथक नहीं। इस प्रकार विचार करके अधिकारीजन विवेक, वैराग्य आदिक साधनों से सम्पन्न हुए और जीव-ब्रह्म के अभेद को निश्चय करके शरीर आदि में अहं अभिमान का परित्याग करके और धन, पुत्र आदि में ममत्व अभिमान का परित्याग करके, वामदेव की शिक्षा के अनुसार ध्यान करते और अपने आत्मा को प्रज्ञान जानते तथा सर्व रूप मानते हुए, जीवन में ही वे ब्राह्मण आत्मा का साक्षात् करके आनन्द जीवन मुक्ति को प्राप्त हो गए। प्रारब्ध कर्म का तो भोग के बिना नाश होता नहीं, इसलिये प्रारब्ध कर्म की समाप्ति के लिये इच्छा, अनिच्छा, परेच्छा पूर्वक भोग भोगते हुए अर्थात् जीवन्मुक्त हुए। सर्व अधिकारी जन पृथ्वी तल पर विचरते हुए और जैसे वामदेव मुनि प्रारब्ध के भोगों को समाप्त करके जैसे मृत्यु के पश्चात् प्रसाद में प्रविष्ट हुआ। वह भी आनन्द स्वरूप आत्मा हम हैं, इस प्रकार अद्वितीय आत्मा का अनुभव करके सुख स्वरूप ब्रह्म में अभेदरूप कैवल्य मोक्ष को सब के सब प्राप्त हो गए अर्थात् सत्यकाम, सत्यसंकल्प हो गए।

हे शिष्य! सनकादिक ऋषियों का और वामदेव आदिक अधिकारी प्रजा का परस्पर रूप जो इतिहास है सो इतरा के पुत्र ऋषि ने अपने शिष्यों के लिये वेद के वचनों करके किया है, इस कारण से इस प्रकरण में ऐतरेय उपनिषद् का कथन हुआ है और इतिहास का भी यही प्रयोजन है, और कोई नहीं।

हे शिष्य! अद्वितीय आत्मा का जो ज्ञान है वही मोक्ष मार्ग है, दूसरा मार्ग कोई नहीं। इसलिये आत्मज्ञान ही अधिकारी जनों को प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि सत्य ब्रह्म की प्राप्ति बोध बिना नहीं होती। इसलिये ज्ञान सत्य स्वरूप है और ब्रह्मस्वरूप है। ऐसे आत्मज्ञान में पुरुषों को कभी भी आलस्य नहीं करना चाहिये। जो पुरुष इस आत्मज्ञान की उपेक्षा करके प्राप्ति के लिए अन्य साधन करते हैं, वे सम्पूर्ण दुर्बुद्धि पुरुष बार-बार मृत्यु के वशवर्ती होते हैं। शिष्य! अन्तर्यामी ईश्वर ही यमराज के समान आत्मज्ञान रहित पुरुषों को बार-बार काल के द्वारा हनन करता है और माया का कार्य जो अहं मम अभिमान रूप संसार है, सो

यमदूतों की तरह आत्मज्ञान रहित पुरुषों को वारम्वार त्रिशूलों से हनन करता है, इसलिये आत्मज्ञान ही मुमुक्षुओं को अवश्य प्राप्त करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि पुरुषों को श्रद्धा की उत्पत्ति कराने के लिये ऐतरेय मुनि इस आत्मज्ञान के इतिहास को अपने पुत्र इतरा से वर्णन करते हैं।

तात्पर्य यह है कि वामदेव आदि से लेकर जितने भी अधिकारी हुए हैं, वे आत्मज्ञान करके ही मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। इस कारण इस काल में भी मुमुक्षुओं को मोक्ष की प्राप्ति के लिये आत्मज्ञान को ही प्राप्त करना चाहिये और जो मनुष्य शरीर को पाकर इतिहास के अर्थ को नहीं जानते उन पुरुषों को यम-किंकर त्रिशूल के द्वारा वारम्वार छेदन करता है, जैसे व्याध मृगों को छेदन करता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीवों को गर्भ में नरक के समान अनन्त दुःखों की प्राप्ति कराके फिर बाल्यावस्था में प्राधीनता रूपी शस्त्र द्वारा अज्ञानी जीवों को यह यम-किंकर हनन करते हैं। कहीं स्त्री पुत्र में मोह करके छेदन करता है और कहीं माता, पिता, गुरु आदि करके भय रूपी शस्त्र द्वारा अज्ञानी जीवों को यह यम-किंकर छेदन करता है और इस प्रकार बाल्यावस्था में नरक के समान अनन्त दुःखों की प्राप्ति से, फिर यौवनावस्था में स्त्री के चिंतन-रूपी शस्त्र से और अनेक प्रकार के काम, क्रोध रूपी शस्त्रों द्वारा यम अज्ञानी जीवों का खूब लोहे के शूल द्वारा छेदन करता है और वृद्धावस्था में अर्थात् बुढ़ापे में अनेक प्रकार के श्वास, खाँसी, गठियाबाई आदि रोगों से अज्ञानी जीवों को यम-किंकर लोहे की कील से छेदन करता है, इस प्रकार वृद्धावस्था में अनन्त दुःख की प्राप्ति होती है। फिर मरने पर अनन्त दुःखों की प्राप्ति काल सर्प द्वारा तथा सुभट यम दूत अज्ञानी जीवों को यह संसार तीन शूलों अर्थात् आध्यात्मिक दुःख, आधिभौतिक दुःख तथा आधिदैविक दुःख रूपी शस्त्रों से छेदन करता है। तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञान रहित पुरुषों को यम-किंकर तीनों शूलों द्वारा खूब छेदन करता है। अर्थात् इन तीनों दुःखों से खूब नाच नचाते हैं।

हे शिष्य! जब तक मनुष्य को आत्म साक्षात्कार नहीं होता तब तक यमराज जूं की तरह इस अज्ञानी जीव को मारता ही रहता है। जब इस जीव को गुरु मुख से वेदान्त आदिकों (अर्थात् उपनिषद् विद्या) करके आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, तब यमराज का वश इस पर नहीं चलता।

अब इस दूसरे अध्याय की समाप्ति करते हुए कहते हैं कि इस प्रसङ्ग का सारांश यह है कि वामदेव गर्भ में ही देखता हुआ बोला—कि मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही प्रजापति हूँ, मैं ही इन्द्र हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। इस प्रकार निश्चय करना वास्तव में साक्षात्कार है। दूसरा कोई भी कारण आत्मा के साक्षात्कार का नहीं है। मैं ब्रह्म हूँ—यह निश्चय वामदेव की तरह शास्त्रीय दृष्टि है, अशास्त्रीय दृष्टि नहीं। हे श्रोताओ! यही विश्वास, यही निश्चय और ज्ञान मुक्ति का हेतु नियत हुआ है और जो इस प्रकार निश्चय नहीं करते और जप-तप में लगे रहते हैं, वे मोक्ष के भागी नहीं होते। किन्तु जप-तप का फल स्वर्ग आदि पाते हैं और फिर संसार में गिरते हैं अर्थात् जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में ही घूमते रहते हैं और जो लोग आत्मा को किंवा ब्रह्म को आँखों से देखना चाहते हैं वह सब ख्याल वा भ्रम और बहकावा है। इसलिये हे श्रोताओ! शरीर अभिमान का त्याग करके अपने स्वरूप को पहिचानो और पहिचान कर वामदेव के समान तुम भी इस प्रकार अलापने लग जाओ और सबसे मिल कर सर्व रूप हो जाओ। जो मनुष्य इस वामदेव नामक अध्याय के १०८ पाठ करेगा, उसको शत अश्वमेध यज्ञ का फल होगा।

इति उत्तम अधिकारी के लिए ऐतरेय ब्राह्मण का
द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय

[उत्तम अधिकारी]

इस प्रकरण में उद्दालक नामक एक ऋषीश्वर की गाथा है। इस मुनि ने अपने पुत्र को ब्र
का उपदेश किया है।

शिष्य—हे गुरु ! ब्रह्मविद्या में एक अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म कहा है, पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी से
हुआ है। दृष्टान्त—जैसे कुम्हार घट आदिक तब बनाता है कि जब जल, मिट्टी, चक्र, दण्ड आदिक स
उसके पास होती है, उसी प्रकार उस परमात्मा ने इस संसार को किस सामग्री से उत्पन्न किया है ?
संशय को कृपा करके निवृत्त करें। दूसरा यह संशय है कि आपने अपने उपदेश में एक बार ब्रह्मवेत्ता
के भोजन करने से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की तृप्ति कही थी। अश्वपति राजा वैश्वानरी विद्या को अच्छे प्र
जानता था, परन्तु उसके भोजन करने से वह स्वयं ही तृप्त होता था, सारा ब्रह्माण्ड तो नहीं तृप्त होत
जो कदाचित् ऐसा ही होता है तो एक के उत्पन्न होने से सबकी उत्पत्ति और एक के मरने से सबकी
हो जानी चाहिए। एक के मोक्ष होने से सबका मोक्ष होना चाहिए। परन्तु ऐसा व्यवहार में प्रतीत
होता, सो महाराज कृपा करके इन दोनों संशयों को अच्छे प्रकार निवृत्त करिये।

गुरु—हे शिष्य ! मैं तेरी इन दोनों शङ्काओं को अच्छे प्रकार से निवृत्त करता हूं, ध्यान दे
उद्दालक नामक एक ऋषि की गाथा है—इस मुनि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या का उपदेश कि
इस विद्या के प्राप्त होने से सर्व विद्याओं की प्राप्ति होती है। हे शिष्य ! जब यह श्वेतकेतु बारह
हुआ, तब ऋषि ने पुत्र से कहा कि हे पुत्र ! इस प्रकार तुमको खेल-कूद नहीं करना चाहिए, क्योंकि
हो गए हो। यह ठीक नहीं है। हे पुत्र ! अब तुम यज्ञोपवीत कराकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर किसी
के पास जाओ और विद्याध्ययन करो क्योंकि जब तुम विद्या पढ़ोगे तब ही ब्राह्मण भाव को प्राप्त
अन्यथा नहीं। अभी तुम शूद्र के समान हो। हे पुत्र ! पूर्व हमारे कुल में जो भी पिता, पितामह
हुए हैं, वह सब विद्या अध्ययन करके ही ब्राह्मण भाव को प्राप्त हुये हैं। हमारे कुल में अब तक
अनपढ़ मूर्ख नहीं हुआ, सब ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हुये हैं। तुम भी अपने ब्राह्मण के धर्म को विचार
पढ़ो। खेलना-कूदना समाप्त करो क्योंकि तुम अब बारह वर्ष के हो गये हो। तुमको तो अब विद्या
ही एक मुख्य काम जानना चाहिए, इस कारण से अब तुम गुरुकुल में जाकर आचार्य के पास विद्या
श्वेतकेतु बोला कि पिता जी, बहुत अच्छा ! अभी जाता हूँ।

शिष्य—हे गुरु ! उद्दालक मुनि तो स्वयं तत्ववेत्ता पण्डित थे। सर्व विद्या सम्पन्न थे। वह कौ
विद्या थी, जो उनको नहीं आती थी ? उन्होंने स्वयं ही श्वेतकेतु को क्यों नहीं पढ़ाया ? अन्य
के पास परदेश में अपने अकेले प्रिय पुत्र को क्यों भेज दिया ?

गुरु—हे शिष्य ! श्वेतकेतु व्रात संज्ञा 'अर्थात् मूर्खता भाव' को प्राप्त हो चुका था। बड़ों ने
है कि कुलवान, धर्मज्ञ, विद्वान् आचार्य से विद्याध्ययन करनी चाहिये। ऐसे गुणवान आचार्यों से
लेने वाला जो नीच वृत्ति का भी होवे तो उत्तम हो जाता है। दूसरी बात यह है कि आचार्य के

भिक्षा मांगकर निर्वाह करना पड़ता है और अपने घर में तरह-तरह के पदार्थ खाने-पीने के बहुत होते हैं। भोगों में चित्त लग जाने से विद्या नहीं पढ़ी जाती है तथा पिता का कहना पुत्र के चित्त में प्रवेश भी नहीं करता। क्योंकि पिता अपने पुत्र को मोह-ममता के मारे अधिक ताड़ना भी नहीं कर सकता। तीसरे पुत्र पिता का अधिक भय भी नहीं रखता। चौथे यह श्वेतकेतु अपनी मा का इकलौता पुत्र था, उसने भी ममता के मारे पढ़ने को न कहा—खेल-कूद में ही रक्खा।

हे शिष्य! इस कारण से श्वेतकेतु जिस आचार्य के पास पिता ने कहा था, वहाँ चला गया। आचार्य के पास जाकर नमस्कार करके अपना तमाम वृतान्त कह सुनाया और हाथ जोड़कर विद्यार्थियों की नाईं आगे खड़ा रहा। तब आचार्य ने उसका सब वृतान्त सुनकर, अधिकारी जानकर अपने पास बिठाया और कहा तुम धन्य हो। तुम्हारे माता-पिता भी धन्य हैं जो तुमने विद्याध्ययन करने का दृढ़ संकल्प किया है। फिर विद्या पढ़ने की आज्ञा दी। श्वेतकेतु आचार्य की आज्ञानुसार बारह वर्ष तक विद्या पढ़ता रहा और आचार्य को सब तरह सेवादिक से प्रसन्न रखता रहा। बारह वर्ष में श्वेतकेतु ने षट् अङ्गों सहित चारों वेद पढ़ लिये। अब उसकी चौबीस वर्ष की आयु हो गई। आचार्य ने श्वेतकेतु की मेधा और तीक्ष्ण बुद्धि देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा कि हे शिष्य! तुम धन्य हो। तेरी बुद्धि हमारे सब विद्यार्थियों से श्रेष्ठ है। तेरे समान बुद्धिमान् विद्यार्थी हमारे पास आज तक कोई नहीं आया। हम ईश्वर से चाहते हैं कि तुम्हारे समान विद्यार्थी हमारे पास नित्य आया करें। हे श्वेतकेतु! अब तू सब विद्या पढ़ चुका है। हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं। अब तुम वसुधा को पराजय करके अपने घर जाओ और विद्यार्थियों को विद्याध्ययन कराओ।

श्वेतकेतु आचार्य के मुख से अपनी स्तुति सुनकर अहंकार के मारे फूल गया और अहंकार के भूत को सिर पर रखकर आचार्य को नमस्कार करके अपने घर को चल पड़ा। उसने मन में विचार किया कि अब इस पृथ्वी पर मेरे समान बुद्धिमान और कोई नहीं है क्योंकि आचार्य ने स्वयं हमारी श्रेष्ठता कथन की है। अब हम भला किसको नमस्कार करेंगे! क्योंकि हम सर्वगुण सम्पन्न और श्रेष्ठ हैं। नमस्कार तो बड़ों को की जाती है, न कि अश्रेष्ठ छोटों को। इस अहङ्कार के मारे मार्ग में जो ब्राह्मण, साधु, सन्त, महात्मा मिलते थे, श्वेतकेतु किसी को भी प्रणाम नहीं करता था और मार्ग में बड़-बड़ाता जाता था। जिसके आश्रम में घुस जाता था वहाँ सूखी लकड़ी की तरह सीधा जाकर खड़ा हो जाता था और धमका कर पूछता था कि यह किसका आश्रम है? हमको स्थान बताओ, हम यहाँ ठहरेंगे, हमारे लिये जल आदिक का प्रबंध करिये। यदि यहाँ कोई पढ़ा-लिखा हो तो हम से शास्त्रार्थ करे। इस प्रकार अहङ्कार सहित जगह-जगह स्थानों तथा आश्रमों में रह-रह कर सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत कर और पराजय किये हुए ब्राह्मणों को संग में लेकर जयवल्ली राजा के नगर कन्नौज में पहुंचा। वहां साथ के जो ब्राह्मण थे उन्होंने कहा—"हे प्रभु! यहाँ का राजा बड़ा पण्डित है और ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ कहा जाता। जयवल्ली उसका नाम है। आप भी उसका दर्शन करते चलो।"

श्वेतकेतु ने उन साथ के ब्राह्मणों से कहा—"हे ब्राह्मणो! राजा के पास जाकर हम क्या करेंगे? राजा लोग तो भोगों में लिप्त रहते हैं और संसार की अनेक कामनाओं के मारे व्याकुल चित्त तथा दीन होते हैं; शास्त्र के गूढ़ रहस्य की इनको खबर कहाँ से हो सकती है?" फिर कहा—

"अच्छा देखा जायगा, क्योंकि तुम लोग उसको बुद्धिमान् कहते हो। मुझको उसकी भी खबर है, देखूँ कितना विद्वान् है ?"

एक रोज अकस्मात साथियों को लेकर वह राजा के दरबार में चला गया। राजा भी सभा में बैठा था। श्वेतकेतु अभिमान का भूत सिर पर लिये हुए सूखी लकड़ी की तरह एक ऊँचे पर जाकर खड़ा हो गया और राजा से कुछ न बोला। राजा जयवल्ली पहले ही सुन चुका कि एक श्वेतकेतु नाम का ब्राह्मण बड़ा अहंकारी है, सो राजा ने जब प्रत्यक्ष देखा तो समझा कि सचमुच जैसा सुना था, वह ठीक वैसा ही है। राजा बोला—"हे ब्राह्मण ! तू अपने आपको श्रेष्ठ पण्डित समझता है, तू यह जानता है कि मैं ही एक पण्डित हूं और दूसरा संसार में है ही न। अब तुम्हारी पंडिताई को देखने के लिये हम तुमसे पाँच प्रश्न करते हैं, उनका उत्तर तुम हमको दो। हम भी तो तुम्हारी पंडिताई को देखें, सँभल कर उत्तर देना। यहाँ तुम्हारी पंडिताई खतम हो जावे।

श्वेतकेतु—हे राजन् ! आप इतने उछलते क्यों हैं ? आपको जो सन्देह होवे निस्संदेह पूछें मैं उत्तर देने को तत्पर हूँ। तब राजा ने पञ्चाग्नियों का स्वरूप पूछा। राजा बोले—"हे ब्राह्मण सावधान होकर बताओ कि भूमा किसको कहते हैं ? देवयान किसको कहते हैं ? और यह प्रजा जो नित्यप्रति को प्राप्त होकर परलोक में जाती है, वह लोक भर क्यों नहीं जाता ? यह प्रजा वहाँ से किस प्रकार फिर कर आती है और जो जल पाँच अग्नियों में घूम-घूम कर पुरुष रूप हो जाता है वह जल कौन है ? इन पाँच प्रश्नों का उत्तर हमको दीजिए और इन पाँच अग्नियों के नाम, देवता और प्रतिष्ठा भी कहिए।"

श्वेतकेतु इन पाँच अग्नियों के प्रश्न के उत्तर ही नहीं दे सका और एकदम लम्बे साँस लेने लगा। फिर तो राजा जयवल्ली ने उस ब्राह्मण का बड़ा निरादर किया और कहा—"हे दुष्ट ! तुमने इसी विद्या के विश्वास पर इन सब ब्राह्मणों को क्लेश दिया है ?"

इतना निरादर होने पर भी श्वेतकेतु का अहंकार रूपी पिशाच न भागा। वह राजा से हार कर होकर चुपचाप धीरे-धीरे चल दिया। साथ के सब ब्राह्मण उसका निरादर हुआ देखकर अपने-अपने घर को चले गये। जब तक श्वेतकेतु का निरादर नहीं हुआ था, तब तक वे उसके साथी थे। इसे उस अहंकार सहित अकेला पिता के पास अपने घर आया। उसका तमाम तेज राजा के निरादर से हो गया था। पिता के पास जाकर उसने मन में विचार किया कि पिता को नमस्कार करना ठीक नहीं क्योंकि जो विद्या आचार्यों से हमने पढ़ी है, सो हमारे पिता को नहीं आती। हम पिता से विद्या में बड़े हैं और हमारे पिता को काला अक्षर भैंस बराबर है। विद्याहीन पुरुष को शास्त्र में पशु कहा है; फिर पिता को कैसे नमस्कार करें ? उसमें तो कोई गुण हमको नहीं दीखता। ऐसा विचार कर पिता के समीप सूखी लकड़ी की तरह ऊपर की तरफ जाकर खड़ा हो गया। जब पिता कुछ न बोला तब लि की तरफ उत्तम आसन पर बिना कहे हुए ही बैठ गया। पिता उद्दालक ने श्वेतकेतु की यह चेष्टा देख अपने मन में विचार किया कि इसको विद्या के मद ने अन्धा कर दिया है। मैंने तो विद्या पढ़ने को इसलिये दी थी कि यह विद्या पढ़कर सुशील हो जावेगा, यह तो पढ़कर और भी भ्रष्ट हो गया। इसकी विद्या अविद्या हो गई। इसीलिए तो कहा है कि प्रायः लिखे-पढ़े भी मूर्ख ही होते हैं। बुद्धिमानों का तो ऐसा होता है जैसे वृक्ष में ज्यों-ज्यों फल आते-आते हैं, त्यों-त्यों वह वृक्ष झुकता जाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान को ज्यों-ज्यों गुणों की प्राप्ति होती जाती है त्यों-त्यों वह अधिक गम्भीर और उदारात्मा

जाता है। वह फलदार वृक्षों की नाईं नम्रता से झुकता जाता है। उसकी संसार में इसी कारण से शोभा भी बहुत बढ़ती जाती है।

यह अपनी मूर्खता से क्यों वृथा अहंकार करता है? अरे! हमने तो इतनी लौकिक और साक्षात् ब्रह्मविद्या को पाकर भी कभी अहंकार नहीं किया। भला हम किसका अहंकार करें? संसार के समस्त पदार्थ कल्पना-मात्र हैं। इस बालक ने तुच्छ पदार्थ को पाकर कितना अहंकार किया है जिसका कुछ ठिकाना नहीं है। छोटे-से पशु पर बहुत-सा बोझा रखने से वह कमजोर पशु दब जाता है, उसी प्रकार यह अहंकारी हमारा पुत्र भी मायारूपी बड़े भार के नीचे कमजोर पशु की तरह दब गया है। इसने दूसरे के धर्मों को अपने में मानकर अहंकार किया है। हमारे कुल में आज तक ऐसा अहंकारी कोई भी नहीं हुआ। सब बड़े-बड़े उदार आत्मा, तेजस्वी, शील-सन्तोषवान और ब्रह्मज्ञानी हुए हैं। यह पुत्र तो विद्या पढ़कर अवगुणी हो गया है। अरे! अब समझ में आया कि कन्नौज के राजा जयबल्ली ने भी इसी कारण इसके अवगुणों को देखकर निरादर सहित इसको ताड़ना दी थी; परन्तु इस महामूर्ख ढीठ पुत्र का अहंकार फिर भी न टूटा। अब जिस प्रकार इसका यह अवगुण नष्ट हो वह उपाय मुझको करना चाहिए। ऐसा कमबख्त दुष्ट पुरुष हमारे कुल में शोभा नहीं पाता। यह तो हमारे कुल का कलंक तथा घातक है। इसको जिस प्रकार भी शील की प्राप्ति होवे, वही उपाय मुझको करना चाहिए। इस मूर्ख को अपने अवगुण की खबर भी स्वयं नहीं हो सकती क्योंकि यह अहंकार में डूब रहा है। जब तक इसको इसके अवगुणों को कोई न जता देगा तब तक इसके अवगुण दूर नहीं होंगे। जैसे कोई पुरुष अपने गले की माला को भ्रम से गले में न पाकर दूसरी जगह ढूँढ़ता फिरता है। जब कोई उसको यह बता देता है कि भाई! तेरी माला तो तेरे गले में ही पड़ी है, तू कहाँ ढूँढ़ता है? तो वह माला को अपने गले में पाकर शान्त हो जाता है और अपनी मूर्खता पर आप ही आश्चर्य करता है, उसी प्रकार जब यह भी अपने अवगुणों को आप ही समझ लेगा तो शान्त हो जायगा। अब तर्क के द्वारा इससे प्रश्न करना चाहिए।

उद्दालक ऋषि इस प्रकार अपने मन में विचार करके पुत्र श्वेतकेतु से बोले—"हे पुत्र! तुमने किस गुण के भरोसे पर अहंकार किया है? तुम्हारे उस गुण को हम देखना चाहते हैं। तुम किसी के सामने भी नम्र नहीं होते, न झुकते हो, न किसी का स्वागत करते हो, न किसी के साथ प्रेम से बातचीत करते हो। इस अवगुण को तुमने गुण माना है। जिस विद्या का तुमको अहंकार है, वही विद्या तुम्हारे गुरु आचार्य भी जानते थे। और भी बहुत-से पण्डित, ब्राह्मण और राजा लोग भी इस विद्या को जानते हैं, परन्तु तुम्हारे समान अहंकार तो कोई भी नहीं करता। हमको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि तुम्हारे समान अहंकारी पुरुष न तो कोई अब तक हुआ और न अब है। तुमने ऐसा कौन-सा अद्भुत गुण पाया है, ऐसी कौन विद्या पाई है जिसे पढ़कर तुमने अहंकार किया है? हमको भी तो बताओ। हे पुत्र! तुमने यह विद्या नहीं पढ़ी, किन्तु उल्टा अविद्या का बोझा अपने सिर पर धर लिया है। यदि तुम विद्या पढ़ते तो इतना अहंकार तुमको नहीं होता। अतः, हे पुत्र! अब तुम इस अवगुण रूपी कलंक को दूर करो क्योंकि इससे तुम्हारी कहीं भी शोभा नहीं होगी अर्थात् न इस लोक में न परलोक में। अपने आपको तुम कलंक मत लगाओ। तुम उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु! संसार में प्रसिद्ध हो। तुम्हारे इस अहंकार से संसार में यही प्रसिद्ध होगा कि उद्दालक ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु बड़ा ही अहंकारी, अनम्र है और हे पुत्र! जहाँ अहंकार

होता है वहाँ पर अनेक दोष आकर इकट्ठे हो जाते हैं। इस अहंकार रूपी सर्प का डसा हुआ पुरुष ... को प्राप्त होता है। तुम इसको निकाल कर फेंक दो।

जैसे किसी पुरुष के आगे नाना प्रकार के भोजन रक्खे हों, उनमें मक्खी के पड़ जाने से खाने की शोभा नहीं रहती। जब मक्खी निकाल दी जाती है तब वह भोजन शोभा पाता है और ... खाने के योग्य होता है, उसी प्रकार तुम्हारे आचार्य ने पदार्थ तो तुमको अमोलक दिया है, परन्तु ... अहंकार रूपी मक्खी गिर पड़ी है, अतः शुद्ध को भी अशुद्ध कर रही है। जब तक इस अहंकार रूपी ... को न निकाल डालोगे तब तक इस संसार में न तो हमारी और न तुम्हारी ही शोभा होगी। तुमने ... विद्या पढ़कर अहंकार किया है सो तो तुमने दूसरे के धर्मों को अपने में मान लिया है। यह जो ... बुद्धि का धर्म है और बुद्धि आप अविद्या कल्पित है, सो अपने धर्म में वर्तती है। परन्तु तुमने जो ... नाई पराया धर्म आप में अंगीकार करके अहंकार किया है सो अब तक वृथा काल को खोया है। ... तुम बुद्धिमान हो तो इस मनुष्य शरीर को वृथा मत गंवाओ। यह बारम्बार नहीं मिल सकता। हे ... अब हम तुमसे कुछ और भी पूछते हैं। भला तुमने अपने आचार्य से वह विद्या भी पढ़ी है जिस ... जानने से सब विद्याओं की प्राप्ति होती है तथा उनका गुप्त भेद भी खुलता है। हे पुत्र! हम ... कि तुमको उस विद्या की खबर भी नहीं और न तुमने उसको सुना है। अगर तुम हमसे कहो कि ... जी, तुमने कैसे जाना? तो हे पुत्र! तुम्हारे अहंकार से जाना कि वह विद्या अहंकार का अभाव ... प्राप्त होती है। कदाचित् तूने वह विद्या नहीं पढ़ी, अतः वृथा अहंकार के भार में क्यों दबा जाता ... तुझको पता नहीं कि बिना गुण के, गुण का अहंकार करना दर्प तथा पाखंड कहलाता है। घमण्डी ... दर्पवान पुरुष कहीं भी शोभा नहीं पाता। जब तक तू ब्रह्मविद्या न पढ़ेगा तब तक तेरा अहंकार दूर न हो... देख, भूलोक में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति ही विद्यार्थियों का मुख्य पुरुषार्थ माना जाता है। जो पुरुष ब्रह्म... की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता है, वही विद्यार्थी है उसी का पुरुषार्थ श्रेष्ठ तथा सफल है! शेष विद्यार्थी वृथा, तुच्छ, निष्फल पुरुषार्थ करते हैं। ऐसे विद्यार्थियों से संसार की बड़ी हानि होती है।

श्वेतकेतु बोला—"हे भगवन्! ऐसी वह कौन-सी विद्या है जिसके पढ़ने से सब विद्या... जाती हैं?"

यह सुनकर उद्दालक ने विचार किया कि यह बालक पहले तो नमस्कार भी नहीं करता था, ... उसने 'भगवन्' शब्द का उच्चारण करके सम्बोधन तो किया। ठीक है, कुछ-कुछ तो इसकी बुद्धि ने ... खाया। यह भी अच्छा ही हुआ।

उद्दालक—हे पुत्र! जिसके सुनने से सब सुना जाता है, जिसके मनन करने से सबका मनन ... जाता है, जिसका निदिध्यासन करने से सबका निदिध्यासन होता है और जिसके साक्षात् करने से ... साक्षात्कार होता है, हे पुत्र! उसको ब्रह्मविद्या कहते हैं।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! यह विद्या तो हमने नहीं पढ़ी और न हमारे आचार्य ने हमको पढ़ाई। हमारे आचार्य ने हमसे यह जरूर कहा है कि अब तुम सब विद्या पढ़ चुके, संसार को ... अपने घर चले जाना, अब और कोई विद्या तुम्हारे पढ़ने को नहीं रही। हे भगवन्! यदि और कोई ... है, तो उसे आप कृपा करके कहिये।

उद्दालक ने कहा—हे पुत्र ! तुम्हारे आचार्य ने तुमको इस ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं देखा। तुमको अहंकारी जानकर ब्रह्मविद्या तुम्हारे आचार्य ने नहीं पढ़ाई। अब हम तुम्हारा मिथ्याभिमान दूर करने के लिये तुमको तीन दृष्टांत बताते हैं। इन दृष्टांतों द्वारा तुमको ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होगी और परिच्छिन्न अहंकार भी जाता रहेगा। मन को निश्चल करके सुनो।

हे पुत्र ! जैसे एक मिट्टी के जानने से घट, मठ आदि मृत्तिका के सब कार्य जाने जाते हैं तथा एक सुवर्ण के जानने से छल्ला, बाली, पहुंची, अंगूठी आदि सब भूषण जाने जाते हैं, जैसे एक लोहे के जानने से चाकू, तलवार, छुरी आदि सब जाने जाते हैं अर्थात् परिच्छिन्न घड़ा, छल्ला, चाकू आदि नाम रूप का अभाव करके सोना, लोहा, मिट्टी मात्र जाना जाता है उसी प्रकार, हे सौम्य ! एक अद्वितीय सत्-चित्-आनन्द प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म के जानने से सम्पूर्ण जगत जाना जाता है अर्थात् कल्पित नाम-रूप का बाध करके एक अद्वैत ब्रह्म का निश्चय होता है। तुम भी उस अद्वितीय परमात्मा को जानो।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! जब एक ब्रह्म के जानने से ही सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, तो यह सब लोग नाना उपायों में वृथा काल को क्यों खोते हैं ? सब लोग उसी पदार्थ के लिये क्यों नहीं उपाय करते ?

उद्दालक—हे सौम्य ! पहले जब सब पदार्थों को जान चुकता है, तब पीछे से अपने आपको जानता है।

पुत्र—हे भगवन् ! यह सब ब्राह्मण्ड तो अपने-अपने काम में लगा हुआ है। कोई तो स्त्री को चाहता है, कोई धन या पुत्र को चाहता है, कोई राज, स्वर्गलोक को चाहता है, परन्तु उस कारण को तो कोई भी नहीं पूछता है कि वह कारण भी कोई वस्तु है या नहीं ? जैसे बालक सर्राफ से सोने के विशेष रूप को तो पूछता है परन्तु सामान्य पदार्थ को नहीं पूछता, उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव भी भले बुरे की तरफ तो दृष्टि करता है, परन्तु कारण को नहीं पूछता। जैसे सब कोई मिट्टी के बर्तनों का ही मोल करते हैं परन्तु मिट्टी का कोई नहीं करता, उसी प्रकार ये सब जीव नाना कार्यों को ही पूछते हैं, सामान्य कारण को कोई नहीं पूछता।

उद्दालक—हे पुत्र ! कारण के पूछने और जानने वाला सहस्रों में कोई विरला ही होता है। यह पुरुष जब प्रथम कार्य को जान लेता है, तब कारण के जानने की इच्छा करता है, उसी प्रकार तुम भी जब पहले कार्य को जान लोगे, तब कारण को जानोगे। जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुए घट-मठ आदिक मिट्टी से भिन्न नहीं होते हैं, जैसे सोने से बने हुए भूषण सोने से भिन्न नहीं होते हैं, किन्तु नाम रूप का अभाव करके कारण रूप ही होते हैं, उसी प्रकार कारण ब्रह्म से उत्पन्न हुए नाना नाम रूप ब्रह्म स्वरूप ही हैं, ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! हमें तो नाना बर्तन और भूषण ही प्रतीत होते हैं, सामान्य मिट्टी और सोना नहीं दिखाई देते हैं। फिर हम सामान्य मिट्टी और सामान्य सोने को कैसे जानें ?

उद्दालक—हे पुत्र ! सामान्य कारण के जानने के लिये मैं अपने ऊपर एक दृष्टान्त कहता हूं। हे सौम्य ! अब तू मुझको क्या जानता है ?

हे भगवन ! मैं आपको उद्दालक जानता हूँ।

हे पुत्र ! ले अब मैं सोता हूँ। अब तू मुझको क्या समझता है ?

हे भगवन् ! वही उद्दालक आपको समझता हूँ।

अच्छा, अब मैं खड़ा होता हूँ। अब तू मुझको क्या जानता है ?

हे भगवन् ! अब भी मैं आपको वही उद्दालक समझता हूं।

हे पुत्र ! जैसे तूने हमारा व्यवहार त्याग कर प्रत्येक अवस्था में एक उद्दालक ही जाना है, प्रकार कार्य के नामरूप को त्याग कर एक मृत्तिका ही जानो। जैसे हमारे जानने से हमारा सब व्य जाना गया, उसी प्रकार सामान्य मृत्तिका के जानने से उसके सब कार्य जाने जाते हैं और सामान्य के जानने से सब भूषण जाने जाते हैं। जैसे सोने के पीटने से तरह-तरह के भूषण बन जाते हैं वे सब सोने से भिन्न नहीं होते। भूषण के विशेष नामरूप सामान्य स्वर्ण को जनाते हैं, उसी प्रकार विशेष नामरूपों को त्याग कर उनमें अनुगत जो सत्-चित्-आनन्द आत्मा है, उसको जानो।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! अब मुझ को ज्ञात हुआ कि हमारे आचार्यों को यह विद्या नहीं आती। इस वस्तु का उनको ज्ञान न था।

उद्दालक—हे पुत्र ! यह तुमने कैसे जाना ?

श्वेतकेतु—हे पिता जी ! इस कारण से जाना कि उन्होंने हम को यह विद्या नहीं प हे पिता जी ! जो हमारा आचार्य यह विद्या जानता होता तो हमको अवश्य बताता, क्योंकि वह विद्या का उत्तम पात्र समझता था और हमारे में उसका अत्यन्त स्नेह भी था। उसने हमसे यह था कि अब तुम सब विद्या पढ़ चुके हो। पृथ्वी के सब पंडितों को पराजय करके अपने घर को जा इस विद्या के विषय में हमारा गुरु अज्ञानी था।

उद्दालक—हे पुत्र ! ऐसा ही होगा, परन्तु तुमको 'गुरु अज्ञानी था', ऐसा कहना नहीं चा ऐसा वचन बोलने से तुमको पाप लगता है और लोग तुम्हारी निन्दा भी करेंगे। हे पुत्र ! ठीक है न

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! सच कहते हैं, हमको पाप क्यों होगा ? हमने कुछ अन्यथा तो नहीं जैसा अनुभव में आया, कह दिया। भला इस ब्रह्माण्ड में अनन्त पदार्थ हैं, उन सब पदार्थों को नहीं जान सकता है। जो पुरुष जितने पदार्थों को जानता है, उतने ही पदार्थों का ज्ञाता कहा जा और जिन पदार्थों को नहीं जानता है, उनका अज्ञाता कहा जाता है। ऐसे ही हमारे गुरु को इस का ज्ञान न था, किन्तु अज्ञान था। इसके कहने में भला हमारी क्या निन्दा होगी ? हे प्रभो ! अब कृपा करके हमको सत् वस्तु का उपदेश करिये, जिससे हमको शान्ति प्राप्त हो।

उद्दालक—हे सौम्य ! तुमको जो यह नाना प्रकार का प्रपंच नजर आता है, उसकी उत्पत्ति से महान् सूक्ष्म एक सत् ही था और कुछ नहीं था।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! क्या आकाश आदिक की तरह सूक्ष्म था।

उद्दालक—हे सौम्य ! आकाश से भी सूक्ष्म था और प्रत्यक्ष था, अप्रत्यक्ष नहीं था। निरावयव होने से घट आदिकों के समान प्रत्यक्ष नहीं था। माया रूप अंजन से रहित निरंजन शुद्ध, सत्, एक, अद्वैत, कूटस्थ था। हे पुत्र ! उस सत् से ही इस नाना प्रकार के सर्व प्रपंच का हुआ है जो तुमको प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। यह सब सत् ही है।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! यह प्रपंच पूर्व भी सत् था और अब भी सत् है, इस वचन के कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ?

उद्दालक—हे पुत्र! पहिले यह नाम-रूप न था, एक सत् बुद्धि ही थी। उस सत् बुद्धि से यह नाना प्रकार का नामरूप उत्पन्न हुआ है। यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड इन चार पदार्थों का संघात है। एक सत् शब्द, दूसरे सत् बुद्धि, तीसरे नाम, चौथे रूप। जब नाम-रूप का अभाव हो जाता है तब सत् शब्द और सत् बुद्धि, यह दो ही शेष रह जाते हैं। इस कारण से, हे पुत्र! यह नाम-रूप भी अपने स्वरूप का बाध करके सत् ही ठहरता है।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! उस सत् को हम कैसे जानें? यह कृपा करके मेरे बोध के निमित्त कहिये।

उद्दालक—हे पुत्र! एक दृष्टान्त द्वारा हम तुमको उस सत् पद का बोध कराते हैं। ध्यान देकर सुनो। जैसे प्रगाढ़ निद्रा में जाग्रत और स्वप्न का अभाव हो जाता है और इन दोनों का कारण एक प्रगाढ़ निद्रा स्थित पुरुष ही रहता है, उसी सुषुप्ति कारण में ही सत् बुद्धि और सत् शब्द रहते हैं और स्वप्न, जाग्रत अवस्था में उसी सुषुप्त पुरुष से सत् बुद्धि और सत् शब्द उदय हो आते हैं। उन दोनों द्वारा सम्पूर्ण जगत का व्यवहार सदा होता है, ठीक उसी प्रकार यह नाना नामरूप जो हैं, यह भी उस सत् में लय हो जाते हैं। पीछे एक सत् शब्द और सत् बुद्धि ही रहती है। उसी को श्रुति माता ने 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' कहा है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! उस सत् अद्वैत से यह प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ है?

उद्दालक—हे सौम्य! इस पर भी एक दृष्टान्त सुन ले, क्योंकि दृष्टान्त के बिना तू समझ न सकेगा। संस्कृत में दृष्टान्त को अलंकार कहते हैं। कोई पुरुष किसी कुम्हार के घर गया। कुम्हार ने उस काल में एक मिट्टी का गोला अर्थात् पिण्ड बना रक्खा था। वह पुरुष उस मिट्टी के पिण्ड को देखकर उस समय कहीं चला गया। उस पुरुष के चले जाने के बाद कुम्हार ने उस मिट्टी के पिण्ड से तरह-तरह के बर्तन बना डाले। तब फिर वह पुरुष कुम्हार के घर वापिस आया। उससे किसी दूसरे पुरुष ने पूछा कि भाई यह बड़े-बड़े सुन्दर बर्तन काहे से बनाये हैं और ये क्या हैं? उसने उत्तर दिया कि हे भाई! कल हम यहाँ आये थे, तब हमने यहाँ एक मिट्टी का पिण्ड देखा था। उसी मृत्तिका पिण्ड से यह सब बर्तन बनाये गए हैं, इस कारण से यह सब मृत्तिका ही है। मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है। हे पुत्र! उसी प्रकार वेद भगवान् इन मुमुक्षुओं से ऐसा कहता है कि प्रपञ्च की उत्पत्ति से प्रथम एक अद्वितीय सत् था, उसी से यह नाना नामरूप भूत प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है, इस कारण से यह सब सत् ही है, सत् से इतर कुछ नहीं है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! कुम्हार तो चक्र-दण्ड आदि की सहायता लेकर घड़ा बनाने में समर्थ होता है। उस सत् आत्मा ने किसकी सहायता से इस प्रपञ्च को उत्पन्न किया है? कृपा करके मेरे बोध के निमित्त कहिये।

उद्दालक—हे पुत्र! वह सत् अद्वितीय, सत् सङ्कल्प और सर्व सामर्थ्य युक्त है। उसको संसार के बनाने में किसी सामग्री की अपेक्षा नहीं है। वह सत् परमात्मा निरवयव और परिपूर्ण है। अतः उसको

किसी दूसरी सामग्री की अपेक्षा नहीं है। सावयव परिच्छिन्न पुरुष ही सामग्री की अपेक्षा कर दृष्टान्त के द्वारा समझ लो। जैसे स्वप्न में चिदाभास रूप जीव अनेक प्रकार के जगत को उत्पन्न करता उस समय वह किसी की सहायता नहीं लेता, उसी प्रकार वह सत् परमात्मा भी किसी की अपेक्षा करता और सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न करके भी एकरस, अविनाशी, निरञ्जन, कूटस्थ ही रहता है। सामग्री की अपेक्षा विना ही जब अल्पज्ञ जीव स्वप्न प्रपंच को रच लेता है तो क्या सर्व समर्थ परमा लिए विना सामग्री के प्रपञ्च को रच लेने में कोई कठिन बात है?

श्वेतकेतु—हे पिता जी! कोई-कोई आचार्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति भाव से कहते हैं। जै पुरुष पहले जैसे पदार्थ को देखता है और पीछे उसकी नकल उतारता है, उसी प्रकार यह संसार क भी परम्परा पूर्व-पूर्व भाव द्वारा उत्पन्न होते चले आते हैं, जैसे मनुष्य से मनुष्य तथा पशु से पशु ह

उद्दालक—हे सौम्य! भाव रूप वस्तु एक दिन अभाव ही हो जाती है। जब आप ही अभ गई, तब उसमें दूसरी सत् वस्तु क्या हो सकती है? अर्थात् कुछ नहीं हो सकती है। हे सौम्य! इस कहने वाले आचार्य मिथ्यावादी हैं, क्योंकि उन्होंने सत्-असत् का निश्चय नहीं किया है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! कोई आचार्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति असत् से भी कहते हैं कि असत् की उत्पत्ति होती है।

उद्दालक—हे सौम्य! जैसे खरगोश के सींग आज तक सिद्ध नहीं हुए, तीनों कालों में असि हैं। उन अभाव रूप सींगों से भावरूप धनुष की सिद्धि भला कैसे हो सकती है? अर्थात् किसी प्रकार हो सकती। उसी प्रकार अभाव तो पूर्व ही असत् है। उस असत् अभाव से सत् भावरूप प्रपञ्च की उत कैसे हो सकती है? अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकती। यह असत्वादी चारवाक भी झूठे ही मूर्ख आकाश को मुट्ठी में पकड़ना चाहते हैं। हे पुत्र! इस सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था। यह नाना असत् प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! पूर्व आपने यह कहा था कि सृष्टि की ब्रह्मरूप मृत्तिका से घट की तरह हुई है, इस कारण ब्रह्म स्वरूप ही है। सो हे प्रभो! मृत्तिका आदिक तो आकार और विकार सहि उनसे नाना आकारों का होना सम्भव है और ब्रह्म को आपने निरावयव, निराकार, निर्विकार और निरंजन अविनाशी कहा है। ऐसे निरावयव सत् ब्रह्म से नाना आकारों वाली सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई है?

उद्दालक—हे सौम्य! वेद भगवान् ने मुमुक्षु पुरुष से सत् परब्रह्म में इस प्रकार सृष्टि कही है, रस्सी के आश्रय से सर्प दिखाई देता है। जैसे सीपी में कल्पना करके चाँदी प्रतीत होती है, उसी सत् परब्रह्म में भ्रम से नाना स्थूल, सूक्ष्म आरोपित पदार्थ मान होते हैं। सत् रस्सी स्थानीय है और हिरण्यगर्भ वैश्वानर, प्राज्ञ, तेजस और विश्व सर्प स्थानीय हैं। खरगोश के सींग की तरह ये सब क हैं। मुमुक्षुओं को बोध कराने के लिये वेद भगवान् ने अज्ञानियों के अनुभव का अनुवाद किया है। में वेद भगवान् का यह अभिप्राय नहीं है—कि हे मुमुक्षुओ! तुम परमात्मा में सृष्टि का निश्चय क भगवान् का अभिप्राय तो एक अद्वितीय सत्ता के प्रतिपादन में है, द्वैत के प्रतिपादन में नहीं। अनन्त रूप मोक्ष है। यह नाना रूप प्रपञ्च भ्रम मात्र है। अब जिस प्रकार सत् परमात्मा से यह है, वह सावधान होकर सुन! उस सत् परमात्मा में इच्छा हुई 'एकोऽहं बहुस्याम्' एक से बहुत हो

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! इच्छा करना तो बुद्धि का धर्म है और सत् वस्तु मन-बुद्धि से रहित है, फिर उसमें इच्छा कैसे हुई ?

उद्दालक—हे सौम्य ! जैसे विद्या अभ्यासी पुरुष रात्रि में शरीर को खाट पर शयन कराके सो जाता है, फिर स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि रच लेता है। देखो, वहाँ उस सत्-चित-आनन्द ने वह नाना सृष्टि किसकी सहायता से उत्पन्न की है ? जैसे स्वप्न द्रष्टा विद्यार्थी नाना सृष्टि को उत्पन्न कर लेता है, फिर आप ही उसको लय कर लेता है और आप असंग हुआ उत्पत्ति और लय दोनों को प्रकाशित भी करता है। जब हमारी निद्रा ऐसी अद्भुत रचना करने में समर्थ है तो ईश्वर की माया नाना प्रपञ्च को उत्पन्न करती है, उसी प्रकार उस शुद्ध परमात्मा में सर्व-समर्थ रूप माया अनादि कल्पित है। उस माया रूप तम के आश्रय परमात्मा ने इच्छा की और एक से अनेक हो गया। पहिले तेज का स्वरूप रक्खा, जिसका काम प्रकाशित करना, अन्न को पकाना और दाह करना है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! इच्छादिक तो चैतन्य में होती है। जड़ माया में इच्छा कैसे हुई ?

उद्दालक—हे सौम्य ! यथार्थ में इच्छा न चैतन्य में होती है, न जड़ में। इन दोनों के कल्पित सम्बन्ध से माया विशिष्ट चैतन्य में माया की वृत्तिरूप इच्छा हुई; वह आप भी कल्पित है और सत्-चित्-आनन्द से भिन्न उस इच्छा का भी कुछ स्वरूप नहीं है। अतः पहले भी एक सत् चैतन्य था और अब भी एक सत् चैतन्य ही है। तुम नाना प्रकार के प्रपञ्च को देखकर वृथा भ्रम में क्यों पड़े हो ? जैसे सर्प रस्सी से उदय होता है, उसी में रहता है और फिर उसी में लय हो जाता है, उसी प्रकार सृष्टि के आदि में एक चैतन्य था। उसमें जो नाना प्रकार का प्रपञ्च दिखाई देता है, वह उसी चैतन्य में उत्पत्ति, स्थिति तथा लय को प्राप्त होता है, सत् चैतन्य रस्सी की तरह सदा एक अद्वैत अपने आप में स्थित है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रम मात्र है। हे पुत्र ! वेद का अभिप्राय सृष्टि के सिद्ध करने में नहीं है, केवल एक अद्वैत के सिद्ध करने में है। जैसे कोई पुरुष पहले घर बनाकर उसमें प्रवेश करता है, वही उस घर के सुख का भोगने वाला होता है, उसी प्रकार सत्-चित-आनंद इस प्रपञ्च को उत्पन्न करके और स्वयं ही उसमें प्रवेश करके सुख-दुःख का भोग करता है प्रथम उस परमात्मा ने शरीर रूपी पुर बनाया, फिर बुद्धि रूपी उसमें शहतीर रक्खी, पश्चात् मन रूपी सतून गेरा, फिर इन्द्रियाँ रूपी कड़ियाँ डालीं और आशा रूपी छत पाटी। पाँच विषय रूपी भोगों से उस घर को ठसा-ठस भर दिया, फिर आप ही ने उसमें प्रवेश किया।

हे पुत्र ! जिस सत्-चित-आनन्द ने इस शरीर रूपी पुर में प्रवेश किया है वही तुम्हारे जानने योग्य है, शेष सब अयोग्य है। कोई दो पुरुष साथ-साथ किसी गाँव को जाते थे। एक ने दूसरे से पूछा कि भाई रास्ता तो बहुत काट आये हैं। क्या गाँव दूर है ? उत्तर मिला, भाई दूर नहीं है। देखो, ये जो वृक्ष दिखाई देते हैं, ये उसी गाँव के हैं। इस प्रकार दूसरे से सुन कर वृक्षों को देखता हुआ ग्राम को पा लेता है। उसी प्रकार यह सत् बुद्धि रूपी वृक्ष उस शुद्ध चैतन्य आत्मा रूपी ग्राम में स्थित है। इस कारण से उस शुद्ध चैतन्य आत्मा रूप ग्राम को यह सत् बुद्धि रूपी वृक्ष निकट बताते हैं। हे पुत्र ! तुम भी सब तरफ से वृत्तियों को रोक कर किसी ब्रह्मवेत्ता आचार्य की शरण में जाओ। तुम जो इस अहंकार को लिए हुए मार्ग में खड़े हो, इससे तो संदेह ही आगे-आगे दौड़ता है। अतः तुमको प्रथम अहंभाव का मार्ग ही छोड़ देना चाहिए। तब परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिये और गुरुओं की सेवा करके शंकाओं का जड़मूल

से छेदन कर देना चाहिए। इसी अहंकार के कारण राजा जयवल्ली ने तुम्हारा सत्कार नहीं किया।

हे पुत्र! देखो न, यह अहंभाव संसार में भी दुःख देता है, परलोक की तो बात ही क्या है। इससे परमार्थ भी डूब जाता है। यश, कीर्ति और प्रताप, तेज आदि सब नष्ट हो जाते हैं। इस अहं अभिमान सन्देह, कलह उत्पन्न होकर प्रेम भाव भी नष्ट हो जाता है। इस अहंभाव के बने रहने तो उस परतत्व का ही पता चलता है और न अपने आपकी पहिचान ही होती है। भला जब अहंभाव किसी प्राणी को ही अच्छा नहीं लगता तो परमात्मा को कैसे अच्छा लगेगा? अतः, जो प्राणी अहंभाव को छोड़ देता है उसी को शान्ति मिलती है और को नहीं। अतः, हे पुत्र विधिपूर्वक कुछ भेंट हाथ में लेकर गुरु को नमस्कार करके उन से प्रश्न करो। तब गुरु सत् बुद्धि रूपी तुमको दिखा देगा। फिर तुम भी उस सत् बुद्धि रूपी वृक्ष पर वृत्ति रख कर शुद्ध ब्रह्मरूप प्राप्त हो होंगे और शान्त आत्मा हो जाओगे। अब तुम निकट आ गए हो, केवल गुरु लोगों के जनाने की है।

हे सौम्य! यहाँ प्रसंग तो यह चला है कि एक के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है। जैसे मठ के उत्पन्न होने से आकाश में नाना भेद दिखाई देते हैं। और एक आकाश के जानने से आदि सब का आकाश जाना जाता है, उसी प्रकार माया द्वारा हिरण्यगर्भ, विराट, जीव की चैतन्य में अनेक भेद दिखाई देते हैं। यथार्थ में एक शुद्ध चेतन ही है और यह भेद औपाधिक मिथ्या है। वेद में कहा है कि एक सत् चैतन्य देव है और यह जीव मेरा ही स्वरूप है, अतः एक चैतन्य के ज्ञान से सब उपाधियों में स्थित भेद रहित चैतन्य जाना जाता है। वह चैतन्य प्राणियों में एकरस स्थित है। उसने ही इच्छा की थी कि जब हम इस नाना सर्व रूपों में प्रवेश करें संसार का तमाशा देखने में आवेगा। जैसे कुम्हार मृत्तिका से अनेक प्रकार के बर्तन बनाता है, जब तक उनमें अग्नि प्रवेश नहीं करती तब तक वह किसी काम के नहीं होते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार का ब्रह्माण्ड बनाया, परन्तु जब तक चैतन्यदेव ने उसमें प्रवेश न किया तब तक चेष्टा जड़ मुरदे की नाईं पड़ा रहा। हे पुत्र! इस संसार में अपनी सत्ता स्वतन्त्र नहीं है। चैतन्य की ही सब भान होते हैं। इसी कारण से परमात्मा ने विचार किया था कि मैं इस में प्रवेश करके नाम प्रगट करूँ। मेरे से दूसरा और कोई चैतन्य है ही नहीं जो इस सब जड़ प्रपंच को संभाले।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! अभी सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति तो हुई ही नहीं, तो चैतन्यदेव ने किस करने की इच्छा की? यह कृपा करके फिर कहिये।

उद्दालक—हे सौम्य! उसी चैतन्यदेव परमात्मा ने अपने मायारूप हृदय में यह विचार कि ऐसा करना चाहिए, अभी प्रवेश नहीं किया। जैसे दूकानदार दुकान को बढ़ा कर अपने घर जाता है और दुकान में फैलाने के योग्य वस्तुओं के संस्कार उसके हृदय में होते हैं। फिर प्रातःकाल दिन के पदार्थों को याद करके सब वस्तुओं को जहाँ की तहाँ दूकान में फैला देता है, उसी प्रकार ने पूर्व कल्प के अन्त में पहले मायारूपी दुकान में नाम रूप मय अनेक पदार्थों के संस्कार एकत्र थे। इस कल्प के आदि में उसी सत् परमात्मा ने नाम रूप के फैलाने की इच्छा की और संकल्प द्वारा माया रूपी दुकान से ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट, प्राज्ञ, तेजस, और विश्व, स्थूल, कारण अनेक नामरूप मय पदार्थों के निकालने की इच्छा की। क्योंकि जैसा इनका नामरूप था, वैसा ही प्रगट करना चाहिए।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! उस शान्त सुखरूप परमात्मा ने जान बूझ कर दुःखमय संसार के बनाने की क्यों इच्छा की और फिर क्यों इसमें प्रवेश करने की उसे इच्छा हुई ? सब जीव सोते हुए क्यों न रहने दिये ?

उद्दालक—हे पुत्र ! उस परमात्मा का अपना आप जो शान्त सुख स्वरूप है, उसका महत्त्व जानने के लिए दुःखमय संसार की चिन्तना करके उसने उसमें प्रवेश की इच्छा की। क्योंकि दुखों के अनुभव किये बिना सुखों का महत्त्व नहीं जाना जाता। जैसे राजा ने अपने पुत्र को विद्या पढ़ने के लिये एक पंडित को दे दिया था। उस पंडित ने राजपुत्र को राज धर्म शास्त्र की सब विद्यायें पढ़ाईं। फिर पंडित ने विचार किया कि इस बालक को सुख-दुःख का ज्ञान भी कराना चाहिए। ऐसा न हो कि यह राजपुत्र राज-सिंहासन पर बैठ कर प्रजा को वृथा कष्ट देने लगे। यह विचार कर पंडित ने राजपुत्र को किसी अपराध बिना ही खूब ताड़ना की और एक कोठरी में बन्द कर दिया। बाहर से उसमें ताला लगा दिया और अपने घर के सब मनुष्यों से कह दिया कि कोई ताला न खोलना। उस राजपुत्र को बड़ा क्लेश हुआ और उसके कर्मचारियों ने राजा से जाकर कहा कि राजन् ! तुम्हारे पुत्र को पंडित ने एक कोठरी में बन्द करके बड़ा क्लेश दिया है। राजा यह सुनते ही क्रोध से पागल हो गया और बोला कि यह पंडित मेरे पुत्र को इतना कष्ट क्यों देता है ? उसने कोतवाल को आज्ञा दी कि पंडित को पकड़ लाओ और राजकुमार को कोठरी से निकाल लाओ।

फिर राजा के किसी विचारशील मन्त्री ने राजा से कहा कि हे राजन् ! आप पंडित पर क्रोध न करें। वह पंडित तो बड़ा ही बुद्धिमान, धर्मात्मा पुरुष है। किसी विद्या के सिखाने के वास्ते ही उसने राजपुत्र की ताड़ना की होगी। वह पंडित वृथा क्लेश देने वाला नहीं है। आप शान्त हो जायें। बुलाये जाने पर जब वह पंडित राज दरबार में आया तो राजा ने पूछा कि पंडित जी महाराज तुमने हमारे पुत्र को इतना कष्ट क्यों दिया है ? पंडित ने कहा कि हमने उसको सुख तथा दुःख का ज्ञान कराया है। क्योंकि जब यह राजकुमार राजगद्दी पर बैठेगा तब यह प्राणियों को दण्ड देने का हुक्म करेगा। जो इसको आप सुख-दुःख का ज्ञान न होगा तो चाहे जिसको जो चाहे दण्ड दे बैठेगा और जो सुख-दुःख का इसे ज्ञान होगा तो विचार कर अपराधियों को दण्ड देगा और निरपराधियों पर कृपा तथा दया करेगा। जिस राजा को सुख-दुःख की खबर नहीं होती है, वह व्यर्थ थोड़े से अपराध में जीवों को मरवा डालता है। आप अपने पुत्र को बुला कर परीक्षा कीजिये। राजा ने बालक को बुलाया और एक चोर को बुला कर उस बालक के सामने पिटवाने लगा। उसको पिटता हुआ देख कर बालक ने दया करके राजा से कहा कि हे पिता जी ! इसको बहुत कष्ट न दीजिये। इसको बड़ा कष्ट होता है। राजा अपने पुत्र का यह वचन सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ और उस पंडित को बहुत सा धन देकर प्रसन्न किया।

उसी प्रकार वह परमात्मा भी अपने आप सुख के महत्व को जानने के लिए इस प्रपञ्च को रचकर इसमें प्रविष्ट हुआ और जीवरूपी कपड़ा पहन कर अनेक कामनाओं का चिन्तन करने लगा कि मुझको धन मिले, मुझको स्त्री मिले, मेरे पुत्र हों, मैं यह कर्म करूँ तो स्वर्ग को भोगूँगा। इस प्रकार लोक-परलोक के सुख की इच्छा और मौत, भूख-प्यास, राग-द्वेष, मान-अपमान, सुख-दुःख आदि अनेक इच्छा करने लगा और अनेक क्लेशों से पीड़ित हुआ। तब जन्म-मरण के कष्टों को देखकर पुकारने लगा कि कोई ऐसा भी सुख है जिसको प्राप्त होकर इस क्लेश से छूटूं और अपने दुःखों की निवृत्ति के लिए किसी से पूछ पाछ कर अथवा किसी से सुनकर, कहीं बैठकर समाधि करने लगूँ ? कहीं उपासना करके सुख मानने लगा, कहीं

कर्म करके सुख की प्राप्ति का निश्चय करने लगा, कहीं वेद के पढ़ने में अपने को सुखी जानने लगा, तीर्थ में बसने से सुख की प्राप्ति समझने लगा, कहीं तीर्थों की यात्रा से सुख मानने लगा, कहीं देवता में सुख मानने लगा, कहीं भूत-प्रेत आदि की आराधना से सुख की प्राप्ति का निश्चय करने लगा, नाना प्रकार के विशेष विषयों के धारण करने से सुख मानने लगा, कहीं अपना देवदत्त, यज्ञदत्त नाम रखवा कर उसमें सुखी होने का निश्चय करने लगा, कहीं दण्डी स्वामी बन विजयाहोम करा समझने लगा, कहीं नंगा अवधूत त्यागी महात्मा परमहंस कहला कर सुख मानने लगा, कहीं योगी से विख्यात होकर सुखी होने का निश्चय करने लगा, और भी नाना प्रकार के उपायों से सुख की प्रा लिए अपनी किम्वा दूसरों की कल्पना द्वारा उनसे सुख की प्राप्ति का विश्वास करने लगा कि इनके में कभी-न-कभी तो संसार बन्धन से छूटूंगा ही। परन्तु जब इसने विशेष रूप को अङ्गीकार किया, इसको सुख-दुःख प्रतीत होने लगे और उनका भेद स्पष्ट देखने लगा। दुःख का अनुभव करके सुख के लिए बहुत प्रकार के प्रयत्न करने लगा तो भी सुख कहीं न मिला। अन्त में थक-थकाकर वह कि सुख कहीं नहीं है। आत्मा ही परमानन्द स्वरूप है और विषय जन्य सुख-दुःख रूप हैं। उस उसको विहित कर्म भी भय देने लगे।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! इस चैतन्यदेव ने किस प्रकार शरीर में प्रवेश करके लीला का किया?

उद्दालक—हे सौम्य! प्रतिबिम्ब की नाईं प्रवेश करके चैतन्यदेव अपनी लीला का अनुभव है। जैसे किसी मनुष्य को बहुत प्यास लगी हो और उसकी निवृत्ति के अर्थ कुएँ में लोटा फाँसे, में उसको कुएँ में अपना प्रतिबिम्ब भी दीखता है, पात्र और जल भी दीखते हैं। उन तीनों को वह पृथक् ही समझता है। उसी प्रकार जब सत्-चित्-आनन्द आत्मा को अपने महत्व के देखने की इच्छा उस काल में प्रपञ्चरूपी कुएँ में अपने प्रतिबिम्ब को डाला, फिर उस प्रपञ्च और प्रतिबिम्ब के साथ होकर अहंकार करने लगा कि मैं भी कुछ हूं। कहीं कहने लगा कि मैं तो विराट् हूं, कहीं कहने लगा परमेश्वर हूँ, कहीं अपने आपको करता, भोक्ता जीव मानने लगा। कहीं पशु, कहीं पक्षी, कहीं कीट, वृक्ष आदि मानने लगा। कहीं पुत्र में अहंकार किया, कहीं पापीपने का, कहीं यतीपने का, कहीं पने का अहंकार करने लगा।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! उस सत् देव ने किस स्वरूप से प्रवेश किया है? सत् तो निर्विकार प्रपंच असत् विकार सहित है। इस कारण से उस निर्विकार का इस मिथ्या प्रपंच में प्रवेश नहीं घटता व्यापक का प्रवेश कथन करना युक्तिशून्य है।

उद्दालक—हे पुत्र! हम प्रथम ही कह आये हैं कि उस सत्-चित्-आनन्द परमात्मा के प्रति ने प्रवेश किया है। दृष्टान्त—जैसे पुरुष का प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रवेश करता है, उस प्रतिबिम्ब में अनेक की क्रिया होती दिखाई देती है और पुरुष प्रतिबिम्ब और उसकी क्रिया को अपने से पृथक् देखता है। प्रकार सत्-चित्-आनन्द परमात्मा ने बुद्धि रूपी शीशे में चिदाभास रूपी प्रतिबिम्ब डाला है। यह भास ही जन्म-मरण, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि विकारों को प्राप्त होता है। यही अपने में मानता है। स्वयं चेतन ने प्रवेश नहीं किया है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! जैसे प्रतिविम्ब की क्रिया पुरुष को प्राप्त होती है, उसी प्रकार चिदाभास की क्रिया और विकार चैतन्य में प्राप्त होती होंगी। जैसे स्वप्न में सिंह आदि के डर से पुरुष काँप कर जाग उठता है, उसी प्रकार यह पुण्य-पाप रूपी दोनों सिंह भी उस चैतन्य को स्पर्श करके दुःख देंगे। उस चैतन्य को अक्रिय और अभय कैसे कहते हो ?

उद्दालक—हे पुत्र ! सुनो, जैसे सूर्य का प्रतिविम्ब शुभ-अशुभ सब पदार्थों में पड़ता है, परन्तु उस प्रतिविम्ब की क्रिया सूर्य को स्पर्श नहीं करती है और जैसे आकाश के प्रतिविम्ब की क्रिया आकाश से नहीं छूती है, वैसे ही चिदाभास की क्रिया चैतन्य को स्पर्श नहीं करती है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! आप जिसको शुद्ध, निर्विकार, कूटस्थ, अक्रिय कहते हो, मुझे तो उसमें भी क्रिया दिखाई पड़ती है। जीवत्व भाव तो क्रिया का स्वरूप ही है क्योंकि क्रिया जड़ पदार्थ में नहीं हो सकती, चेतन में ही होती है। अहंकार विना क्रिया सम्भव नहीं। इस कारण से सब ब्रह्माण्ड का पुण्य-पाप उस चैतन्य को अवश्य स्पर्श करेगा।

उद्दालक—हे पुत्र ! सत्-चित-आनन्द आत्मा न कुछ करता है और न कल्पित पदार्थों की क्रिया उसको छूती है। वह तो केवल निर्विकार असङ्ग ही है। जैसे पुरुष पतीली में दाल-भात आदि पाक करता है। उसके कच्चे-पक्केपने को जानने के लिए जो उसमें हाथ डाले तो जल जाता है। अतः विचारवान् पुरुष तो हाथ डालता नहीं। चमचा के द्वारा ही उस दाल भात के कच्चे-पक्केपने का निश्चय कर लेता है। इस प्रकार उसका हाथ भी नहीं जलता और कार्य भी सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार जब सत्-चित्-आनंद माया के साथ मिला था, तब प्रथम उसने यह विचार किया कि मेरे में तो क्रिया हो ही नहीं सकती है, क्योंकि मैं तो निर्विकार। हूँ और माया जड़ है, अतः इसमें भी क्रिया नहीं हो सकती है। तथापि संसार की लीला देखनी अवश्य है जो प्रपंच को उत्पन्न किये विना बनेगी नहीं। यदि लीला को हम ही करें तो उसको देखेगा कौन ? इस कारण से इस क्रिया को करने वाला एक और उत्पन्न करना चाहिए। अतः तीसरे के विना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता जिससे मैं तो ज्यों का त्यों निर्विकार रहूं और कार्य भी होवे तथा संसार का तमाशा भी देखा जावे ऐसा करना चाहिए।

ऐसा विचार कर उस चैतन्यदेव ने चमचा की तरह एक चिदाभास को उत्पन्न किया। वह चिदाभास ही मायामय राग-द्वेष, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, जन्म-मरण तथा आना-जाना आदि सब उपाधियों का मालिक है और वह सत्-चित्-आनन्द परमात्मा निर्विकार हुआ उदासीन की तरह सब लीला को देखता है, पर अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। जैसे यह पुरुष जाग्रत अवस्था को त्याग कर स्वप्न में जाता है, उसमें अपने प्रतिविम्ब को डालकर उसकी सब क्रिया को देखता है और पुनः जाग्रत में आकर कहता है कि स्वप्न तो केवल भ्रममात्र था, क्योंकि अब जाग्रत दशा में कुछ नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार परमात्मा भी प्रपंच में अपने प्रतिविम्ब को डालकर उसके द्वारा प्रपंच की लीला का अनुभव करता है। जब वह चिदाभास अपने स्वरूप को विचारता है कि मेरा प्रकाश स्वरूप है और चैतन्य प्रकाश से भिन्न नहीं है, तब अपनी फैली हुई वृत्तियों को रोक कर अपने आप प्रत्यग् की तरफ देखता है और कहता है कि यह सब भ्रममात्र ही था। केवल एक अपना आप अद्वैत असङ्ग चैतन्य ही था, सोई रहेगा। मेरी सत्ता से भिन्न कभी नहीं, न कुछ हुआ, न है और न हो सकता है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! जैसे बालक घूमता है और कहता है कि देखो धरती आकाश सहित घू रहा है और मैं एक जगह पर खड़ा हूं, परन्तु वास्तव में वह बालक ही घूमता है, पृथ्वी आकाश घूमते। उसी प्रकार चैतन्यदेव सब क्रियाओं में आप ही तो हैं और आप ही ने तमाम उपाधियाँ और दोष चिदाभास जीव को लगाया है। इस कारण से तमाम दोष चैतन्य को ही लगने चाहिए। उससे और कोई है ही नहीं, तब आप चैतन्य को निर्विकार, असङ्ग कैसे कहते हो ?

उद्दालक—हे सौम्य ! सुनो, इस में एक दृष्टान्त है। एक विचारवान मनुष्य था। उसने तेल के कढ़ाह में अपना प्रतिबिम्ब डाला और अपने प्रतिबिम्ब को देखा, परन्तु प्रतिबिम्ब को न देखा और न अपने आपको जलते देखा। क्योंकि यदि प्रतिबिम्ब जलता तो उसमें कोई विकार अवश्य होता। यदि प्रतिबिम्ब की जलन पुरुष को प्राप्त होती तो कष्ट पाकर आप ही गिर पड़ता। न तो प्रतिबिम्ब जला और न वह पुरुष ही जला। दोनों निर्विकार ही रहे। इस कारण से उस निश्चय किया कि मैं कढ़ाह में अपना प्रतिबिम्ब डालने से भी निर्विकार हूँ। उसी प्रकार दृष्टान्त में सत्-चित्-आनन्द देव पुरुष हैं और बुद्धि रूपी तेल की गरम कढ़ाह है। चिदाभास रूपी प्रतिबिम्ब है उसके साथ मिलकर यह जीव सब क्रिया करता है और जाग्रत, स्वप्न में अनेक प्रकार की लीला अनुभव भी करता है। परन्तु किसी पदार्थ से आप स्पर्श नहीं होता और न वास्तव में उसको किसी कष्ट ही पहुँचता है।

चैतन्य, सर्व उपाधियों से रहित, निर्विकार है। जब चिदाभास को ही कष्ट नहीं, तो चैतन्य को कहाँ से हो सकता है ? हे सौम्य ! इस प्रकार चिदाभास और चैतन्य दोनों निर्विकार हैं और यह जो भी प्रपंच तुमको दिखाई देता है वह सब चिदाभास के आश्रय से ही सिद्ध हो रहा है। इस चिदाभास के आश्रय से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। जैसे सूर्य और आकाश का प्रतिबिम्ब घड़े के जल में पड़ा, घड़े के हिलाने से सूर्य और आकाश के प्रतिबिम्ब हिलते दिखाई देते हैं, पर यह भ्रम है। वास्तव में जल ही हिलता है। जैसे सूर्य और आकाश की छाया में क्रिया प्रतीत होती है, तथापि दोनों निर्विकार हैं उसी प्रकार बुद्धि रूपी घट है, सत्तारूपी बुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब है, प्रपंच रूपी जल है, सूर्य सत-चित्-आनन्द है, हिलाने वाली प्रपंचाकार वृत्ति है, कामनारूपी वायु से हिलती है। परन्तु सत्-चित्-आनन्द और उसका प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास यह दोनों निर्विकार हैं जैसे मूर्ख मनुष्य उस प्रतिबिम्ब को हिलता कहते हैं उसी प्रकार अज्ञानी जन-जीव को कामी, क्रोधी, जन्म, मरण वाला कहते हैं। वास्तव में तो जीव प्रतिबिम्ब की नाईं निर्विकार ही है।

श्वेतकेतु—हे भगवान् ! कोई आचार्य तो लोक-परलोक को जीव के आश्रय कहते हैं, आप ब्रह्म और जीव दोनों को निर्विकार कहते हैं। आपके इस कथन से लोक-परलोक, शास्त्र, आचार्य, ईश्वर, गुरु, शिष्य, सुख, ये सब मिथ्या होने चाहिये।

उद्दालक—हे सौम्य ! जब यह पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप सत्-चित्-आनन्द की तरफ देखा करता है, उस समय यह सर्व व्यवहार मृग-तृष्णा के जल की तरह मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं और जब जीव प्रपंच की तरफ देखने लगता है, तब इसको नाना प्रकार का सब संसार दृष्टि में आता है। लोक, परलोक, शास्त्र, आचार्य, शिष्य, स्वर्ग, नरक, पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सब वास्तविक प्रतीत होते हैं। इस कारण से यह सम्पूर्ण व्यवहार जीव की वृत्ति के आश्रय हैं। जैसी उसकी दृष्टि होती है वैसा ही भासता

लगता है। परमार्थ में सत्-चित्-आनन्द के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हे पुत्र! जब विवेक द्वारा सत्-चित्-आनन्द आत्मा का साक्षात्कार होता है तब नाम रूप जगत् की सत्ता का तो अभाव हो जाता है, परन्तु जगत् का स्वरूप ज्यों का त्यों दिखाई देता रहता है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! सम्पूर्ण जगत् के अभाव होने पर भी अग्नि, जल, पृथ्वी ये तीनों देवता तो रहते ही होंगे।

उद्दालक—हे पुत्र! ये तीनों देवता भी सत्-चित्-आनन्द आत्मा के अस्ति, भाति, प्रियता के आश्रय प्रतीत होते हैं। जब इन में से आत्मा अपनी अस्ति, भाति, प्रियता खींच लेता है तब इनका भी अभाव हो जाता है। फिर एक अद्वैत सत्-चित्-आनन्द ही शेष रहता है। वह सत् अक्रिय, अभय, कूटस्थ, स्वप्रकाश है। हे पुत्र! जो अधिकारी इस प्रकार विचार के द्वारा ब्रह्म आत्मा को यथार्थ जानता है अथवा जानने की इच्छा करता है, वह जानने वाला अथवा जिज्ञासु तत्वेत्ता ब्राह्मण कहा जाता है। जिस पुरुष ने विवेक विचार द्वारा सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म आत्मा को नहीं जाना अथवा जानने की इच्छा नहीं की और नाम-रूप मय संसार को सत् जानकर स्वयं को तत्वेत्ता सर्वज्ञ मानता है, वह अज्ञानी, मूर्ख, नीच, शूद्र है। हे सौम्य! तुमने भी तो नामरूप को सत् जानकर कितना अहंकार किया था और अपने को वेद-वेत्ता बुद्धिमान पंडित समझा था, सो तुम भी महामूर्ख नीच शूद्र थे। बुद्धिमान ब्राह्मण तब होगे जब नाम रूप का त्याग कर अपने यथार्थ स्वरूप को जानोगे। हे सौम्य! यह नाम रूप जगत् असत्, जड़, दुःख स्वभाव वाला है। तू इसका आसरा लेने वाला शूद्र जीव भला सुखी कैसे हो सकता है अर्थात किसी प्रकार और कभी आनन्दित नहीं हो सकता। सत्-चित्-आनन्द परमात्मा सब का अपना आप, नित्य, अभय, अविनाशी है। तू भी उसको जानकर ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के भाव को प्राप्त हो—और इस अज्ञान, नीच, शूद्र, शरीर में जड़ भाव को त्याग कर अपने सत् स्वरूप आत्मा में स्थित हो। जिस सत् आत्मा से यह सम्पूर्ण नाम रूपमय संसार उत्पन्न होता है—और उत्पन्न होकर जिस में वर्तता है और फिर जिस में लीन होता है, सो तू ही है। हे पुत्र! मैं तुम को तीन तत्वों द्वारा दूसरे प्रकार से समझाता हूं।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! आपने दो तत्व क्यों छोड़ दिये ?

उद्दालक—हे पुत्र! ब्रह्माण्ड के नाम रूप को तीन तत्वमय कथन करने से स्थूल बुद्धि वाले पुरुषों को सुगमता से बोध होता है। आकाश और वायु में विशेष नाम रूपों का कथन और प्रतीति कठिन है क्योंकि इनकी विशेषता के कथन में जानने में अधिक सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। हे पुत्र! मैं तुमको थोड़े में बतलाता हूँ। जैसे मृग-तृष्णा के जल की सत्ता सूर्य की किरणों के आश्रय है और जैसे घड़े की सत्ता पृथ्वी के आश्रय है, उसी प्रकार इस पृथ्वी की सत्ता जल के आश्रय है, जल की सत्ता अग्नि के आश्रय है, अग्नि की सत्ता वायु के आश्रय, वायु की सत्ता आकाश के आश्रय, आकाश की सत्ता माया विशिष्ट चेतन आत्मा के आश्रय है। जो पुरुष इस प्रकार चेतन आत्मा को सब सत्तों का सत् जानता है, वही रूप सत् आत्मा का ज्ञाता है, वही ब्राह्मण है। हे पुत्र! इस सत् के जानने से ही सब जाना जाता है। हमारे पूर्व कुल में जो सर्वज्ञ हुए हैं, वे इसी प्रकार विचार करके इस सत् आत्मा के जानने से सर्वज्ञ ब्राह्मण कहलाये हैं। वे संसारी मूर्खों जैसे सर्वज्ञ नहीं थे।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! संसारी सर्वज्ञ मूर्ख कौन हैं जिनके सम्बन्ध से दूसरे भी मूर्ख हो जाते हैं ?

उद्दालक--हे पुत्र ! उनमें से एक तो अज्ञानी योगाभ्यासी है, जो अज्ञान को फूँक से ... चाहते हैं। दूसरे सिद्धियों के लिये प्रयत्न करने वाले हैं। तीसरे यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र, एकादशी आदि वाले हैं। चौथे जो गंगा आदि तीर्थों में रहकर ही अपने को कृतकृत्य मान बैठे हैं। ये सब मूर्ख हो... भी अपने को सर्वज्ञ ही मानते हैं। हे पुत्र ! हमारे कुल में आजतक ऐसा मूर्ख सर्वज्ञ कोई नहीं हुआ। जो विद्वानों की दृष्टि में भी भेद दृष्टि रखने वाले हैं, वे सबके सब अल्पज्ञ हैं। वे लोग एक-एक पदार्थ में अटके हुए हैं और अपनी अपनी मूर्खता से अपने को सर्वज्ञ मानते हैं। केवल एक अ... ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही सर्वज्ञ है। जैसे बहुत गरीब थोड़े से धन को ही प्राप्त करके अपने को सम्राट ... लगता है और खुशी के मारे फूला-फूला फिरता है, उसी प्रकार ये मूर्ख अज्ञानी सिद्धि आदि तुच्छ ... को पाकर उनमें आसक्त हो रहे हैं और परिच्छिन्न अहंकार के मारे फूले-फूले फिरते हैं।

हे पुत्र ! पूर्व हमारे कुल में जिस प्रकार सर्वज्ञ हुए हैं तू उनका वृत्तान्त भी सुन। एक ... बहुत से विद्वान इकट्ठे हुए। उन्होंने सभा के बीच एक पदार्थ रक्खा और कहा कि हे विद्वानो ! जो ... में सर्वज्ञ तत्ववेत्ता ब्राह्मण होवे वह इस पदार्थ का स्वरूप कथन करे। यह सुनकर एक बुड्ढा बो... हे भाइयो ! इस पदार्थ में जो लाली दीखती है, वह तो अग्नि का गुण है और श्वेत जल का, ... पृथ्वी का है। इन तीनों के संघात से यह पदार्थ बना है। जब ये तीनों अलग-अलग हो जाते ... उस पदार्थ का अभाव हो जाता है। फिर शेष एक सत् ही रहता है। उसका कभी अभाव नहीं हो... जो यह दृश्य भाव पदार्थ है यह सब काल पाकर विनष्ट हो जाते हैं। हे पुत्र ! इस प्रकार हमारे ... सर्वज्ञ हुए हैं। अब भी जो कोई पुरुष विवेक विचार द्वारा इस प्रकार सत् को जानता है किंवा जा... इच्छा करता है, वह भी सर्वज्ञ ब्राह्मण हो जाता है। यह जो तुम को नानारूप जगत् दिखाई देते ... सब तीन तत्वों का ही पसारा है और यह तीनों तत्व आत्मा की अस्ति, भाति, प्रियता के आश्र... जब आत्मदेव उनमें से अपनी सत्ता खींच लेता है तब उनका अभाव हो जाता है और नहीं जा... कि कहाँ गए ? एक अद्वैत निरंजन आत्मा ही शेष रहता है। उसमें भाव-अभाव दोनों नहीं। हे सौम्य ! तू भी इस सर्वव्यापी सत् आत्मा को जान। इसके जानने से सब जाना जाता है। ... जानकर तुमको और कुछ नहीं जानना पड़ेगा। तुम इसके जानने से सर्वज्ञ उत्तम ब्राह्मण ... प्राप्त हो जाओगे।

श्वेतकेतु—हे पिता जी ! बाहर का तृप्त होना तो आपने कहा, परन्तु अन्दर किस प्रका... होता है और किस प्रकार इकट्ठा होता है ? यह भी कहिये।

उद्दालक—हे सौम्य ! जब यह अन्न खाया हुआ मनुष्य के अन्दर जाता है तब अग्नि ... अन्न को फिर से पकाती है। यह विचार करके कि बाहर की अग्नि का पकाया हुआ यह अन्न ... काम का नहीं है। जब हम इसको स्वयं पकावेंगे तब यह अन्न हमारे काम का होगा। जैसे हंस ... और जल को अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार जठराग्नि खाये हुए अन्न को पका कर उसके ... कर देती है। मोटा भाग विष्टा नाड़ी को दे देती है। बीच का भाग माँस की नाड़ी को और सूक्ष्म ... मन को दे देती है। हे पुत्र ! अन्न के बल से ही मन संकल्प विकल्प करता है। जैसे चंद्रमा जब सो... सम्पन्न होता है, तभी ज्यों का त्यों स्पष्ट दिखाई देता है, जब चन्द्रमा की पंचदश कला नष्ट ... हैं—तब अभाव हो जाता है अर्थात् सत्ता मात्र रह जाता है, दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार यह ...

सोलह कलाओं वाला है। जब मनुष्य एक दिन भोजन नहीं करे, तब मन की एक कला नष्ट हो जाती है। एक कला के नष्ट होते ही मन व्याकुल होने लग पड़ता है! इसी प्रकार सोलह दिन भोजन न करने से मन नष्ट हो जाता है। सोलह दिन के भोजन किये हुए अन्न के सूक्ष्म भाग का परिणाम मन है। हे पुत्र! मन अन्न का कार्य होने से अन्न का विकार है। प्राण जल का विकार है और वाणी घृत तैल का विकार है। इन वस्तुओं के सेवन न करने से ये नष्ट हो जाते हैं।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! आपने सम्पूर्ण जगत् को तीन तत्वों का विकार कहा है, इस कारण से मन, वाणी और प्राण सब में होने चाहियें। परन्तु चूहा, सुरसुरी, घुन आदि सदा अन्न काष्ठ में ही रहते हैं और उसी को खाते हैं, उनको जल, घी नहीं मिलता। इस कारण चूहे आदि में केवल मन ही होना चाहिए। पर ऐसा देखने में नहीं आता। उनमें प्राण और वाणी भी देखने में आती है।

उद्दालक—हे सौम्य! यह तीनों पदार्थ परस्पर मिले हुए हैं। अन्न में जल और घृत का भाग है, घृत में अन्न और जल का भाग है और जल में अन्न और घृत का भाग है। अन्न, जल, घृत, इनमें से किसी एक के खाने से भी तीनों खाये जाते हैं। इसी कारण इनमें से एक-एक वस्तु के खाने वाले में भी तीनों के कार्य मन, वाणी, प्राण प्रतीत होते हैं।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! जब सब जीव अन्न, जल और घृत तीनों मिला कर खाते हैं, तो शरीर के अन्दर तीनों भागों को भिन्न-भिन्न करके नाड़ियों में कौन पहुंचाता है?

उद्दालक—हे सौम्य! गौ जो घास खाती है, उसका मोटा भाग नीचे को चला जाता है, मध्यम भाग मांस हो जाता है, सूक्ष्म भाग दुग्ध हो जाता है। उसको किसने भिन्न-भिन्न किया? जिस समय माता के पास उसका बच्चा आता है, तब नाड़ियों से निकलता हुआ दुग्ध स्तनों में इकट्ठा हो जाता है। उस दुग्ध का इकट्ठा करने वाला कौन है? जैसे उस दुग्ध को जमाकर दही बनाते हैं, उसको एक मटकी में डालकर जब मथानी से मथते हैं तब दही का मोटा भाग नीचे बैठ जाता है, मध्य भाग छाछ बीच में रहती है, सूक्ष्म भाग घृत ऊपर उठ आता है। उसी प्रकार अन्न रूप दही है, शरीर रूपी मटकी है, प्राणरूपी मथानी है। जब शरीर में अन्न रूप दही पड़ता है, तब अग्नि रूपी पुरुष प्राणरूपी मथानी से मथन करके उस अन्न के तीन भाग कर देता है। उसमें से अन्न के सूक्ष्म भाग का मन बनता है, जल के सूक्ष्म भाग का प्राण और घृत के सूक्ष्म भाग की वृद्धि होती है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! यह अंश तो महासूक्ष्म हैं। मन आदि मोटे कैसे हो गये?

उद्दालक—हे सौम्य! जैसे जब तक दही का मथन नहीं होता है तब तक उसमें घृत सूक्ष्म रूप से अदृश्य रहता है। मथन करने के पश्चात् घृत ऊपर इकट्ठा होकर प्रत्यक्ष स्थूल दिखाई देता है। वैसे ही अन्न, घृत, जल का सूक्ष्म भाग ऊपर निकल कर मन, वाणी और प्राण रूप से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। जैसे अपञ्चीकृत सूक्ष्म पंचभूत प्रत्यक्ष व्यवहार के गोचर नहीं, जब यह पंचीकरण द्वारा परस्पर मिलते हैं तब प्रत्यक्ष व्यवहार के योग्य होते हैं। उसी प्रकार मन, वाणी, प्राण से जब अन्न आदि का सूक्ष्म भाग ले लिया जावे तब उनका अभाव हो जाता है। हे पुत्र! जो इस शरीर से पृथ्वी की कठोरता ले लें तो शरीर का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार जल की कोमलता, अग्नि की उष्णता, वायु की स्पर्शता और आकाश के अवकाश को ले लें तो सबका अभाव हो जाता है। हे पुत्र! ईश्वर ने इस ब्रह्माण्ड को त्रिधा किया। सात्विक सूक्ष्म भाग का स्वर्ग लोक बनाया, राजसी सूक्ष्म भाग का मनुष्य

लोक बनाया और तामसी सूक्ष्म भाग का दैत्य, सर्प आदि के निवास का स्थान पाताल लोक बनाया। पुत्र ! इसी प्रकार अग्नि के शुद्ध सूक्ष्म तीन-तीन भाग अलग-अलग करके मन, प्राण, वाणी को स्तोत है। इसी कारण से यह मन अन्न की सोलह कला रूप है। एक दिन जो अन्न के खाने से अन्न का सूक्ष्म भाग होता है, वह एक कलारूप है। इसी प्रकार सोलह दिन अन्न खाने से जो अन्न का सूक्ष्म होता है, वह सोलह कलारूप मन है। इस मन को ही लोग जीव कहते हैं। यह स्थूल शरीर अन्न के स्थूल भाग का परिणाम है और सोलह कलारूप है। जभी तो मनुष्य अन्न के मोटे भाग को खाकर सब प्र कर लेता है।

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! यह पुरुष तो आठ छटाँक ही अन्न खाता है, परन्तु इसके मन का प बड़ा भारी है। अन्न के अनुसार ही पराक्रम होना चाहिए। हाथी मन भर अन्न खाता है, उसके म पराक्रम थोड़ा देखने में आता है। यह क्यों ? मनुष्य हाथी को वश में कर लेता है। यदि अन्न का प मन होता तो हाथी बलवान होना चाहिए था और मनुष्य कम बलवान होना चाहिए था।

उद्दालक—हे पुत्र ! यह सात्विक, राजसी तथा तामसी गुणों का भेद है। हाथी का शरीर त है, मनुष्य का शरीर राजसी है। तमोगुण से रजोगुण बलवान होता है। इस कारण से मनुष्य हाथी से विवेक अधिक है। उस विवेक द्वारा ही हाथी आदि को मनुष्य वश में कर लेता है।

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! मनुष्य तो सब समान हैं, फिर इनमें भेद कैसा ?

उद्दालक—हे पुत्र ! इनमें भी सात्विक, राजसी, तामसी गुणों के कारण भेद है। गुणों करके इनका खान, पान, व्यवहार भी होता है।

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! हमको तो इस मन को सोलह कला वाला प्रत्यक्ष करके दिखा दो।

उद्दालक—हे पुत्र ! जैसे जलते हुए दीपक का तेल क्षण-क्षण में नष्ट होता जाता है। जब सब नष्ट हो जाता है तब प्रकाश का भी अभाव हो जाता है। उसी प्रकार शरीर रूपी घर में बुद्धिरूपी दीपक मन रूपी बत्ती है, तेल रूपी अन्न है, ज्ञान रूपी प्रकाश है। हे पुत्र ! जो तुम सोलह दिन अन्न न खा तो मन नष्ट हो जावेगा। यदि तुम जल न पियो तो तुम्हारे प्राण पक्षी बनकर आकाश में उड़ जावेंगे। यदि घी न खाओ तो वाणी अपना बोलना त्याग देगी। इस बात की तुम घर जाकर परीक्षा करो। पन्द्रह दिन तक अन्न न खाओ और यथारुचि जल पीते रहो। फिर सोलहवें दिन हमारे पास आना।

श्वेतकेतु—अच्छा, पिताजी। नमस्कार करता हूं और मैं घर को जाता हूँ।

घर जाकर श्वेतकेतु ने धीरे-धीरे अन्न छोड़ दिया। केवल थोड़ा-थोड़ा जल पीता रहा। पन्द्रह दिन तक अन्न न खाया तब सब व्यवहार भूल गया। चारों वेद जो कंठ थे, वह भी भूल गये। लोक-परलोक का सम्पूर्ण ज्ञान विस्मरण हो गया। मैं कौन हूं ? पिता, माता, ईश्वर किसको कहते हैं ? ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म क्या हैं ? कर्म उपासना क्या है ? ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र किसको कहते हैं ? यह सब विस्मरण हो गया। एक प्राण मात्र का ज्ञान रह गया। सोलहवें दिन अपनी खाट को उठवा पिता के पास गया और कहा कि हे पिताजी ! अब एक प्राण मात्र का ज्ञान रहा है और सब पदार्थों की स्मृति जाती रही है। अब यह प्राण भी व्याकुल है।

उद्दालक—हे सौम्य ! तुमने तो चारों वेद कंठ कर रक्खे थे। किसी वेद की एक ऋचा तो सुना।

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! मुझको कुछ भी याद नहीं है।

उद्दालक—अच्छा, हे सौम्य ! अब तुम अपने घर जाओ और धीरे-धीरे युक्ति से अन्न खाओ। सोलह दिन के पश्चात् फिर हमारे पास आना। अब तेरे प्राण निकलना चाहते हैं। जैसे प्रथम अग्नि को ग्रास के तृणों में लगाते हैं, फिर वह अग्नि काष्ठों में लगने को समर्थ होती है, उसी प्रकार प्रथम ग्रास रूपी तृण करके जठराग्नि को प्रदीप्त करो। फिर वह रोटी रूपी लकड़ियों के पचाने को समर्थ होगी, तब ज्ञान रूपी प्रकाश उदय हो आवेगा। मन सोलह कला सम्पन्न हो जायगा और सब स्मरण हो आवेगा। जैसे अग्नि में लकड़ी न डालें तो अग्नि का अभाव हो जाता है, वैसे ही अन्न न खाया जाय तो मन का भी अभाव हो जाता है।

पिता के कहने के अनुसार श्वेतकेतु घर पर आकर पन्द्रह दिन तक युक्ति पूर्वक धीरे-धीरे अन्न के ग्रासों को बढ़ाता रहा। सोलहवें दिन पूरा भोजन कर लिया। तब जाकर सब बातें याद आ गईं और फिर पिता के पास जाकर कहा कि हे पिताजी ! आपने जो कहा था कि यह मन अन्न के सूक्ष्म भाग की सोलह कलाओं का है, सो आपका कहना यथार्थ है। मन के उपासक जो मन को अविनाशी कहते हैं, बड़े ही मिथ्यावादी, विचारहीन हैं, उनको अनुभव नहीं है। यह मन अन्न की सोलह कलामय है। आपका कहना बहुत ठीक है। मैंने प्रत्यक्ष अनुभव करके देख लिया है।

उद्दालक हे सौम्य ! यह मन, प्राण, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय रूप लिङ्ग शरीर का उपलक्षण है। जब पहले सूक्ष्म, स्थूल शरीर सिद्ध हो, उस काल में परमात्मा का प्रवेश बने। परमात्मा के प्रवेश बिना यह दोनों शरीर कुछ नहीं कर सकते हैं। ध्याता-ध्यान-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, कर्ता-कर्म-क्रिया, यह सब त्रिपुटी चैतन्यदेव के प्रवेश करने से सिद्ध होती हैं। जो परमात्मा देव इन में अपना प्रतिबिम्ब न डाले तो सूखे काष्ठ की तरह यह सब सङ्घात क्रिया और ज्ञान से रहित निश्चेष्ट पड़ा रहता है। जैसे पुरुष का प्रतिबिम्ब शीशे में प्रवेश करता है, उसी प्रकार परमात्मा का प्रतिबिम्ब चिदाभास रूप जीव लिङ्ग शरीर रूपी शीशे में प्रवेश करता है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! मनुष्य तो साकार और स्थूल है, उसका प्रतिबिम्ब हो सकता है। परन्तु परमात्मा निराकार, अतिसूक्ष्म है। उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है। आप जीव को परमात्मा का प्रतिबिम्ब कैसे कहते हो ? बात समझ में बैठी नहीं।

उद्दालक—हे पुत्र ! स्थूल का ही प्रतिबिम्ब होता हो, यह नियम नहीं है। सूक्ष्म का भी प्रतिबिम्ब होता है। जैसे घट में अतिसूक्ष्म आकाश का भी प्रतिबिम्ब होता है। जैसे उसका प्रतिबिम्ब जलाकाश कहाता है, उसी प्रकार चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। जैसे घट के नाश से आकाश का नाश नहीं होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के नाश से सत्-चित-आनन्द का नाश नहीं होता है। इस कारण से, हे पुत्र ! ऐसा निश्चय कर कि सब सतों का सत् तू ही है। तू जैसी उपाधि के साथ मिला है, वैसा ही अपने को कहने लगा है। कहीं अपने को श्वेतकेतु कहता है, कहीं उद्दालक कहता है, कहीं कुछ, कहीं कुछ मान बैठा है। हे पुत्र ! तू ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति दोनों के मध्य में अनुस्यूत है अर्थात् तीनों अवस्थाओं के भाव-अभाव का अनुभवकर्ता है। हे पुत्र ! बता तूने अपने आप सत् स्वरूप को जाना है या नहीं ? देख, यह हमारे कुल में पिता, पितामह ने इसी प्रकार सर्वज्ञ सत् आत्मा को जाना था और जानकर रही शिष्यों को सत् की प्राप्ति कराकर ब्राह्मण भाव को प्राप्त हुए थे। नाम मात्र ब्राह्मण कहने से काम नहीं चलता। हे पुत्र ! ब्राह्मण शब्द बहुत ऊँचा है। ब्राह्मण कोई कदाचित् होता है। हे पुत्र ! इस आत्मा की प्राप्ति का और

कोई स्थान विशेष नहीं है कि जहाँ जाकर इसकी प्राप्ति हो। स्थूल, सूक्ष्म शरीर के सङ्घात में ही यह प… देव तथा आत्मदेव नाम से कहा जाता है और इसी जगह इसकी प्राप्ति होती है। तू भी इस स… विवेक करके इस सतदेव को खोज कर इस अहंभाव को नष्ट करके शान्त आत्मा हो।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! आप सुपुप्ति में इस जीव को सत् स्वरूप कहते हो, परन्तु सूक्ष्… विना इस जीव का सत् से अभेद होना नहीं बनता है। जैसे घट के अभाव विना घटाकाश को म… नहीं कह सकते, उसी प्रकार लिङ्ग शरीर के अभाव विना जीव को सत्-स्वरूप नहीं कह सकते।

उद्दालक—हे पुत्र! जैसे किसी पुरुष को तलवार आदिक का भारी घाव लगा हो, अ… अति व्याकुल हो, तब उसको घोर निद्रा आती है। उस काल में जाग्रत का सब क्लेश भूल ज… क्योंकि वह पुरुष उस सुपुप्ति अवस्था में आनन्द को प्राप्त होता है। उस काल में विशेष सुख-दुःख … नहीं रहता है। एक सत् परमानन्द स्वरूप मात्र रह जाता है। फिर जब जीव परमानन्द से नि… जाग्रत में आकर शरीर के साथ तादात्म्य-अध्यास करता है तो फिर हाय देव! हाय देव! पुका… वैसे ही यह जीव जाग्रत, स्वप्न की उपाधि को छोड़ कर जब सुपुप्ति में जाता है, तब परमानन्द … होता है। स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों का त्यागना ही परमानन्द की प्राप्ति है और इसी का नाम सु… गुरुओं ने विक्षेप के त्यागने को ही सुख कहा है और विक्षेप के प्राप्त होने को ही दुःख नाम दिया … काँच के शीशे में जल होता है। धूप में रखने से शीशे का जल भी तप जाता है और उस शीशे … जल में रखने से शीशे का जल भी ठंडा हो जाता है। उसी शीशे को फिर धूप में रखने से शीशे … गरम और ठंडे जल में रखने से ठंडा हो जाता है। वैसे ही लिंग शरीर रूपी शीशा है। उस में चि… रूपी जीव जल है। जाग्रत, स्वप्न रूपी धूप है, सुपुप्ति रूपी शीतल नदी है। जब बुद्धि रूपी शीशा … स्वप्न रूपी धूप में आता है तब तपता है और इसके तपने से जीव बड़े कष्ट को प्राप्त होता है। … प्रकार के कष्टों का अनुभव करके यह जीव जब सुपुप्ति में जाता है, तब शान्त होता है और जाग्र… कर फिर तपने लगता है।

जैसे कांच के शीशे के फूट जाने से जल में जल मिल जाता है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता गुरु के … महावाक्य के सुनने से विचार द्वारा जाग्रत-स्वप्न को असत् जानकर जब लिंग शरीररूपी शीशे … डालता है, तब जीव चैतन्य ब्रह्म में मिल जाता है और जल की नाईं भेद रहित स्थित होता है। … प्रारब्ध कर्म, उसको भी मिथ्या जान कर असंग हुआ भोगता है और आनन्द में मग्न हुआ कि… के आगे दीन नहीं होता। सब उसी के आगे दीन होते हैं। हे सौम्य! जिस पुरुष ने महावा… विचार तो किया, परन्तु उपाधि का त्याग नहीं किया, उसको कामना बारम्बार कर्म में फिर जो… और अनेक योनियों में भ्रमाती है। परमानन्द स्वरूप आत्मसुख का अनुभव नहीं होने देती। … खींच ले जाती है।

जैसे थका हुआ पल्लेदार वृक्ष की छाया में बैठता है, तब थोड़ा सा विश्राम मिलता है। … मन, बुद्धि, इन्द्रियां मिलकर जाग्रत स्वप्न रूपी उपाधि की प्रपंचमय गठरी को उठा रही हैं। ये … दौड़ते-दौड़ते जब थक जाती हैं, तब प्रपंच रूपी गठरी को डालकर छाया रूपी सुपुप्ति में विश्राम क… जैसे गठरी उठाने का संकल्प पल्लेदार से फिर गठरी उठवाता है, वैसे ही कामनाओं का संकल्प … को सुपुप्ति से निकाल लाता है और प्रपंच रूपी भार को फिर इसके सिर पर धर देता है। हे सौ…

जीव कामनाओं से प्रेरित हुआ दौड़ता फिरता है। इस प्राणी के सुख का कारण विशेष करके कामनाओं का त्याग ही है और कामनाओं के त्याग का नाम ही जीवन्मुक्ति है। कामना करना ही जीवभाव है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! आपने जीव को उपाधि से रहित निर्विकार कहा है। जैसे परब्रह्म निर्विकार है उसी प्रकार जीव भी निर्विकार है। इस कारण से जीव परब्रह्म है। तब इसमें विकारों का होना असंभव होवेगा और जब विकार असम्भव हुए तो इस निर्विकार जीव का आना-जाना, सुखी और दुःखी होना न बनेगा। सुषुप्ति में जाकर यह कैसे सुख को भोगता है? उस सुख से इसको कौन प्रथक करता है? यह कृपा करके फिर स्पष्ट कहिये। इसमें मुझको अनेक संशय उत्पन्न होते हैं।

उद्दालक—हे सौम्य! जिसको सत् परब्रह्म सुषुप्ति में कहा है, वह यह जीव ही है। जब यह जीव जाग्रत की उपाधि को त्याग कर सुषुप्ति में जाता है तब सत्‌रूप हो जाता है, फिर वहाँ से लौट कर नहीं आता। और जो उपाधि का त्याग करके नहीं जाता, उपाधि को अपने साथ ले जाता है, तो वह उपाधि ही उसको सुषुप्ति से निकाल लाती है। भला क्यों? क्योंकि वह अपने शत्रु को आप ही संग ले गया था। प्रपंच की कामना ही इसको सुषुप्ति में विश्राम नहीं करने देती। हे सौम्य! इस कामना को ब्रह्मवेत्ताओं ने पक्षी के दृष्टान्त द्वारा उपदेश किया है जैसे शिकरे पक्षी के पंजे में धागा बांध कर हाथ पर बिठाते हैं। जब पक्षी उड़ कर कहीं को जाना चाहता है, तब वह धागा उसको जाने नहीं देता। लाचार होकर जहाँ का तहाँ बैठ जाता है। जब वह पक्षी उछल-उछल कर थक जाता है, तब उसके सिर पर टोपी पहना देते हैं। तब शान्ति से बैठ जाता है। उसी प्रकार जीव रूपी पक्षी है, प्राज्ञरूपी हाथ है, प्राणरूपी धागा है, इच्छारूपी सात्विक, राजसी, तामसी अनेक कामना हैं, प्रारब्ध रूपी पुरुष है। जब इस पुरुष को नाना कामनायें चैन नहीं लेने देतीं अर्थात् उकसाती हैं, तब यह जीव दौड़ते-दौड़ते थक जाता है। फिर उकता कर सुषुप्ति रूपी हाथ पर बैठ जाता है और प्रारब्ध रूपी पुरुष आनन्द रूपी टोपी पहना देता है, तब शांति को प्राप्त होता है और सुखी होता है।

जैसे टोपी उतार लेने से शिकरा फिर उड़ने की इच्छा करता है, वैसे ही जब प्रारब्ध रूपी पुरुष आनन्द रूपी टोपी को उतार लेता है, तब इस जीव को फिर नाना कामना उठती हैं। उनका मारा जाग्रत-स्वप्न में जहाँ-तहाँ दौड़ता, भटकता फिरता है। इसी कारण से जीव भाव को प्राप्त हुआ है। कामनाओं के मारे शान्त नहीं होता है। जब राग-द्वेष रूपी उपाधि को त्याग करके अर्थात् आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या जान कर सुषुप्ति में जाता है, तब वहां से फिर लौट कर नहीं आता है। जिस सत्-चित्-आनन्द के मिलने की इच्छा थी, उसको प्राप्त होता है। हे सौम्य! जो उपाधि का त्याग करे तो तू ही सत् है। उपाधि के सम्बन्ध से तू अपने को श्वेतकेतु मानता है, पंडित-विद्वान् जानता है, कभी कुलीनपने का अभिमान करता है। परन्तु तू वास्तव में इन में से एक भी नहीं है। हे सौम्य! जैसे सुषुप्ति द्वारा सत् की प्राप्ति होती है, वैसे ही अशना-पिपासा द्वारा भी सत् की प्राप्ति होती है।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! अशना-पिपासा द्वारा सत् की प्राप्ति कैसे होती है? इसको भी समझाइये।

उद्दालक—हे सौम्य! जब पुरुष को बहुत भूख लगती है तब उस क्षुधा से इस प्रकार सत् का बोध होता है। भूख के समय जब अन्न खाया जाता है तब वह अन्न पित्ताशय में जाता है और जठराग्नि उसको फिर से पकाती है। पीछे से प्यास लगती है। तब जल पिया जाता है। जब अन्न में जल मिला

तब अग्नि अन्न की गाठों को तोड़-फोड़ देती है। स्थूल-सूक्ष्म भागों को भिन्न-भिन्न करती है और इन्द्रियों और नाड़ियों को अपना-अपना भाग पहुँचा देती हैं।

इसी प्रकार फिर भूख लगती है। इससे अग्नि का ज्ञान होने लगता है। अग्नि के बोध से का और शरीर से इन्द्रियों का ज्ञान होता है। इन्द्रियों से अन्न का ज्ञान होता है। अन्न से प्राण वाणी आदि सत्तरह (१७) तत्वमय लिंग शरीर का ज्ञान होता है। लिंग शरीर से सर्व ब्रह्माण्ड का होता है। इससे यह जाना गया कि अन्न के विना किसी की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार अन्न से शरीर द्वारा सत् का बोध होता है। जब इस लिंग शरीर में सत का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब उसको जीव लगते हैं। जैसे अन्न सर्व संसार को जानता है वैसे ही यह जीव रूपी प्रतिबिम्ब सत् का ज्ञान करा हे पुत्र! सो सत् तू ही है। जैसे भूख अग्नि का ज्ञान कराती है, वैसे ही जीव सत्त का ज्ञान करा यह शरीर अकारण न जानो, पर इसके नाम रूप का अहंकार भी न करो। शरीर का कारण अन्न ही है। अन्न का कारण जल है, जल का कारण अग्नि है, अग्नि का कारण सत् है। जो कोई इस प्रकार परम्परा करके सत् को जानता है वही सत् हो जाता है। इस प्रकार क्षुधा-पिपासा से ज्ञान हो जाता है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! यह सब स्थूल, सूक्ष्म रूप नाना प्रकार के नाम रूपमय जगत् किसके सहारे हैं ?

उद्दालक—हे पुत्र! यह नाम रूप अकारण नहीं है। इनका कारण सत् है। जैसे खरगोश के सींग, आकाश के फूल नाम मात्र हैं और सीपी में चांदी देखने मात्र सत् जान पड़ती है, वैसे ही इस का नाम रूप देखने-सुनने मात्र है। इस नाम रूप का कारण यह मन है। जैसे वृक्ष का कारण बीज वैसे ही यह जगत् मन से होता है, मन में स्थित है और मन में ही लय हो जाता है। मन का अविद्या है जो न तो असत् कही जाती है, न सत्, न सत्-असत् दोनों प्रकार से कही जा सकती है न भिन्न कही जा सकती है, न अभिन्न, न भिन्न-अभिन्न दोनों कही जा सकती है। न निरावेव कही जा सकती है, न सावेव कही जा सकती है, न दोनों मिलकर कही जा सकती है। इन नवयुक्तियों को सहार सकती। इस कारण से इसको अनिर्वचनीय कहा है। हे पुत्र! यह नाम रूप भी परम्परा करके का ही बोध कराते हैं। जैसे वायु आकाश से उत्पन्न होती है, आकाश में स्थित रहती है और फिर में लीन हो जाती है। उसी प्रकार अविद्या और नाम रूपमय प्रपञ्च सब का सब सत् से ही प्रादुर्भाव है, उसमें ही स्थित रहता है और फिर सत् में ही लय भाव को प्राप्त हो जाता है। हे पुत्र! अविद्या जगत् के आदि, मध्य और अन्त में एक सत् ही अनुस्यूत है। तू उसी को प्राप्त हो। जो इस प्रकार चिन्तन द्वारा भी सत् को प्राप्त हुआ है वही सम्प्रसाद को भी प्राप्त हो जाता है।

सत् की प्राप्ति के और भी अनेक साधन हैं—जिस प्रकार शिष्य समझे उसी प्रकार गुरु को समझाना चाहिए। हे सौम्य! यह जो नाम रूपमय ब्रह्माण्ड है, सो जिस सत् से प्रगट हुआ है उसी भाव को प्राप्त हो जाता है। तुम भी उस सत् को प्राप्त होओ। यह नाम रूप मन, बुद्धि आदिक का है। जिसका जैसा धर्म है सो उसको ही प्राप्त होता है। जिस पुरुष ने ऐसा विचार किया है कि यह बुद्धि, नाम, रूप, सब मुझ आत्म देव की सत्ता के आश्रय सत् हो रहे हैं और मेरी सत्ता में ही यह

हैं और मुक्त आत्मा में लीन हो जाते हैं, इस कारण से इन सबका सत् आत्मा मैं हूं, जो पुरुष इस प्रकार विचार करके सब उपाधियों को त्याग करजाता है, वह गया हुआ फिर से जन्म नहीं लेता।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! अच्छा, मैं सत् आत्मा हूं। परन्तु इस में एक शंका है। आप अज्ञानी को सुषुप्ति में विज्ञानघन रूप कहते हो तो प्राज्ञ को अपने स्वरूप का ऐसा विवेक सुषुप्ति अवस्था में क्यों नहीं होता कि मैं विक्षेप से रहित होकर अब सत्स्वरूप आत्मा को प्राप्त हुआ हूं तथा जाग कर क्यों नहीं कहता कि मैं ही सत्स्वरूप हूं। जाग्रत स्वप्न की तो सब बातें कह देता है, सुषुप्ति की क्यों नहीं कहता? हे पिताजी! इस शंका का समाधान दृष्टान्त द्वारा कीजिये।

उद्दालक—हे सौम्य! जैसे मधु की मक्खियाँ नाना वृक्षों से रस ला-ला कर एक जगह इकट्ठा करती हैं और वह रस खट्टे, मीठे, कड़वे नाना प्रकार के होते हैं। परन्तु उनको यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन-से वृक्ष का रस हूं। सबकी एक समान अवस्था हो जाती है, किसी को विशेषता का ज्ञान नहीं रहता। उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिंह, चींटी, सब जीव सुषुप्ति में समान अवस्था को प्राप्त होते हैं। यह विशेष ज्ञान किसी को नहीं रहता है कि मैं श्वेतकेतु हूँ, मैं उद्दालक हूँ। ब्रह्मा को भी सुषुप्ति में अपना ब्रह्मभाव विस्मरण हो जाता है। सब अपने आप सत्-स्वरूप में समान अवस्था को प्राप्त होते हैं। जैसे मक्खी में यह शक्ति है कि जब उसने वृक्ष का रस अपने मुख में लिया तब ही वह मधु बन गया, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ से लेकर चींटी पर्यन्त सब सुषुप्ति में जाते ही सत्स्वरूप हो जाते हैं। अपनी-अपनी विशेषता का ज्ञान किसी को नहीं रहता है कि मैं ब्राह्मण हूं, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, देवता, म्लेच्छ आदिक हूं। सब-के-सब सत् स्वरूप हो जाते हैं।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! वृक्षों का रस तो जड़ है, उसको ज्ञान न हो। परन्तु जीव तो चेतन है। उनको तो जाग्रत, स्वप्न की नाईं सुषुप्ति का वृतान्त कहना बनता है कि मेरा सुषुप्ति में जो स्वरूप था सोई अब जाग्रत अवस्था में है। जैसे कोई पुरुष कहीं को जाता है, उसके मार्ग में जो-जो ग्राम पड़ते हैं सो सब घर आकर कहता है। उसी प्रकार यह पुरुष जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीनों देशों में प्रतिदिन जाते-आते हैं। दो देशों की बात तो करते हैं, परन्तु तीसरे देश की बात क्यों नहीं करते?

उद्दालक—हे सौम्य! तीसरी वस्तु का जानना सामान्य जीवों को दुर्लभ है। कोई विरला पुण्यशाली ही जानता है। इस कारण से विद्वानों के सिवाय और कोई इस तीसरे देश की चर्चा नहीं करता। जैसे जाग्रत, स्वप्न में मन-बुद्धि आदिक ज्ञान की सामग्री है, तिस पर भी इन सामान्य जीवों को सत् का ज्ञान नहीं होता है। तो सुषुप्ति में, जहाँ कि मन-बुद्धि आदिक ज्ञान की सामग्री लीन हो जाती हैं, वहाँ उनको सत् का ज्ञान भला कैसे होवे? नहीं हो सकता। हे शिष्य! सुषुप्ति काल में एक विज्ञान-घन ही शेष रहता है, फिर वहाँ विशेष ज्ञान कैसे हो? हे सौम्य! जिस पुरुष ने जाग्रत अवस्था में सावधान होकर सत्-असत् का विवेक करके विचार किया है कि यह सत् है और यह असत् है। अपने आप प्रत्यग् को सत् जाना है और सम्पूर्ण जगत् को अपने में कल्पित मिथ्या जाना है। ग्रहण और त्याग को अपने आधीन जाना है, सो सुषुप्ति में गया हुआ फिर नहीं लौटता है।

जो अविवेकी विचारहीन प्रपञ्च रूपी भ्रम को अपने साथ ले जाता है, सो समुद्र की लहर की नाईं फेंका जाता है और पशु की तरह खींचा जाता है। कोई अहंकार से अपने को ब्राह्मण कहता है, कोई क्षत्री,

कोई वैश्य, शूद्र आदि का अभिमान उठाता है। परन्तु यह खबर किसी को नहीं है कि हम कहाँ से आ और कहाँ जायेंगे ? जड़ जीव नहीं जानता कि मेरा असली स्वरूप क्या है और क्या करता हूं ? इसका क्या होगा ? हे सौम्य ! जब सत् की गम्भीरता और जीव की मूर्खता को देखें तब बड़ा भेद प्रतीत है। इन जीवों को भी प्रारब्ध रूपी सूर्य नदियों की तरह भ्रमा कर सुषुप्ति रूपी सत समुद्र में पहुँचा देता वहाँ जाकर इनको यह याद नहीं रहती कि हम जाग्रत, स्वप्न में ब्राह्मण, क्षत्री, ईश्वर, देवता आदि थे और अब अपने सत स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! समुद्र और नदियाँ तो जड़ हैं, जड़ को ज्ञान नहीं होता। परन्तु ये तो चेतन ज्ञान स्वरूप हैं, ये अपने सत्स्वरूप को क्यों नहीं जानते ?

उद्दालक—हे सौम्य ! वह सुषुप्ति समुद्र की तरह निर्विकार है। जब यह जीव वहाँ उपाधि होकर जाता है, तब सत् स्वरूप हो जाता है और जब फिर विशेष में आता है तब विशेष का अनुभव है और निर्विशेष का ज्ञान जाता रहता है। इस कारण से साधारण अज्ञानी जीवों को विशेष का स्वरूप में नहीं होता और सत् स्वरूप का ज्ञान विशेष में नहीं होता है। जिस मनुष्य को इस सत स्वरूप का ज्ञान होता है वह ही प्राणी मोक्ष को प्राप्त होते हैं। सत् में गया हुआ फिर नहीं क्योंकि विशेष की नाना उपाधियों को त्याग कर जाता है। हे सौम्य ! उपाधि से रहित तू है 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! ब्रह्मा की प्रलय में तो सब प्राणियों का अभाव हो जाता है। पश्चात् क्या नवीन जीव उत्पन्न होते हैं ?

उद्दालक—हे पुत्र ! नहीं। जो ब्रह्मा की प्रलय में लीन होते हैं, वह ही उत्पन्न होते हैं। न होता तो नवीन सृष्टि में किसी को अग्निहोत्र का ज्ञान प्रत्यक्ष तो होता नहीं है, तथापि सृष्टि में ही अग्निहोत्र आदिक करने लग जाते हैं। न उनको किसी स्वर्ग-नर्क, पाप-पुण्य आदिक का हुआ है, परन्तु तो भी आदि से ही जानने लग जाते हैं। स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यज्ञ, होम, तप करते हैं। जो नवीन उत्पन्न होते तो ऐसा करना नहीं बन सकता था। यह सूर्य, चन्द्रमा आदि अपने भ्रमण रूप व्यवहार का यदि पहले न अनुभव कर आये होते तो इनका भ्रमण कैसे सिद्ध हो सब संसार का कार्य कैसे करते ? पृथ्वी, जल, अग्नि, देवता, ईश्वर, जीव, बिजली, नक्षत्र, पशु आदिकों का व्यवहार कैसे सिद्ध होता ? अर्थात् नहीं होता।

श्वेतकेतु—हे पिताजी ! परमात्मा किम्वा आत्मा महा सूक्ष्म निराकार है। उससे इतना बड़ा कैसे उत्पन्न हो सकता है ? महा सूक्ष्म से महा स्थूल वस्तु का उत्पन्न होना तो मुझको असम्भव प्रतीत होता है। नाम रूप रहित से नाम रूप का होना भी नहीं बनता है। इस शंका को कृपा कीजिये। क्योंकि आप सत् स्वरूप हैं, जो कहोगे सो सत्य कहोगे।

उद्दालक—हे सौम्य ! सो सत् ब्रह्म हम तुमको दिखादें कि सुना दें।

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! जो दिखा दो तो बहुत ही अच्छा है।

उद्दालक—अच्छा, तो हे पुत्र ! सावधान हो। प्रथम तुमको एक दृष्टान्त द्वारा अनुभव करा पीछे दिखा देंगे। हे पुत्र ! यह जो हमारे आश्रम में वड़ का वृक्ष है, इसका एक फल ले आ उसको तोड़ कर दो टुकड़े करो। हे पुत्र ! अब इसमें तुम क्या देखते हो ?

श्वेतकेतु—हे पिताजी! इसमें बहुत-से छोटे-छोटे बीज दिखाई देते हैं।

उद्दालक—अच्छा, इनमें से एक बीज को फोड़ो और देखो कि अब इसमें क्या दिखाई देता है?

श्वेतकेतु—हे पिताजी! दो कपाल और उन दो कपालों के अन्दर सूक्ष्म अरूप अंश दिखाई देता है।

उद्दालक—हे पुत्र! इस अरूप अंश से ही इस वृक्ष का विस्तार हुआ है। यह अंश तो इतना सूक्ष्म और वृक्ष इतना स्थूल है। हे पुत्र! इसी प्रकार यह विराट् रूपी वृक्ष है और नाना पुरुष, देवता, फल हैं। उन में नाड़ी रूपी अनन्त सूक्ष्म अणु हैं। उन अनन्त सूक्ष्म नाड़ियों के एक-एक के दो-दो कपाल हैं। उन दोनों कपालों में अनन्त सूक्ष्म अंश हैं। उन सूक्ष्म अंशों से यह नाम-रूप-मय प्रसिद्ध जीव उत्पन्न हुए हैं। देखो अरूप से रूप और सूक्ष्म से स्थूल हुए या नहीं? हे पुत्र! वह सत्ता महान् सूक्ष्म निराकार थी। उससे यह सम्पूर्ण स्थूल साकार ब्रह्मांड उत्पन्न हुआ है।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! जिससे यह स्थूल जगत उत्पन्न हुआ है वह हमको तो नहीं दिखाई देता है।

उद्दालक—हे पुत्र! वह सत् अरूप है। उसमें तुम श्रद्धा करो तब दिखाई देगा।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! कोई वस्तु देखने में आवे तब तो उसमें श्रद्धा भी होती है। भला उस अदृश्य में कैसे विश्वास तथा श्रद्धा करूँ?

उद्दालक—हे पुत्र! तुमने लोगों के यह मिथ्या वचन कैसे निश्चय कर लिये हैं, जो केवल कथन मात्र हैं और अर्थ से रहित हैं। जो वाक्य हमने तुमको श्रुति-स्मृति के अनुसार युक्ति पूर्वक कहे हैं, उनको तुम नहीं मानते हो। यह तो बताओ कि अग्निहोत्री इस तरह स्वर्ग को जाते हैं, यह तुमने कैसे मान लिया? और इस प्रकार लौट कर आते हैं, यह क्या तुमने देखा है? क्या कोई आता जाता-प्रत्यक्ष देखा था? कभी नर्क-स्वर्ग देखा है? कभी पाप-पुण्य दिखाई दिया है? बिना देखे पापी-पुण्यात्मापने का निश्चय कैसे कर लेता है? अथवा जो तेरे से कोई आकर कहे कि तेरे कुटुम्ब में अमुक मनुष्य के पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसको तुम बिना देखे कैसे मान लेते हो? इस प्रकार की बहुत-सी बातें तुमने मानी हैं और नित्य मानते हो।

यह सब तुमने सहज ही आँख मींचकर मान ली हैं और जिस वस्तु को वेद भगवान पुकार-पुकार कर युक्ति और दृष्टान्त सहित कहते हैं और गुरु लोग युक्तिपूर्वक अपने शिष्यों को साक्षात् अपने स्वस्व-रूप का अनुभव करा देते हैं, हे पुत्र! सोई वचन हमने तुम से कहे हैं। उनको तुम क्यों नहीं मानते हो? जब तक तुमको हमारे वचनों में श्रद्धा न होगी तब तक तुमको परमानन्द की प्राप्ति कदापि न होगी। हे पुत्र! यह जो तुमने कहा है कि देखे बिना यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, इसका उत्तर सुनो। मन के एकाग्र होने से ही गुरु-वाक्य में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा शास्त्र के अनुसार निष्काम शुभ कर्म करने से मन को कुछ-कुछ आराम मिलने लगता है। जब मन को कुछ शान्ति मिली तो सच्चे गुरु की खोज होने लगती है।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! इस में श्रद्धा की क्या अपेक्षा है? यह सब जानते हैं और कहते भी हैं कि यह संसार आत्मा से उत्पन्न होता है और सुषुप्ति में आकर आत्मा में ही लीन हो जाता है और स्वप्न अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सब जीव अपने अन्दर साक्षात् नित्य देखते हैं। बस आत्मा ही आत्मा है। संसार उत्पत्ति और नाश वाला है।

उद्दालक—हे पुत्र! इस प्रकार ज्ञान से आत्म ज्ञान नहीं होता है। जो इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता तो यह सब जीव मोक्ष हो जाने चाहियें। परन्तु यह तो जन्म-मरण के काटते फिरते हैं। जिसको सत् के जानने की तीव्र इच्छा होती है तथा विवेक-वैराग्य आदि से युक्त है, उसको गुरु का कहा हुआ एक वार का ही वाक्य सूर्य की नाईं प्रकाश कर देता है। हे पुत्र! वह है 'तत्वमसि' 'सो तू है'। यह महावाक्य है। जब ब्रह्मवेत्ता गुरु इस वाक्य का अधिकारी को श्रवण है तब यह वाक्य उस अधिकारी के हृदय में अनन्त गुणा होकर फैल जाता है और उसको प्राप्ति करा देता है। हे पुत्र! श्रद्धाहीन मनुष्य सदा वेदान्त ग्रन्थों का आप विचार भी करता रहे, उसको बोध नहीं होता है। चाहे उसको साक्षात् ब्रह्मा भी उपदेश करें तो भी शान्त नहीं होता। सब पुरुषार्थ निष्फल जाता है। हे पुत्र! जो तुम इस सत् को प्राप्त होना चाहते हो तो श्रद्धा करो। सिवाय श्रद्धा के और कुछ कर्तव्य नहीं है। हे पुत्र! श्रद्धा विना अर्थ और परमार्थ दोनें नहीं होते हैं। इसलिये तुम दृढ़ श्रद्धा करो।

श्वेतकेतु—हे पिताजी! बहुत अच्छा, मैं श्रद्धा सम्पादन करूँगा। हे पिता जी! मुझे शंका है कि आपने जिस प्रकार बड़ के बीज से वट का वृक्ष होता है उसी प्रकार ब्रह्म से इस नाम रूप ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति कही है। दृष्टान्त—जैसे मिट्टी से घट उत्पन्न होते हैं, जैसे सोने से भूषण उत्पन्न हैं। यह कारण और कार्य दोनों सबको प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। तैसे ही सत् का कार्य नाम रूप जगत् प्रत्यक्ष दिखाई देता है, परन्तु इसका कारण सत् क्यों नहीं दीखता है?

उद्दालक—हे सौम्य! अब हम इस सत् को घड़े की नाईं प्रत्यक्ष दिखाये देते हैं, वरन् घट और पास में दिखाये देते हैं और पास में भी कैसा? कि विद्यमान हुआ भी पकड़ा नहीं जावे। सावधान होकर सुन। दृष्टान्त—हे पुत्र! जैसे सुख-दुःख दोनों पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, परन्तु पकड़े नहीं जाते हैं। वैसे ही वह सत् परमात्मा भी प्रत्यक्ष विद्यमान हुआ भी न तो दीखेगा और न हाथ से ही पकड़ा जावेगा। अच्छा, हे सौम्य! एक जल का घड़ा भर लाओ और सेंधा नमक का एक डला ले आओ। इन दोनों का नाम रूप भी तुमको ज्ञात है। सेंधा इसका नाम है और सफ़ेद तथा कठोर इसका रूप है। हे पुत्र! इस नमक के डले को घड़े में रखदो। कल के दिन नमक ही तुमको गुरु की तरह उपदेश करेगा। अब तुम इस घड़े को घर ले जाओ और सावधान होकर रात्रि में इसकी देख-भाल रखना। कोई इसके पास न आने पावे। कल प्रातः काल इसे उठाकर हमारे पास लाना।

यह सुन कर श्वेतकेतु ने मन में विचार किया कि पिता ने इस नमक के डले में कोई जादू दिया है। उस जादू के द्वारा यह नमक का डला कलको मुझे गुरु की नाईं उपदेश करेगा। फिर दूसरे दिन श्वेतुकेतु उस घड़े को पिता के पास ले गया और कहा कि लो पिता जी।

उद्दालक—अच्छा, हे सौम्य! कल जो तुमने नमक का डला घड़े में रक्खा था, वह निकालो।

श्वेतकेतु ने घड़े में हाथ डाल कर देखा तो नमक का डला न मिला। चारों तरफ़ हाथ फेर और टटोल कर कहा कि हे पिता जी! वह नमक का डला घड़े में नहीं है।

उद्दालक—अच्छा, हे पुत्र! घड़े के चारों तरफ़ इधर-उधर तो देखो, कहीं छुप गया होगा।

श्वेतकेतु—खूब देख लिया, कहीं नहीं है।

उद्दालक—हे पुत्र! रात्रि में किसी ने निकाल तो नहीं लिया।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! रात्रि भर इसके पास मैंने किसी को नहीं आने दिया। मैं रात्रि-भर इसके पास जागता रहा हूँ।

उद्दालक—हे पुत्र! जो नमक का डला तुमने इसमें रक्खा था, वह इसी में विद्यमान है, कहीं गया नहीं।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! मुझको तो नहीं दीखता है। मैं कैसे जानूँ कि इसमें है।

उद्दालक—हे सौम्य! पूर्व में वह डला नाम-रूप में स्थित था। अब नाम-रूप का अभाव करके स्थित है।

श्वेतकेतु—हे प्रभो! मैं कैसे जानूँ?

उद्दालक—हे पुत्र! घड़े में से एक बूँद जल की लेकर चखो। क्या है?

श्वेतकेतु—हे पिता जी! इस में नमक का स्वाद आता है।

उद्दालक—अच्छा, हे पुत्र! घड़े के बीच में से एक बूँद लेकर चखो। क्या है?

श्वेतकेतु—हे पिता जी! नमक है।

उद्दालक- हे पुत्र! इस घड़े के नीचे से भी एक बूँद लेकर चखो। क्या है?

श्वेतकेतु—हे पिता जी! नमक ही है।

उद्दालक—हे पुत्र! तुमने इस घड़े के आदि, अन्त, मध्य में जो एक नमक जाना है, सो वही नमक है जो तुमने नाम-रूप में स्थित देखा था। अब वही नमक नाम-रूप का अभाव करके स्थित है, परन्तु आँखों से देखा नहीं जाता है और न हाथों से पकड़ा जाता है। एक जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार वह सत् परमात्मा भी न तो इन्द्रियों से पकड़ा जाता है और न आँखों से देखा जाता है। एक बुद्धि से अनुभव किया जाता है। हे सौम्य! शरीर रूपी घट है, बुद्धि रूपी जल है, नमक रूपी चैतन्य आत्मा है। इस चैतन्य आत्मा को घट के आदि की तरह सुषुप्ति में देखो, घट के मध्य की तरह स्वप्न में देखो, घट के अन्त की तरह जाग्रत अवस्था में देखो।

श्वेतकेतु—हे पिता जी! इस युक्ति से तो मैंने चैतन्य आत्मा का अनुभव कर लिया है, परन्तु आँख से तो नहीं देखा और न हाथ से पकड़ा है। आपने तो यह कहा था कि हम तुम्हें सत् दिखा कर पकड़ा देंगे, सो दिखाकर पकड़ा दीजिये।

उद्दालक—हे पुत्र! इसमें से एक बूँद जल की लेकर जरा आँख में तो लगाओ और बताओ कि कैसा लगता है?

श्वेतकेतु—हे पिता जी! चिरचिरा लगता है।

उद्दालक—हे पुत्र! एक बूँद खाल फाटकर त्वचा में तो लगाओ और बताओ कि कैसा लगता है?

श्वेतकेतु—हे भगवन्! त्वचा में भी चिरचिराहट होती है।

उद्दालक—हे पुत्र! एक बूँद मुँह में तो रक्खो, क्या है?

श्वेतकेतु—हे पिता जी ! नमक का स्वाद है।

उद्दालक—हे पुत्र ! वही नमक का डला सामान्य रूप होने से किसी को दिखाई नहीं दे परन्तु आँख में लगने से दिखाई देता है। इस प्रकार वह नमक का डला नहीं भी देखा और देखा गया। स्पर्श नहीं भी किया गया और किया भी गया। वैसे ही वह सत् परमात्मा भी राग-द्वेष, क्रोध, लोभ-मोह, कर्त्ता-भोक्ता दिखाई देता है जो सब पदार्थों को स्पर्श करता है, जो सब पदार्थ अनुभव करता है, वही सत् आत्मा है। सो सत् आत्मा राग-द्वेष द्वारा देखा भी गया, स्पर्श द्वारा भी किया गया और अनुभव द्वारा अपने आप जाना भी गया। हे सौम्य ! और भी सुनो। विराट घड़ा है, हिरण्यगर्भ रूपी जल है, नमक रूपी सच्चिदानन्द है। उसको सूक्ष्म से सूक्ष्म इसलिए कहा है स्थूल बुद्धि वालों को वेदान्त शास्त्र और ब्रह्मवेत्ता गुरु की कृपा के बिना, अत्यन्त विचार और प्रयत्न पर भी वह प्रतीत नहीं होता, सो सच्चिदानन्द तू ही है। "तत्वमसि"।

श्वेतकेतु—हे पिता जी ! अभी तक तो सत् परमात्मा मेरी दृष्टि में तो आया नहीं। मैं इस को प्रत्यक्ष रूप से किस प्रकार देखूँ ?

उद्दालक—हे पुत्र ! वह परमात्मा आत्मा रूपी नमक की तरह अपने आप प्रत्यग् स्वरूप अपने आप से भिन्न कैसे देख सकते हो ? अर्थात् नहीं देख सकते हो। वह सत् आत्मा घड़ा आदि की तरह अपने से भिन्न नहीं है। जो भिन्न होता तो भिन्न दिखाई देता। जैसे नमक का सूक्ष्म भाग आँख से देखा नहीं जाता है कि कहाँ है ? एक जिह्वा द्वारा अनुभव किया जाता है, उसी प्रकार वह सच्चिदानन्द आत्मा इन्द्रियों से न तो तुम देख सकते हो और न पकड़ ही सकते हो। केवल बुद्धि के द्वारा अनुभव कर सकते हो।

शिष्य—हे गुरु ! क्या श्वेतकेतु पूर्व सत् आत्मा को जानता था जो बार-बार पिता से पूछता अथवा किसी आचार्य ने उसको कहा था कि सत् ऐसा होता है। श्वेतकेतु ने उस सत् के जानने में लाभ देखा है जो बारम्बार पिता से खोज-खोज कर पूछता है ?

गुरु—हे शिष्य ! श्वेतकेतु पूर्व ही वेदों द्वारा परोक्ष रूप से सत् को जानता था कि सत् है नाम-रूप मिथ्या है। सत् से इतर जो कुछ है, सब असत् कहने मात्र है। सब कारणों का कारण है क्योंकि ऐसा श्वेतकेतु ने पूर्व आचार्यों से वेद में पढ़ा था, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया था कि सत् मैं हूँ। इसीलिये श्वेतकेतु पिता से बारम्बार पूछता था और पिता भी श्वेतकेतु को बारम्बार तत्त्व 'तत्वमसि' अर्थात् 'सो सत् तू ही है, तू ही है' ऐसे उपदेश करता था।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! अच्छा, सो सत् मैं ही हूँ, परन्तु इसको मैं कैसे जानूँ ?

उद्दालक—हे पुत्र ! हम एक दृष्टान्त कहते हैं। उसके द्वारा तू अपने आप प्रत्यग् सत् आत्मा प्रत्यक्ष करके जानेगा। सावधान हो कर सुन। हे पुत्र ! एक समय किसी धनी के लड़के को चोर कर वन में ले गए और उसके हाथ पैर बाँध और आँखों में एक पट्टी बांध कर तथा भूषण उतार कर में छोड़कर चले गये। वह लड़का वन में रोता चिल्लाता हुआ पुकारता फिरता था। इतने में एक मनुष्य अचानक उस वन में आ निकला। उस बच्चे को रोता देखकर उसके पास आया और उसके

हाल पूछा। बच्चे ने वह सब हाल कह दिया जो उस पर बीता था। तब उस दयालु पुरुष ने उसकी आँखें खोलीं, हाथ पैर की रस्सी खोली और कहा कि तू इस रास्ते पर चला जा। थोड़ी दूर पर एक ग्राम आवेगा, उससे आगे तेरा ग्राम है। अब तू कुछ भी भय मत कर। वह बालक उस दयालु पुरुष की आज्ञानुसार चलते-चलते अपने नगर में जा पहुंचा और सुखी हुआ। हे पुत्र! देख, उस बालक ने अपने घर से निकल कर कितना कष्ट उठाया?

श्वेतकेतु—हे पिता जी! बड़ा ही कष्ट भोगना पड़ा उसे! आप कहिये कि बालक, नगर, वन, ग्राम, दयालु पुरुष कौन हैं? चोर कौन हैं? भूषण आदि कौन हैं?

उद्दालक—हे सौम्य! यह सब तेरे पास ही हैं। देख! शरीररूपी वन है, सुषुप्ति रूपी सत् नगर है, उस सत् नगर में तू श्वेतकेतु बालक रहता है। पाप पुण्य रूपी दो चोर हैं, ग्राम के बाहर की भूमि के समान स्वप्न और जाग्रत हैं। दयालु पुरुष रूपी ब्रह्मज्ञानी गुरु हैं। अज्ञान रूपी पट्टी बंधी है, 'अहं ब्रह्मास्मि' रूपी भूषण है, अनेक प्रकार की कामना रूपी रस्सी से खींचा गया है, पाप पुण्य रूपी दो चोरों ने बाँध रक्खा है, स्त्री, पुत्र, धन आदि का भोग और उनकी चिंता में रहना—यही रोना चिल्लाना है। अनेक पदार्थों की चिंता करनी और उनकी प्राप्ति का न होना ही काँटों का चुभना है जो इन मूर्ख पुरुषों को दिन-रात चुभते रहते हैं। इन कांटों में पड़े हुए जीव दिन-रात हाय-हाय पुकार कर रोते फिरते हैं। यह शरीर रूपी वन अनेक रास्तों से युक्त है। उन में तरह-तरह के संकट हैं और शरीर रूपी वृक्ष जन्य वात, पित्त, कफ जन्य तरह-तरह के दुःख-दर्द हैं। यह शरीर रूपी वन मांस, मज्जा, रक्त, पीप, मल, मूत्र आदि से भरा हुआ है। नख से लेकर चोटी पर्यन्त उक्त पदार्थ रूप है।

इस वन का कोई भी स्थान दुःखों से और काँटों से खाली नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच सड़कें हैं जो नाना प्रकार के राग-द्वेष रूपी काँटों से परिपूर्ण हैं। शब्द के रास्ते में अनन्त कांटे हैं, जिनसे प्राणी दिन-रात दुखी होते रहते हैं तथा रोते-झींकते रहते हैं। वैसे ही स्पर्श, रूप, रस तथा गंध में भी अनन्त दुःखदाई कांटे पड़े हैं जिनके मारे जीव दिन-रात व्याकुल रहते हैं। न रात को आराम, न दिन को चैन मिलता है। इनका कुछ अन्त नहीं है कि जो हम तुमको सारी आयु पर्यन्त बता सकें। लोक-परलोक के काँटे और दुःख कहने में नहीं आ सकते। जो जीव भोगते हैं, हे पुत्र! वही जानते हैं। जैसे वन में सिंह, मृग, बन्दर और अनेक प्रकार के जीव जन्तु रहते हैं, उसी प्रकार इस शरीर रूपी वन में तृष्णा रूपी बन्दर रहता है जो शरीर रूपी वृक्ष को शान्त नहीं रहने देता और अनेक संकल्प-विकल्प रूपी पक्षीगण हैं। आशा रूपी अनन्त मृग हैं, राग-द्वेष रूपी सिंह हैं। ऐसे भयानक वन में पुण्य-पाप रूपी चोरों ने जीवरूपी बालक को, जो परमात्मा रूपी साहूकार का लड़का है, घर से निकाल कर छोड़ दिया है। 'अहं ब्रह्मास्मि' रूपी भूषण उतार लिया है और रुला रहे हैं। विवेक रूपी आँखों पर अज्ञान रूपी पट्टी बंधी है कि मैं तो साढ़े तीन हाथ का हूँ, ब्राह्मण आदि हूं।

श्वेतकेतु—हे भगवन्! इस दुःखदाई वन से निकलने का उपाय कहिये। अब तक तो यह वन हमको दुःखदाई नहीं प्रतीत होता था। अब आपने हमारी बुद्धिरूपी नेत्रों से अज्ञान रूपी पट्टी खोल दी और विवेक रूपी अंजन लगा दिया है, तब हमको यह शरीर चोटी से लेकर नख पर्यन्त क्लेश मय प्रतीत होता है। यह कुछ ज्ञात नहीं होता कि यह वन कहाँ से कहाँ तक है और इस से कैसे छुटकारा मिलेगा?

जैसे आप ने कृपा करके इस वन को दुःखरूप दिखाया है, वैसे ही इससे छूटने का कोई उपाय कहिये। अब मैं बहुत दुःखी हुआ हूँ।

उद्दालक—हे सौम्य ! जब इस जीव के अनेक जन्मों के निष्काम पुण्य उदय होते हैं, इसको प्रेरित कर किसी निर्धनी के घर जन्म देते हैं। वहाँ पर यह जीव अन्न, वस्त्र आदिकों के अनुभव करके वैराग्यवान होता है और तमाम झंझट एक दम छूट जाते हैं, उपाधियां लगने नहीं जो अल्प पुण्यात्मा जीव होते हैं वे धनवानों के घर जन्म लेते हैं और वहाँ से निकल नहीं सकते। भोगों में लिप्त रहते हैं। भोग उनको वैराग्य नहीं होने देते, फँसाये रखते हैं। दोष दृष्टि उत्पन्न होती। उल्टी तृष्णा बढ़ाते रहते हैं। वैराग्य का वहाँ नाम भी बुरा लगता है। जैसे वन में अग्नि फैल जाती है, उसी प्रकार इस संसार रूपी वन में भोगों की कामना फैल जाती है। इस से जिन जीवों के अनेक जन्मों के निष्काम पुण्य इकट्ठे उयद होते हैं, वे ही इस जीव को प्रेरित घर में ले आते हैं। वहाँ भूख, प्यास, शीत, ऊष्णा आदि से दुखी होकर यह जीव व्याकुलता से परन्तु इसकी व्याकुलता को कोई घर का आदमी नहीं जानता। क्योंकि बेचारे आपही अपने दुःखी हो रहे हैं, दूसरे की कौन सुने ?

इसकी पुकार ब्रह्मज्ञानी संत महात्मा सुनते हैं और गुरु लोग इसकी अज्ञान रूपी पट्टी को आँखों से हटा देते हैं और श्रवण रूपी मार्ग बता देते हैं। तब वह पुरुष मनन रूपी चरणों से चला जाता है। आगे निदिध्यासन रूपी ग्राम आ जाता है। उसके आगे ब्रह्मात्मा के साक्षात्कार नगर को प्राप्त होता है जो कि सच्चिदानन्द रूप है। तब यह पुरुष अपने स्वरूप को जानकर कहता 'मैं ब्रह्म हूँ—अहं ब्रह्मास्मि।' फिर तो अपने सत् रूपी नगर में अपनी मुनादी पिटवा देता है और रूपी तख्त पर बैठ कर ब्रह्मा से लेकर अणु पर्यन्त सूक्ष्म तथा स्थूल सम्पूर्ण प्रपंच को अपनी चलाता है। हे सौम्य ! जैसे वह बालक अपने बन्धन छुड़ाकर अपने नगर को प्राप्त हुआ है, तू भी स्त्री, धन, पुत्र आदि रूप जगत में अपनी आसक्ति रूप बन्धन को तोड़ कर आत्मा रूपी को प्राप्त हो।

श्वेतकेतु—हे भगवन् ! अब हमारे और कौन बंधन शेष रहे हैं ? उनको बतलाइये और करके उनसे छुड़ाइये।

उद्दालक—हे सौम्य ! नाम-रूपमय प्रपञ्च को सत् जानना ही महा बन्धन है। क्योंकि और इसके सम्बन्धी भोग, लोक, परलोक ये सब अनित्य हैं। हे पुत्र ! जो कुछ देखने, सुनने में और जो कुछ मन या वाणी का विषय है, सो सब अनिर्वचनीय तथा अनित्य है। तू इस परिच्छिन्न कार को त्याग और सुखी हो। जितने भी देह रूपी शून्य मन्दिर हैं, वे सब देह अहंकार रूपी खाली नहीं। जिस शरीर में यह अहंकार रूपी भूत रहता है, जिसको यह अपने वश में कर लेता है उसके इष्ट-मित्र तथा बान्धव भी छुड़ा नहीं सकते और न शास्त्र ही छुड़ा सकते हैं। हे सौम्य ! अपवित्र स्थान में रहता है, शुद्ध स्थान में नहीं रहता, उसी प्रकार संतोष, विचार, अभ्यास, रहित शरीरों में ही अहंकार रूपी पिशाच निवास करता है। हे पुत्र ! सम्पूर्ण संसार अहंकार रूपी वश में आकर मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र आदिक के मोह में आकर परेशान हो रहा है। अहंकार अहं-अहं करके गर्जता है। यथा 'मैं विद्वान्, धनवान, मैं कुलवान,' आदि हूं। इस

श्वेतकेतु—हे प्रभो ! बस ऐसा करदो कि जिससे ऐसे संसार का दर्शन न हो। हे पिता जी ! जब मैं आपके मुख से ब्रह्म का उपदेश सुनता हूं, उस समय तो मन शान्त हो जाता है परन्तु उपदेश समाप्त होते ही फिर कामना, वासना, क्रोध, मोह, अहंकार आदि विकार खड़े हो जाते हैं, तो मैं ब्रह्म कैसा ? हे पिता जी ! मैं निश्चय नहीं कर सकता कि मुझे क्या करना चाहिए ? मैं अखण्ड ब्रह्म के रूप में कैसे रहूँ ?

उद्दालक—हे पुत्र ! तुम यह बताओ कि क्या वही लोग मोक्ष को प्राप्त होंगे जो ब्रह्म होकर चुपचाप चेष्टा रहित होकर पड़े रहें ? क्या व्यास, वशिष्ठ, राजा जनक इत्यादि कर्मयोगी महात्मा बिल्कुल ही डूब गए ? इनको ब्रह्म का ज्ञान ही न था ? यदि तुम यह समझते हो कि मुक्त तो वही पुरुष है जो काठ की तरह जड़ होकर पड़ा रहता है, तो तुम्हारी यह धारणा ठीक नहीं है। जो ब्रह्मज्ञानी गुरु से उपदेश लेकर बोलता-चालता और इन्द्रियों से इन्द्रियों के काम, मन से मन के काम करता है, वह भी मोक्ष को प्राप्त होता है। हे पुत्र ! इस संसार में कोई मुक्त, कोई नित्य मुक्त, कोई जीवन्मुक्त और कोई विदेह मुक्त होता है। जो योगी सचैतन्य हैं वह जीवन्मुक्त, जैसे राजा जनक, अजात शत्रु, वशिष्ठ आदि अपने ज्ञान के कारण मुक्त तो हो गए थे, परन्तु फिर भी प्रारब्धवश अपने सब काम करते रहते थे। जो अचैतन्य हैं, जिन को अपने शरीर का भान नहीं है, वह जड़ के समान पड़े रहते हैं जैसे जड़ भरत आदिक। इनको अपने शरीर का ख्याल नहीं रह गया है। इन दोनों के अतिरिक्त जो बोधयुक्त हैं, वे नित्य मुक्त हैं। हे पुत्र ! स्वस्वरूप का जो अनुभव है, वही मुक्ति का कारण है, शेष सब कल्पनायें मिथ्या हैं। हे पुत्र ! जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, वह चाहे बोले चाहे मौन रहे, मुक्त ही है। नित्य समाधि में है। मुक्ति तो उसकी इच्छा पर निर्भर है। हे पुत्र ! मोक्ष तो ज्ञान से होती है, न कि पत्थर की नाईं चेष्टा रहित होने मात्र से। बता, अब क्या चाहता है ?

श्वेतकेतु—हे पिता जी ! कन्नौज के राजा जयवल्ली ने मुझ से पाँच प्रश्न किए थे। उनका उत्तर मुझ से न दिया गया, क्योंकि न तो मैंने वह विद्या पढ़ी थी, न कभी किसी से सुनी थी ! उस समय मैं अहंकार में चूर था। मैं समझता था कि मेरे समान इस पृथ्वी पर कोई नहीं है। उत्तर न देकर वहाँ से चुपचाप चला आया। यदि आप जानते हों तो कृपा करके उन पाँचों प्रश्नों का उत्तर दीजिए। वे पांच प्रश्न ये हैं—उसने मुझ से कहा कि हे ब्राह्मण ! (१) क्या तू जानता है कि यह प्रजा मर कर परलोक को किस प्रकार जाती है ? (२) यह प्रजा परलोक से किस प्रकार आती है ? (३) देवयान मार्ग तथा भूमा किसको कहते हैं ? (४) जो जल पाँच अग्नियों में जाकर पुरुष होता है, हे ब्राह्मण ! वह जल कौन है ? (५) इतनी प्रजा मरकर परलोक में जाती है तो वह लोक भर क्यों नहीं जाता ?

हे पिताजी ! उस राजा ने मुझ से कहा कि हे ब्राह्मण ! तू अपने आपको बड़ा श्रेष्ठ पंडित समझता है। तू जानता है कि एक मैं ही पंडित हूँ और संसार में कोई नहीं है। इनका उत्तर कहो। जो तुमने इन पांचों प्रश्नों का उत्तर दे दिया तो हम भी तुमको श्रेष्ठ पंडित समझ लेंगे। यदि उत्तर न मिला तो तुम मूर्ख मिथ्या अहंकारी हो, हम तुम्हारी उपेक्षा करेंगे।

उद्दालक—हे पुत्र ! यह विद्या तो मैं भी नहीं जानता हूँ। चलो, हम और तुम दोनों उस पंच अग्नि विद्या को पढ़ें।

श्वेतकेतु—हे पिता जी ! आप ही जाइये, मैं तो नहीं जाऊँगा।

उद्दालक—अच्छा पुत्र, मैं जाता हूँ।

तब उद्दालक कन्नौज में राजा जयवल्ली के पास आया और बोला कि हे राजन्! पाँच अग्नि के सम्बन्ध में आपने जो श्वेतकेतु से प्रश्न किये थे, उनका उत्तर उसको नहीं आया था। अब हमें पाँच अग्नि की विद्या कहिये।

राजा—हे ब्राह्मण! हम शिष्य भाव बिना किसी को विद्या का दान नहीं देते हैं। पिता, परपिता, महापितादिक ब्राह्मणों को शिष्य करते आये हैं! जो कदाचित् तुम ऐसा कहो कि होकर ब्राह्मणों को शिष्य बनाते हो, तो सुनो! पंचाग्नि की विद्या परम्परा करके हमारे क्षत्री राज चली आती है। इस ब्रह्माण्ड में यह विद्या और किसी के पास नहीं है। हमारे यहाँ से कितने ही शिष्य होकर यह विद्या ले गए हैं। यह कोई नवीन रीति हमने नहीं निकाली है। यदि तुमको इस की जिज्ञासा हो तो कुछ काल हमारे यहाँ विश्राम करो। जब हम तुम्हारा विधि पूर्वक ब्रह्मचर्य देखें अधिकार की परीक्षा करके कुछ उपदेश कर सकते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! बहुत अच्छा। मैं शिष्य होकर आपसे विद्या अवश्य लूँगा।

तब उद्दालक ने ब्रह्मचारी की रीति से कुछ काल वहाँ निवास किया। पश्चात् राजा ने से कहा कि हे ब्राह्मण! अब तुम पंचाग्नि विद्या के अधिकारी हुए हो। सावधान होकर सुनो!

उद्दालक—हे प्रभो! मैं सावधान हूँ। आप उपदेश करिये।

राजा—हे ब्राह्मण! उपासक पुरुष इन पांच अग्नियों में आते हैं। एक देव अग्नि है, नाम से कही जाती है। दूसरी जल अग्नि है, जो मेघ है। तीसरी पृथ्वी अग्नि है। चौथी पुरुष अग्नि पांचवी माता अग्नि है। देवता इन अग्नियों (देव अग्नि, जल अग्नि, और पृथ्वी अग्नि) में नित्य देते हैं। हे ब्राह्मण! यह जो प्रत्यक्ष सूरज है, यह तो देवताओं की अग्नि है। चन्द्रमा इसकी किरण धूम और प्रकाश है। चारों दिशायें इसके कोयले हैं और कोने इसके कण हैं। यह मिलकर देवाग्नि का स्वरूप हैं, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल है। इसी कारण से देवता दिन-रात अग्नि में आहुति डालते रहते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! देवताओं में कर्मलोक और अग्नि का होना असम्भव है। मैं कैसे अनुभव करूँ कि देवता इस अग्नि में नित्य होम करते हैं?

राजा—हे उद्दालक! जो मनुष्य लोक में यजमान और पुरोहित हैं, दोनों मिलकर भाव से अग्नि होत्र करते हैं। यही तीनों देवलोक में अपनी-अपनी भावना के अनुसार प्राप्त होकर देव से दिन में होम करते हैं। जैसे यह प्रसिद्ध अग्नि षट् अंगों वाली है अर्थात् एक अग्नि, दूसरी तीसरे धूम, चौथे लपट, पांचवें कोयला और छटा प्रकाश। यह अग्नि के प्रसिद्ध अंग हैं। देवताओं की अग्नि के भी षट् अंग हैं। इस संसार में भी श्रद्धावान् को ही फल की प्राप्ति है, अश्रद्धावान् को नहीं। परलोक में भी श्रद्धावान् को ही फल की प्राप्ति होती है। श्रद्धा रहित पुरुष तो इस लोक में कुछ मिलता है और न परलोक में ही। अपने-अपने पुण्यों का ही फल पुरुष में भोगता है और अपने ही पुण्यों का फल मरकर परलोक में देव शरीर द्वारा भोगता है।

तीसरा जो पुण्यों का सूक्ष्म भाग रहता है वह प्रलयकाल के लिये रह जाता है। उसी से

शरीर कहते हैं। वही समष्टि जीवों के पुण्य का सूक्ष्म अंश प्रलय के अनन्तर ब्रह्माण्ड का कारण होता है और स्थूल अंश भोग देकर नष्ट हो जाता है। जैसे कि अन्न का स्थूल भाग विष्टा होकर बाहर निकल जाता है और सूक्ष्म भाग शरीर की स्थिति का कारण बना रहता है। शुभ कर्मों का सूक्ष्म भाग, जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तब तक बना रहता है, ब्रह्मज्ञान के होते ही नष्ट हो जाता है। इस सूक्ष्म भाग संस्कार किंवा वासना के नाश किये बिना यजमान का जन्म-मरण नहीं छूटता। आहुतियों का सूक्ष्म भाग प्रलय काल में भी रहता है, क्योंकि वही सब संसार का कारण है। यह सूक्ष्म भाग ही हिरण्यगर्भ नाम से कहा जाता है, इसी को भुवःलोक कहते हैं, यही देवलोक है।

सम्पूर्ण संसार की उत्पति का कारण पूर्व कल्प के समष्टि जीवकृत पुण्यों का शेप सूक्ष्म भाग रूप रेत उत्तर कल्प का कारण होता है। हे ब्राह्मण! इस प्रकार परस्पर हिरण्यगर्भ, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, चींटी, वृक्ष, पर्वत, घास, फूँस सब के सब अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार उत्तम-अधम होते रहते हैं और सुख-दुःख भोगते रहते हैं। हे उद्दालक! जीवों के विषय में कर्मों का मुख्य स्वरूप जल है। क्योंकि शुभ कर्मों के समय जल की अपेक्षा पड़ती है। लेने के समय जल की अपेक्षा होती है, शरीर की क्रिया के समय में भी जल की आवश्यकता होती है। जल का स्वरूप चन्द्रमा है। चन्द्रमा के ही आश्रय भोग-भोक्ता, आना-जाना आदि व्यवहार होता है। चन्द्रमा द्वारा यजमान सर्वरूप हो रहा है। हे उद्दालक! यह एक अग्नि का स्वरूप कहा।

अब दूसरी अग्नि का स्वरूप भी सुन। यह पञ्च अग्नि की उपासना ध्यान करके सिद्ध करने के योग्य है। जब देवता यजमान के प्राण की आहुति अग्नि में डालते हैं, तब सो प्राण विशिष्ट यजमान चन्द्रमा द्वारा सूर्य में आता है। सूर्यरूपी लकड़ी है, लाटरूपी वर्षा है, प्रकाशरूपी बिजली है, कणरूपी गर्जना है, बिजली का गिरना कोयले के समान है। किरण द्वारा पुरुपरूपी धूम पृथ्वी में आता है। फिर वह जीव अन्न के साथ मिलकर पाप-पुण्य से प्रेरित हुआ अनेक योनियों में जाता है।

हे ब्राह्मण! तीसरी अग्नि का स्वरूप भी सुन। पृथ्वी रूपी अग्नि है, लोक रूपी लकड़ी है, धूम रूपी पृथ्वी का भास है, लाट रूपी रात्रि है अथवा राहू है, कुन रूपी तारे हैं, अङ्गार रूपी चन्द्रमा है। इस प्रकार अग्नि के निर्णय करने से यह अभिप्राय है कि यजमान के प्राण जहाँ जाते हैं, वहाँ चारों तरफ से अग्नि का स्वरूप होकर रहते हैं। इन पुरुपों का आना-जाना और वर्तना अग्नि के सम्बन्ध से ही होता है। पुरुप अग्नि से भिन्न नहीं हो सकते हैं। मानो अग्नि ही पुरुप रूप हो रही है। हे उद्दालक! अभी तक यजमान का स्वरूप सिद्ध नहीं हुआ है।

अब तू चौथी अग्नि का स्वरूप भी सुन। वाणी का खोलना रूपी लकड़ी है, वाणी रूपी अग्नि हैं, श्वास का बाहर आना रूपी धूम है, बोलना रूपी लाट है, चक्षु रूपी अंगार है, किरण रूपी कुन है, विश्व देव रूपी पुरुप है।

हे ब्राह्मण! अब पाँचवीं अग्नि का स्वरूप भी सुन। जो जल पाँचवें अग्नि कुण्ड में पड़ते ही पुरुप बन जाता है, वह स्त्री रूपी अग्नि है, गोलक रूपी लकड़ी है, मध्यस्थ और उपस्थ रूपी लाट है, वीर्य और रज का एक जगह मिलना रूपी अंगार है, पुरुप रूपी प्रकाश है, रोमावली रूपी धूम है, पुरुप का गर्भ से बाहर निकलना रूपी कुन है। हे ब्राह्मण! जब इस प्रकार अग्नियों के द्वारा जल आता है, तब पुरुप सिद्ध होता है। फिर कुछ काल मनुष्य आकार से संसार में रहता-सहता है। जब वही जलमय पुरुप इन

योनियों से बचकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र आदि के मुख में अन्न द्वारा आवे; फिर वीर्य द्वारा आवे, तब पुरुष सिद्ध होता है और नहीं तो पाप कर्मों द्वारा प्रेरित हुआ अन्न द्वारा किसी और के मुख में आ जाय क्योंकि कर्मों का कोई ठिकाना नहीं है। संन्यासी, ब्रह्मचारी, स्त्री, चांडाल, पशु, सर्प, मक्खी, मीन, घोड़ा, गधा, कुत्ता, बिल्ली, चूहा, पक्षी, चींटी, जूं, आदि अनन्त योनि हैं। गर्भ में आवे उसी में रहता है। हे मुने! अब छटी अग्नि का स्वरूप सुन।

हे उद्दालक! जब इस पुरुष को पुत्र-पौत्र आदिक अग्नि में दाह करते हैं तब वह पुरुष लकड़ी, प्रकाश, लाट, धून, अंगार और कुन होकर धूम द्वारा सूर्य, चन्द्रमा, पितर आदि में जाता है। पूर्व जो अग्नि के पट् अंग कहे हैं, जिनके द्वारा पुरुष आता है, उन ही अग्नि के पट् अंग में जाता है।

राजा—हे मुने! यही पुरुष भूलोक में है, यही पुरुष चन्द्रलोक में है, यही देवलोक में है। पुरुष देवलोक में सूक्ष्म रूप था, वही सूर्य में जाकर कुछ एक स्थूल होता है। फिर वर्षा में आकर कुछ अधिक स्थूल होता है। पृथ्वी में आकर पृथ्वी से भी अधिक स्थूल होता है। वीर्य में आकर अधिक स्थूल होता है। गर्भ में आकर भी उससे अधिक स्थूल होता है। तब स्थूल रूप से गर्भ से आता है और सब को दिखाई देने लगता है। जो पुरुष के अनन्तर सबको प्रत्यक्ष दीखता है, हे मुने, सोई जल रूप था। वही पृथ्वी रूप था, वही वीर्य रूप था, वही अब साक्षात् पुरुष रूप है।

हे मुने! धर्मशास्त्र में राज-सुख भोग के पश्चात् राजा को नर्क की प्राप्ति कही है। हमारे पितामह तथा प्रपितामह आदि ने उक्त प्रकार से पाँच अग्नियों का यथार्थ स्वरूप जान कर उनकी उपासना करके शरीर त्याग के पश्चात् ब्रह्मलोक को गमन किया है। इन पञ्च अग्नियों के ज्ञान का ऐसा प्रताप अर्थात् माहात्म्य है। हमारे पिता, पितामह आदि इन पाँच अग्नियों का स्वरूप जानकर नर्क को नहीं प्राप्त हुए; ब्रह्मलोक में जाकर शान्तात्मा हुए हैं। अब भी जो कोई गृहस्थ आश्रमी इन अग्नियों को जानकर इनकी अहंग्रह उपासना करे, वह भी अन्त समय ब्रह्मलोक को प्राप्त होंगे। हे मुने! इस प्रकार यह पुरुष पाँच अग्नियों द्वारा आते-जाते हैं। यह पुरुष अग्नि से बाहर नहीं हैं। अग्नि रूप होकर ही रहते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! इस अग्नि मार्ग द्वारा कौन पुरुष जाते हैं?

राजा—हे मुने! गृहस्थ पुरुष जाते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! गृहस्थ पुरुषों को तो अग्निहोत्र आना कठिन है, फिर वह किस प्रकार जाते होंगे? इस मार्ग से तो उत्तम ब्रह्मचारी, बानप्रस्थी अथवा संन्यासी ही स्वर्ग को जाते होंगे।

राजा—हे मुने! इन सबके मार्ग अलग-अलग हैं। जो पुरुष नित्य-नैमित्तिक (संध्या, स्नान, देवपूजा, अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म हैं और श्राद्ध, तर्पण आदि नैमित्तिक कर्म हैं) कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि करते हैं, वह तो चन्द्रलोक को जाते हैं और जो वीर्य की रक्षा करके अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कर हिरण्यगर्भ की उपासना सहित कर्म करता है, वह अग्निहोत्र के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

उद्दालक—हे राजन्! यह तो तुमने गृहस्थ पुरुष की बात कही। किन्तु संन्यासी, और नैष्ठिक ब्रह्मचारी अग्नि में दाह नहीं किये जाते हैं, दबाये या प्रवाहित किए जाते हैं। फिर वह कैसे ब्रह्मलोक को जाते होंगे? यह तो श्रद्धा सहित यज्ञ और हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं।

राजा—हे मुने ! अग्नि के अभिमानी जो देवता हैं वही गृहस्थियों को ले जाते हैं। केवल धूम का ही नियम नहीं है। किन्तु ब्रह्मलोक के जाने में श्रद्धा और हिरण्यगर्भ की अहंग्रह उपासना की आवश्यकता है। जो पुरुष श्रद्धा और कर्म उपासना से रहित हैं, वह कर्मों के अनुसार दूसरे लोकों को जाते हैं। इनका कथन आगे करेंगे।

उद्दालक—हे राजन्! ब्रह्मलोक को जाने वाला किस मार्ग से जाता है ?

राजा—हे मुने ! मनुष्य लोक से ब्रह्म लोक तक चार पड़ाव हैं। पहले पड़ाव में तो दिन का अभिमानी देवता ले जाता है, दूसरे पड़ाव में रात्रि का अभिमानी देवता ले जाता है, तीसरे पड़ाव में शुक्ल पक्ष का अभिमानी देवता ले जाता है और चौथे पड़ाव में उत्तरायण का अभिमानी देवता ले जाता है। इस प्रकार ये चार देवता उपासक को अग्नि लोक तक पहुँचा देते हैं। अग्नि लोक से आगे फिर उपासक को हिरण्यगर्भ का प्रकाश ले जाता है। जैसे डाक वाले एक-दूसरे को डाक दे देते हैं, उसी प्रकार ये देवता एक-दूसरे के पास पहुँचा देते हैं। जैसे मन का संकल्प करते ही जीव जगन्नाथ में जा पहुँचता है, उसी प्रकार देवता उपासक को ब्रह्मलोक में क्षण मात्र में पहुँचा देते हैं। वह ब्रह्मलोक शान्त महल के समान है। जैसे महल के ऊपर, बीच और नीचे चौबारे और मकान होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मलोक में भी उत्तम, मध्यम और नीचे स्थान बने हुए हैं। वहाँ उपासक लोग अपनी-अपनी उपासना के अनुसार यथायोग्य जा बैठते हैं। वहाँ कोई उपासक तो ब्रह्मा के एक दिन, कोई एक घड़ी, कोई दो घड़ी, कोई चार घड़ी, कोई पक्ष, कोई एक महीना, कोई ब्रह्मा की आयुपर्यन्त ब्रह्मलोक में रहते हैं। जिनको ब्रह्मज्ञान हो जाता है, सो मोक्ष हो जाते हैं। शेष नीचे (अर्थात् पृथ्वी लोक) को फेंक दिए जाते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! उपासकों के सिवाय दूसरे पुरुष जो होम, यज्ञ, तप, दान, कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत करते हैं या कूप, तड़ाग, धर्मशाला बनाते हैं या ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं, वे कहाँ जाते हैं ?

राजा—हे मुने ! यह पुरुष मरने के पश्चात् चन्द्रलोक में जाकर कोई तो देवताओं के अन्न बनते हैं। कोई देवताओं के घोड़े, बैल, हाथी आदि बनते हैं। मरण तो सब का एक ही समान होता है, परन्तु मरने के पश्चात् इनके आने-जाने के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं। जब ये पुरुष मरने लगते हैं तब इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, मन बुद्धि में, बुद्धि प्राण में और प्राण अग्नि में लीन हो जाता है। फिर अग्नि से इन पुरुषों के मार्ग कर्मों के अनुसार फटते हैं। हिरण्यगर्भ के उपासक सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ब्रह्मलोक को जाते हैं। यज्ञ, अग्निहोत्र, व्रत आदि करने वाले धूम द्वारा सूर्य लोक को जाते हैं। सूर्यलोक से पितृलोक, पितृलोक से चन्द्रलोक में जाते हैं और वहाँ देवताओं के भृत्य, दास, अन्न आदि बनते हैं।

हे मुने ! देख, जो मनुष्य इस लोक में स्वयं अन्न खाते थे और अपने आधीन कार्य करने वाले टहलुवा नौकर रखते थे, वही मर कर देवलोक में देवताओं के खाने का अन्न अथवा सेवक आदि बनते हैं। सो वहाँ भी अपने पुण्यों के अनुसार रहते हैं। पुण्यों के क्षीण हो जाने पर वहाँ से फेंके जाते हैं, तब वर्षा में आते हैं। वर्षा से पृथ्वी में, पृथ्वी से अन्न में, अन्न से शुक्र में, शुक्र से स्त्री के गर्भ में आते हैं। गर्भ से निकल कर फिर पाप-पुण्य कर्म करने लगते हैं। कर्म करते-करते मर कर फिर ब्रह्मलोक, देवलोक, पितृलोक अथवा नर्क आदि लोकों को जाते हैं। हे मुने ! इस प्रकार कर्म के करने वाले सकामी अज्ञानी कर्म संगी बारम्बार जन्म-मरण, ऊँच-नीच शरीरों को प्राप्त होते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! ये पुरुष वहां से फिर किस प्रकार आते हैं?

राजा—हे उद्दालक! पाँच सूक्ष्म तत्वों का कार्य पुर्यष्टिका देवलोक में जाकर देवता रूप हो जाते हैं। तब स्वर्ग के अधिष्ठाता देवता उसके गले में एक पुष्पों की माला पहना देते हैं और कह देते हैं देख, जब तक यह फूलों की माला न मुरझायेगी, तब तक तुम्हें यहाँ देवलोक में रहना होगा। यह सुनकर उस पुरुष को बड़ा शोक होता है और वह कहता है कि हाय! यह उत्तम भोग छोड़ने पड़ेंगे। वह दिन-रात चिंता में डूबा रहता है। जब पुण्यों के अनुसार भोग्य भोग चुकता है, तब वह माला मुरझा जाती है। उसको देखकर शोक के मारे उस पुरुष का गरम श्वास निकलना आरम्भ हो जाता है। श्वास की अग्नि से इसका देव-शरीर बर्फ के पुतले की तरह पिघल जाता है।

जैसे बर्फ का पुतला सूर्य की धूप से पिघल जाता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वर्ग से आकाश में आता है और आकाश में कुछ काल पर्यन्त सूक्ष्म होकर आकाश की नाईं रहता है। फिर आकाश से वायु में आता है, तब वायु नक्षत्रों की तरह कुछ काल उसको भ्रमाती रहती है। फिर वायु से वर्षा में आता है और वर्षा से पृथ्वी में आता है। कुछ काल पृथ्वी में पड़ा रहता है। फिर पृथ्वी से अंकुर में आता है, अंकुर से पत्तों, फूलों आदि में आता है। पत्ते और फल आदि से ग्रास में आता है। ग्रास से मनुष्य, पशु, पक्षी आदि द्वारा खाया जाकर शुक्र में आ जाता है। शुक्र से स्त्री के गर्भ में आता है। नौ महीने मनुष्य स्त्री के गर्भ में निवास करता है। गर्भ धारण के समय यदि पुरुष का शुक्र अधिक होता है तो पुरुष होता है, यदि स्त्री का रज अधिक होता है तो लड़की होती है और यदि रज-शुक्र बराबर हो तो नपुंसक होता है। गर्भाधान के समय यदि स्त्री की अपान वायु बलवान होती है तो शुक्र के दो भाग हो जाते हैं। तब उस शुक्र के दो भाग हो जाने से दो बच्चे उत्पन्न होते हैं।

उद्दालक—हे राजन्! कोई-कोई जीव तो गर्भ के अन्दर एक दो, तीन, चार, महीना ही रह कर बाहर चले आते हैं, जिसको लोक में गर्भपात कहते हैं। आपने नौ महीने किस प्रकार कहे?

राजा—हे मुने! तुमने ठीक कहा। यह सब पुण्यों की तारतम्यता है। जैसे जिसके पास अधिक धन होता है, वह तो पक्के मकान बनवाता है और जिसके पास थोड़ा धन होता है वह मकान या फूस के झोंपड़े डाल कर अपना निर्वाह करता है। उसी प्रकार जिस पुरुष के अधिक पुण्य हैं, उसका मनुष्य शरीर रूपी पक्का मकान बनता है, और जिसके थोड़े पुण्य होते हैं, उसका पशु, सिंह, सर्प, कुत्ता, बिल्ली, चूहा आदि शरीर फूस की झोपड़ियों के समान है। जैसे बहुत से दुखी घर से रहित फिरते हैं, उसी प्रकार पुण्य रूपी धन से रहित बहुत से पुरुष शरीर रहित ही अतिथि की नाईं भ्रमण करते रहते हैं, जैसे भूत, प्रेत, आदि योनियाँ हैं।

हे मुने! कितने ही जीव तो अन्नरूप होकर बहुत काल पड़े रहकर, गल-सड़कर नष्ट हो जाते हैं और अनन्त जीव तो जल में ही पड़े रहते हैं। पाँचों भूतों में कर्मों के अनुसार भरे पड़े हैं जो गमनागमन करते रहते हैं, पिटते-पिटाते रहते हैं, कहीं भी शान्ति को नहीं प्राप्त, दुःखी, दीन ही रहते हैं। पाप-पुण्य कर्म करके कोई-कोई देवलोक, नर्क लोक आदि को चले जाते हैं। वहां से सुख-दुःख भोगकर फिर गिरते हैं। जैसे रहट के कूप से बाल्टियाँ भरी आती हैं और फिर खाली जाती हैं, उसी प्रकार यह जीव भूलोक से भरे हुए देवलोक को जाते हैं। देवलोक में भू लोक के जो

कर्म थे, उनका फल जो भोग हैं, उन्हें भोग कर खाली आते हैं। हिरण्यगर्भ के उपासक ब्रह्मलोक को जाते हैं। कर्मी देवलोक (अर्थात् स्वर्ग) को जाते हैं और जो वेद शास्त्रोक्त कर्म-उपासना नहीं करते, मनमुखी हैं, निषिद्ध कर्म करते कराते रहते हैं, सो भूलोक में ही चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमते फिरते हैं।

हे मुने ! तुमने जो पूछा था कि वह परलोक भर क्यों नहीं जाता है ? सो परलोक के न भरने का यह कारण है कि सहस्रों मनुष्यों में से कोई विरला ही अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार कर्म करके देवलोक में जाता है और भोग भोगकर वहाँ से इस पृथ्वी पर गिर पड़ता है। इसी कारण से देवलोक भरता नहीं है। हे मुने ! सहस्रों मनुष्यों में से कोई कदाचित् ही विहित सकाम कर्म करता है। इन में से भी कोई विरला ही उपासना के लिए उपस्थित होता है। इन सहस्रों उपासकों में से भी कोई ही ब्रह्मज्ञानी होता है। इस ब्रह्मज्ञानी को ही भू लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सब प्रपंच मिथ्या भान होता है। इसी कारण से ब्रह्मवेत्ता स्वर्ग आदिक लोकों की सदा निन्दा करता रहता है, सब भोगों को स्वयं इच्छा से रहित होकर प्रारब्धवश भोगता है और वही मोक्ष को प्राप्त होता है। हे मुने ! अनन्त जीव जो यहाँ कल्प पर्यन्त रहते हैं, सो यहां ही उत्पन्न होते और मरते हैं। परलोक में नहीं जाते। फिर यह देवलोक कहाँ से भर जाता ? ब्रह्मज्ञानी तो शरीर त्यागकर अद्वैत आनन्द ब्रह्मरूप से ही स्थित होता है।

इति पञ्चाग्नि विद्या नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

चतुर्थ अध्याय

[उत्तम अधिकारी का स्वरूप]

एक समय गुरु और शिष्य कैलास के शिखर पर घूम रहे थे। शिष्य ने बड़ी नम्रता पूर्वक गु चरण कमलों को छूकर प्रश्न किया—हे गुरु महाराज! विवेक वैराग्य से सनी हुई कोई पुरानी सुनाने की कृपा करिये।

गुरु—हे शिष्य! प्राचीन काल में कोई गौतम वंशीय वाजश्रवा के आत्मज महर्षि अरुण उद्दालक ऋषि ने फल की लालसा को लेकर एक यज्ञ प्रारम्भ किया। इस ऋषि के नचिकेता नाम पुत्र भी था। उस काल में उनके घर गौ बहुत थीं। जब सब होताओं को दक्षिणा के रूप में देने गौवें लाई जा रही थीं, उस काल में पांच वर्ष के बालक नचिकेता ने उनको देख लिया। उनकी दशा को देखते ही नचिकेता के शुद्ध अन्तःकरण में श्रद्धा और आस्तिकता ने प्रवेश किया।

वह सोचने लगा कि पिता जी ये कैसी गौवें दक्षिणा में होताओं को दे रहे हैं? इनमें न झुक कर पानी पीने की शक्ति रही है और न इनके मुख में घास चबाने के लिए दांत ही अब शेष हैं। इनके स्तनों में जरासा भी दूध नहीं बचा है। अरे! इन बिचारियों की तो इन्द्रियां भी निर चुकी हैं। इनमें तो गर्भ धारण करने की भी सामर्थ्य नहीं है। भला ऐसी निरर्थक और मौत पहुंची हुई वृद्ध गौवें जिन ब्राह्मणों को दी जायेंगी, ये उनको दुःख के सिवाय और क्या देंगी? खाली घास खोद-खोदकर इनको खिलाते रहेंगे। दान तो उसी वस्तु का करना चाहिये जो और दूसरों को भी सुख देने वाली हो, प्रिय तथा उपयोगी हो, जिसको दी जाये उसे भी सुख और पहुँचाने वाली हो।

दुखदाई अनुपयोगी वस्तुओं को दान देना तो दान के व्याज से अपनी विपद् टालना लेने वाले को एक प्रकार से धोखा देना है। इस प्रकार के दान से दाता को नीच योनियाँ और नर्क लोक मिलते हैं जिन में सुख का नाम-निशान भी नहीं होता,—न कि स्वर्गलोक! भला पिता दान से क्या सुख पावेंगे? यह तो यज्ञ में वैगुण्य है। पिता जी ने जो सब कुछ दानरूपी यज्ञ अच्छी-अच्छी गौओं को मोह के कारण मेरे लिये रख लिया है, सो ठीक नहीं। पिता जी अनिष्टकारी परिणाम से बचाने के लिए मैं अपना भी बलिदान कर दूँगा। यही तो पुत्र का धर्म है।

हे शिष्य! इस प्रकार विचार कर नचिकेता अपने पिताजी से बोला—हे पिता जी! मैं आपका धन हूँ! आप मुझ को किसे देंगे? अपने पिता उद्दालक से कोई भी उत्तर न पाकर फिर कहने लगा कि हे पिताजी! मुझे किसको देते हैं? पिता ने फिर भी उपेक्षा करदी,—अर्थात् समझकर सुनी-बेसुनी करदी। अब नचिकेता से न रहा गया। तीसरी बार उसने फिर कहा कि जी! बोलते क्यों नहीं? आप मुझको किसको देते हैं?

हे शिष्य! तब उसके पिता उद्दालक को ... आवेश

कहा कि हे बालक ! तू बहुत बकबक करता है और चुप नहीं रहता, इसलिए मैं तुझको मौत के अर्पण करता हूं ।

शिष्य—हे गुरु महाराज ! ऋषि उद्दालक को बिना कारण के क्रोध क्यों आया ? कृपया स्पष्ट कर के कहिये ।

गुरु—हे वत्स ! क्रोध आने का कारण यह था कि जिस समय उद्दालक यज्ञ के कार्य में जुट रहे थे—अर्थात् वेदों के पाठ में संलग्न थे और साथ-साथ इधर होताओं को दान के लिये गौवें लाई जा रही थीं, उस समय उद्दालक ने कई दिनों से अन्न-जल नहीं ग्रहण किया था, अतः भूख तथा प्यास से व्याकुल थे । दूसरी बात यह थी कि उन्होंने जो यज्ञ के लिये सामग्री जोड़ रक्खी थी, वह बाढ़ आने से सबकी सब नदी में बह गई । यज्ञ काल में उद्दालक का मन बड़ा ही खिन्न था । इधर, पुत्र नचिकेता आग्रहपूर्वक उनसे बार-बार कहने लगा कि हे पिता जी ! मुझे किसको दोगे ? इसी से क्षुब्ध होकर श्रान्त उद्दालक ने क्रोध में आकर पुत्र को शाप दे दिया कि तुझको मौत को देता हूँ । यह सायंकाल की घटना थी ।

हे शिष्य ! पाँच वर्ष के बालक नचिकेता ने विचार किया कि मैं पिताजी के बहुत से शिष्यों में से प्रथम श्रेणी के आचरण पर चलता आया हूं । नीची श्रेणी के आचरण को मैंने कभी नहीं अपनाया । शिष्यों और पुत्रों की तीन ही श्रेणियां होती हैं,—उत्तम, मध्यम और अधम । जो गुरु या पिता का मनोभाव समझकर, उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना ही, उनकी रुचि के अनुसार कार्य करने लग पड़ते हैं,—वे उत्तम शिष्य या पुत्र माने जाते हैं । जो आज्ञा पाने पर कार्य करते हैं, वे मध्यम श्रेणी के हैं और जो मनोभाव जान लेने और स्पष्ट आज्ञा सुनकर भी तदनुसार कार्य नहीं करते, वे पुत्र या शिष्य अधम श्रेणी अर्थात् नीच कक्षा के होते हैं ।

मैं तो बहुत से शिष्यों में से प्रथम श्रेणी के आचरण पर चलने वाला होने से प्रथम श्रेणी का हूँ, भला क्योंकि उनकी आज्ञा से पहिले ही उनके मनोभाव को समझकर उनका काम-काज कर देता हूँ । उनको कहने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती । बहुत से शिष्यों से मध्यम श्रेणी का भी हूँ क्योंकि कभी-कभी उनकी आज्ञा मिलने पर काम काज करता कराता हूँ । परन्तु अधम कक्षा का बालक मैं नहीं हूं कि जो आज्ञा मिले और सेवा न करूँ अर्थात् कानों पर टाल दूँ । ऐसा तो मैंने कभी किया ही नहीं । फिर पता नहीं कि पिता जी ने मुझे ऐसा क्यों कहा ? मैं यह भी समझता हूँ कि मृत्यु देवता का भी ऐसा कौनसा काम-काज अटका पड़ा है जिसको पिता जी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं । हाँ, कुछ ऐसा जान पड़ता है कि पिता जी ने मेरे बार-बार के पूछने से क्रोध के आवेश में आकर कह दिया है । कुछ भी हो, पिता जी का वचन तो सत्य करना ही चाहिये और उन्हें शान्त भी करना ही चाहिये ।

यह विचार कर नचिकेता एकान्त में पिता के पास जाकर उनकी शोक-निवृत्ति के लिये इस प्रकार नम्रता पूर्वक कहने लगा—हे पिता जी ! अपने पिता, पितामह आदि पूर्वजों का आचरण देखिये और इस समय के दूसरे श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण भी देखिये । उनके चरित्रों में न कभी पहले असत्य था और न अब है । असाधु लोग ही असत्य का आचरण किया करते हैं परन्तु, उस असत्य आचरण से कोई अजर-अमर नहीं हो सकता । मनुष्य मरणधर्मा है । यह अनाज की तरह जरा जीर्ण होकर मर जाता है और अनाज की भांति ही कर्मवशात् फिर जन्म ले लेता है । अतएव इस अनित्य जीवन के लिये मनुष्य

को अपने कर्तव्य का त्याग करके मिथ्या आचरण कभी भी नहीं करना चाहिये। अतः आप शोक न कर, अपने सत्य वचन का पालन कर, मुझे मृत्यु अर्थात् यमराज के पास जाने की अनुमति दीजिये।

नचिकेता के यह वचन सुन कर उद्दालक को बड़ा दुःख हुआ, परन्तु पुत्रकी सत्य-परायणता देखकर उन्होंने उसे यमराज के पास जाने की आज्ञा दे दी। नचिकेता पिता की आज्ञा पाकर मूर्छित हो गया और यमपुरी में पहुँच गया। नचिकेता को यमपुरी में पहुंच कर पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गए हुए हैं। हे शिष्य ! नचिकेता तीन दिन तक अन्न-जल ग्रहण किये बिना ही यमराज की प्रतीक्षा करता रहा। यमराज के आने पर उनकी धर्मपत्नि ने जल आदि दे कर उनको सन्तुष्ट किया और कहने लगी कि हे पतिदेव ! देखो साक्षात् अग्नि ही मानो तेज से प्रज्वलित होकर ब्राह्मण अतिथि के रूप में हमारेघर पधारे हैं। साधु हृदय गृहस्थ अपने ही कल्याण के लिये, अतिथिरूप अग्नि के शान्ति के लिये सर्व-प्रथम उसे जल अर्थात् पाद्य-अर्घ्य आदि दिया करते हैं। इसलिये, हे सूर्यपुत्र ! काम-काज छोड़कर आप जल्दी से उस ब्राह्मण बालक के पैर धोने के लिये जल ले जाइये ! हे देव ! यह अतिथि केवल चार-पाँच साल की आयु वाला ही जान पड़ता है, परन्तु लगातार तीन दिन से आपकी बाट में अन्न-जल किये बिना ही खड़ा है। अतः आप स्वयं उसकी सेवा सत्कार करें, तो वह शान्त होगा।

हे महाराज ! जिसके घर पर अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है, उस मन्दबुद्धि मनुष्य की अनेक प्रकार की आशा, उनकी पूर्ति से होने वाले सब प्रकार के सुख, सुन्दर भाषण के फल, यज्ञ आदि इष्ट कर्म तथा कूप, तालाब, धर्मशाला, पाठशाला आदि के निर्माण रूप सब पूर्त कर्म एवं उनके फल सब नष्ट हो जाते हैं। हे पतिदेव ! इतना ही नहीं, घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार न करने, अन्न-जल आदि की बात न पूछने से गृहस्थी को पूर्व पुण्य से प्राप्त हुए पुत्र, पशु तथा धन भी नष्ट हो जाता है।

पत्नि के ऐसे वचन सुनकर धर्ममूर्ति यमराज तुरन्त नचिकेता के पास गए। पाद्य-अर्घ्य आदि द्वारा अनेक प्रकार से उसकी पूजा की और कहने लगे—हे ब्राह्मण देवता ! आप नमस्कारादि के योग्य मेरे माननीय अतिथि हैं। मुझे तो चाहिये था कि मैं गृहस्थ आश्रम में रहता हुआ यथायोग्य पूजन-सेवन करके आपको सन्तुष्ट करता, परन्तु मेरे प्रमाद से आप लगातार तीन दिन भूखे प्यासे खड़े हैं ! हे बालक ! मुझसे यह बड़ा अपराध हो गया है। आपको नमस्कार है। हे ब्रह्मन् ! मेरे इस दोष की निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो।

हे नचिकेता ! वैसे तो किसी भी शरीरधारी को मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं होता। जिस मनुष्य की आयु बाकी रहती है, मैं कभी उस मनुष्य को पृथ्वी लोक से अपने लोक में नहीं बुलाता। पता नहीं, तुम बिना बुलाये ही मेरे लोक में कैसे आगए ? मैं सब जीवों पर पक्षपात छोड़ कर समान भाव रखता हूँ, इसीलिये मुझको धर्मराज कहते हैं। हे नचिकेता ! मैं जानता था कि यज्ञ आदि कर्म करने से मोक्ष नहीं मिलता, किंतु मैं पक्षपात के कारण अग्निहोत्र आदि कर्म करता ही रहा जिसका फल आज यह है कि मैंने यमराज का पद पाया जोकि हत्यारों का काम है। मैं चाहता हूं कि आप मेरी प्रतीक्षा में की गई अपने उपवास की प्रत्येक रात्रि के बदले में एक-एक वर अपनी इच्छा के अनुसार मुझसे माँगें। मैं देने को समर्थ हूँ।

हे शिष्य ! तपोमूर्ति अतिथि ब्राह्मण बालक के अनशन व्रत से भयभीत होकर धर्मज्ञ यमराज ने जब इस प्रकार कहा, तब पिता को सुख पहुँचाने की इच्छा से नचिकेता बोला—हे मृत्युदेव ! तीन वरों में से प्रथम वर यही मांगता हूँ कि मेरे गौतम वंशीय पिता उद्दालक, जो क्रोध के आवेश में आकर मुझे आपके पास भेजकर अब स्वयं अशान्त और दुःखी हो रहे हैं, मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्त चित्त और सब प्रकार से सन्तुष्ट हो जायें। आपकी अनुमति पाकर जब मैं घर जाऊँ तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेता के रूप में पहिचान कर मेरे साथ पूर्ववत् बड़े स्नेह से बातचीत करें।

हे शिष्य ! यमराज ने कहा कि हे नचिकेता ! यह कितनी सी बात है ! जा, ऐसा ही होगा। तुम को मृत्यु के मुख से छूटा हुआ जानकर, घर लौटा हुआ देखकर, मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पिता अरुणपुत्र उद्दालक बड़े ही प्रसन्न होंगे। तुम को अपने पुत्र के रूप में पहिचान कर तुमसे पूर्ववत् प्रेम करेंगे तथा उनका दुःख और क्रोध सर्वथा शान्त हो जायगा। इतना ही नहीं, तुम्हें पाकर अब वे जीवन भर सुख की नींद सोयेंगे।

हे शिष्य ! इस वरदान को पाकर नचिकेता फिर कहने लगा—हे यमराज ! मैंने अपने पितादिकों के मुख से सुना है कि स्वर्गलोक बड़ा ही सुखकर है। वहाँ किसी प्रकार का भी भय नहीं है। स्वर्ग में न तो कोई बुड्ढा होता है, और जैसे मृत्युलोक में अपमृत्यु के द्वारा लोग मारे जाते हैं (अर्थात् तलवार, बर्छी, बल्लम, कुल्हाड़े आदि से छेदन करते हैं) वैसे स्वर्ग में मृत्युकालीन संकट भी नहीं है। हे यमराज ! यहाँ जैसे प्रत्येक प्राणी भूख और प्यास दोनों की ज्वाला से जलते-भुनते हैं, वैसे वहाँ पर नहीं जलना-भुनना नहीं पड़ता। मैंने सुना है कि वहाँ के निवासी शोक से तरकर सदा आनन्द भोगते हैं। मैंने यह भी सुना है कि वह स्वर्ग अग्नि-विज्ञान को जाने बिना नहीं मिलता। हे मृत्युदेव ! आप उस स्वर्ग के साधन भूत अग्नि-विज्ञान को यथार्थ रूप से जानते हैं, क्योंकि आप सद्गृहस्थ हैं। मेरी उस अग्निविद्या में तथा आप में श्रद्धा है। श्रद्धावान् तत्व का अधिकारी होता है, अनधिकारी नहीं होता। अतः आप कृपया मुझको उस अग्निविद्या का उपदेश कीजिये जिसे जानकर मनुष्य स्वर्ग लोक में रहकर देवत्व को प्राप्त होते हैं। यह मैं आपसे दूसरा वर मांगता हूं।

यमराज—हे नचिकेता ! तू ठीक कहता है। मैं उस स्वर्ग की साधनरूपा अग्निविद्या को भली-भांति जानता हूँ और तुमको यथार्थ रूप से बतलाता हूँ। तुम इसको अच्छी तरह से सुनो। यह अग्निविद्या विनाश रहित लोक की प्राप्ति कराने वाली है और उसकी आधार स्वरूपा है। परन्तु तुम ऐसा समझो कि यह है अत्यन्त गुप्त। विद्वानों की हृदय-गुफा में छिपी रहती है। अर्थात् अनधिकारी को नहीं बतानी चाहिये, इसका यही तात्पर्य है।

हे शिष्य ! इतना कहकर यमराज ने उस स्वर्ग की कारणरूपा अग्नि विद्या का उस नचिकेता को उपदेश दिया। अग्नि के लिये कुण्ड आदि बनवाने में किस प्रकार की, कैसी और कितनी ईंटें चाहियें एवं अग्नि का चयन किस प्रकार किया जाना चाहिये ?—यह सब भली भाँति समझाया। इसके पश्चात् नचिकेता की बुद्धि तथा स्मृति की परीक्षा के लिये यमराज ने नचिकेता से पूछा कि हे ऋषिकुमार ! तुमने जो कुछ समझा हो वह मुझे क्रमानुसार जरा सुना भी तो दो। तब फिर जो कुछ कहना होगा मैं तुमसे कहूंगा। तीक्ष्ण बुद्धि नचिकेता ने सुनकर जैसा यथार्थ समझा था, सब ज्यों का त्यों सुना दिया। हे शिष्य ! यमराज उसकी विलक्षण स्मृति और प्रतिभा को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और कहने लगे- हे

नचिकेता ! इस अग्नि विद्या के कथन में मैंने पांच दिशाओं का पूजन कथन नहीं किया, उसको ‍ लो। माता-पिता को पूर्व रूप जानो और गुरु को दक्षिण दिशा रूप जानो। स्त्री को पश्चिम दि जानो और मित्र-बांधवों को उत्तर दिशा रूप जानो। कर्मचारियों को नीचे की दिशा रूप जानो औ ब्राह्मणों तथा अतिथियों को ऊपर की दिशा जानो।

पूर्व दिशा अर्थात् माता-पिता की पूजा पांच अंगों द्वारा होती है—(१) उनकी आज्ञानुस करना। (२) उनकी तन-मन से सेवा करना। (३) अपने कुल में जो शुभ काम चले आते हों, बराबर करते रहना। (४) उनकी सम्पत्ति का हिस्सेदार बनना। (५) उनके मरने पर उनके नाम धर्म, उनकी तेरहवीं, वर्षी, श्राद्ध, तर्पण, दशवां, एकादशा, द्वादशा आदि कर्म करना। हे नचिके पांचों अंगों द्वारा पूजित माता-पिता संतान पर पाँच प्रकार से कृपा करते हैं। पहले तो पुत्र को पा रोकते और शुभ कर्म में जोड़ते हैं। पढ़ना-लिखना सिखाते हैं तथा बहुत अच्छे कुलों की लड़की विवाह करते हैं और अपने मरने पर तमाम सम्पत्ति को दे जाते हैं। कोई उसके ऊपर झगड़ा ब छोड़ जाते। यही दक्षिण दिशा की पूजा है।

हे नचिकेता ! गुरु की पूजा के भी पांच भेद हैं—(१) गुरु के समीप आते ही एक दम जाना। (२) गुरु के बीमार होने पर उनकी तन मन से सेवा करना, और उसमें अपने नित्य कर्मों का भी ख्याल न करना (३) उनकी दी हुई शिक्षा को श्रद्धा पूर्वक समझ लेना। (४) उन काम-काज करना। (५) जो विद्या वे दान करें, उसको उत्तम रीति से ग्रहण करना—अर्थात् शुद्धि पूर्वक रहकर ग्रहण करना। इन पाँच प्रकारों से पूजित गुरु अपने शिष्य पर पाँच प्रकार के अनु कराते हैं। एक तो गुरु सदाचार सिखाते हैं। दूसरे अपनी उत्तम विद्या शिष्य को दान के रूप में हैं। तीसरे अपने भक्तों तथा साधुजनों में उसका गुण वर्णन करते हैं। चौथे शिष्य को खाने अड़चन उठानी नहीं पड़ती, इसकी गुरु लोग अच्छे प्रकार व्यवस्था कर देते हैं। पाँचवें शिष्य को तथा उद्दण्डता से बचाते हैं। हे नचिकेता ! जिसने तीन बार नाचिकेत अग्नि का अनुष्ठान कि माता-पिता एवं गुरु,—इन तीनों से शिक्षा पाकर या वेद-स्मृति और शिष्ट पुरुषों से सम्बन्ध अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-इन तीनों प्रमाणों को समझकर यज्ञ वेदाध्ययन और इन तीनों कर्मों को करता है, वह जन्म और मृत्यु के पार हो जाता है।

हे नचिकेता ! यह अग्नि हिरण्यगर्भ ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सर्वज्ञ है, इस कारण करने योग्य है। ज्ञानादि गुण वाला है। इसके स्वरूप को शास्त्र से जानकर और इसका बुद्धि करके पुरुष परम शान्ति पाता है। अर्थात् विराट पद को प्राप्त होता है। हे नचिकेता ! तुमको हूँ कि वह अग्नि तेरे ही नाम से इस लोक में प्रसिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त विचित्र मणियों माला भी तू ग्रहण कर। हे नचिकेता ! जो तीन बार नचिकेता अग्नि की उपासना करने वाला कि किस प्रकार की, कैसी ईंटें हों और कितनी संख्या में हों एवं किस प्रकार से अग्नि का जाय ?—इसके तत्व को जानकर नचिकेताग्नि यज्ञ को जो समाप्त करता है, वह अधर्म-अज्ञा राग-द्वेष रूप मृत्यु के पाशों को शरीरपात होने से पहले ही काट कर मानसिक दुःखों से वि विराट के आत्मस्वरूप की प्राप्ति से विराट रूप स्वर्ग में सुख पाता है। हे नचिके वर से जिसअग्नि को तुमने पूछा था, वही स्वर्गदायक अग्निविद्या मैंने तेरे लिये कही।

में लोक इस अग्निविद्या को तुम्हारे नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेता! अब तू तीसरा वर भी मांग ले।

हे शिष्य! यमराज के इस प्रकार कहने पर नचिकेता ने कहा कि हे भगवन्! मरे हुए मनुष्य के सम्बन्ध में बड़ा संदेह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मरने के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं रहता। इस कारण मुझको आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से भी नहीं होता। परन्तु परम पुरुषार्थ इस विज्ञान के ही आधीन है, इसलिये आप मुझे अपना अनुभव सुनाइये ताकि मैं इस विज्ञान को भली भाँति समझ जाऊँ। बस, यही मैं तीसरा वरदान मांगता हूँ और आपके जो लोक हैं, उनके भी दर्शन करना चाहता हूँ।

गुरु—हे शिष्य! नचिकेता का यह तीसरा महत्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराज ने मन ही मन उसकी प्रशंसा की और विचार करने लगा कि देखो, ऋषिकुमार पाँच साल का बचा होने पर भी बड़ा ही बुद्धिमान है। कैसे गोपनीय विषय को तीसरे वर से लेना चाहता है। परन्तु आत्मतत्व तो अधिकारी के प्रति ही कहना चाहिये। अनाधिकारी के प्रति आत्मतत्व का उपदेश करना हानिकर होता है। अतः प्रथम पात्र की परीक्षा करनी जरूरी है। यों विचार कर यमराज ने इस तत्व की कठिनता का वर्णन करके नचिकेता को टालना चाहा और कहा—

यमराज—हे नचिकेता! यह आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसका समझना कोई दिल्लगी की बात नहीं है जो मैं जल्दी से कह दूँ और तू समझ ले। पहले देवताओं को भी इस विषय में सन्देह हुआ था। उनमें भी बहुत विचार-विनिमय हुआ था, परन्तु वे भी इसको नहीं जान पाये। अभी तुम बालक हो, तुम को इस तत्व से कोई लाभ नहीं। अतएव तुम और कोई दूसरा वर माँग लो। मैं तुमको तीन वर देने का वचन दे चुका हूं, इसलिये मैं तुम्हारा ऋणी हूं। पर तुम इस वर के लिये, जैसे धनी कर्जदार को कसता है अर्थात् दबाता है, वैसे मुझको मत दबा। इस आत्मतत्व विषयक वर को मुझे लौटा दे, इसको मेरे लिये ही छोड़ दे।

हे शिष्य! नचिकेता आत्मतत्व की कठिनता की बात सुनकर मन में किञ्चित् भी नहीं घबराया और न उसका उत्साह ही मन्द हुआ। वह अपनी दृढ़ता के साथ कहने लगा कि हे मृत्यो! आप जो यह कहते हैं कि पूर्व काल में देवताओं ने भी आत्मा के विषय में विचार किया था तथा वह भी इसे जान नहीं पाये थे और आप स्वयं यह भी कह रहे हैं कि इस विद्या को सहज में नहीं जाना जा सकता। तब तो बहुत खोजने पर भी मुझको आपके समान कोई भी विद्वान् नहीं मिलेगा। आप कहते हैं कि इस वर को छोड़कर कोई दूसरा वर माँग ले, परन्तु मैं समझता हूँ कि इसके समान तो और कोई वर है ही नहीं। हे यमराज! अन्य वरदानों का फल तो अनित्य ही है, इसलिये कृपा करके मुझे इसी का उपदेश दीजिये।

यमराज—हे नचिकेता! तुम बड़े भोले-भाले बच्चे हो, क्या करोगे इस वर को लेकर? इसे छोड़ो, देखो, तुम सौ-सौ वर्ष की आयु वाले बेटे-पोते माँग लो, बड़े परिवार-कुटुम्ब को माँग लो, गौ आदि पशुओं को माँग लो, हाथी, घोड़े, सुवर्ण माँग लो अथवा पृथ्वी के बड़े विस्तार वाले मण्डल अर्थात् चक्रवर्ती राज्य को माँग लो। यदि तू कहे कि मैं थोड़ी-सी आयु के लिये इन सब को लेकर क्या करूँगा? तो तू अपनी इच्छानुसार जितने वर्षों तक रहना चाहे, उतने वर्षों तक शरीर और सब इन्द्रियों की शक्ति के

साथ-साथ जीवित रहना भी माँग ले। हे नचिकेता! इस वर के समान यदि तू किसी अन्य दूसरे समझता हो, तो उसे भी माँग ले। मैं तुमको सब कुछ दे सकता हूँ।

यदि देवता और मनुष्यों के कोई से भी योग्य भोगों को तू भोगना चाहे तो मैं तुझे योग्य कर सकता हूं। जो-जो भोग मृत्युलोक में मनुष्यों को मिलने कठिन हैं, उन सबको तुम अपनी इच्छानुसार माँग लो। रथों और अनेक प्रकार के बाजों सहित स्वर्ग की बड़ी-बड़ी सुन्दर अप्सराओं को लो जो कि मनुष्यों को नहीं मिल सकतीं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिनके लिये ललचाते रहते हैं, मैं तुम्हें सहज ही दे रहा हूं। तुम इनको ले जाओ, इनसे अपनी मनमानी सेवा कराओ और भोग करो; परन्तु मरने के पश्चात् प्राणी की क्या दशा होती है?—इस प्रश्न को मुझसे मत पूछो भोले बच्चे! चल, तुझे मैं अपना वैभव भी दिखा दूँ। तू जरा स्वर्ग की सैर तो करले। देख, किस प्रकार का सुख है। यह स्वर्गवासी किस प्रकार से सुख का आनन्द लूट रहे हैं।

नचिकेता—हे सबका अन्त करने वाले यमराज! आपने जिन भोग्य वस्तुओं की महिमा बाँधे हैं, वह सभी क्षणभंगुर हैं। कल तक रहेंगे या नहीं,—इसमें भी सन्देह है। यह अप्सरादिक मनुष्यों की तमाम इन्द्रियों के तेज का नाश कर देते हैं। हे यमराज! ये भोग नहीं वरन् रोग हैं, आनन्द दायक नहीं, अनर्थकारी हैं। आप जो बड़ी लम्बी आयु देते हैं, वह आयु तो ब्रह्मा की भी है, क्योंकि एक दिन उसकी भी समाप्ति हो जाती है। इसलिये यह सब तो अनर्थ के कारण हैं और दिन अवश्य नाश को प्राप्त होने वाले हैं। रथ, घोड़े, हाथी एवं नाच-गाने को आप अपने ही पास रखें, मैं इनको नहीं चाहता।

धन से मनुष्य कभी भी तृप्त नहीं हो सकता। जैसे अग्नि में घृत-लकड़ी डालने से वह और भी भड़कती है तथा लपलपाती है, उसी प्रकार धन और भोगों की प्राप्ति से भोग-कामना का और भी विस्तार होता है। हे यमराज! इनसे भला कैसी तृप्ति और कैसी शान्ति? वहाँ तो दिन-रात तृष्णा की अग्नि में ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखरूप धन-भोगों को कोई भी बुद्धिमान पुरुष नहीं माँगेगा। अपने जीवन-निर्वाह के लिये जितने धन की जरूरत होगी, उतना तो मुझे आपके दर्शन से ही मिल जायगा, इसकी मुझको कोई चिन्ता नहीं है। रही दीर्घ जीवन की बात-चीत,—सो जब तक मृत्यु पर आपका शासन है, तब तक मुझे मरने का भी भय क्यों होगा? भला मुझे मारने के लिये कौन है? इसलिये किसी भी दृष्टि से मुझे दूसरा वर माँगना उचित नहीं मालूम होता। आत्मतत्व विषयक वर को मैं लौटा नहीं सकता।

हे यमराज! आप ही बताइये कि भला आप सरीखे अजर-अमर देवताओं का दुर्लभ सत्संग प्राप्त करके मृत्युलोक का जन्म-मरणशील ऐसा कौन बुद्धिमान मनुष्य होगा जो अविवेकी माँगने योग्य पुत्र आदि नाशवान् पदार्थों को माँगेगा? विवेकी मनुष्य अनित्य पदार्थों के लालच में पड़ेगा, न अप्सरा आदि के सौन्दर्य, क्रीड़ा तथा आमोद-प्रमोद में आसक्त होकर उनकी तरफ ध्यान करेगा और न इस लोक में बहुत काल तक जीवित रहने में ही आनन्द मानेगा। इसलिये, मुझको अनित्य विषयों के प्रलोभन में न डाल कर, मैंने जो वरदान माँगा है, तदनुसार आत्मविद्या तत्व ही मुझको सुनाइये। मनुष्य का मरण होने पर बड़े भारी परलोक में आत्मा की न जाने

होती है ? जाने आत्मा रहता भी है या नहीं ? उसके सम्बन्ध में निर्णयात्मक जो आपका अनुभूत ज्ञान हो, मुझे कृपा पूर्वक उसी का उपदेश दीजिये। यह आत्मतत्त्व सम्बन्धी वर अत्यन्त गूढ़ है, यह सत्य है। परन्तु आपका शिष्य भोला-भाला बचा नचिकेता इस वर को छोड़कर अज्ञानियों के माँगने योग्य और किन्हीं अनित्य पदार्थों की प्राप्ति का वर नहीं माँग सकता। चाहे आप कुछ भी कहें,—मैं अपनी हठ नहीं छोड़ सकता। वैसे भी देखो तो बच्चे हठीले ही हुआ करते हैं।

हे शिष्य ! इस प्रकार परीक्षा करके जब यमराज ने समझ लिया कि नचिकेता दृढ़ निश्चयी, परम वैराग्यवान् एवं निर्भयात्मक है, अतः ब्रह्मविद्या का उत्तम अधिकारी है, मध्यम अधिकारी नहीं है। तब ब्रह्मविद्या का उपदेश आरम्भ करने से पहले उसका महत्त्व प्रकट करते हुए यमराज ने कहा—हे नचिकेता ! तुझमें आत्मविज्ञान की योग्यता जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूं। देख, वेदों में सुख तथा शान्ति के दो प्रकार के साधन बताये गये हैं। एक तो श्रेय अर्थात् मोक्ष का साधन जो कि तमाम दुःखों से सर्वथा छूटकर नित्यानन्द स्वरूप प्राप्त करने का उपाय अर्थात् तत्वज्ञान रूप विद्या है। दूसरा प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यश आदि इहलोक और स्वर्गलोक की जितनी भी प्राकृत सुख भोगने की सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय। अपने-अपने ढंग से सुख देने वाली विद्या-अविद्या दोनों के ही साधन मनुष्य को बाँधते हैं। यह दोनों ही अलग-अलग पदार्थ हैं और इनके प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं। जो कोई मोक्ष की इच्छा वाला विद्या का आश्रय लेकर और भोगों की तरफ से विरक्त होकर श्रेय को अपना लेता है, वह संसार की गुलामी से छुटकारा पा जाता है, और जो अदूरदर्शी मूढ़ पुरुष अविद्या रूपी प्रेय को ग्रहण करता है, वह परम पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। उसकी बड़ी दुर्गति होती है।

हे नचिकेता ! अधिकतर मनुष्य तो पुनर्जन्म में विश्वास न होने के कारण इस विषय में विचार ही नहीं करते। वे लोग भोगों में आसक्त होकर अपने देवदुर्लभ मनुष्य जीवन को पशुवत् भोगों के भोगने में ही समाप्त कर देते हैं। परन्तु जिनका पुनर्जन्म और परलोक में विश्वास है, उन विचारशील मनुष्यों के सामने जब यह श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनों के गुण और दोषों पर विचार करके दोनों को पृथक्-पृथक् समझने की चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धिमान होता है वह तो पानी और दूध विवेकी हंस की नाईं प्रेय साधन की उपेक्षा करके श्रेय को ही ग्रहण कर लेता है। अल्पबुद्धि वाला अधीर पुरुष विवेक शक्ति के अभाव से श्रेय के फल में अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले लौकिक योगक्षेम की सिद्धि के लिये (अर्थात् शरीर की वृद्धि और रक्षा के लिये) पुत्र, कलत्र, पशु, धनादि प्रेय पदार्थों को ही अपनाता है। जो मानव-जीवन का लक्ष इनकी प्राप्ति मात्र ही जानता है, वह भी पशु के समान ही है।

हे नचिकेता ! मैंने तुझको बार-बार पुत्र, पौत्र, घोड़े, गौएँ, धन-सम्पत्ति, भूमि आदि अनेकों लोभनीय भोगों का प्रलोभन दिया तथा प्रत्यक्ष दर्शन भी करा दिया, परन्तु तुमने भोगों की अनित्यता को विचार कर उन सबको सहज ही त्याग दिया। जिसमें निन्दित मूढ़जन आसक्त होकर अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं, उस रत्न जटित माला स्वरूप कर्म की खोटी वासना में तू आसक्त नहीं हुआ। इस कारण तू सच्चा विवेकी शूरवीर पुरुष है। मैं तुमको शाबाशी देता हूं। तुमको और तुम्हारे माता-पिता को धन्य है कि जिनके कुल में ऐसा त्यागी पुत्र उत्पन्न हुआ। हे नचिकेता ! जो संसारी पुरुष अविद्यारूपी अंधेरे में पड़कर पुत्र, पशु आदि की तृष्णारूप सैंकड़ों पाशों से बँधकर भी बुद्धिमान, विद्वान् और शास्त्रों

में प्रवीण होने का अभिमान करते हैं, वे मूढ़ जरा-मरण रोग आदि दुःखों के कारण अति कुटिल प्रकार की दुर्दशाओं को भोगते हुए चारों तरफ घूमते रहते हैं।

जिनका अगुआ ही अंधा है अर्थात् अविवेकी विषयासक्त पुरुष अंधे के समान है और रास्ता बताने वाले भी अविवेकी अंधे ही मिल जाते हैं। जिस प्रकार ऐसे लोग अपने अभीष्ट स्थान नहीं पहुंच सकते, अन्धे गढ़े और कांटों के दुर्गम मार्ग में पड़ जाते हैं, वैसे ही ये विद्या के मद में रहने वाले पण्डित भी बड़े-बड़े कष्टों में पड़ जाते हैं। मैं यमराज उनकी खूब खबर लेता हूँ और करता हूँ। हे नचिकेता! तुमको धन्य है कि जो धन आदि को अंगीकार नहीं किया, क्योंकि धन से मोहित अविवेकी बालक अर्थात् प्रमाद करने वाले अज्ञानी को नर्क-स्वर्ग नहीं सूझा करता है। यही समझता है कि यही एक मात्र लोक है। यहां जितना विषय-सुख लिया जाय, उतनी ही बुद्धिमानी। इसके आगे क्या है? परलोक किसने देखा है? परलोक तो बहकावा है। हे नचिकेता! ऐसा मानने वालों की मैं खूब खबर लेता हूँ। मेरे यहां ऐसों के लिये ही यह तैल के कढ़ाह गरम किये जा रहे हैं। भूने जायेंगे।

हे शिष्य! यमराज आगे कहने लगा कि हे नचिकेता! आत्मतत्व कोई साधारण सी बात है। देख, संसार में बहुत से तो ऐसे मनुष्य हैं कि जिनको आत्मतत्व की चर्चा तक सुनने को नहीं। ऐसे विषयासक्त पुरुष जागने से लेकर सोने तक केवल विषय अर्थात् खान-पान आदि की चर्चा करते रहते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जो सुन तो लेते हैं, परन्तु विषयासक्त भूत मन में धारणा ही नहीं होती। हे नचिकेता! तीसरी बात यह है कि आत्मतत्व का उपदेश करने वाले मिलना भी कठिन है। इसलिये इस आत्मतत्त्व के समझने में कठिनता ही है, सरलता नहीं।

हे नचिकेता! और भी सुन, कोई तो कहते हैं कि आत्मा है, कोई कहते हैं कि नहीं। कहते हैं कि आत्मा कर्ता है, कोई अकर्ता बताते हैं। कोई कहता है कि आत्मा शुद्ध है, अशुद्ध कहते हैं। इस प्रकार वादी लोग आत्मा के विषय में अनेकों प्रकार के वितण्डा करते हैं। इनमें से किसी को भी आत्मतत्व का ज्ञान नहीं होता, जब तक कि कोई सूक्ष्मदर्शी तत्व ज्ञानी इसका उपदेश न करे। हे परम प्यारे! तुम्हारी इस पवित्र निर्मल बुद्धि को मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई है। मैं कुछ कह नहीं सकता। जैसी निष्ठा तुम्हारी है, वैसी कभी नहीं प्राप्त होती, किन्तु शास्त्र के जानने वालों को गुरु के उपदेश और शास्त्र के उत्पन्न होकर यह आत्मज्ञान की निष्ठा भले प्रकार अवश्य बन जाती है। तुमने जो मेरे बुद्धि पाई है, यही तो तर्क अगम बुद्धि है। बड़े ही आनन्द और खुशी की बात है कि सत्य वस्तु आत्मज्ञान के धारण का निश्चय किया। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे समान तत्व का प्रश्न करने वाले ही मिला करें।

हे शिष्य! प्रसन्न हुए यमराज नचिकेता से फिर कहने लगे कि हे नचिकेता! फलस्वरूप प्राप्त खजाना अनित्य है, यह मैं जानता हूँ। और यह भी सिद्ध है कि अनित्य आदि के द्वारा नित्य वस्तु आत्मा नहीं मिल सकता, यह भी मैं जानता हूँ। तो भी द्रव्य अर्थात् पशु आदि द्वारा नचिकेत नामक अग्नि का साधन किया है, जिसके द्वारा पदार्थों की अपेक्षा इस नित्य यम पदवी को पाया है, अर्थात् मैं अजर अमर हुआ हूँ।

अमर पदवी पाई है, उसमें मुझको सब कामना प्राप्त हुई हैं। मैं सब जगत् का आश्रय हूँ। यज्ञ का फल इससे अधिक नहीं हो सकता। मुझको अभय की परम पदवी मिली है। तमाम जीव-जन्तु मेरी स्तुति करते हैं तथा मुझको अणिमा आदिक सिद्धियों का बड़ा भारी ऐश्वर्य मिला है। यह सब मैं तुमको देता था, परन्तु तुमने इन सबको अनित्य जानकर त्याग दिया। तुम्हारा मन किंचित भी उनमें नहीं ललचाया। तुम अपने निश्चय पर दृढ़ और अटल रहे। मैं तुमको शाबाशी देता हूँ कि तुम केवल आत्मतत्व को ही सब से उत्तम और बड़ा जानकर उसी के हेतु धैर्य के साथ अटल खड़े रहे। यह कोई साधारण सी बात नहीं, बड़ी कठिन है। तुम्हारे इस त्याग और धैर्य की मैं कहाँ तक प्रशंसा करूँ? वास्तव में तुम सर्वोत्तम गुणों से युक्त ऋषिपुत्र हो। कुछ ऐसा जाना जाता है कि तुम आत्मतत्व को जानने के अधिकारी हो।

हे शिष्य! आत्मतत्व की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये यमराज फिर कहने लगा—हे बालक नचिकेता! वह आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दीखना कठिन है। बड़ा गहन है। बाहरी पदार्थों के ज्ञान से जानने में नहीं आ सकता। वह तो विचार बुद्धि होने पर ही जाना जाता है, इस कारण सबकी बुद्धि रूपी गुफा में स्थित है मानो बड़े ही दुर्गम देश में स्थित हो। हे नचिकेता! जो धीर पुरुष ऐसे आत्मा को अध्यात्म-योग अर्थात् चित्त को विषयों से खींच कर आत्मा में समाधि के द्वारा जान जाता है, वह सदा के लिये हर्ष-शोक, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्दों से पार हो जाता है अर्थात् मेरे समान पदवी को प्राप्त होता है।

हे नचिकेता! मैं तुम्हारे अर्थ जिस आत्मतत्व का उपदेश करूँगा, उस अध्यात्म विषयक धर्ममय उपदेश को ग्रहण करने के लिये प्रथम तो साधन चतुष्टय का अधिकारी बनना चाहिये, फिर ज्ञानी गुरु से उस तत्व को सुनना चाहिये। सुनकर उसका मनन करना चाहिए। फिर बुद्धि में उसको स्थिर करके तथा शरीर आदि पंचकोशों से प्रथक करके एवं निर्लेप होकर धीर साधक अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। वह साधक उस हर्ष दाता ज्ञान को पाकर परमानन्द पाता है। बोधवान की प्रसन्नता किसी हालत में भी नष्ट नहीं होती, ऐसा तू निश्चय कर। हे नचिकेता! तुम्हारे लिये तो उस परम धाम का द्वार खुला है अर्थात् तुमको वहाँ जाने से कोई रोक नहीं सकता। तुम मोक्ष के उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूं क्योंकि तुम तीव्र वैराग्य से युक्त हो।

हे शिष्य! यमराज के मुख से आत्मतत्व की महिमा सुनकर और अपने को उसका अधिकारी जानकर नचिकेता के मन में और अधिक आत्मतत्व की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। उसकी हिम्मत बढ़ गई और कहने लगा कि हे यमराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तथा मुझको आत्म-तत्व के ग्रहण करने के योग्य पात्र समझते हैं तो मेरे अर्थ आत्मतत्व का उपदेश कीजिये,—जो आत्म वस्तु शास्त्रों में कहे हुए धर्मानुष्ठान और अधर्माचरण के फल से भिन्न; कार्य कारण रूप प्रकृति से प्रथक और भूत वर्तमान तथा भविष्यत इन सबसे भिन्न है। जिस परमात्मतत्व को आप जानते हैं, उसे ही मुझको बतलाइये।

यम—हे नचिकेता! किंचित ध्यान देकर सुनो कि चारों वेद जिस परमपद का बारम्बार कथन करते हैं और सम्पूर्ण तप जिस पद का लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं, जिसको

चाहने वाले साधकगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद तेरे लिये थोड़े से में बतलाता। वह है—'ॐ'—यह एक अक्षर अर्थात् वह आत्मा ॐकार रूप है।

हे नचिकेता! यह ॐकार ही अविनाशी अपर (सगुण) ब्रह्म है। यही ॐकार अविनाशी प (निर्गुण) भी है, ऐसा जानकर जो साधक उपासना करता है वह जब अपर ब्रह्म को जानना चाह तो अपर ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को जान लेता है और जब परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) को जानना चाहता। परब्रह्म को जान लेता है। यह ओंकार ही परब्रह्म की प्राप्ति के लिए सब प्रकार के आलम्बनों में आलम्बन है अर्थात् उपासना का प्रतीक है। इससे श्रेष्ठ और कोई आलम्बन नहीं है। हे नचिकेता प्रकार इस आलम्बन को जानकर साधक (परब्रह्म या अपर ब्रह्मरूप) ब्रह्मलोक में महिमा पाता है।

हे शिष्य! इस प्रकार ओंकार को ब्रह्म और अपरब्रह्म,—इन दोनों का प्रतीक बताकर आत्मा के स्वरूप का कथन करते हैं कि—हे नचिकेता! यह आत्मा उत्पन्न नहीं होता और इसका भी नहीं होता है। यह सर्वज्ञ है। सब प्रकार के विकारों से रहित है। इसी कारण शास्त्र आदि से का वध होने पर भी आत्मा का वध नहीं होता। जो मनुष्य शरीर को ही आत्मा मानकर—'मैं इ का हनन करूँगा' अथवा 'आत्मा हनन किया गया है'—ऐसा मान लेते हैं, वे दोनों ही अज्ञानी आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते। यह आत्मा आकाश आदि से भी अति सूक्ष्म है। देव, ब्र लेकर चींटी पर्यन्त तमाम प्राणियों के हृदयरूप गुफा में यह स्थित है। जो पुरुष कामना रहित है, बु के शुद्ध होने पर आत्मा की महिमा का दर्शन कर पाता है। फिर उसको लाभ-हानि आदि के कारण शोक नहीं होता,—ऐसा तू निश्चय कर।

हे नचिकेता! यह आत्मा स्थित होता हुआ भी मन आदि की उपाधि के साथ मिलकर तक दूर जाता है और सोता हुआ अचल होकर भी स्वप्न आदि में इन्द्रियों के साथ-साथ मिला सा सब तरफ विषयों में चक्कर लगाता है। तू अच्छी तरह समझ ले कि आत्मा में विरुद्ध धर्म भी हैं। उपाधि के कारण अहंकार सहित तथा अहंकार रहित, नाना रूप से दीखने वाले आत्मा को दूसरा भला कौन जान सकता है? हे नचिकेता! आत्मवान होकर अर्थात् शरीराभिमान त्याग कर आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। हे नचिकेता! यह आत्मा देव, पितर, मनुष्य आदि के शरीरों में स्थित होकर भी नित्य निर्विकार ही रहता है, परिच्छिन्न भाव को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि आकाश की तरह सर्वव्यापक और देश-काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित है। जो बुद्धिमान इस स्वरूप को—'मैं आत्मा हूँ'—इस दृढ़ भाव से जान लेता है, उसको कभी भी शोक नहीं करना पड़ता। वह दुनियाँ की हायवैला से छुटकारा पा जाता है। यही उसकी पहिचान है। आत्मविद तमाम शोकों से रहित होकर शोक से पार हो जाता है। किसी अवस्था में भी उसकी शान्ति भंग नहीं होती।

हे नचिकेता! यह आत्मा वेदों के पढ़ने से नहीं जाना जाता, न ग्रन्थों के उपदेश को बुद्धि भर लेने से ही यह प्राप्त होता है। यदि तू कहे कि फिर उसके जानने का कौन-सा तरीका है? तो आत्मा के द्वारा ही आत्मा का जानना संभव हो सकता है। जो अधिकारी आत्मा का साक्षात्कार करना चाहता है, उसके समीप में आत्मा अपने स्वरूप को आप ही प्रकाशित कर देता है अर्थात् जिन पर कृपा होती है वे ही अहं रूप से आत्मा को जान लेते हैं।

हे नचिकेता ! जो पुरुष पाप कर्मों में आसक्त हो रहे हैं, जिनका मन अशान्त रहता है तथा जिनका चित्त विक्षेपों से व्याकुल है, वे लोग आत्मा के स्वरूप को नहीं पा सकते। पाप कर्म से रहित, शान्त चित्त वाले ही आत्मा को पा सकते हैं। यह मेरी प्रतिज्ञा है, तू अच्छी तरह से समझ ले।

हे नचिकेता ! यह भी ध्यान रख कि मनुष्यमात्र आत्मा के दर्शन का अधिकारी नहीं है। मनुष्य शरीर में भी धर्मशील ब्राह्मण और धर्मरक्षक क्षत्रिय का शरीर परमात्मा की प्राप्ति के लिये अधिक उत्तम माना जाता है। किन्तु इन दोनों के शरीर भी काल स्वरूप परमात्मा के भोजन बन जाते हैं, तब साधारण मनुष्य शरीरों की तो बात ही क्या है ? सब को मारने वाला मैं मृत्यु भी उस परमात्मा की चटनी-तरकारी बन जाता हूँ। हे नचिकेता ! ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा मृत्यु संहारक परमात्मा को इन अनित्य मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा अन्य ज्ञेय वस्तुओं की तरह कैसे जाना जा सकता है ? जो सबको जानता है, उसको भला कोई दूसरा कैसे जानें ? यह पुरुष ही स्वयं अपने को तथा अन्य सबको भी जानता है।

हे नचिकेता ! जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही शरीर रूपी लोक में बुद्धिरूपी गुफा के अन्दर रहते हैं और छाया तथा धूप के समान स्थित हैं,—ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। जो पंचाग्नि गृहस्थ हैं, जिन्होंने तीन बार नचिकेता अग्नि के द्वारा अनुष्ठान किया है, वे भी ऐसा ही कहते हैं। केवल मैं ही नहीं कहता, यह तू समझ ले। यह पंचाग्नि विद्या अग्नि कर्म करने वाले यजमानों को दुःखरूप सागर से पार करने के लिये सेतुरूप है। इस कारण हमको अपने-अपने अधिकार के अनुसार इन दोनों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। हे नचिकेता ! तुम बालक हो, पहिले तुम्हें इस शरीर रूपी लोक का ज्ञान करा दूं। एक साधारण से अलङ्कार के द्वारा बताता हूँ, ध्यान देकर सुन !

इस आत्मा को रथी और शरीर को रथ जान। बुद्धि को सारथि, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़े और मन-इन्द्रिय रूपी घोड़ों के चलने के मार्ग विषयों को तू जान। जीवात्मा को भोक्ता जान। ऐसा तू निश्चय कर। हे नचिकेता ! जो सारथि विवेक-हीन होता है, उसके इन्द्रिय रूपी घोड़े वश में नहीं रहते और वे उसे कुमार्ग में ले जाकर पटक देते हैं। जरा तुम सावधान रहना। देखो, इन इन्द्रियों को विषयरूप प्रवृत्ति मार्ग से लौटा कर निवृत्ति मार्ग में ले जाना अर्थात् अपने स्वरूप का ध्यान रखना और भोग्य से भोक्ता को भिन्न समझना। हे नचिकेता ! जो विवेकवान् बुद्धिरूप सारथि और एकाग्र चित्त वाला सदा पवित्र रहता है, वह जरूर उस पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से फिर लौट कर नहीं आता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जो विवेक-हीन है, वह बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है और जो विवेकी है वह मरण के पश्चात् फिर जन्म नहीं लेता। यह आत्मा की सिद्धि हुई, असिद्धि नहीं।

हे नचिकेता और भी सुनो ! यह जो इन्द्रियें हैं उनसे विषय श्रेष्ठ हैं अर्थात् सूक्ष्म हैं। मन विषयों से भी सूक्ष्म है और बुद्धि मन से भी सूक्ष्म है। इस बुद्धि से भी सूक्ष्म सृष्टि का बीज रूप अव्यक्त, माया किंवा प्रकृति है। अव्यक्त से भी सूक्ष्म पुरुष है। इस पुरुष से श्रेष्ठ या सूक्ष्म और कुछ भी नहीं है। यही सबसे परे की गति जान। हे नचिकेता ! यह परम पुरुष, ब्रह्मादि सम्पूर्ण चराचर भूतों में रहता हुआ भी, माया के पर्दे में छिपा रहने के कारण, शरीराभिमानियों को प्रकाशित नहीं होता। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि वाले विवेकी पुरुष अति सूक्ष्म बुद्धि से इस आत्मा का दर्शन कर लेते हैं, जिसके विषय में तुमने प्रश्न किया है।

हे नचिकेता ! आत्मा के दर्शन का प्रकार भी सुन। प्रथम वाणी को मन में रोके अर्थात् वाणी की

खटपट को रोके और मन से मनन करे। फिर मन को भी बुद्धि में रोके। उस ज्ञान स्वरूप महानात्मा अर्थात् माया उपाधि वाले आत्मा किंवा हिरण्यगर्भ में लय करे। उस महानात्मा अर्थात् 'अस्मि' को साक्षी अर्थात् शान्त आत्मा में लय करे। तू यह समझ कि यह वाग् आदि इन्द्रि साक्षी शान्त आत्मा से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार दृढ़ निश्चय करो, यह भाव है।

हे नचिकेता! इस प्रकार मिथ्या ज्ञान के कारण फैले हुए नाम, रूप और कर्म आदि को पुरुष में विलीन करके साधक कृतकृत्य और परम शान्त हो जाता है। मैं डंके की चोट कहता हूँ मोक्ष की इच्छा वाले प्राणियो! तुम अविद्या की निद्रा से जाग पड़ो अर्थात् विषयों की आसक्ति को और आत्मा का दर्शन करने के लिये उठ बैठो। देखो, सब अनर्थों की कारण भयानक अज्ञान नाश करो। हे मूर्ख प्राणियो! तत्वज्ञानी आचार्यों को ढूँढ़कर और उनके उपदेश पाकर उस परमात्म 'अहमस्मि'—'मैं हूँ'—इस प्रकार जान जाओ। उसकी उपेक्षा न करो, क्योंकि भगवती श्रुति कृपा करके कहती है कि तुम्हारे जानने योग्य विषय बड़ी सूक्ष्म बुद्धि से प्राप्त हो सकता है। जैसे धार पर कोई पैरों से नहीं चल सकता, उसी प्रकार विषयों का त्याग रूप तत्वज्ञान का मार्ग भी कठिन है, ऐसा बुद्धिमान कहते हैं।

हे परम प्यारे नचिकेता! तुमने जो आत्मा के विषय में प्रश्न किया था वह अति सूक्ष्म है। विषयों से स्पर्श नहीं करता, अर्थात् इनसे भिन्न वस्तु है। आत्मा अनन्त और एक रस शुद्ध वस्तु है आत्मतत्व को जान कर पुरुष मुक्त मौत के मुख से सदैव के लिये छूट जाता है।

हे शिष्य! जो बुद्धिमान पुरुष यमराज के कहे और नचिकेता के सुने हुए इस सनातन उप को ब्राह्मणों को सुनाता है और श्रेष्ठ आचार्यों से सुनता है, वह आत्मस्वरूप होकर ब्रह्मलो पूजा जाता है—ऐसा तू निश्चय कर। हे शिष्य! जो ब्राह्मणों की मण्डली में तथा श्राद्ध के समय हुआ, इन्द्रियों और मन को वश में करके इस परम गोपनीय अत्यन्त गूढ़ तत्व को सुनता-सुनाता है, किया हुआ श्राद्ध अत्यन्त फल को देने वाला होता है।

हे शिष्य! यमराज नचिकेता से फिर कहने लगे कि हे नचिकेता! इस आत्मा के साक्षात्का अधिकार सबको नहीं है। क्योंकि ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है, इसलिये यह प्राणी अनात्मभूत विषयों को ही देखता है। जो साधक विवेक, वैराग्य-सम्पन्न हैं, वही अमर भाव की करते हुए इन इन्द्रियों को विषयों से लौटाकर इस प्रत्यक्ष भूत आत्मा को देख पाता है। छोटी बुद्धि पुरुष तो सब-के-सब बाहर की अर्थात् विषयों की तरफ ही दौड़ लगाया करते हैं और इसी कारण मृत्यु के बड़े भारी पाश में बँध जाते हैं अर्थात् जन्म, मरण, जरा, रोग आदि अनेकों अनर्थों से शरीर, इन्द्रियादिक के संयोग-वियोग रूप दशा को प्राप्त हो जाते हैं। हे नचिकेता! इसी कारण पुरुष नाशवान पदार्थों में से किसी की भी मुक्त धर्मराज से याचना नहीं करते।

हे नचिकेता! इस आत्मा के द्वारा ही इन सब विषयों का अनुभव होता है। ऐसा कोई नहीं जो आत्मा से न जाना जा सके अर्थात् आत्मा स्वयं प्रकाश है और वही सबको प्रकाशित है। तुमने जिस आत्मा के विषय में प्रश्न किया है और देवताओं को भी जिसके विषय में सन्देह है धर्म आदि से भिन्न तत्व है, जो विष्णु का परम पद है, वही निश्चय आत्मा है। जितने भी स्वप्न

जाग्रत अवस्था के पदार्थ हैं, उन सब को जिसके द्वारा देखता है, उसी महान् व्यापक आत्मा को विद्वान् पुरुष –'अहं अस्मि'—'मैं हूं'—इस भाव से साक्षात्कार करके शोक, मोह आदि से पार हो जाता है। यही उसकी पहिचान है।

हे नचिकेता! और भी सुन। जो साधक इस कर्मफल को भोगने वाले प्राण आदि के धारण करने वाले आत्मा को अपने पास अर्थात् 'मैं' करके जानता है, वह भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों में रहता हुआ कभी किसी की निन्दा नहीं किया करता। यही वह है जिसके विषय में तुमने मुझ से पूछा था। हे नचिकेता! जिस प्रत्यगात्मा का पहिले ईश्वरभाव से कथन किया था, वही सर्व आत्मा स्वरूप है। यह बात तुम्हें समझाता हूँ। जो जल से उपलक्षित पांचों महाभूतों से पहिले हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के रूप में प्रगट हुआ था, जो अपने ही संकल्परूप तप से प्रकट होने वाला और सब जीवों के हृदयरूप गुफा में प्रविष्ट होकर उनके साथ रहने वाला, शब्दादि विषयों का अनुभव कर्ता और कार्य-कारण स्वरूप पञ्चभूतों के साथ में स्थित हैं, वह वही है, जिसके विषय में तुमने मुझसे पूछा था।

हे नचिकेता! तुम बच्चे हो। मोटे दृष्टान्तों द्वारा मैं तुमको फिर समझाता हूँ, जिससे तुम्हारी बुद्धि उसको निस्सन्देह ग्रहण कर ले और धोखा न खा जाय। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री के द्वारा शुद्ध अन्न-पानादि से परिपुष्ट होकर बालक गर्भ में छिपा रहता है और स्त्री उसको श्रद्धा एवं प्रीति संयुक्त होकर पैदा होने के समय तक क्लेशों को सहन करके समय पर प्रकट करती है, उसी प्रकार योगी पुरुष अध्यात्म योग काल में जिसको अध्यात्म रूप से अपने हृदय में छिपाये रखते हैं, जिज्ञासु के प्रति समय पर उसी तत्व को प्रगट करते हैं, बिना समय के नहीं। हे नचिकेता! उसी से यह सूर्य आदि देवता प्रगट होते हैं, उसी में यह सब लय भावना को प्राप्त होते हैं और उसी में सम्पूर्ण देवता स्थित हैं। देख, उस प्राणस्वरूप ब्रह्मात्मा को कोई भी लाँघ नहीं सकता। जिसको तुमने मुझसे पूछा था, वह वही तो है। उसी को तू अपना स्वरूप जान। जो न मरता है और न उत्पन्न ही होता है अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति और नाश का प्रश्न उठाना महान् मूर्खता है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जो अन्दर है, वही बाहर है, वही वह है,—नाना नहीं, एक है। परलोक, पृथ्वीलोक, देवलोक अर्थात् देव, गंधर्व आदि विविन्न-विभिन्न अनन्त लोकों में भी वही ब्रह्मात्मा है। हाँ, इतना जरूर है कि जो ब्रह्मात्मा कार्य, कारण उपाधि से युक्त हुआ अज्ञानी जीवों को सांसारिक धर्म वाला-सा प्रतीत होता है अर्थात् कहीं देवता, कहीं मनुष्य और कहीं पशु-पक्षी आदि के रूप में दीखता है, परन्तु, हे नचिकेता! यथार्थ में वह अपने स्वरूप में स्थित हुआ साँसारिक धर्मों से सर्वथा रहित है। जो अज्ञानी मनुष्य मन, बुद्धि, प्राण, शरीर आदि उपाधियों के स्वभाव और भेद-दृष्टि के कारण अविद्या से मोहित हुआ मोहवश इस एकरूप ब्रह्मात्मा के विषय में—'मैं ब्रह्मात्मा से अन्य कोई दूसरा हूं और यह ब्रह्म मुझसे अन्य है' इस प्रकार नानात्व की कल्पना करता है, उसे बार-बार मुझ मृत्यु के वशवर्ती होना पड़ता है। उसके जन्म-मरण का चक्र नहीं छूट सकता। हे नचिकेता! गुरु और शास्त्र के उपदेश के द्वारा निर्मल हुए मन से अर्थात् एकता के अनुभव से इस परमतत्व को जाना जा सकता है, क्योंकि यहाँ नानापन कुछ नहीं है। जो नानापन की झलक देखता है, वह मनुष्य बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है। अब इसके देखने का प्रकार भी तुम सुनलो।

हे नचिकेता ! उसको तुम यदि जान सकते हो तो शरीर के मध्य भाग हृदय कमल में रहता है अर्थात् हृदयाकाश में स्थित है और मनुष्य शरीर में ही पाने योग्य है। वह भूत, भविष्य का... है। वह जड़ नहीं है, चैतन्य है। मेरे कहने का यह तात्पर्य है कि उसको जान लेने पर जिज्ञासु ... निन्दा नहीं करता, राग-द्वेष से रहित हो जाता है। जिसके विषय में तुमने मुझसे प्रश्न किया था ... है। वही तू है। हे नचिकेता ! यह बात नहीं है कि वह आज है, कल नहीं रहेगा अथवा ... आज ही उत्पन्न हुआ है अथवा वह शरीर के साथ उत्पन्न होता है और शरीर के मरने पर मर जाता ... यह बात नहीं समझ लेना। वह तीनों कालों में है। न वह घटता है, न बढ़ता है। यह वही ... विषय में तुमने प्रश्न किया था।

हे नचिकेता ! जैसे ऊँचे स्थान से वर्षा हुआ पानी नीचे की तरफ चला जाता है,—न ठहरता नहीं, इसी प्रकार जो इसमें भेद दृष्टि देखता है, वह भी नीचे की तरफ चला जाता है ... योनियों को प्राप्त होता है। वह कैवल्य पद को प्राप्त नहीं होता। हे गौतमवंशीय नचिकेता ! ... बोधवान पुरुष की दृष्टि में तो आत्मा का स्वरूप एक ही होता है। आत्मा दो-तीन नहीं ... उसका रूप बदलता है। इसलिये आत्मा के विषय में कुतार्किकों की भेद बुद्धि और नास्तिकों ... को बिल्कुल छोड़ दे। नाना आत्मा मानने वाले वादियों के चक्कर में मत आना। देख, ... पिताओं से भी बढ़कर अधिक हितकारी श्रुति भगवती के उपदेश किये हुए आत्मा की एकता ... अवश्य आदर करना चाहिये, अनादर नहीं करना चाहिये।

हे नचिकेता ! तुम बच्चे हो, इसलिये मैं फिर कहता हूं कि जन्म-रहित, ज्ञानस्वरूप ... द्वारों वाले इस शरीर के स्वामी आत्मा का ध्यान करके साधक शोक नहीं करता अर्थात् ... वासना, अहंकार तथा कर्मों के जाल से छूट जाता है। जीवनमुक्ति का रसपान करके विदेहमुक्त ... है। हे नचिताके ! मैं तुमसे अब आत्मा की सर्वरूपता कथन करता हूं कि जिससे तेरे ऊपर ... का कोई प्रभाव न पड़े। मुझको बार-बार इसलिए कहना पड़ता है कि तुम अभी बालक हो। ... आत्मा केवल शरीर रूपी नगर में ही नहीं रहता, किन्तु सब प्रकार के पुरों में रहता है। ... आकाशवासी सूर्य और अन्तरिक्षवासी वायु में भी है। वही अग्निवासी यज्ञ में है और ... रस में भी है। वही मनुष्य तथा देवताओं के रूप में रहने वाला भी है। आकाश में, ... वाला है। पृथ्वी तथा पर्वतों में रहने वाला है। हे नचिकेता ! कहाँ तक कहूं ? वह सबके ... स्थित होकर भी सत्य स्वरूप ही है। इसमें किसी प्रकार की मलिनता नहीं है। माया के ... इसको स्पर्श नहीं कर सकते। वह सर्व व्यापक है, सब से बड़ा है। एकदेशीय या परिच्छिन्न ... अपरिच्छिन्न है,—ऐसा तू निश्चय कर।

हे नचिकेता ! वही आत्मा प्राण वायु को ऊपर की तरफ ले जाता और अपान वायु को ... तरफ ढकेल देता है। उस हृदयाकाश में रहने वाले पुरुष के चक्षु आदि इन्द्रियों के ... रूप-रस आदि की भेंट अर्पण करके इसी आत्मा की राजा के समान उपासना करते हैं। जब ... शरीर से निकलकर यह दूसरे शरीर में चला जाता है और साथ में इन्द्रियाँ-प्राण आदि भी ... तब इस मृत शरीर में क्या कुछ रह जाता है ? अर्थात् कुछ नहीं रह जाता। इस आत्मा को ... जानो, जिसके विषय में तुमने पूछा था।

हे गौतमवंशीय ! मैं अब तुमसे गोपनीय सनातन ब्रह्म तत्व को कहूँगा जिससे जाना जायगा कि मनुष्य के मरने के पश्चात् इस आत्मा का क्या होता है ? कहां जाता है तथा किस प्रकार रहता है ? साथ ही यह भी बताऊँगा कि उसके न जानने से मरने के पश्चात् प्राणी की क्या दशा होती है ? हे नचिकेता ! यह बात सत्य नहीं है, जैसे कि देहात्मवाद वाले मानते हैं, कि शरीर ही आत्मा है, इससे भिन्न कोई आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। अविद्या से अन्धे हुए ऐसे शरीराभिमानी पुरुष शास्त्र आदि के द्वारा कर्म के अनुसार जंगम योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् इनमें जिनके पुण्य पाप-बराबर होते हैं, वे मनुष्य और जिनके पुण्य कुछ कम तथा पाप अधिक होते हैं,—वे पशु-पक्षी का शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं। जिनके पाप बहुत ही होते हैं वह वृक्ष, लता, तृण, पर्वत आदि जड़ शरीरों में उत्पन्न होते हैं। हे नचिकेता ! जिस काल में यह पुरुष सो जाने पर हर एक इच्छित वस्तु को रचता हुआ जागता है, उस काल में भी वह परम शुद्ध ब्रह्म ही है। उसके ऊपर कोई मैल नहीं चढ़ता। वही अमृत कहा जाता है। उसमें ही सम्पूर्ण संसार ठहरा हुआ है। उसको कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह यही तत्त्व है जिसके विषय में तू ने मुझसे पूछा था।

वह एक है। शरीरों की उपाधियों के कारण वह अनेक अर्थात् टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता, जैसा कि अज्ञानी जीवों की धारणा है। जैसे एक ही अग्नि निराकार रूप से तमाम संसार में व्याप्त है, उसमें कोई भेद नहीं है, परन्तु लकड़ियों के भिन्न-भिन्न आकारों के कारण भिन्न-भिन्न रूप में देखने में आता है। इसी प्रकार तमाम प्राणियों की उपाधि जो अन्तःकरण है, उसके कारण वह अन्तर्यामी आत्मा एक होकर भी भिन्न-भिन्न आकारों वाला प्रतीत होता है। तुम यह भी ख्याल न कर बैठना कि वह अन्दर ही है, बाहर नहीं है। वह सब जगह है। हे नचिकेता ! एक दृष्टान्त और सुनो। जैसे एक वायु तमाम संसार में व्यापक होकर प्राण आदि अनेकों आकारों में, अनेकों प्रकार का जान पड़ता है,—उसी प्रकार एक ही सकल प्राणियों का अन्तरात्मा तमाम प्राणियों के भीतर विद्यमान होकर भिन्न-भिन्न प्रकार का (कहीं जड़, कहीं चैतन्य, कहीं धर्मात्मा, कहीं अधर्मात्मा, कहीं कैसा और कहीं कैसा) जान पड़ता है। यह तुमको ध्यान रहे कि वह जगत् के सुख-दुःखादि से लिप्त नहीं होता, जैसे सूर्य चक्षु आदि के दोषों से दूषित नहीं होता। उसको जो बोधवान अपने अन्दर स्थित देखते हैं, उनको ही परम शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।

हे नचिकेता ! जो आत्मा तमाम नाशवान पदार्थों में नित्य है, जो ब्रह्मादिकों को भी चैतन्य कर देता है, जो एक होकर भी अनेकों कामना वाले संसारियों को कर्मों के अनुसार इच्छित वस्तुयें अनायास दे देता है।

नचिकेता—हे यमराज ! आत्मा विज्ञानरूप, परम सुख रूप है। मन वाणी का अविषय है। संसारी मनुष्य उसका न तो कथन ही कर सकते हैं और न विचार ही कर सकते हैं। उसको मैं अपरोक्ष रूप से किस प्रकार जानूं ? क्या वह प्रकाशित होता है या वह अनुभव में आ सकता है ?

यम—हे नचिकेता ! आत्मतत्व को सूर्य, चन्द्र और तारागण प्रकाशित नहीं कर सकते, किन्तु उसी के प्रकाश से सूर्य आदि समस्त चमकीले पदार्थ प्रकाशित होते हैं। केवल सूर्य आदि ही नहीं, तमाम जगत उसी के प्रकाश से प्रकाशित होता है। तू अच्छी तरह समझ ले। हे नचिकेता ! संसार का रूप भी

समझ ले कि यह क्या वस्तु है ? देख, जिसकी जड़ ऊपर और शाखा नीचे की तरफ है, यह प्र मानो ऐसा ही पीपल का वृक्ष है। ज्ञान और क्रिया शक्ति रूप हिरण्यगर्भ ही इसकी जड़ अर्था का बीज है। देवता, पितर, गंधर्व, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि इस संसार की शाखा हैं। यह सम् उसके आश्रित है। उसको कोई भी लाँघ नहीं सकता, यही वह ब्रह्म है। जो उसको जान लेता है मृत्यु के मुख से सदैव के लिये छुटकारा पा जाता है।

हे नचिकेता ! ऐसे परमात्मा को यदि कोई साधक इस दुर्लभ मनुष्य शरीर का नाश पहिले ही जान लेता है तो वह मुझ मृत्यु के वशवर्ती नहीं होता और यदि प्रमाद के कारण नहीं संसार के विषय भोगों में ही आसक्त रहता है, तो उसे अनेक कल्पों तक विभिन्न-विभिन्न योनियों में शरीर धारण करके बड़े-बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसलिये, हे नचिकेता ! मनुष्य पाकर, मरने से पहिले ही ब्रह्मात्मा को जान लेना चाहिये क्योंकि दूसरी योनियों में आत्मा नहीं होता।

हे नचिकेता ! और भी सुन। जैसे शुद्ध दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप में अपना शरीर से दिखाई देता है, इसी प्रकार जिज्ञासु के शुद्ध अन्तःकरण में बुद्धि आदि से विलक्षण एवं आत्मा का इस प्रकार दर्शन होता है जैसे हाथ पर रक्खा हुआ आँवला अर्थात् जिसमें कुछ संदेह नहीं रहता।

हे नचिकेता ! स्वप्न देखने की दशा में जैसे वस्तु-समूह का रूप यथार्थ में न दीख मनुष्य की वासना और विविध संस्कारों के अनुसार कहीं की वस्तु कहीं विशृङ्खल रूप में अस देती है, जाग्रतावस्था के समान स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देते, इसी प्रकार पितृलोक में साक्षात्कार भी स्पष्ट रूप से न होकर अस्पष्ट ही होता है। क्योंकि पितृलोक में गए हु को अपने पूर्वजन्म की स्मृति होती है। तत्सम्बन्धी समस्त पूर्व ज्ञान होने के कारण ही वासना-जाल में बंधे हुए रहते हैं एवं इन्द्रियागामी होने से स्वयं को बुद्धि आदि करने में समर्थ नहीं होते।

हे नचिकेता ! पितृलोक की अपेक्षा गंधर्व लोक कुछ अच्छा है। परन्तु वहाँ भी भो से लहराते हुए चित्त से युक्त होने के कारण वहाँ के निवासियों को आत्मा का दर्शन स्पष्ट होता। ब्रह्मलोक में, जैसे छाया और धूप सर्वदा भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, वैसे ही आत्मा भी आदि से सर्वथा भिन्न पदार्थ है, इस भाँति से स्पष्ट दर्शन होता है। ब्रह्मलोक में आत्मवि प्रकार का भ्रम नहीं रहता और इस ज्ञान का अनुभव स्पष्ट रूप से हो जाता है। हे नचिकेता ! की प्राप्ति बड़ी कठिन है, क्योंकि वह अत्यन्त उत्कृष्ट कर्म और ज्ञान के बिना नहीं मिल सकता। चाहिए कि दूसरे लोकों की कामना को त्याग कर, मनुष्य शरीर के रहते-रहते ही आत्म-द प्रयत्न करे। मेरे कहने का यही तात्पर्य है और कुछ नहीं। हे नचिकेता ! मनुष्य लोक के मान अधिक दुःखों का अनुभव होने से अधिकारी विवेक करने में समर्थ होता है तथा यह आत्मा शरीर, मन, बुद्धि, आदि छाया के समान अनात्मा है,—इस प्रकार से शीघ्र वैराग्य हो जाता है।

हे नचिकेता ! इस विज्ञान को तुझ से फिर कहता हूं। शब्द, स्पर्शादि विषयों के अनुभ पृथक् भाव हैं यथा जाग्रत अवस्था में काम-काज करना-कराना और सुषुप्ति अवस्था में लय

इनकी परिवर्तन शीलता पर विचार करके जब बुद्धिमान मनुष्य इस रहस्य को समझ लेते हैं कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का संघात रूप यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं तो इनसे सर्वथा विलक्षण, नित्य चैतन्य स्वरूप हूँ, सर्वथा विशुद्ध एवं सदा एक रस हूँ, तब वह किसी प्रकार का शोक नहीं करते। सदा के लिये दुःख और शोक से पार हो जाते हैं। हे नचिकेता! यह प्रत्यगात्मा किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है। जब साधक की बुद्धि संकल्प-विकल्प, संशय आदि से रहित, शुद्ध दर्पण के समान निर्मल हो जाती है, तत्पश्चात् ब्रह्मज्ञानी गुरुदेव की बताई युक्ति के द्वारा मनन करने पर हृदय कोट में ही वह तत्व अपने-आप ही प्रकाशित हो जाता है। फिर वह साधक जीतेजी अमरत्व का लाभ उठाता है और मेरे वशवर्ती नहीं होता।

हे नचिकेता! जब इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि में से रज और तम का वेग कम होकर एक प्रकार की नई धारणा-शक्ति उत्पन्न हो जाय कि जिससे साधक आलस्य और प्रमाद-रहित हो जाय, फिर तो स्वभाव से ही चित्त में एकाग्रता आ जाती है और वह मेरे उपदेश का अधिकार प्राप्त कर लेता है। जब तक चित्त में क्षिप्त, विक्षिप्त तथा मूढ़ वृत्तियों का भाव है, तब तक वह मेरे उपदेश का अधिकारी नहीं। हे नचिकेता! जो आत्मा इन्द्रिय आदि का अविषय है, भला प्रत्यक्षवादी उस आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? कदापि नहीं। ये लोग एक तो श्रुति का तिरस्कार करते हैं, दूसरे किसी की बात सुनते ही नहीं। इसलिये वे आत्मा के दर्शन के अधिकारी नहीं हैं। यदि तुमको उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है तो वह है—इस प्रकार का दृढ़ निश्चय करो। 'नहीं है'—ऐसा अज्ञानपूर्ण विश्वास कदापि न करो। सोपाधिक ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके अर्थात् ब्रह्मज्ञानी गुरु की मूर्ति का ध्यान करके, कुछ काल के पश्चात् निर्विषय चिन्मात्र भाव, जो कि निरुपाधिक है, उसके सहित दोनों भाव ठीक-ठीक समझ में आ जाते हैं। इस प्रकार वह ब्रह्म-आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है, परोक्ष नहीं रहता।

हे नचिकेता! जब साधक के हृदय की अहंता-ममतारूप तमाम अज्ञान ग्रन्थियाँ अच्छी प्रकार से कट जाती हैं, सब प्रकार के संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य इस शरीर में ही अमर हो जाता है। बस, इतना ही वेदान्त का सनातन उपदेश है। अधिक कुछ नहीं, यही तू निश्चय कर।

हे नचिकेता! चार्वाक को छोड़कर बाकी सब वादियों के मत में स्थूल शरीर से आत्मा का भेद सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं। जिस प्रकार आकाश में नीलता का सर्वथा अभाव है, इसी प्रकार स्थूल शरीर में भी आत्मापन का सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार निश्चय करके युक्तियों के द्वारा सूक्ष्म और कारण शरीर में से भी आत्मापने का अभिमान त्याग देना चाहिये। जिस शरीर को अहं बुद्धि के न रहने अर्थात् मरने के पश्चात् बड़ी कठिनता से (शव को) उठाते हैं, उसी शरीर को निर्बुद्धि मनुष्य—"मैं यह शरीर हूँ"—ऐसा समझते हुए रुई के समान जगह-जगह लिये फिरते हैं। केवल अहंबुद्धिमात्र से ही स्वदेह का भार अज्ञानी जीवों को नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर तो आत्मा नहीं है। हे नचिकेता! जैसे शरीर का मैल अन्न का परिणाम होने के कारण स्पष्ट ही अनात्मा है, उसी प्रकार इन्द्रियों सहित शरीर भी अन्न का ही परिणाम होने के कारण अनात्मा ही है। ऐसा निश्चय करना चाहिये।

हे नचिकेता! जो लोग मुझ यमराज के वचनों में श्रद्धा नहीं करेंगे, उनको ध्यान रहे कि वह स्वयं ही अपवित्रता की खान इस शरीर से हाथ धो बैठेंगे। मूर्ख प्राणी तभी तक इस शरीर में अहं-बुद्धि कर सकते हैं जब तक कि मैं मृत्यु को नहीं भेजता। जिस शरीर पर मूर्ख प्राणी इस समय वृथा अभिमान

करते-कराते हैं, मृत्यु होने पर उसी शरीर के सिर पर पैर रख कर कुत्ते, गीदड़ आदि
अभिमान करने लगते हैं। हे नचिकेता! जो मनुष्य आत्मा-अनात्मा का विवेक करना नहीं
मेरे उपदेश का अधिकारी नहीं। जो मुमुक्षु संसार से विरक्त नहीं, वह गुरु के पास नहीं पहुँच
विना गुरु-चरणों के समीप पहुँचे मुक्त मौत के चंगुल से कदापि नहीं छूट सकता। तुम्ह जैसे
ही मेरे उपदेश के अधिकारी हैं, दूसरे नहीं।

हे नचिकेता! यह आत्मा सर्वव्यापक है, तो भी इसको देखने का स्थान हृदय-कमल ही
गुलाब की गन्ध उसके सम्पूर्ण वृक्ष में रहती है, परन्तु प्रकट फूल में ही होती है, उसी प्रकार आत्
जगह रहता हुआ भी दर्शन हृदय-देश में ही देता है, दूसरी जगह नहीं। जैसे मूँज में से
खींच लेते हैं, उसी प्रकार अपने पञ्चकोशों में से धीरता के साथ अपने आप को पहचान ले।
केता यह आत्मबोध की विद्या मैंने तुमसे कही। देख, संसार में अन्य जितनी भी विद्यायें हैं, वह
सब अनात्म एवं लौकिक विद्यायें हैं। उनका फल उत्पत्ति-नाश वाला है। परन्तु आत्म-विद्या
किक होने से इसका फल लोक और परलोक दोनों में होता है। लौकिक-विद्या त्रिपुटी में हो
आत्म-विद्या एकता में होती है। यह त्रिपुटी का बाध करके अद्वैत में होती है, इसी कारण यह
मनुष्य की समझ में भी नहीं आती।

देख, शरीर किंवा बुद्धि की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति,—इन तीनों अवस्थाओं में जो
बोध होता है, उसे अवस्था की विद्या जान। वे एक दूसरे को परस्पर मिथ्या बताती हुई अपनी
के बोध को सत्य करके समझाती हैं। इसी प्रकार कभी सत्य, कभी असत्य होने से यह विद्या
ऐसा तू निश्चय कर। आत्मविद्या किसी भी अवस्था में असत्य नहीं होती। तमाम अवस्थाओं
ही रहती है। यह आत्मविद्या अवस्था के जेलखाने से बाहर और अखण्ड है, खण्डित नहीं।
विद्या से भिन्न जितनी भी विद्यायें हैं वह सब दूसरे की विद्या हैं, दूसरे को जानने की हैं और
विद्या स्वयं अपने को जानने की है, अतः अपनी है। हे नचिकेता! देख, सब पदार्थ देखने
सामने देखे जाते हैं। परन्तु मनुष्य अपने मुख को सामने देख नहीं सकता, शीशे के सहारे
लौटाकर देखता है। इसी प्रकार आत्मविद्या अनात्म शरीर आदि के अभिमान से नहीं जानी जा
अनात्मा में से वृत्ति को लौटाकर, विवेक-वैराग्य साधन करके जानी जाती है और यही आत्म
आधार है। इस प्रकार बोध करके अर्थात् अन्वय व्यतिरेक-युक्ति द्वारा जानी जाती है।

हे नचिकेता! आत्मा के जानने का एक साधन और सुन। जैसे मकड़ी नाम का कीड़ा
शरीर में से बारीक तारों को बाहर निकालता और फिर उन तारों को अपने में ही लीन कर लेता
प्रकार यह आत्मा अपने स्वरूप में से तमाम त्रिपुटी को प्रकट करता है और फिर अपने में ही
लेता है। और सुन, जैसे पृथ्वी से बीजों के भेद के कारण अनेकों प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न
उसी प्रकार एक ही आत्मा से अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुखी और दुःखी प्रजा उत्पन्न होती
चैतन्य पुरुष जीव से केश-लोम आदि जड़ पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार चैतन्य अविनाशी
जड़ जगत उत्पन्न होता है। हे नचिकेता! यह वही आत्मा है जिसके विषय में तूने प्रश्न कि

हे नचिकेता! मोक्ष की इच्छा वाला ब्राह्मण कर्मरचित लोकों की अच्छे प्रकार से परीक्षा
(संसार की दशा को देखकर), तमाम भोगों से वैराग्य को प्राप्त होकर, मुझ जैसे वेदवेत्ता ब्र

समग्न रहने वाले गुरु के पास हाथ में कुछ भेंट लेकर चला जाय। कुछ भी भय न करे।

हे नचिकेता! मुझ मृत्यु का भय इतने मनुष्यों को होता है जो—शरीर को ही आत्मा जानते तथा मानते हैं और विद्याभिमानी को भी मुझ मृत्यु से डर लगा रहता है। यह विद्याभिमानी आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता तथा परलोकगामी आदि मानते तथा जानते हैं। आत्मा को नाना मानने वाले तो मुझ मृत्यु से थर-थर कांपते रहते हैं क्योंकि द्वैतदर्शी को तो हर समय भय लगा ही रहता है। हे नचिकेता! यह आत्मा किसी इन्द्रिय के द्वारा जानने में न आने के कारण,—जिसके न तो हाथ-पैर हैं और न ज्ञानेन्द्रियाँ हैं,—ऐसे सनातन विविध विश्वरूप सर्वव्यापक परम सूक्ष्म और आकाश आदि पंचमहाभूतों के कारण, जिस परम तत्त्व को तुम जैसे वैराग्यवान धीर-वीर पुरुष ही अपने आत्म स्वरूप से साक्षात्कार करते हैं,—दूसरे नहीं। वह अविनाशी ब्रह्म जिसके द्वारा जाना जाता है, वही आत्मतत्त्व प्रतिपादक यह उपनिषद् रूप परा विद्या है, अपरा नहीं।

हे नचिकेता! तुमने जो मुझ यम से मरे हुए मनुष्यों के विषय में पूछा था कि "कोई कहते हैं कि शरीर आदि से आत्मा भिन्न है और कोई कहते हैं कि शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि और प्राण के सिवाय दूसरी कोई आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। इस कारण मेरे को आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से तथा अनुमान प्रमाण से भी नहीं होता। परन्तु परम पुरुषार्थ इस विज्ञान के ही आधीन है। इसलिये आप ऐसी शिक्षा दो जो मैं इस विज्ञान को जान जाऊँ। बस, मेरा यही तीसरा वर है।" सो, हे नचिकेता! अधिकारी जानने के लिए मैंने तुझको बार-बार लोभ दिखाया तथा स्वर्ग के पदार्थों का दर्शन भी कराया। तब भी तू ने प्रिय पुत्र आदि भोगों को सहज ही त्याग दिया, किंचित मात्र भी तेरा मन नहीं ललचाया।

मैं तेरे त्याग की बड़ाई कहाँ तक वर्णन करूँ? निन्दित मूर्ख प्राणी जिन अनित्य विषयों में आसक्त होकर अपना सर्वस्व नष्ट कर लेते हैं, उस रत्न जड़ित माला स्वरूप कर्म की वासना में तू आसक्त नहीं हुआ। इस कारण तू सच्चा विवेकी और वैराग्यवान ऋषिपुत्र है, अतः मैंने भी कोई गोपनीय बात छिपाई नहीं, सच कह दी। हे नचिकेता! यह बात याद रखना कि जो तेरे समान त्यागी, निर्लोभी एवं प्रतिभाशाली निडर हों, उन्हीं को उपदेश करना,—कभी तुम अनधिकारी को उपदेश करने लग जाओ। साधारण गृहस्थियों में अनेकों विरुद्ध व्यवहारों के कारण जैसे कुटिलता होती है, वह जिनमें नहीं है, जैसे सर्व साधारण मनुष्य क्रीड़ा आदि के समय असत्य भाषण करते कराते रहते हैं, वह जिनमें न हो, जिनमें और भी कोई मायापन का दोष न हो अर्थात् दम्भ-कपट-छल-छिद्र तथा बनावटीपन आदि दोष एवं वर्णसंकरता आदि दोषों से रहित हों, बिल्कुल शुद्ध, सात्विकी भाव वाले हों, उनको ही उपदेश करना, दूसरों को नहीं। हे नचिकेता! मैं यमराज निरन्तर चाहता रहता हूँ कि तेरे जैसे ही अधिकारी मुझको मिलते रहें। अब तू अपने घर को लौट जा, तेरे मरने का समय नहीं है।

हे शिष्य! वह नचिकेता आत्मतत्त्व के उपदेश को सुनकर यम के चरणों में दण्डवत करके कहने लगा—कि हे धर्मराज! आपने मेरे तमाम सन्देहों को काट-छांट दिया। मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। अज्ञानी जीव जिसमें प्रेम करने से संसार के जाल में फँस जाते हैं और जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटते, उसी अविद्या से आपने मुझको मुक्त कर दिया है। आपने अविद्या के पर्दे को हटाकर नित्य, अजर, अमर एवं अभय करके ब्रह्म बनाया है अर्थात् अविद्या को दूर करके निरावयव ब्रह्म का निश्चय कराया है, इस कारण आप हमारे परम वन्दनीय परमपिता हो। आपके इस उपकार के बदले में

भेंट करने योग्य इस संसार में कोई भी पदार्थ मैं नहीं देखता। अतः आप इस ब्रह्म प्रवर्तक धर्मराज को मैं केवल बार-बार नमस्कार करता हूं।

शिष्य—हे गुरु! इसके पश्चात् क्या हुआ? वह नचिकेता अपने पिता से मिला कि

गुरु—हे शिष्य! इसकी कथा भी सुनो। जब नचिकेता यमपुरी से लौटा तो जल में जैसे बीज में अंकुर निकल आते हैं, वैसे ही घास के आसन पर सोता हुआ नचिकेता एकदम उठ गया। अपने पुत्र को फिर जीवित हुआ, उसके शरीर पर चन्दन लगा हुआ तथा उसे जागता हुआ देखकर उद्दालक बड़े ही प्रसन्न हुए और कहने लगे कि हे पुत्र! तुमको धन्य है। तू बड़ा ही पुण्या तुमने अपने पुण्य-बल से पवित्र लोक जीत लिए। अरे! तू फिर जीवित हो गया, यह बड़े ही आ बात है। तेरा शरीर मानवीय नहीं है, दिव्य है। हे पुत्र! यमपुरी गये हुए तो लौटा नहीं करते किस प्रकार लौट आये? बड़े ही आश्चर्य की बात है! हमने तो आजतक कभी यह बात हे सुनी भी नहीं। हे पुत्र! अब यह बताओ कि तुमने वहां क्या-क्या देखा? यम ने तुमसे क्या वहां का रहन-सहन भी हमको सुनाओ।

नचिकेता—हे पिता जी! मैं आपकी आज्ञानुसार यमराजा की दिव्य मनोहारिणी एवं पुरी में पहुंचा तो क्या देखा कि यमराज की कचहरी बड़ी लम्बी चौड़ी थी और सुवर्ण की तरह थी। सब देवता उनके काम-काज में लग रहे थे! हे पिता जी! यमराज बड़ा भारी प्रतापशाली पड़ता है। मैं जाकर खड़ा हो गया। कर्मचारियों से मालूम पड़ा कि यमराज कहीं बाहर गये मैं यम की प्रतीक्षा में बराबर तीन दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किये खड़ा रहा। जब यमराज तो उन्होंने मेरा बड़ा सत्कार किया। उनके सभासदों ने भी बड़ा आदर करके मुझे एक बड़े ऊंचे पर बिठाया। हे पिता जी! मैं जो तीन दिन बराबर भूखा-प्यासा यम के दरवाजे पर खड़ा रहा, उस पाप का प्रायश्चित्त किया। उन्होंने मुझसे अपनी भूल की क्षमा मांगी और मुझको तीन बदले में तीन वर मांगने को कहा।

उद्दालक—हे पुत्र! तुमने भी उनसे कुछ कहा?

नचिकेता—हाँ, पिता जी! मैंने भी कहा कि हे यमराज! मैं एक छोटा सा बच्चा आज्ञा से आप के प्रदेश में आ गया हूँ। अतः जिस स्थान के योग्य मैं होऊँ, वहाँ आप मुझको तब यम ने मुझसे कहा कि हे सौम्य! तू मरा नहीं है। प्रदीप्त अग्निवत तेजस्वी तेरे पिता ने यम का दर्शन करने को ही कहा है। हे सौम्य! उनकी बात टाली नहीं जा सकती। तू मेरे लेकर अपने घर लौट जाना। तू मुझ गृहस्थी का अतिथि है, अतः तू अपना मनचाहा मांग ले, मेरा दर्शन तो तू कर ही चुका। अभी तेरे मरने का समय नहीं है।

हे पिता जी! जब यम ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मैंने उनसे कहा—कि हे धर्मराज उस देश में आ पहुँचा हूं जहाँ से पीछे लौटना बड़ी कठिन बात है। इस पर भी यदि आप मुझे योग्य समझते हैं तो पहला वर यह दें कि मेरे पिता शोक से निवृत्त हो जायें और दूसरे वर में मैंने पितृयान मार्ग सम्बन्धी विज्ञान कला पूछी। जब यह दो वर मैंने मांग लिये तब फिर मैंने कहा धर्मराज! मुझे आप पुण्यवानों के समृद्धियुक्त देशों के दर्शन भी करा दीजिये। इस पर यमराज एक बड़े खूबसूरत एवं चमचमाते रथ पर सवार करा के अपने तमाम स्थानों को दिखा दिया।

उद्दालक—हे पुत्र ! तुमने वहां क्या-क्या देखा ? जरा वह भी तो सुना दो।

नचिकेता—हे पिता जी ! वहाँ मैंने अचल और चलते-फिरते महापुरुषों के रहने योग्य बहुत से ऐसे भुवनों को देखा कि जिनमें रत्न जड़े हुए थे। जिनका रंग चन्द्रमा की नाईं सफेद था। पिता जी, क्या कहूं ? वह भुवन सैकड़ों मञ्जिल ऊँचे थे। उनके अन्दर बावड़ियाँ और बाग़ थे। कोई-कोई तो नीले रंग के और अति चमकदार थे। कुछ भुवन ऐसे भी थे जो घूमते ही रहते थे। उनमें घंटियां लगी हुई थीं जो चलते समय झंकार करती थीं। उन घरों में भक्ष्य, भोज्य पदार्थों के ढेर लगे हुये थे। बड़ी-बड़ी सुन्दर सेजें बिछी हुई थीं। बहुमूल्य वस्त्र रखे हुए थे और तमाम कामनाओं को पूर्ण करने वाले वृक्षों से वह भुवन शोभायमान थे। हे पिता जी ! मैंने वहां ऐसी-ऐसी नदियां, बावड़ियां, तालाब और चलते समय शब्द करने वाले जुते हुए रथ देखे जिन्हें मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मैंने वहां घी एवं दूध की नदियाँ देखीं। मैंने यमराज की अनुमति से और भी ऐसे अनेक प्रदेश देखे जिनको पहले मैंने कभी नहीं देखा था। पर इन सबको देखकर मेरा मन बिलकुल भी नहीं ललचाया।

जब मैं उन सबको देख चुका तो फिर मैंने प्रतापवान यमराज से पूछा कि हे धर्मराज ! इन सामग्रियों का उपभोग कौन करता है ? उस समय यम ने मुझसे कहा कि हे नचिकेता ! जो सज्जन पुरुष पात्र एवं समय को देखकर श्रद्धा एवं भक्ति से गोरस तथा गौ का दान करते हैं किंवा ठीक-ठीक विधि के साथ यज्ञ करते हैं और अपने वर्ण आश्रमों का पालन करते हैं, उन्हीं के उपयोग के लिए यह सब सामग्रियाँ किंवा स्थान हैं, कुमार्गियों के लिए नहीं। हे पिता जी ! जब मैं सब देख भाल चुका तब धर्मराज ने कहा—कि हे नचिकेता ! तू अपना तीसरा वर भी मांगले। मैंने तीसरे वर में कहा कि हे यमराज ! आत्मा मरता है कि नहीं मरता ? इसमें मुझको सन्देह है। मेरे इस भ्रम को दूर कर दीजिए, यही मुझे तीसरा वर मांगना है, और कुछ नहीं।

इसको सुनकर यमराज कहने लगे—कि तू अभी बालक, बे समझ है। इस आत्मविद्या के फेर में मत पड़। मैंने जो लोक एवं लोकपालों का दर्शन तुझको कराया है, उनको मांग ले। परन्तु मैंने उन्हें मांगने से साफ मना कर दिया। उस काल में यम मुझसे बड़े ही प्रसन्न हुए, मेरी कमर ठोकी और कहा कि तुमको और तेरे माता-पिता को धन्य है। इसके पश्चात् उन्होंने मुझको ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार कराकर घर लौटने की आज्ञा दे दी। तब मैंने चलते समय उनको प्रणाम किया। इस प्रकार विवस्वान के पुत्र यमराज की आज्ञानुसार मैं पुनः आपके चरणों की शरण में आ गया हूँ।

गुरु—हे शिष्य ! नचिकेता यमराज की कही हुई ब्रह्मविद्या की विधि को पाकर धर्म-अधर्म आदि मल रूपी कामनाओं के त्याग से अमर हो गया। जो कोई पुरुष इस प्रकार अध्यात्म विद्या को जान लेगा, वह भी नचिकेता के समान जन्म-मृत्यु से सदैव के लिये मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जायगा। यह उत्तम अधिकारी की प्राचीन गाथा कही।

कृष्ण यजुर्वेदीय कठोपनिषद्—चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पाँचवाँ अध्याय

[इन्द्र और प्रतर्दन का इतिहास]

शिष्य—हे गुरु ! क्या ब्रह्मज्ञान से पापों का नाश होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! अवश्य होता है। इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है, उसको तुमको सुनाते हैं, ध्यान पूर्वक सुनना चाहिये। ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् में यह गाथा है। है पूर्वकाल में प्रतर्दन राजा का इन्द्र के साथ सम्वाद रूप जो इतिहास है, उसको तुम सुनो। उसके से तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जायगा।

श्री काशी जी में दिवोदास नाम का राजा पूर्वकाल में हुआ है। उस दिवोदास का पुत्र राजा हुआ है। हे वत्स ! अब आगे उसकी महानता भी सुनो कि वह प्रतर्दन राजा कैसा था ! के राजा आदि और अन्दर के काम-क्रोध आदि सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतकर, क्षत्रियों के धर्म में काल प्रीतियुक्त तत्पर, धर्म युद्ध करके पृथ्वी के तमाम शत्रुओं को जीतकर वह राजा प्रतर्दन देवता जीतने की इच्छा करता हुआ, स्वयं ही धनुष वाण धारण करके स्वर्ग में जा पहुंचा और स्वर्ग के जाकर खड़ा हो गया। राजा प्रतर्दन स्वर्ग के द्वारपाल से बोला—"हे द्वारपाल ! तुम देवराज मेरा यह संदेशा कहना—हे इन्द्र ! यद्यपि तुमको सम्पूर्ण देवताओं का राजा इन्द्र और मुझको राजा इन्द्र कहते हैं, तो भी तुझ में और मुझ में इन्द्रपना नहीं है। क्योंकि परम ऐश्वर्य भाव जिस उसी को इन्द्र कहना उचित है। परन्तु वह परम ऐश्वर्य तो एक में ही रहता है, दो में नहीं रहा हे देवराज ! तुम्हारे से भिन्न जितने भी पृथ्वी के राजा हैं, उन सब को मैंने जीत लिया है और जीतने की इच्छा करके मैं तुम्हारे स्वर्ग में आया हूं। इसलिये, हे देवराज इन्द्र ! हमारे साथ युद्ध के लिये अपनी सेना को लेकर शीघ्र चले आओ। यदि तुममें युद्ध करने की सामर्थ्य न हो तो पास आकर यह वचन कहो कि मैं देवराज इन्द्र अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। इन दोनों बातों जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। मैं राजा प्रतर्दन धनुष हाथ में लेकर तुम्हारे प्रिय धाम में आया मेरे इस प्रभाव को विचार कर जो तुमको उचित हो, सो करो।"

जब राजा प्रतर्दन ने इस प्रकार द्वारपाल से कहा तो द्वारपाल इतनी बात सुनकर इन्द्र को चल दिया और सभा के बाहर एक पैर से खड़ा होकर और दोनों हाथ जोड़कर कहने लगा महाराज ! आपको मेरा नमस्कार हो।" देवराज इन्द्र का कैसा प्रभाव है, उसको भी सुनो। समान उसका तेज है। सम्पूर्ण देवताओं से घिरा हुआ विराजमान है। अमृतपान करके देवता पूर्वक अपने-अपने सिंहासनों पर स्थित हैं, जिनकी शोभा का वर्णन नहीं हो सकता।

देवदूत—हे भगवन ! सम्पूर्ण लोकों के और लोकपालों के आप ही एक स्वामी हो। एक आश्चर्यजनक बात आप से निवेदन करता हूँ। हे प्रभो ! भूमिलोक में काशी नाम का एक देश है जो आपके स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर है। यदि आप कहें कि उसमें क्या सुन्दरता है ? तो

देवताओं की नदी जो गङ्गाजी हैं, वे भी स्वर्ग की उपेक्षा करके श्री काशी नामक देश की ओर ही बह रही हैं, इससे यह जाना जाता है कि काशी नाम का देश स्वर्ग से भी अधिक बड़ा ही रमणीक है। श्री गङ्गाजी के किनारे श्री काशी नाम की पुरी बसी है जो श्री महादेव शंकर के त्रिशूल के ऊपर स्थित है, अतः अपनी शोभा से आप के स्वर्ग का भी तिरस्कार करती है। हे महाराज! काशी में मरे हुए अण्डज, जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिज—यह चारों प्रकार के जीव श्री महादेव के तारक मंत्र के उपदेश और प्रभाव से आत्मज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त होते हैं। उस श्रीकाशी में मरने से वेदपाठी ब्राह्मण जिस मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उसी मोक्ष को कृमि, कीट, पतंग आदि क्षुद्र जीव भी प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! उस काशीपुरी में भगवान् महादेव सदा विराजमान रहते हैं।

हे महाराज! उन शंकर भगवान् का स्वरूप भी सुन लीजिए। महादेव सम्पूर्ण प्राणीमात्र के आत्मस्वरूप हैं और सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करने वाले हैं। वे शंकर भवानी के हृदय रूपी कमल को प्रफुल्लित करने वाले सूर्य हैं। कर्पूर के समान जिनका गौरवर्ण है, हे महाराज! ऐसे भगवान् महादेव को समस्त देवगण नमस्कार करते हैं। भगवान महादेव के उपकार को मानते हुए सम्पूर्ण मुनि और चारों वेद बारम्बार उनका यश वर्णन करते हैं तथा उनका पार न पाकर थक जाते हैं। जैसे राजा लोग बन्दी-भाटों को धन देकर उन पर उपकार करते हैं, उसी प्रकार महादेव भी मुनियों को ब्रह्म-विद्या प्राप्त कराके उनका उपकार करते हैं। हे देवराज! उन महादेव का नाम लेने से जीव संसार रूपी जन्म-मरण को प्राप्त नहीं होते और उन के चरणों की पूजा करके इस जीव को मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।

जो पुरुष श्रद्धा करके, प्रेम सहित—'महादेव! महादेव!! महादेव!!!',—इस प्रकार तीन बार उच्चारण करता है, उस पुरुष को मोक्ष की तो प्राप्ति होती ही है, महादेव शंकर उन भक्तों के सदा के लिए ऋणी भी हो जाते हैं। ऐसे भगवान् महादेव के गुणों का कथन करने में कौन प्राणी समर्थ है, अर्थात् कोई नहीं। ऐसे शंकर भगवान जिस काशी में रहते हैं और मुक्ति के देने वाली जो अयोध्यापुरी, मथुरापुरी, मायापुरी, काशीपुरी, कांचीपुरी, अवंतिकापुरी और द्वारिकापुरी,—यह सात पुरी हैं, उनके मध्य में श्री काशीपुरी ही अधिक सौभाग्यशालिनी हैं, क्योंकि काशीपुरी में भोग और मोक्ष दोनों ही अति सुलभ हैं। हे महाराज! और भी सुनो, काशी की रक्षा के लिये आपने दो गण छोड़ रक्खे हैं। एक कोतवाल जिसका नाम भैरों है और दूसरी माता अन्नपूर्णा जो कि किसी को भी भूखा नहीं रहने देतीं। हे महाराज इन्द्र! तुम्हारी यह अमरपुरी काशी के समान नहीं है, क्योंकि तुम्हारी इस अमरपुरी में सर्वदा नीचे गिरने का भय बना रहता है। परन्तु काशीपुरी में तो गिरने-गिराने का भय ही नहीं है।

हे महाराज! ऐसी काशीपुरी का दिवोदास नाम का राजा सम्पूर्ण लोकों में प्रसिद्ध है, अप्रसिद्ध नहीं। उसने सम्पूर्ण शत्रु विजय किये हैं। वह अपनी प्रतिज्ञा को सत् करके दिखाने वाला है। वह क्षत्रियों के धर्म में प्रीति रखने वाला और सदा यज्ञ आदि कर्मों में लगा रहता है। वह बड़ी भारी सेना वाला और स्वयं भी बड़ा बलवान है। उन दिवोदास राजा का पुत्र प्रतर्दन नाम का राजा भी अति प्रसिद्ध है। वह प्रतर्दन शुभ गुणों द्वारा अपने पिता तथा पितामह आदि के समान ही है और सम्पूर्ण प्राणियों पर उसकी कृपादृष्टि रहती है। उस प्रतर्दन राजा के पर्वत के समान अनेकों हाथी हैं और सूर्य के समान अनन्त गुणयुक्त अनन्त कोटि घोड़े हैं।

प्रतर्दन राजा शस्त्रविद्या में बड़ा ही कुशल है। युद्ध में वह छल नहीं करता। यद्यपि म[illegible] कृपा से वह सम्पूर्ण शस्त्रों को चलाना जानता है, तो भी वह किसी के ऊपर शस्त्र नहीं चलाता। "जो मेरे शस्त्र से पुरुष मर गया तो वह मेरे द्वारा ही तो मरा'—इस प्रकार दयाभाव करके [illegible] प्रतर्दन शस्त्रों द्वारा शत्रु को नहीं मारता। शत्रु की जैसी इच्छा होती है, उसी प्रकार वह उससे यु[illegible] है। वह राजा प्रतर्दन शत्रु के द्वारा ताड़ित होने पर भी शत्रु को नहीं मारता,—शत्रु के कहने पर के ऊपर बांग चलाता है। इतने पर भी पचास वर्ष से अधिक तथा सोलह वर्ष से कम आयु वाले शस्त्र नहीं चलाता, क्योंकि शूरवीरों के व्रत को उस प्रतर्दन राजा ने धारण किया है। उस राजा का यह भी व्रत है कि जो रण से भागता हो, किंवा मूर्छित हो गया हो, शस्त्र रहित हो, जो [illegible] हो, उन पुरुषों को नहीं मारता। हे इन्द्र! राजा प्रतर्दन के और भी व्रत सुनो—वह ब्राह्मणों का, [illegible] का, गौओं का तथा सांडों का कभी भी अपमान नहीं करता। जो अहंकारी हो, वह चाहे [illegible] चाहे क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो और चाहे अपना पिता भी क्यों न हो,—उसको वह अपने वश में [illegible]

देवराज इन्द्र—हे द्वारपाल! यह राजा प्रतर्दन हमारे स्वर्ग में क्यों आया है?

द्वारपाल—हे देवराज इन्द्र! इसका भी कारण सुनो। एक समय नारदमुनि विष्णुलोक [illegible] हुए प्रसंगवश श्री काशी में पहुँचे और राजा प्रतर्दन की राजसभा में पहुँचकर इस प्रकार कहने [illegible] राजन्! आपने सम्पूर्ण पृथ्वी के राजाओं को जीतकर अपने वश में किया, परन्तु इन्द्रादि देवता [illegible] धर्म करके सम्पूर्ण पृथ्वी के राजाओं से बलवान हैं। उनके साथ असुर, दानव तथा दैत्य [illegible] करने में समर्थ नहीं है, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है? इस प्रकार नारदमुनि के वचन सुन[illegible] प्रतर्दन अपने प्रतिज्ञारूपी व्रत को याद करके आपके साथ युद्ध करने के लिए अकेला ही स्वर्ग [illegible] है और आपकी पुरी के द्वार पर समान भूमि पर खड़ा है। उस योधा वीर ने मुझे आपके पास [illegible] और जो सन्देश उसने मुझ से कहा था—सो मैंने सम्पूर्ण वृत्तान्त आपको सुना दिया है। [illegible] आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

गुरु—हे वत्स! इस प्रकार दूत के वचन सुनकर और राजा प्रतर्दन के निर्भयतारूपी [illegible] को विचार कर देवराज इन्द्र बड़े ही आश्चर्य को प्राप्त हुआ। अपने क्षत्रियधर्म को स्मरण कर वह [illegible] भर गया और देवताओं को आज्ञा देकर युद्ध की तैयारियाँ करने लगा। युद्ध के बाजे बजने [illegible] पुरी में बड़ा ही गुल-गपाड़ा हुआ। ऐसा जान पड़ा कि मानो कहीं पृथ्वी पर भूचाल आया। [illegible] शिष्य! देवराजेन्द्र सम्पूर्ण देवताओं को साथ लेकर शीघ्र ही अपनी पुरी से बाहर आया। इन्द्र [illegible] को देखकर राजा प्रतर्दन किंचित भी चलायमान न होकर उसी स्थान पर खड़ा रहा।

देवराजेन्द्र—हे प्रतर्दन! काशी के राजा! क्या चाहते हो?

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र! तुम और तुम्हारे योधा एक साथ मिलकर तीक्ष्ण बाणों से [illegible] छेदन करो। पश्चात् जब तुम थक जाओगे तब फिर मैं अपने तीक्ष्ण बाणों से तुमको [illegible] योद्धाओं का छेदन करूँगा। हे इन्द्र! मेरी ऐसी ही प्रतिज्ञा है।

इस प्रकार राजा का वचन सुनकर इन्द्र सहित सम्पूर्ण देवता क्रोध के आवेश से मूर्छित [illegible] और उन्होंने राजा प्रतर्दन को चारों तरफ से घेर लिया। 'मारो-मारो, बाँधो-बाँधो'—इस प्रकार [illegible]

देवता परस्पर कहने लगे और क्रोध करके राजा प्रतर्दन के ऊपर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगे, जैसे कि बादल पर्वत के ऊपर जल की वर्षा करते हैं। देवताओं के तीक्ष्ण बाणों से राजा प्रतर्दन का शरीर कुछ-कुछ भेदन हो गया, परन्तु फिर भी निःशंक होकर वह बराबर देवताओं के बाणों को काटता-फाँटता ही रहा। लगातार तीन दिन तक देवता उस पर इसी प्रकार शस्त्रवर्षा करते रहे। तब चौथे दिन राजा प्रतर्दन की बारी आई। तब उसने शीघ्रता से अपने तीक्ष्ण बाणों से सम्पूर्ण देवताओं को एक दम छेदन कर डाला। बड़ा भारी युद्ध हुआ। देवताओं में कोहराम मच गया, क्योंकि राजा के तीक्ष्ण बाणों से बहुत से देवताओं की भुजायें कट गईं, बहुतों के स्तन कट गये और कितनों के ही तो मस्तक ही कट-कट कर पृथ्वी पर गिर पड़े।

इस प्रकार इन्द्र की सेना के बीच कोई भी देवता प्रतर्दन के तीक्ष्ण बाणों से बिना छिदे नहीं बचा। सम्पूर्ण देवता बाणों से घायल हो गये। बाणों की मार से देवताओं के अंगों में बड़ी भारी पीड़ा होने लगी। उस पीड़ा से दुःखी हुये सम्पूर्ण देवताओं के हाथ से अस्त्र-शस्त्र भूमि पर गिर पड़े। तब राजा प्रतर्दन ने देवराजेन्द्र को भी अपने एक सहस्र तीक्ष्ण बाणों से छेदन कर डाला। तत्पश्चात् राजा प्रतर्दन ने भूमि पर गिरे हुये हथियारों और देवताओं तथा उनके कटकर गिरे हुए अंगों को भी देखा। उन्हें शस्त्ररहित, असहाय देखकर राजा प्रतर्दन ने भी अपने धनुष की डोरी को उतार दिया। युद्ध बन्द-सा हो गया। देवराजेन्द्र ने देखा कि राजा प्रतर्दन ने अपने धनुष की डोरी खोल दी है। तब, हे शिष्य ! इस प्रकार प्रतर्दन के कौशल तथा पुरुषार्थ पर विचार करके इन्द्र बड़े ही आश्चर्य को प्राप्त हुआ।

इन्द्र—हे प्रतर्दन ! तुम्हारे युद्ध और पुरुषार्थ को देखकर मैं बहुत ही सन्तुष्ट हूँ। जैसा हमने सुना था, आप वैसे ही हैं। इसलिए, हे प्रतर्दन ! जिस वर की तुमको इच्छा हो, वही तुम मुझ से माँग लो। हे पृथ्वीपते ! तुम्हारे युद्ध और पुरुषार्थ के समान किसी का भी युद्ध आज तक हमने नहीं देखा। सिवाय तेरे और कोई भी समर्थ नहीं, जो देवताओं सहित हमारे को स्वर्ग में आकर पराजित करे। सम्पूर्ण देवताओं को अनेक बाणों से छेदन करने में सिवाय तेरे दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है। बोल, क्या चाहता है ? जो तेरी इच्छा हो, सो मांग ले।

इस प्रकार जब देवराजेन्द्र ने कहा, तो प्रतर्दन राजा इन्द्र को दण्डवत करके बोला—हे देवराजेन्द्र ! तुमने जो यह कहा है कि "देवताओं सहित मुझ इन्द्र को तुमने जीता" आपके इस वचन से मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। हे देवराजेन्द्र ! मुझ दुर्बुद्धि बालक के अपराध को क्षमा करें, क्योंकि जो देवता फूलों द्वारा भी ताड़ने योग्य नहीं हुआ करते, उन्हीं देवताओं को मैंने अपने तीक्ष्ण बाणों से ताड़ित किया है। हे इन्द्र ! मैंने यह महान् अपराध किया है। देवता मनुष्यों के सर्वदा पूज्य हैं, और हम राजाओं के तो परम पूज्य हैं, क्योंकि राजाओं के राष्ट्र का काम-काज तो बिना देवताओं के चल ही नहीं सकता। हे देवराजेन्द्र ! तुम देवताओं से ही भूमिलोक स्थित है क्योंकि देवों द्वारा ही वर्षा होती है। उस वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। उस अन्न को प्रजा खा-खाकर अपने जीवन को धारण करती है। आप देवताओं की किञ्चित भी दृष्टि टेढ़ी हो जाय तो हमारे भूलोक का पता भी न लगे। हे देवराजेन्द्र ! आप देवता सतोगुण से युक्त हो, इस कारण मेरे अपराध पर ध्यान न दें।

आपने मुझ को वर देने का जो निश्चय किया है, कृपया उसको नहीं भूलना। हम मनुष्य रजोगुण-युक्त होते हैं, इसी कारण देवताओं के हननरूप पाप में मैं प्रवृत्त हुआ हूँ। जो सर्वात्मदृष्टि साधुजन होंगे

हैं उनको—"यह वस्तु हमारी है और वह वस्तु तुम्हारी है"—इस प्रकार की विषम-बुद्धि कभी नहीं इसी कारण से वे हम जैसे अपराधियों को भी वर देते हैं। हे देवराज इन्द्र! इस संसार में आ महान् पुरुष ही उत्तम पुरुष हैं, क्योंकि आप हम जैसे अपकारी मनुष्यों पर भी उपकार करते हैं। अ पर भी उपकार करना, यही तो उत्तम पुरुषों का लक्षण है। आप जैसे महान् पुरुषों के सहारे पर संसार स्थित है।

हम मनुष्य रजोगुण के कारण अपने हित और अहित को नहीं जानते। यदि हम अ और अहित को जानते होते तो आप देवताओं के साथ युद्ध करने के लिए भला क्यों आते? हम के लिए आगमन ही हमें हिताहित के ज्ञान से रहित जताता है। अपना हिताहित न जानने से हम अपने हित की प्रार्थना स्वयं नहीं कर सकते। इसलिये सर्व दुःखों का नाश करने वाली जो उत्तम वस्तु हो, उसे आप ही स्वयं विचार कर वर रूप में हमें दीजिए।

हे शिष्य! जब राजा प्रतर्दन ने ऐसा कहा तो देवराजेन्द्र ने कहा कि हे प्रतर्दन! कोई भी पुरुष किसी को वर देता नहीं, इसलिए तुम भी प्रथम हमसे वर मांग लो। देवराजेन्द्र के को सुनकर बुद्धिमान प्रतर्दन राजा सत्यवादी इन्द्र से युक्ति सहित कहने लगा—हे देवराजेन्द्र! यह कहा है कि प्रार्थना के बिना कोई भी पुरुष वर को नहीं देता, यह कथन सोलह आना सत्य है। यह कथन भेददर्शी विषयी पुरुषों में ही घटता है, आप जैसे समदृष्टि पुरुषों में नहीं घटता। सिवाय कौन पुरुष है कि जो इस अज्ञानी, महापापी, अपकारी शत्रु को भी वर दे। केवल आप ऐसे हैं।

हे शिष्य! इस प्रकार प्रतर्दन राजा का वचन सुनकर और राजा की बुद्धि की चातुरी देवराजेन्द्र बड़े ही संशय को प्राप्त हुआ और मन में विचारने लगा कि यह राजा ब्रह्मविद्या का अ है, क्योंकि अधिकारी होने के कारण ही यह सबसे उत्तम वर मांग रहा है, स्वर्ग आदि को नहीं अपने अपराधों की क्षमा माँग रहा है। यह धन आदि का लालची नहीं है, यदि लालची भोग्य पदार्थों को ही मांगता, मोक्ष को नहीं मांगता। संसार में लोभ ही ब्रह्मविद्या का प्रतिबन्धक शिष्य! प्रतिज्ञा की डोरी से बँधा हुआ राजा इन्द्र इस प्रकार बड़े ही संशय को प्राप्त हुआ और करने लगा कि राजा ब्रह्मविद्या का निश्चित् अधिकारी भी है या नहीं?

ब्रह्मविद्या ने जो अधिकारी के लक्षण बताये हैं, यह राजा प्रतर्दन उन सब गुणों से यु नहीं, इस प्रसंग में इन्द्र विचारने लगा कि कुछ थोड़े से ही गुण इस में देखे जाते हैं। यह हमारा शत्रु है, इसलिये भी इसको ब्रह्मविद्या देना ठीक नहीं। फिर विचार करने लगा कि इस प्रतर्दन राजा ने वर को देखकर शत्रुभाव को त्याग दिया है, इस कारण इसके लिए ब्रह्मविद्या जरूर देनी चाहिये देखा जाय तो यह राजा उत्तम अधिकारी तो है नहीं। हाँ, मध्यम अधिकारी है क्योंकि यह गृहस्थ क्षत्री है। उत्तम अधिकारी वे हैं कि जो ब्राह्मण हैं, जिन्होंने गृहस्थ आश्रम में प्रवेश ही नहीं और विरक्त हो। ठीक, यह मध्यम अधिकारी ही है।

इस प्रकार पूर्वापर का विचार करके देवराजेन्द्र कहने लगा—हे प्रतर्दन! मोक्ष के साक्षात् देने वाली उस महाविद्या को तुमसे कहता हूँ जिससे तेरा परम हित हो जायगा। हे प्रतर्दन!

इन्द्र को समझा कि मैं कैसा हूँ ? सुन, मैं सम्पूर्ण संसार का आत्मा और बुद्धि आदि का साक्षी हूं। आकाश के समान सर्वव्यापी हूं और स्वप्न के समान जो सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म जगत है, उससे मैं रहित हूं। इसी कारण मैं तुर्या, शिवरूप, देश, काल, वस्तुकृत परिच्छेद से रहित हूं। मैं सजातीय-विजातीय-स्वगत तीनों भेदों से रहित हूं। हे प्रतर्दन ! जैसे कल्पित सर्प, दण्ड, धारा आदिकों का अधिष्ठान केवल रस्सी है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म-कारण सब प्रपञ्च का अधिष्ठान मैं ही हूं। इसी कारण मैं एक हूं, दो-तीन नहीं। मैं ही माया विशिष्ट हुआ ईश्वर हूँ। हे प्रतर्दन ! ऐसा मेरा स्वरूप है। तू उसको विशेष करके जान।

मेरे स्वरूप का ज्ञान ही तुम मनुष्यों के लिये हितकरतम है। यज्ञादि कर्मों के फल स्वर्ग के भोग हैं और उसके समस्त साधन, सब-के-सब बन्धन के कारण हैं। इन्हें पाकर सर्वथा बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। यही दशा ब्रह्मलोक की भी है। इसलिये इन दोनों लोकों का सुख हितकर नहीं है। हे प्रतर्दन ! आनन्दस्वरूप मुझ इन्द्र से भिन्न कोई भी अनात्म पदार्थ हितकर नहीं अर्थात् स्वर्ग और ब्रह्मलोक के सुखों से भी दीनता की निवृत्ति नहीं होती। इनको प्राप्त करने पर भी परतन्त्रता बराबर बनी ही रहती है और जहाँ परतन्त्रता है वहाँ शान्ति कैसी ? दीनता की निवृत्ति का उपाय एकमात्र वैराग्य है। वैराग्य विषयों में बार-बार दोष-दर्शन करने से होता है। वैराग्य द्वारा ही आनन्द प्राप्त होता है।

मिथ्या ज्ञानजन्य संस्कारों से भी पुरुष को भय बना रहता है; अभयता नहीं आती। जब तक तीनों शरीरों का अभिमान है और मुझ इन्द्र से भेददृष्टि बनी है, तब तक भला दीनता से छुटकारा कैसा ? हे प्रतर्दन ! द्वैतभाव में सदा भय बना रहता है और मुझ अद्वितीय आत्मा के ज्ञान से मूल अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इसीलिये तो ज्ञानवान पुरुष को मिथ्या ज्ञानजन्य संस्कारों से भय नहीं रहता, वह निर्भय रहता है। इसीलिये वैराग्य तथा त्याग से भी अधिक आत्मज्ञान—अर्थात् मुझ इन्द्र का बोध कल्याणकर है। मुझ इन्द्र स्वरूप आत्मा के ज्ञान से भिन्न कोई भी वस्तु संसार में कल्याणकर नहीं है, क्योंकि ब्रह्महत्या आदि से लेकर जितने भी पाप लोकशास्त्र में कथन किये गये हैं, उन पापों के कारण अनन्त जन्मों तक जीवों को अनन्त दुःखों की प्राप्ति होती है। उन अनन्त दुःखों से प्राणियों को कभी भी छुटकारा नहीं मिलेगा, ऐसे ब्रह्महत्या के पाप भी मुझ इन्द्र के ज्ञान के प्रभाव से जीवों को स्पर्श भी नहीं करते। हे प्रतर्दन ! मैं जो कुछ कहता हूं, केवल आत्मज्ञान की स्तुति के लिए नहीं कहता, वरन् मेरे वचन अनुभव द्वारा सिद्ध हैं, असिद्ध नहीं।

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र ! वह अनुभव क्या है ?

इन्द्र—हे राजा ! देख, आत्मज्ञान के प्रभाव से कोई भी पाप मुझ इन्द्र को नहीं लगता। अजी, लगने की तो बात ही क्या, छूता तक भी नहीं। पाप, पाप ही नहीं रहता। इस विषय को मैं तुझको प्रत्यक्ष तथा प्रमाण के साथ-साथ विस्तारपूर्वक सुनाता हूं, तू ध्यान देकर सुन। मैं तीन लोकों का राजा इन्द्र हूं। अपनी तथा प्रजा की रक्षा के लिए अनेकों पापों को करता हूँ तथापि आत्मसाक्षात्कार के प्रभाव से उन पापों से मेरा एक बाल भी बांका नहीं हो सकता। अब आगे उन पापों को भी सुन कि वह पाप कौन-कौन से हैं ?

एक काल में विश्वरूप नाम का हम देवताओं का एक पुरोहित था जो दैत्यों की भगिनी से उत्पन्न हुआ था। उसके तीन मस्तक थे—एक सात्विक स्वभाव वाला, दूसरा राजस स्वभाव वाला और तीसरा तामसी स्वभाव वाला था। देवताओं के स्वभाव के अनुसार हमारा पुरोहित हुआ विश्वरूप सात्विक

मुख से अमृत को पीता था, राजसी स्वभाव के राजसी मुख से मनुष्यों की तरह अन्न आदि खा[illegible] था और तीसरे तामसी मुख से शराब-मांस आदि का भक्षण किया करता था। एक समय वह किसी यज्ञ में ऋत्विक बनाया गया। सबके सामने, देवताओं के लिए ऊँचे स्वर अर्थात् प्रत्यक्ष रू[illegible] के भाग को देते हुए उसने अपनी माता तुष्टा के पक्ष के असुरों को मन्दस्वर अर्थात् देवताओं से अप्रत्यक्ष रूप से यज्ञ के भागों को दिया।

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र! तुम्हारे विश्वरूप पुरोहित ने देवताओं को तो यज्ञ के [illegible] प्रत्यक्ष (अर्थात् सबके सामने) दिया और असुरों को यज्ञ का भाग मन्दस्वर से अर्थात् छिपाक[illegible] इसका क्या कारण है?

इन्द्र—हे प्रतर्दन! असुर यज्ञ के भागी नहीं हैं। वे यज्ञ करने के अधिकारी भी नहीं [illegible] कारण असुरों को यज्ञ का भाग देना उचित नहीं समझा जाता। जैसे एक राजा ने चार मनुष्यों [illegible] ग्राम दे दिया। चारों मनुष्य उस ग्राम के भागी हैं। उस ग्राम में कोई एक मनुष्य निन्दक [illegible] भी रहता है। वह दुष्ट उस ग्राम का भागी नहीं है, तथापि उसकी जीविका के लिए उस ग्राम [illegible] उसको मिलता है। उस दुष्ट पुरुष को ग्राम का भाग प्रत्यक्ष नहीं मिला करता, अप्रत्यक्ष मि[illegible] परन्तु उन चारों भागियों को तो ग्राम का भाग प्रत्यक्ष ही मिलता है। यदि कोई उस निन्दक दुष्ट [illegible] भी ग्राम का भाग प्रत्यक्ष देता है, तो वह ग्राम के स्वामी का नाश करने वाला है क्योंकि छिपा[illegible] हुये भाग से वह धीरे-धीरे शक्ति पाकर किसी काल में ग्राम के स्वामी का नाश कर देता [illegible] ग्राम आदि की सम्पदा को भी छीन कर ले जाता है। इससे भाग रहित अनधिकारी पुरुष को [illegible] प्राप्ति ग्राम के स्वामी के लिए अनर्थ का कारण है।

हे प्रतर्दन! जब मैंने देखा कि यह हमारा पुरोहित विश्वरूप यज्ञ का भाग दैत्यों को [illegible] देता है तो इसको देखकर मेरी ऐसी बुद्धि हो गई कि यह हमारा पुरोहित हमारे शत्रुओं [illegible] इच्छा करता है। इससे यह जाना जाता है कि यह एक-न-एक दिन हम देवताओं और हमारे [illegible] नाश करेगा। इसलिए यह दुरात्मा विश्वरूप पुरोहित मारने योग्य है।

राजा प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र! विश्वरूप पुरोहित दुरात्मा किस प्रकार था?

इन्द्र—हे प्रतर्दन! हम जो देवता हैं; विश्वासी हैं। विश्वासी देवताओं का नाश करने के [illegible] पुरोहित हम देवताओं के शत्रुओं को हम से छिपाकर यज्ञ का भाग देता था, इसलिये वह [illegible] है। विश्वासघाती पुरुष को संसार में दुरात्मा कहा करते हैं। विश्वरूप पुरोहित हम देवताओं [illegible] खाता है और हमारे ही शत्रुओं को यज्ञ का भाग देता है। ऐसे आत्मद्रोही पुरुष के समान संसार [illegible] भी पापी नहीं है। वह देवताओं का पुरोहित वेदों का ज्ञाता और ब्राह्मण है, इस नाते से [illegible] नहीं है, यह ठीक है। तो भी हम यजमानों के नाश के लिये इस दुरात्मा ने इस प्रकार का पुरुषा[illegible] अतः यह दुरात्मा विश्वरूप अवश्य मारने योग्य है। हे प्रतर्दन! इस प्रकार विचार कर मैंने देवों [illegible] के बीच विश्वरूप पुरोहित के तीनों सिरों का छेदन कर दिया। उस पाप-कर्म से मेरा आत्मज्ञान [illegible] से रोममात्र भी बाँका नहीं हुआ। इस आत्मज्ञान के प्रभाव से, वेदान्त-विचार से रहित [illegible] लिंग अभिमानी कोटि संन्यासियों को मारने पर भी हमारे को पाप का स्पर्श नहीं हुआ।

प्रतर्दन—हे इन्द्र ! उनका क्या अपराध था ?

इन्द्र—हे प्रतर्दन ! एक समय किसी देश में कोटि संन्यासी एकत्र हुये थे। वह संन्यासी कैसे थे ? वर्ण आश्रम के जो आचार हैं, उनमें उनकी बड़ी प्रीति थी और चार आश्रमों में जो उत्तम आश्रम संन्यास है, उससे वह युक्त थे, परन्तु वह—'इन्द्र हमारा आत्मा है'—इस प्रकार के सर्व आत्मज्ञान से रहित थे। ऐसे बहिर्मुख उन आश्रम अभिमानियों से मैंने पूछा कि तुम कौन हो ? ऐसा जब मैंने पूछा तो वे मेरे प्रति कहने लगे कि वर्ण-आश्रम के कर्मों को करने वाले हम संन्यासी हैं। और फिर वह संन्यासी दैववशात् मोह को प्राप्त हुये मुझ से कहने लगे कि तू कौन है, जो हम संन्यासियों को पूछता है ? यहाँ क्यों आया है ? नमस्कार नहीं, दण्डवत-प्रणाम कुछ नहीं,—चल, परे हट !

हे प्रतर्दन ! इस प्रकार निरादरयुक्त वचन सुनकर भी मैं कुछ नहीं बोला वरन् दयापूर्वक उन संन्यासियों से कहने लगा कि हे संन्यासियो ! मैं इन्द्र सम्पूर्ण संन्यासियों का आत्मा हूं। ऐसा मेरा वचन सुनकर तमाम संन्यासी मेरे ऊपर क्रोध करने लगे, आपे से बाहर हो गये। हे प्रतर्दन ! वैसे तो वे मूर्ख थे और अभिमान करके अपने को पंडित जानते तथा मानते थे। दैव के मारे हुए वे शरीर अभिमानी फिर निरादरयुक्त वचन मुझ इन्द्र के लिए कहने लगे कि तू शरीरधारी होकर भला इन्द्र किस प्रकार हो सकता है ? तू शरीरधारी है और देवता के शरीर नहीं हुआ करता। जैसे यज्ञ में अतिथि का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वैसे ही इन्द्र देवता का भी प्रत्यक्ष दर्शन होना चाहिये और यज्ञ में इन्द्र का प्रत्यक्ष दर्शन होता नहीं, इसलिए तू इन्द्र नहीं है, मिथ्या बकवादी है। तूने जो यह कहा है कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा हूं, सो भी ठीक नहीं क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है। जो सब शरीरों में आत्मा एक होता तो एक शरीर में सुख-दुःख के होने से सर्व शरीरों में सुख-दुःख होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए सब शरीरों में आत्मा एक नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न हैं। इन्द्र शब्द मिथ्या है, केवल शब्द मात्र है। न कोई इन्द्र है और न कोई देवता ही है।

इस प्रकार मेरे सामने पण्डिताई की बातें छौंकने लगे और तर्क-वितर्क करके मुझे बड़ा अपमानित किया। हे प्रतर्दन ! ऐसे बहिर्मुख संन्यासियों के कठोर वचन सुनकर और बिना कारण उनके क्रोध को देखकर भी मैं उनके ऊपर दया करता रहा। तो भी वे अनेक प्रकार की कुतर्क करके निरादरयुक्त वचन कहकर मेरे ऊपर सबके सब क्रोध करने लगे। तब मैंने उन संन्यासियों से पूछा कि तुम जो यह कहते हो कि देवताओं के विग्रह नहीं होते और प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न होता है, इसमें कोई वेद का प्रमाण है ? यदि है तो मेरे प्रति कथन करो। जब मैंने उन संन्यासियों से प्रमाण पूछा तो वे मूर्ख फिर क्रोध करने लगे। एक भी वेद का प्रमाण नहीं दे सके वरन कुटिलता करके, भौं तथा मुख को टेढ़ा करके, मेरी निन्दा करने लगे। धिक्कार देकर कहने लगे कि जा यहां से, चल भाग ! कहाँ हमसे शास्त्रार्थ करने आया है, मूर्ख ! बिना लिखा-पढ़ा, हमारा समय खोता है। खबरदार यदि फिर यहाँ आया तो ! इस प्रकार वे तमाम संन्यासी मुख बना-बनाकर और हाथ नचा-नचा कर मेरा बहुत अपमान करने लगे।

हे प्रतर्दन ! तब त्रिलोकी की रक्षा करने वाला मैं इन्द्र अपने मन में विचार करने लगा कि इन संन्यासियों की उपेक्षा करनी चाहिये किंवा इनको दण्ड देना चाहिये। अन्त में यह निश्चय किया कि इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, किन्तु इन मूर्खों को दण्ड देना चाहिये।

प्रतर्दन—हे महाराज ! ऐसे आश्रम अभिमानियों के मुंह नहीं लगना चाहिये। आप सात्विक देवता हैं, उपेक्षा करके चले जाना था।

देवराजेन्द्र—हे प्रतर्दन ! जो संन्यासी पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता भी नहीं जानते, पिण्ड का ही पोषण करता कराता है, ऐसे मूर्ख आश्रम-अभिमानी संन्यासियों की उपेक्षा न चाहिए। क्योंकि त्रिलोकी को अधर्म से बचाने के लिए ही मुझ इन्द्र का अवतार हुआ है, अधर्म की उपेक्षा करने के लिए नहीं। बस, यही ठीक है।

परन्तु अपराध-निर्णय के बिना दण्ड नहीं दिया जाता। अब देखना यह है कि इन संन्यासियों का क्या अपराध है ? हे प्रतर्दन ! अपराध निर्णय करने के लिये संन्यास तथा संन्यास के धर्मों और के फल अर्थ का कथन करने वाली श्रुति ने इस प्रकार वर्णन किया है कि विवेक-वैराग्य आदि वाला पुरुष आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति के लिये, सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके, गुरु के उपदेश मनन करके केवल वेदान्त के अर्थ का विचार करता रहे। इस प्रकार वेदान्त का विचार करके जिस को अद्वितीय आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष हुआ है वह पुरुष जन्म-मरणरूप संसार को होता। विवेक-वैराग्य आदि साधन-सम्पत्ति पूर्वक सर्व कर्मों के त्याग का नाम संन्यास है वेदान्त शास्त्र का विचार संन्यासी का धर्म है। जन्म-मरण आदिक अनर्थ की निवृत्ति और की प्राप्ति रूप मोक्ष संन्यास का फल है। सो इस प्रकार का संन्यास इनमें नहीं है।

वेद में कहा है कि जिस दिन पुरुष को विषयों से उत्कट वैराग्य हो, उसी दिन साधन कर्मों का त्याग कर दे,—चाहे ब्रह्मचारी हो, चाहे गृहस्थ हो या वानप्रस्थ हो। इनमें संन्यास नहीं, क्योंकि एक तो यह सब के सब यौवन अवस्था वाले हैं, ब्रह्मचारी से ही संन्यासी हो गए हैं ज्ञान से रहित हैं। नीति को भी यह नहीं जानते। क्रोध रूप शत्रु के वशीभूत हुए हैं, इस दुर्बुद्धि मूर्ख अपने हित की बात भी नहीं सुनते। उलटा हित का उपदेश करने वाले मुझ करते हैं। जैसे मरण के निकट आया हुआ रोगी हितकारी वैद्य के साथ द्वेष करता है, उसी संन्यासी मृत्यु के निकट हुए मेरे साथ लड़ाई करते हैं।

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र ! यद्यपि यह संन्यासी अपराधी अवश्य हैं, तथापि तुम्हारे को करनी चाहिये, क्योंकि एक तो आप देवता हैं, दूसरे वयोवृद्ध हैं। बड़ों को बच्चों पर क्रोध नहीं चाहिये। किसी दूसरे के उपदेश से इन संन्यासियों को आत्मसाक्षात्कार हो जायगा।

इन्द्र—हे प्रतर्दन ! मुझ इन्द्र के उपदेश को जब नहीं सुनते तब यह संन्यासी भला दूसरे की क्योंकर सुनेंगे ? मैं तो इन संन्यासियों के बोध के वास्ते, इनके निरादरयुक्त वचनों को भी कृपायुक्त हुआ इनसे वेद का प्रमाण पूछने लगा था।

प्रतर्दन—हे इन्द्र ! ऐसे बहिर्मुखी संन्यासियों से आपने किस कारण से श्रुति का प्रमाण

इन्द्र—हे प्रतर्दन ! हमारे पूछने का यह अभिप्राय था कि यदि यह संन्यासी आत्मा के भेद में कोई वेद का प्रमाण कहेंगे, तो मैं वेद का प्रमाण देकर इनके आत्मा के नानात्व का तिरस्कार आत्मा के एकत्व का उपदेश करूँगा। मेरे इस अभिप्राय को न समझकर यह मूर्ख संन्यासी मेरे ऊपर क्रोध करने लगे। बस, मैंने समझ लिया कि वेद के वचन रूप प्रमाणों को भी यह संन्यासी जानते, केवल कुतर्कों को करना जानते हैं। वाचाल हैं, इससे यह संन्यासी दण्ड देने योग्य हैं।

शास्त्र की यह मर्यादा है कि चाण्डाल, शत्रु, पतित और दुराचारी,—इन चारों में से कोई भी यदि यथार्थ प्रश्न करें तो बुद्धिमान पुरुष को उनका ठीक-ठीक उत्तर देना चाहिये। इस नियम का भी इन संन्यासियों ने त्याग किया क्योंकि साक्षात् मुक्त इन्द्र के पूछने पर भी यह उद्दण्ड संन्यासी उत्तर को नहीं कहते हुए तर्कवाद करते हैं। इन दुर्बुद्धि संन्यासियों का जन्म निष्फल है। क्योंकि सर्व कर्मों का त्याग करके इन्होंने संन्यास धारण किया है, इससे यह अब कर्मों के अधिकारी भी नहीं रहे और वैराग्य आदि साधनों से भी रहित हैं, इस से यह ज्ञान के भी अधिकारी नहीं हैं।

प्रतर्दन—हे इन्द्र! इन संन्यासियों में वैराग्य का अभाव आपने कैसे जाना?

इन्द्र—हे प्रतर्दन! क्रोध से इनमें वैराग्य का अभाव जाना। जहां क्रोध रहता है, वहाँ वैराग्य नहीं होता। जैसे दुष्ट घोड़े सवार को नीचे गिरा देते हैं, उसी प्रकार क्रोधी पुरुष को भी यह क्रोध रूपी दुष्ट घोड़ा नर्क में गिरा देता है। सुख की प्राप्ति की इच्छा वाले पुरुष के लिए क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं है, अतः सुख की इच्छा वाले पुरुष को क्रोध का अवश्य ही त्याग करना चाहिये। क्रोध की निवृत्ति का उपाय ब्रह्मवेत्ता महात्माओं की सेवा तथा सत्संग किया प्रश्न करके होता है। वह साधन भी इन संन्यासियों में नहीं है, क्योंकि सर्व ब्रह्मवेत्ताओं में मुख्य मुक्त इन्द्र के साथ यह संन्यासी मुँह से ठीक बोलते भी नहीं। तब इन्होंने सेवा तथा प्रश्न आदि तो क्या ही करना है? इसलिए इनके क्रोध की निवृत्ति का कोई भी उपाय नहीं। वैराग्य से रहित इन संन्यासियों को संन्यास धारण करने से किसी भी फल की प्राप्ति नहीं होगी। इसके विरुद्ध शरीर के अभिमानियों का संन्यास लेकर पतन ही होता है। वैराग्य के बिना इनका संन्यास निष्फल है।

संन्यास दो प्रकार का होता है—एक विविदिषा संन्यास और दूसरा विद्वत्संन्यास। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये सर्व कर्मों के त्याग को विविदिषा संन्यास कहते हैं और आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के पश्चात् जीवन्मुक्ति के सुख के लिए जो सर्व कर्मों का त्याग है, वह विद्वत्संन्यास है। गुरुमुख से वेदान्त वाक्यों का श्रवण करके आत्मा का निश्चय करना विविदिषा संन्यास का फल है। जीवन्मुक्ति के सुख की प्राप्ति विद्वत्संन्यास का फल है। हे प्रतर्दन! विविदिषा संन्यास के आत्मसाक्षात्कार रूप फल की प्राप्ति इन संन्यासियों में नहीं है क्योंकि इन में आत्मसाक्षात्कार की इच्छा ही नहीं है। इच्छा के अभाव से यह मूर्ख संन्यासी आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति के लिये गुरु के पास भी नहीं जाते। गुरु के समीप गये बिना आत्मा का साक्षात्कार होना बहुत ही कठिन है, इसलिये विविदिषा संन्यास का फल आत्म-साक्षात्कार भी इनमें नहीं है, तब फिर यह विद्वत्संन्यासी किस प्रकार हो सकते हैं? नहीं हो सकते। इस प्रकार दोनों प्रकार का संन्यास इनमें नहीं है।

यह संन्यासी तो स्वर्ग के भी अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि जैसे प्रचण्ड अग्नि सूखे और गीले काष्ठ को भस्म करती है, उसी प्रकार पुरुष में उत्पन्न हुआ क्रोध भी स्वर्ग और मोक्ष के भी साधनों को नाश करता है। तात्पर्य यह है कि साधनों में जो फल की उत्पत्ति का सामर्थ्य है वह क्रोध करने से नष्ट हो जाता है। हे प्रतर्दन! जहाँ क्रोध होता है, वहां इच्छा का भी वास होता है क्योंकि इच्छा के बिना क्रोध होता ही नहीं। और जहां इच्छा होती है, वहां वैराग्य कदापि नहीं होता। इससे इन संन्यासियों में वैराग्य का अभाव है, अतः ये महा मूढ़ हैं। इनको अपनी पण्डिताई का बड़ा ही अभिमान है और अभिमानी पुरुष से सत्संग नहीं होता। इन संन्यासियों ने गुरु तथा वेद-वचनों का भी अनादर किया है,

इसीलिये तो यह आत्मज्ञान से शून्य और क्रोध से युक्त होकर कर्मी पुरुषों के समान कर्मकाण्
हुए हैं। कर्मी पुरुषों को तो सत्तर वर्ष के पश्चात् ही संन्यास लेने का अधिकार है, पहिले नहीं। इन

हे प्रतर्दन! वेद में आत्मानात्मा के विवेक के वास्ते संन्यास का विधान है। ...प
संन्यासी करते नहीं, इसलिये यह पतित हैं। यद्यपि यह संन्यासी सदाचारयुक्त और ब्राह्मण ...
से उत्कृष्ट हैं। तो भी, जैसे दुष्ट घोड़े मार्ग त्यागकर कुमार्ग में चलते हैं तथा अपना और सवार का
ही करते हैं, हित नहीं करते, उसी प्रकार यह संन्यासी भी आत्म विचार रूप मार्ग का ता...
कुमार्ग में चलते हैं। इनको शिक्षा देने वाला कोई नहीं। शिक्षा देने वाला एक गुरु और ...
होता है। गुरु तो इन संन्यासियों का कोई है नहीं जो इनको बलपूर्वक आत्म विचार ...
चलावे, इसलिये यह दुरात्मा संन्यासी राजा के द्वारा ही शासन करने योग्य हैं। तीन लोक ...
इन्द्र हूं, इसलिये मैं ही इनका शासन करूँ। इस प्रकार संन्यासियों के अपराध को विचार ...
देने का निश्चय किया।

इन संन्यासियों को कैसा दण्ड देना चाहिए? धन-दण्ड देना चाहिए या इनका सिर मु...
चाहिये किंवा देश निकाले का दण्ड देना चाहिये। धन-दण्ड तो हो नहीं सकता, क्योंकि धन ...
पास होता ही नहीं है। सिर का मुण्डन भी इनका दण्ड नहीं हो सकता, क्यों कि यह प्रथम से ही ...
होते हुए हैं। तीसरा दण्ड देश से निकालने का है, वह भी इन्हें नहीं हो सकता क्योंकि सम्पूर्ण ...
इन्द्र का है। किसी को भी त्रिलोकी से बाहर जाने की सामर्थ्य नहीं है। फिर तो इनको शरीर ...
देना ही उचित है।

हे प्रतर्दन! इस प्रकार विचार करके सम्पूर्ण लोक की रक्षा करने वाला मैं इन्द्र इन ...
संन्यासियों के शरीर को छेदन करके वन में श्वानों को खिलाता रहा। इस करके यह बात ...
पुरुषों को वैराग्य के बिना कर्मों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। यदि वैराग्य के बिना तुम ...
पुरुष कर्मों का त्याग करोगे तो जैसे इन संन्यासियों की दुर्गति हुई है, उसी प्रकार तुम्हारी भी दुर्गति ...

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र! आपने इन संन्यासियों का क्यों छेदन किया? किसी दूसरे ...
द्वारा छेदन करा देते।

देवराजेन्द्र—हे प्रतर्दन! मैं स्वयं तीनों लोक का राजा होकर भला और किससे ...
सकता हूँ? मेरे समान दूसरा राजा और कौन है? कोई नहीं है। हे प्रतर्दन! इस प्रकार विश्वरूप ...
के पुरोहित तथा वर-शाप देने में समर्थ कर्मकाण्ड में लगे हुए आचारयुक्त ब्राह्मण संन्यासियों को ...
करके आत्मज्ञान के प्रभाव से मुझे किंचित मात्र भी पाप का स्पर्श नहीं हुआ। इतना ही नहीं ...
कोटि दैत्यों को मुझ इन्द्र ने मार डाला। वह दैत्य भी वेदों को जानते थे, पढ़ते-पढ़ाते थे। ...
आचार्य जो मय दैत्य था, वह बड़ा भारी मायावी, सूर्य के समान तेजस्वी तथा पहाड़ के समान ...
वाला था। उसमें कोटि हाथियों के समान बल था। ऐसे अनेक दैत्य आत्मज्ञान के प्रभाव से मुझ ...
हनन कर दिये, तो भी उन ब्राह्मणों के शाप तथा दैत्यों के शस्त्रों से आत्मज्ञान के प्रभाव से मेरा एक भी ...
बाँका नहीं हुआ और न मेरी संसार में अपकीर्ति हुई। इसके विरुद्ध संसार में कीर्ति है। संसारी ...
प्रकार कहते हैं कि वाह रे इन्द्र! वेद-विरुद्ध, लोक-विरुद्ध निन्द्य कर्म करता हुआ भी पाप से लिप्त ...
हुआ।

हे प्रतर्दन ! यह नियम की बात है कि ब्रह्मविद्या के जानने वाले पर न तो दैत्यों का शस्त्र, न उनकी माया और न ब्राह्मणों का शाप ही काम करता है। ब्रह्मज्ञानी के ऊपर किसी का भी प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे मुक्त इन्द्र को आत्मज्ञान के प्रभाव से निषिद्ध कर्मों के करने पर भी पाप का स्पर्श नहीं हुआ, इसी प्रकार चाहे देवता हो, चाहे मनुष्य हो, उसको भी आत्मज्ञान के बल से निषिद्ध कर्मों को करके पाप का स्पर्श नहीं होगा। हे प्रतर्दन ! जिस पुरुष को मुक्त अद्वितीय आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, वह कदाचित् पापकर्म करने की इच्छा भी करता है, तो भी पापकर्म करके उस मनुष्य के मुख की कान्ति नष्ट नहीं होती। संसार में ब्रह्मविद्या के समान कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है। ब्रह्मविद्या ही सबसे उत्तम है।

हे प्रतर्दन ! इस ब्रह्मविद्या का और भी ऐसा प्रभाव है कि तत्ववेत्ता पुरुष पाप की इच्छा करे किंवा अनन्त पापकर्मों को करे, तो भी उस पुरुष की सर्वात्मदृष्टि को देखकर घर के बान्धव बिरादरी से बाहर नहीं करते। राजा भी उसके शरीर को दण्ड नहीं देता और वाणी द्वारा उस तत्ववेत्ता को शिक्षा भी नहीं देते, बल्कि उसके आत्मज्ञान के प्रभाव को देखकर चकित होते हैं, अधिक-से-अधिक आदर करते हैं, अनादर नहीं करते। हे प्रतर्दन ! अद्वितीय आत्मा का ज्ञान ही पुरुष के लिए हितकरतम है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है।

हे शिष्य ! इस प्रकार इन्द्र के मुख से कल्याणकर आत्मज्ञान को सुनकर प्रतर्दन राजा अपने अभिप्राय को जानकर जो उसके शरीर की क्रिया थी, वह कुछ-कुछ न रही-सी हो गई। अब आगे उस क्रिया को लिखते हैं किंवा उसकी चेष्टा को कहते हैं। हे शिष्य ! सो भी सुन। उस क्रिया के प्रभाव से प्रथम तो इन्द्र के वचन को सुनकर राजा का मुख विकास को प्राप्त हो गया और नेत्र कमल की नाईं प्रफुल्लित हो गये। परन्तु 'मैं कृतार्थ हो गया किंवा कृतार्थ नहीं हुआ'—इस प्रकार कुछ भी न कहता हुआ मौन हो गया। वह इस प्रकार जड़भाव को प्राप्त हुआ जैसे शिला की मूर्ति होती है।

हे शिष्य ! प्रतर्दन राजा की इस दशा को देखकर सर्वज्ञ इन्द्र अपने मन में विचार करने लगा कि यह प्रतर्दन राजा कदाचित् इस प्रकार विचार करता हो कि यह इन्द्र आत्मज्ञान की स्तुति करने वाला है। इसलिये इसने आत्मज्ञान में मेरा विश्वास कराने के लिए अपने कोपापकर्मों का अस्पर्श दिखाया है। तो भी, इन्द्र ने जो उपदेश किया है वह हितकर ज्ञान है और उस ज्ञान के विषय में मेरे को संशय है, क्योंकि 'तू जान'—पहिले जो यह उपदेश इन्द्र ने मुझे किया है, सो 'मेरे को'—यह 'अस्मद' शब्द करके या 'ज्ञान' करके किस अर्थ का इन्द्र ने कथन किया है। सहस्र आँखों वाला, वज्र जिसके हाथ में है और सम्पूर्ण देवता जिसके पैरों की सेवा करते हैं, ऐसा जो स्थूल शरीर मेरे सामने खड़ा है, वही 'अस्मद' शब्द का अर्थ है किंवा शरीर से भिन्न और शरीर के अन्तरवर्ती कोई दूसरा आत्मा है।

शरीर के अन्दर वर्तमान आत्मा भी कौन है ? 'मेरे को तू जान'—इस शब्द का वक्ता जीवात्मा अथवा साक्षी आत्मा है। 'मेरे को तू जान'—यह जो वचन इन्द्र ने कहा है,—यहाँ 'मेरे को' इस शब्द का क्या अर्थ है ? स्थूल शरीर है या जीवात्मा अर्थ है किंवा साक्षी चेतन अर्थ है। यहाँ स्थूल शरीर में तथा जीवात्मा में तो—'मेरे को तू जान'—इन्द्र का यह कथन सम्भव नहीं, क्योंकि स्थूल शरीर तथा जीवात्मा दोनों परिच्छिन्न हैं। परिच्छिन्न के ज्ञान से अपरिच्छिन्न फल की प्राप्ति नहीं होती। अब रहा तीसरा साक्षी कूटस्थ। इसमें भी—'मेरे को तू जान'—इन्द्र के इस कथन की तथा ज्ञान की विषमता सम्भव नहीं

क्योंकि साक्षी चेतन मन-वाणी का विषय नहीं। इस प्रकार के संशय को जो मैं प्रकट कर दूँ तो की मन्दता सिद्ध हो जायगी। इन्द्र स्वयं ही मेरे इस संशय को निवृत्त करेगा।

हे शिष्य! अपने मन में इस प्रकार विचार करके प्रतर्दन इन्द्र से कुछ पूछता नहीं, मौन अभी आत्मज्ञान भी उसको नहीं हुआ, इस कारण—"मैं कृतकृत्य हुआ हूँ"—ऐसा भी वह क्योंकि अपनी बुद्धि की कमी को देखकर बुद्धिमान पुरुष की क्रिया में रुचि नहीं हुआ करती। बुद्धिमान राजा है! इसलिए अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये इस प्रतर्दन को हितकर जब तक संशय का नाश न हो तब तक, बिना ही पूछे उपदेश करना चाहिये। इस प्रकार इन्द्र फिर विचार करने लगा कि यह आनन्द स्वरूप आत्मा अलौकिक पदार्थ है और मन तथा अविषय है। इस आत्मा को साक्षात् कहने में मैं इन्द्र भी समर्थ नहीं हूं और न यह राजा साक्षात् आत्मा को जानने में समर्थ है। किन्तु उपाधि के द्वारा आत्मा के कथन में मैं इन्द्र सम यह राजा भी उपाधियों द्वारा आत्मा को जानने में समर्थ होगा। इसलिये मैं किसी उपाधि के द्वा के लिये आत्मा का उपदेश करूँ।

उन उपाधियों में भी स्थूल शरीर तथा इन्द्रिय आदिक उपाधियों की अपेक्षा क्रिया प्राण और ज्ञानशक्ति वाली बुद्धि,—ये दोनों उपाधियाँ आत्मा के बिलकुल समीप हैं अर्थात् अतः संसार में प्रसिद्ध प्राण और ज्ञानशक्ति बुद्धि,—इन दोनों उपाधियों को ग्रहण करके प्रतर्दन के लिये अलौकिक आत्मा का कथन करूँगा। इन दोनों उपाधियों के अतिरिक्त अन्य उपाधियां हैं, वे सब निकृष्ट हैं। ये दोनों उपाधियाँ ही उत्कृष्ट हैं। प्राण और प्रज्ञा के विद्यमान ही शरीर तथा इन्द्रियों की स्थिति होती है। इनका अभाव होने पर शरीर, इन्द्रिय आदिक की नहीं रहती। इस अन्वय व्यतिरेक से सम्पूर्ण शरीर आदिक उपाधियों की अपेक्षा प्राण और सब उपाधियों से उत्कृष्ट हैं। जिस उपाधि के द्वारा साधक लोग बहुत सरलता से आत्मा कर सकें, उसी प्रकार उपदेष्टा को उपदेश करना चाहिये।

प्राण, शरीर और इन्द्रियों में जो क्रिया है, वह चेतन आत्मा के कारण ही है, क्योंकि में क्रिया और बुद्धि में ज्ञान करने की शक्ति नहीं हो सकती। जड़ होने से प्राण और प्रज्ञा चैतन्य आत्मा ही है। चैतन्यात्मा सम्पूर्ण जड़ पदार्थों का प्रकाशक है। इस प्रकार अपने मन करके देवराजेन्द्र प्रतर्दन से कहने लगा कि हे प्रतर्दन! अनेक प्रकार की क्रिया का कारण 'मैं' 'मैं' प्राणस्वरूप हूँ। भेद से रहित स्वयं प्रकाश 'मैं' हूँ, इसलिये 'मैं' ही प्रज्ञास्वरूप हूँ। सम्पूर्ण का जीवन मैं ही हूँ। मैं जन्म-मरण से रहित हूँ, इसी कारण मैं अमृत स्वरूप हूँ। हे प्रतर्दन प्रज्ञा, आयु—ऐसा जो अपना स्वरूप मैंने तेरे लिये कथन किया है, उस स्वरूप का तुम वारम्बार करो। अनात्माकार विजातीय वृत्तियों का परित्याग करके स्वरूपाकार सजातीय वृत्तियों द्वारा का साक्षात्कार करो।

हे प्रतर्दन! सुषुप्ति अवस्था में जिस प्राणस्वरूप मुझ आत्मा में यह वाक् आदि इन्द्रियाँ भाव को प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार प्राणस्वरूप मुझ आत्मा से ही जाग्रत अवस्था में ये सम्पूर्ण उत्पन्न भी होती हैं। जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुआ घड़ा मिट्टी से अलग नहीं होता, उसी प्रकार

मुझ आत्मा से उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ मेरे से भिन्न किस प्रकार हो सकती हैं ? नहीं हो सकतीं। यह अच्छी प्रकार समझ ले।

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र ! जब वाक् आदिक इन्द्रिया प्राणस्वरूप आत्मा से अलग नहीं तो फिर पृथक्-पृथक् रूप होकर क्यों दीखती हैं ?

इन्द्र—हे प्रतर्दन ! यह वाक् आदि इन्द्रियाँ प्राणस्वरूप मुझ आत्मा की विभूतियाँ हैं, इसी से मुझ आत्मा से भिन्न होकर उत्पन्न नहीं होतीं, किन्तु मेरा स्वरूप रहते हुए ही मुझ से उत्पन्न होती हैं। जिनको अविवेक होता है अर्थात् विवेक करने की युक्ति प्राप्त नहीं हुई होती, उनको इसमें भेद प्रतीत होता है।

प्रतर्दन—हे इन्द्र ! वाक् आदि इन्द्रियरूप विभूतियों की उत्पत्ति अपने प्राणस्वरूप आत्मा से अभिन्न कथन की, यह अभी मेरे अनुभव में नहीं आया क्योंकि संसार में भिन्नों का ही कार्य-कारण भाव देखा जाता है, अभिन्नों का नहीं।

इन्द्र— हे प्रतर्दन ! भिन्नों का ही कार्य-कारण भाव देखा जाता है, यह कोई नियम की बात नहीं है किन्तु अभिन्नों का भी कार्य-कारण भाव देखने में आता है। जैसे जलती हुई अग्नि से चिनगारी निकलती है। वह चिनगारी अग्नि से भिन्न नहीं होती। किन्तु अभिन्न होते हुए भी भिन्न-सी दीखती है। इसी प्रकार जागृत अवस्था में प्राणस्वरूप मुझ आत्मा से इन्द्रियरूपी चिनगारियाँ निकलती हैं और वाक् आदिक इन्द्रियों से अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं। उन अग्नि आदि देवताओं से शब्द उच्चारण आदि विषय उत्पन्न होते हैं।

हे प्रतर्दन ! जैसे संध्याकाल में दशों-दिशाओं के पक्षी एक बड़े वृक्ष के ऊपर जाकर आश्रय लेते हैं, इसी प्रकार पृथ्वी आदि पाँच भूत, उनके गन्धादिक गुण और प्राणादिक सर्व प्रपञ्च रूप पदार्थ सुषुप्ति-काल में मुझ चैतन्य प्राण प्रज्ञा का आश्रय लेकर रहते हैं। विद्वान् मुझ प्राण प्रज्ञा के इस प्रकार के स्वरूप को जानता है कि प्राण आत्मा से पांचों वायु और द्वादश करण अर्थात् व्यष्टि-जगत उत्पन्न होता है, उस में ही स्थित रहकर अन्त में उसमें ही लय भाव को प्राप्त होता है। हे प्रतर्दन ! और भी सुन, कि मैं ही समष्टिरूप को धारण करके सूर्य आदि रूप से व्यापक होता हूँ। मेरा पाँच प्रकार से विभक्त होना जो कोई जानता है, वह विद्वान् शरीर त्याग के पीछे अमर होता है।

हे प्रतर्दन ! यह प्राण-प्रज्ञा ज्ञान-अज्ञान के अंगों से लिप्त नहीं होता, न यह शुद्धज्ञान से एकता ही प्राप्त करता है और न अज्ञान के कारण इसमें द्वैतभाव ही आता है। इस प्रकार केवल ज्ञातृत्व से युक्त तटस्थ ही इसका स्वरूप है। जिन्होंने मेरा सत्य स्वरूप जान लिया है वे भेदभाव का उसी प्रकार परित्याग कर देते हैं, जिस प्रकार मनुष्य सोने के अनेक प्रकार के भूषणों को सोने से अभिन्न जानकर उन्हें मिथ्या कहता है। जो यह कहता है कि मैं प्राण-प्रज्ञा आत्मा ही सर्वव्यापक, अद्वितीय, स्वयं सिद्ध, प्राणों का प्राण और प्रज्ञा की भी प्रज्ञा हूँ, जो स्वयं अपने-आपको मुझ से भिन्न नहीं समझता, जो मेरे आत्म-स्वरूप को पहिचानता है, उसी के सम्बन्ध में यह समझना चाहिये कि उसने सब कुछ जान लिया है। हे प्रतर्दन ! तुझ से भिन्न और कोई भी वस्तु प्राण और प्रज्ञा शब्द का अर्थ नहीं है। अनेक प्रकार की क्रियाओं का कारण भी सिवाय तेरे और दूसरा कोई नहीं, तू ही है। इसी से तो 'तू'—'मैं' प्राणस्वरूप

हैं। भेद से रहित स्वयं प्रकाश तू ही है। इसी से 'तू' प्रज्ञा स्वरूप है। ऐसा जो प्राणात्मा का निजी स्वरूप मैंने तेरे लिये कथन किया है, उसको तू वारम्वार विचार कर। आलस्य मत कर।

हे राजा! जो मनुष्य मुझ प्राण आत्मा के साथ वैर करते हैं, उनकी प्राण-आत्मा किस प्रकार व्यवस्था करता है, उसको भी सुन। वह प्राणात्मा उनकी ऐसी दुर्गति करता है कि क्लेश रूपी जहाँ इकट्ठा होता है, शूकर-कूकर की योनि में भेजकर उन्हें उस मल का भोजन कराता है। योनियों में मैं प्राण प्रज्ञात्मा उन मूर्खों को वारम्वार रखता हूं।

हे प्रतर्दन! और भी सुन। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन और शरीर सम्पूर्ण प्रज्ञास्वरूप हैं। प्रज्ञा के विना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं करती अर्थात् प्रज्ञा के विना किसी भी वस्तु को वाक् आदि इन्द्रिय नहीं जान सकतीं। वाक् आदि इन्द्रियों का अपने-अपने साथ सम्बन्ध होने पर भी प्रज्ञा के विना किसी भी विषय का प्रकाश नहीं होता, जैसे मिट्टी के विना आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। हे प्रतर्दन! अच्छी प्रकार समझ ले कि जिस वस्तु के विद्यमान जो वस्तु प्रतीत होती है और जिस वस्तु के अविद्यमान होने से जो वस्तु प्रतीत नहीं होती, वह भिन्न नहीं होती है। मिट्टी के विद्यमान होने पर ही घड़े की प्रतीति होती है और मिट्टी का अभाव घड़े का भी अभाव होता है, अतः घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं, अभिन्न है। उसी प्रकार, हे प्रतर्दन आदिक द्वादश करण, नाम आदिक द्वादश विषय,—यह सब प्रज्ञा के विद्यमान होने पर प्रतीत होते हैं प्रज्ञा के अविद्यमान होने पर प्रतीत नहीं होते। अतः ये सम्पूर्ण वाक् आदि प्रज्ञास्वरूप ही हैं। किञ्चित् मात्र भी उनका भेद नहीं, इस से प्रज्ञा स्वरूप हैं।

प्रतर्दन—हे इन्द्र! यदि ऐसी बात है तो वाक् आदि इन्द्रियाँ भी प्रज्ञा स्वरूप हैं। इसलिये प्रज्ञा में आत्मबुद्धि आपने उपदेश की, उसी प्रकार यदि मैं वाक् आदि इन्द्रियों में आत्मबुद्धि करूं तो कोई दोष तो नहीं है?

इन्द्र—हे प्रतर्दन! वाक् आदि इन्द्रियों की प्रज्ञारूपता है, तो भी इनकी सर्वरूपता नहीं है, इसलिये इनमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये। प्रज्ञा और प्राण में पूर्वोक्त रीति से सर्वरूपता है, अतः तथा प्रज्ञा में ही आत्मबुद्धि करनी चाहिये। हे प्रतर्दन! "वागादिक में प्रज्ञास्वरूपता है, अतः उनमें बुद्धि करनी चाहिये"—इस प्रकार के संशय को त्याग करके प्राण-प्रज्ञा स्वरूप मुझ इन्द्र का निश्चय करो। सो मैं कैसा हूं कि वाक् इन्द्रिय करके तेरे को उपदेश करता हुआ भी वास्तव में वागादि से रहित हूं। तात्पर्य यह है कि वागादि इंद्रियों से विशिष्ट हुआ आत्मा वक्ता, श्रोता, द्रष्टा आदि को प्राप्त होता है। जैसे एक ही ब्राह्मण वाक् क्रिया करने से वाचक और पाठरूप क्रिया करने से संज्ञा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक ही अद्वितीय आत्मा वाक् आदिकों से विशिष्ट हुआ आदि संज्ञाओं को प्राप्त होता है। उन वागादिकों का परित्याग करके परिशेष रूप में रहा हुआ प्रज्ञास्वरूप आत्मा है, उसी को तू निश्चय कर। हे प्रतर्दन! वह आत्मा कैसा है? अपने-अपने से युक्त जो वाक् आदिक करण हैं, वह उनको प्रकाशित करता है।

प्रतर्दन—हे देवराजेन्द्र! प्राण और प्रज्ञा की पहले आपने अद्वितीयरूपता कथन की उसे वाक् आदि सबका प्रकाशक कहा था। यह बात कुछ समझ में नहीं बैठी। क्यों कि संसार में घट आदिकों का तथा प्रकाशक दीपक आदिकों का परस्पर भेद ही देखा जाता है, अभेद नहीं।

इन्द्र—हे प्रतर्दन ! वागादि द्वादश करण और नाम आदिक बारह विषय, ये दोनों परस्पर अपेक्षा वाले हैं। इससे इन दोनों का परस्पर भेद सिद्ध नहीं होता। जब उन दोनों के ही परस्पर भेद का निरूपण नहीं हो सकता, तब अधिष्ठानरूप प्राणप्रज्ञा के साथ उनका भेद भला किस प्रकार निरूपण हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि जैसे रस्सी में कल्पित सर्प रस्सी से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार प्राण प्रज्ञा स्वरूप मुझ आत्मा में कल्पित ये वागादि भी मुझसे भिन्न नहीं होते। हे प्रतर्दन ! प्राण-प्रज्ञास्वरूप मुझ आत्मा से ही यह स्थूल-सूक्ष्म सम्पूर्ण जगत उत्पन्न होता, मुझ आत्मा में ही यह स्थित रहता है और मुझ आत्मा में ही यह सम्पूर्ण जगत लयभाव को प्राप्त होता है।

जैसे सम्पूर्ण भेदों से रहित आकाश में घड़े, मकान आदि उपाधियों के कारण से भेद प्रतीत होता , उसी प्रकार शरीर की उपाधियों के कारण मुझ अद्वितीय आत्मा में नाना प्रकार का भेद प्रतीत होता । मुझ अद्वितीय आत्मा में उपाधिदृष्टि वाले बहिर्मुख पुरुषों को ही भेद प्रतीत होता है। उपाधि-दृष्टि से रहित, अन्तर्मुखी पुरुषों को मुझ अद्वितीय आत्मा में भेद प्रतीत नहीं होता,—ऐसा तू निश्चय करके जान।

हे प्रतर्दन ! सब जीवों को मैं आत्मा ही विशेष रूप से प्रिय हूं, इसी से मैं आत्मा आनन्दस्वरूप । जो अद्वितीय आत्मा मेरा स्वरूप है, वही तेरा भी स्वरूप है। तू ही सबका साक्षी है। ऐसा आत्मस्वरूप पाप-पुण्यरूप कर्मों के आधीन कभी भी नहीं होता, किन्तु अपनी समीपता से बुद्धि आदिकों को पुण्य-और पाप में जोड़ता है। हे प्रतर्दन ! तू परमात्मदेव जिस पुरुष को स्वर्ग ले जाने की इच्छा करता है, उस पुण्यकर्म कराता है अर्थात् शुभकर्मों में जोड़ता है और जिस पुरुष को नरक में ले जाने की इच्छा करता , उससे तू ही पाप कर्म कराता है तथा जिस पुरुष को मनुष्य-लोक में ले जाने की इच्छा करता है, उस पुण्य और पाप दोनों कर्म कराता है। अर्थात् मनुष्य शरीर पाप-पुण्य मिश्रित कर्मों से बनता है, ऐसा निश्चय करके जान।

हे प्रतर्दन ! सर्व कर्मों का प्रेरक, मुझ परमात्मा का स्वरूप जो तू है, सो पुण्य-पाप रूप कर्मों के आधीन नहीं है। सम्पूर्ण बुद्धि आदिकों का साक्षी और सबका प्रेरक जो तेरा स्वरूप मैंने कथन किया है, ही तेरा स्वरूप सब लोकों का पालन भी करता है। जैसे माता बच्चों का पालन करती है, उसी प्रकार तू परमात्मदेव भी सब जगत् को अपना मानकर उसे नाना प्रकार के भोगों की प्राप्ति कराके सर्वदा तृप्त रता है।

हे प्रतर्दन ! जैसे मिट्टी और काष्ठ से निर्मित पुल, जल की मर्यादा को धारण करता है, उसी रह पुण्यवान जीव पुण्यों के द्वारा स्वर्ग को और पापी जीव पापों के द्वारा नरक को प्राप्त होता है। इस कार की मर्यादा को धारण करने वाले वेद तथा ब्राह्मण आदिक हैं। उनके साथ विरोध करने वाले जो क्षस आदिक हैं, अपने बल के द्वारा तू परमात्मदेव ही उनको वश में करता है, जैसे कि राजा अपने ल से दुष्ट पुरुषों को वश में करता है। हे प्रतर्दन ! जड़ और चेतन सब भूतों में आकाश की तरह व्यापक परमात्मदेव है, उसका मैंने तेरे लिए कथन किया। उस अद्वितीय मुझ परमात्मा को आत्मस्वरूप रके जान।

हे प्रतर्दन ! किंचित ध्यान देकर सुन कि इस पवित्र ज्ञान उपासना से इन चार प्रकार के सुखों की प्ति होती है—पहला यह कि मुझको कोई दुःख नहीं है, दूसरा यह कि मेरी सब कामनायें निवृत्त हो गईं,

तीसरा यह कि मैं कृतकृत्य हो गया और चौथा यह कि मुझे जो पाना था, सो पा लिया। इस प्रकार इस विद्या का आनन्द चार प्रकार का है। जो साधक मेरी बताई हुई ब्रह्मविद्या को है, वह इस लोक और परलोक के दोनों प्रकार के अनर्थों से छूटकर सुखरूप हो जाता है।

हे प्रतर्दन ! जिसको श्रुतियों में कहीं ब्रह्म, कहीं आत्मा नाम से कहा गया है, वहीं ही आनन्द किंवा सार रूप भी कहा गया है। जब साधक अपने आप में प्रतिष्ठा पा लेता है, में वह अभय हो जाता है और जब इसमें भेद की दृष्टि कर लेता है तो फिर उसको बड़े-बड़े हैं। ब्रह्मतत्व के आनन्द को जानकर पुरुष फिर किसी बात से भी भय नहीं करता। कर्म रूपी चिन्ता केवल इस बोधवान को ही नहीं तपाती। देख, पुण्य-पाप दोनों ही कर्म रूपी बनी हुई यह चिन्ता कि—"हाय ! मैंने पुण्य क्यों नहीं किया और मुझसे पाप क्यों बन गया यह दोनों चिन्तायें एक तत्वज्ञानी को ही नहीं सताती।

हे प्रतर्दन ! इस प्रकार जो पुरुष दोनों प्रकार के कर्मों को छोड़कर सदा आत्मा को रखता है और किये हुए कर्मों को आत्मारूप जानता है, उसको इस लोक का कोई डर नहीं परलोक की माया आदि से भी वह भय नहीं मानता। शरीर आदिकों की प्रवृत्ति से होने वाले कर्मों को भी ब्रह्मज्ञानी आत्मा रूप ही देखता है क्योंकि आत्मा से अभिन्न होने के कारण उसको सताने वाले नहीं रहते। उसके हृदय की गांठ खुल जाती है और उसके तमाम सन्देह हैं। हे प्रतर्दन ! उसकी अन्योन्याध्यास रूपी ग्रन्थी,—जिसमें बुद्धि और चिदात्मा दोनों ही गांठ की तरह हिल मिल रहे हैं,—वह विदीर्ण हो जाती है। अर्थात् आत्मा शरीर आदिकों से नहीं, भिन्न होने पर भी कर्त्ता-भोक्ता है या नहीं, अकर्ता-अभोक्ता होने पर भी ब्रह्म से भिन्न है अभिन्न होने पर भी उसे ज्ञान से मुक्ति मिलती है या नहीं,—इत्यादि उसके तमाम संशय नष्ट हो

हे प्रतर्दन ! इस बोधवान के सञ्चित और आगामी कर्म भी नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कारण अज्ञान अर्थात् अहंकार शेष नहीं रहता। मेरे बताये हुए इस ज्ञान से काम, क्रोध, पाशों की हानि हो जाती है और ब्रह्मादि का पद भी तुच्छ एवं निकृष्ट लगने लगता है। अद्वितीय आत्मा का ज्ञान ही मनुष्यों के लिये परम कल्याणकर मानता हूँ। आत्मज्ञान के भी वस्तु जीवों के लिये कल्याणकर नहीं।

हे प्रतर्दन। इस आत्मविद्या को ग्रहण करने वाले ज्ञानी के मुख की कान्ति निर्विषय आनन्द से अत्यन्त मनोहर प्रतीत होने लग पड़ती है। इतना ही नहीं, उसमें व्यवहार कुशलता जाती है कि जिससे उसका संसारी काम काज नीति पूर्वक, विक्षेप रहित चलता रहता है। मैं इन्द्र कितने राज्य पाट का व्यवहार करता हूँ, परन्तु कोई प्राणी मुझसे विक्षिप्त नहीं होता, प्रसन्न रहते हैं। तुमने मुझसे युद्ध करके देख भी लिया है। तमाम व्यवहार मुझ इन्द्र द्वारा भी—"मैं इसका कर्ता हूँ, यह व्यवहार मेरा है"—ऐसा अहंकार मैं नहीं करता। क्योंकि मैं कर एक भाव वाला नहीं होता अर्थात् जगत् के व्यवहार के किसी भी प्रसङ्ग में तादात्म्य इसी कारण उनके हानि तथा लाभ में मुझ इन्द्र को कोई कष्ट नहीं होता।

हे प्रतर्दन ! मैंने अपने मन को इस प्रकार दृढ़ बना लिया है कि जिन-जिन भाव से संसारी लोग कष्ट पर कष्ट उठाते रहते हैं, उनको मेरा मन पकड़ता ही नहीं। संसार

पदार्थों के परिवर्तन को मैं निरन्तर विकार वाला जानकर उनसे सचेत रहता हूँ तथा उनके हानि लाभ से मेरे मन में किसी प्रकार का विकार या विक्षेप नहीं होता। मैं साक्षीमात्र होकर संसार के काम-काज देखता हूं, इसलिये अपने को जगत में नहीं मिलाता। क्योंकि जड़ जगत अपने चैतन्य आत्मा में मिलाने की वस्तु नहीं है। जो मूर्ख, विवेक शून्य अज्ञानी मनुष्य होते हैं, वे जगत् के नाशवान परिणामशील पदार्थों को अपना स्वरूप ही समझ लेते हैं जैसे शरीर आदि को अपना आपा मानने लग पड़ते हैं। फिर ऐसे मनुष्यों की दुर्गति भी खूब होती है।

हे प्रतर्दन! शरीर से लेकर अपने सब पदार्थों को मैं अपना नहीं मानता क्योंकि मैं जगत् का आत्मा हूँ और दूसरे पदार्थ जड़ अनात्मा हैं। मेरा उनका भला क्या सम्बन्ध तथा उनके हानि लाभ से मुझे क्या? जो मूर्ख विवेक शून्य अज्ञानी होते हैं, वे ही जगत के नाशवान परिणामशील पदार्थों से अपना सम्बन्ध पक्का जोड़ लेते हैं और तभी उनको सम्बन्ध की डोरी से बँधना भी पड़ता है। मैं उन पदार्थों से काम तो लेता हूँ, परन्तु अन्तर में—"मेरा है"—ऐसा मैं नहीं मानता या जानता। मैं निर्लेप तथा कमलपत्रवत् असंग रहता हूँ। तू भी मेरे समान इन पदार्थों को अपने हृदय-कोट में स्थान नहीं देना। मेरे समान निर्लेप रहना। देख, सम्बन्ध और संसर्ग गांठने से ही अज्ञानी जीव शोक को प्राप्त होते हैं। जहाँ संसर्ग और सम्बन्ध का नाता नहीं, वहाँ दुःख, बन्धन किंवा परतन्त्रता भी नहीं। फिर शोक कैसा? हाय वैला कैसी? तू स्वयं देखले कि मेरी फौज को तूने कितना छेदन किया, फिर भी मेरा तुझसे द्वेष नहीं। मैंने तेरे सब अपराध क्षमा कर दिये।

हे प्रतर्दन! जिस काल में सम्बन्धरहित चित्त किंवा वासनाशून्य मन कर्ता भाव से रहित होता है, उस काल में आत्मा में तृप्ति किंवा शान्तिभाव आकर पाप-पुण्य का भ्रम कि यह धर्म है,—और यह अधर्म है,—ऐसा भाव सदैव के लिए निवृत्त हो जाता है। आत्मा पर कर्त्ता भोक्ता भाव का आरोप करना महान पाप है और आत्मा को अकर्ता अभोक्ता रूप से असंग जानना महान धर्म है। अनात्म गुणों के अभिमान से भेद-बुद्धि उत्पन्न होकर "मैं-मेरा" भाव होना ही अधर्म है। इन अनात्मगुणों के अभिमान से मनुष्य में पूर्णता प्रकट नहीं होती, न बोध को ही ये प्रकाशित होने देते हैं,—बस यही अधर्म तथा पाप है। शरीर आदि पर-पदार्थों में मैं-पन की भ्रान्ति हो जाने से आत्मा को स्वस्वरूप की विस्मृति हो जाती है और तब इस विस्मृति से अनात्म पदार्थों की माँग-पर-माँग खड़ी हो जाती हैं जो कि महान् अधर्म है। बस, अपने शुद्ध-स्वभाव में रत रहना ही महान् परमधर्म है।

गुरु—हे शिष्य! देवराज इन्द्र अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए कल्याणकर आत्मा का कथन करके शान्त होगया। इन्द्र के उपदेश को सुनकर प्रतर्दन इन्द्र की तरह ही आत्मज्ञानी होकर, देवराजेन्द्र को दण्डवत करके एवं इन्द्र की आज्ञा प्राप्त करके श्री काशीपुरी को चला गया। काशीपुरी में पहुँच कर, प्रारब्ध-कर्म की समाप्ति करके, उस शरीर को त्याग कर, इन्द्र के वास्तविक अद्वितीय स्वरूप को प्राप्त हो गया।

हे शिष्य! यह आत्मज्ञान हमने तेरे लिये कथन किया। यह आत्मज्ञान प्रतर्दन आदि महान् अधिकारियों ने इन्द्रादि महान् गुरुओं से प्राप्त किया, इस कारण यह आत्मज्ञान ही अत्यन्त दुर्लभ है।

यह आत्मज्ञान ऐसा है कि इसकी अप्राप्ति से गुरुपदवी के योग्य जो ब्राह्मण हैं, वे भी शिष्य-भाव हो गए और शिष्य-पदवी के योग्य जो क्षत्रिय आदिक हैं, वे भी गुरु-भाव को प्राप्त हो गये। इसलिये ज्ञान ही गुरुपने का सम्पादक है। आत्मज्ञान में जो महानता है, वह महानता दूसरे पदार्थों में वह महानता केवल आत्मज्ञान में ही है,—हे शिष्य ! यह निश्चय करना चाहिये।

कौपीतकी उपनिषद्—इन्द्र तथा प्रतर्दन का सम्वाद—पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ,
कुचकलशयुगे वा कृष्ण सारेक्षणानाम् ।
चरतु जडमते वा सज्जनानाम मते वा,
मतिकृत गुणदोषाः माम विभुं न स्पर्शन्ति ॥

छठा अध्याय

[स्वयं ज्योति—अजातशत्रु और बालाकी ब्राह्मण का सम्वाद]

शिष्य—हे गुरु महाराज ! जैसे वेद ने ब्रह्मा द्वारा इन्द्र को स्वयं ज्योति तुर्या आत्मा का उपदेश कया है, सो हमको भी कीजिये। क्योंकि स्वयं ज्योति आत्मा के ज्ञान में प्राणियों की अधिक श्रद्धा ोती है।

गुरु—हे शिष्य ! इस ज्योति स्वरूप का महत्व अजातशत्रु राजा ने जाना था। वह गाथा हम मसे कहते हैं, ध्यान देकर सुनो। हमको तुम्हारे कल्याण की इच्छा है, कुछ ऐसा जान पड़ता है कि तुम मारे अनुकूल भक्त हो।

शिष्य—हे गुरु ! जिस राजा का कोई शत्रु न हुआ हो, उसकी गाथा तो कृपा करके अवश्य नाइये।

गुरु—हे शिष्य ! एक समय गार्ग्य गोत्रोत्पन्न बालाकी ब्राह्मण सब वसुधा को जीतकर काशी में ाया। काशी के सब ब्राह्मणों ने बालाकी से कहा कि हे प्रभो ! कभी आप काशी-नरेश से भी मिले ? यह ज़ा चारों वेदों का वक्ता और प्रसिद्ध विद्वान् है। आचार्यों की तरह ब्रह्मचारियों को वेद-अध्ययन राता है। जिस विद्या की जिज्ञासा करके कोई ब्रह्मचारी उसके पास जाता है, उसको वही विद्या पढ़ाता है ौर जो कोई किसी प्रकार का प्रश्न करता है, उसको ठीक-ठीक उत्तर देता है, क्योंकि वह सब शास्त्रों में प्रवीण, मर्थ और समदर्शी है। ऐसे राजा से अवश्य मिलना चाहिये। यह सुनकर गार्ग्य ने कहा कि हम तो मसे कभी नहीं मिले। हे शिष्य ! यह गार्ग्य सगुणविद्या का बड़ा ज्ञाता तथा विद्वान् था और सगुण ब्र को जानता था। तब काशी के ब्राह्मणों ने कहा कि हे भगवन् ! ऐसे राजा से अवश्य मिलो।

गार्ग्य—हे ब्राह्मणो ! राजा विषयों में लिप्त होते हैं, उनके पास जाने से हमको क्या सिद्धि होगी ? मको धन की इच्छा नहीं। यह राजा लोग साहित्य, काव्य और विषयों की बातें सुनकर प्रसन्न होते । शास्त्र के गूढ़ अभिप्राय में बहिर्मुख मनुष्यों की रुचि नहीं होती और न उनको उसमें आनन्द ही आता । भोगी-विलासी पुरुषों को ब्रह्मज्ञान में श्रद्धा नहीं होती। ऐसे पुरुषों से मिलना भी योग्य नहीं है। मने बहुत से राजा लोग देखे भाले हैं।

तब ब्राह्मणों ने कहा—तो भी क्या हुआ ? यह भी तो काशी का राजा है। इससे सम्भाषण ये बिना यहाँ से चले जाना योग्य नहीं है। यह राजा और राजाओं के समान नहीं है। बड़ा द्धिमान, गम्भीर, उदार, शान्तात्मा तथा दयालु भी है। तब गर्ग गोत्र में उत्पन्न बालाकी ब्राह्मण ने कहा ि अच्छा, कभी समय पाकर मिलेंगे।

एक दिन प्रातःकाल उठकर संध्या-वन्दन आदि से निवृत्त होकर राजा के द्वार पर बालाकी ब्राह्मण या और द्वारपाल से जाकर कहा कि हे द्वारपाल ! तुम अपने राजा से जाकर कह दो कि एक ब्रह्मवेत्ता

गार्ग्य ब्राह्मण आपके दरवाजे पर खड़ा है। आपके साथ ब्रह्मचर्चा करने को आपके पास आते है। द्वारपाल ने गार्ग्य ब्राह्मण का समाचार राजा से जा कहा कि एक गार्ग्य नामक ब्राह्मण द्वार खड़ा है। ब्रह्मज्ञान की चर्चा करने को आप के पास आना चाहता है। जैसी आपकी आज्ञा हो, वही मैं करूँ।

द्वारपाल का यह वचन सुनकर राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ और मन में विचार करने लगा, हमारे आश्रम पर ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण आज तक कोई नहीं आया और न कभी हमने ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण सुना है। यद्यपि हमारे पास बहुत से ब्राह्मण आये हैं, तथापि इस प्रकार प्रकट ने भी नहीं कहा। जितने भी आये सो सब कामना के डसे हुए देखने में आये। कर्मी उपासक हमारे पास बहुत से आये हैं, परन्तु इसके समान निःशंक और निष्काम ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण आया। जितने भी पण्डित अब तक हमारे पास आये, उनको देखा तो मालूम हुआ कि कोई स्वर्ग भोगों को चाहता है, कोई पितृलोक के भोगों की इच्छा करता है, कोई मृत्युलोक के भोगों की है। ऐसे सब पुरुषों से ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होता है क्योंकि वह निष्काम होता है, आप्तकाम होता है। पुरुष की इस उदार वाणी का तो पूजन करना चाहिये क्योंकि आज तक किसी ने भी ऐसी वाणी नहीं सुनाई जैसी कि इस ब्राह्मण ने आते ही सुनाई। आज हमारा कोई पहिला पुण्य उदय हुआ हमने प्रातःकाल यह उदार वचन सुना है। यह कोई बड़ा त्यागी सातवीं भूमिका को प्राप्त महात्मा है, यह कोई साक्षात् ब्रह्म का बोधी है। अतः मुझको उचित है कि शीघ्र ब्याई हुई गौवों को बछड़ों सहित तथा भूषण और शृङ्गार से युक्त देकर इस ब्राह्मण का पूजन करूँ।

मैंने सुना है कि मिथिला नगर का राजा जनक भी ब्राह्मणों की पूजा करता है, परन्तु जैसा अधिकार देखता है वैसा द्रव्य उसको देता है और इसी कारण वहाँ सदा ब्राह्मणों का मेला भी लगा रहता है। इस ब्रह्माण्ड में जो उत्तम ब्रह्मज्ञानी हैं वे सब-के-सब वहाँ खिंचे चले जाते हैं। जनक जिसका जैसा अधिकार देखता है वैसा ही उसको विद्या अथवा धन देता है और ब्रह्मज्ञानियों के वाक्यश्रवण और ब्रह्मचर्चा भी करता है। विद्यार्थियों को आचार्यों की नाईं पढ़ाता भी है। हम भी तो ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासुओं के निकट रहते हैं। फिर यह लोग हमको उल्लङ्घन करके वृथा जनकपुरी में क्यों भ्रमे चले जाते हैं? हमारे पास जो कोई भी आता है, हम उसकी सब कामना पूर्ण करते हैं और उसके अधिकार की भी हम कुछ परीक्षा नहीं करते-कराते। अब मैं ऐसा करूँ कि जिससे जनक के पास कोई न जाय और सब ब्राह्मण धन के लोभ से हमारे पास ही आया करें। क्योंकि ब्राह्मणों को धन बहुत प्यारा है, अतः अब मैं जनक से अधिक दान किया करूँगा। तब मुझको छोड़कर कोई भी ब्राह्मण जनक के पास न जायेगा। इस प्रकार अपने मन में विचार करके राजा ने द्वारपाल से कहा कि हे द्वारपाल! उस ब्राह्मण को आने दो। जाओ, शीघ्र जाकर कह दो। द्वारपाल ने गार्ग्य ब्राह्मण से जाकर कहा कि आइये और मेरे साथ राजा के पास चलिये। राजा ने देखते ही आदर सहित नमस्कार किया और पास बैठा लिया।

राजा—हे ब्राह्मण! आपने हमारे ऊपर बड़ी कृपा की है। ऐसी कृपा किसी ने भी आज तक नहीं की जैसी आपने की कि आप ब्रह्मविचार करने के लिये हमारे पास आए हो। महाराज आपके आने से मेरा घर पवित्र हुआ है। जैसी उदारवाणी आपने सुनाई है ऐसी हमने आजतक किसी से

जैसे पिता के पास कोई अमोलक पदार्थ होता है तो दया करके अपने पुत्र को अवश्य देता है और किसी को चाहे दे या न दे। उसका बालक भी उस पदार्थ को पाकर बड़ा प्रसन्न होता है और प्रसन्नता के मारे फूला नहीं समाता। उसी प्रकार आपने अपना बच्चा जानकर बड़े उदार पुरुषों की तरह वचन कहा है। अब आपकी कृपा से मैं भी ब्रह्मज्ञानियों में गिना जाऊँगा। प्रथम मैं आपकी इस उदारवाणी की पूजा करता हूं, सो महाराज अवश्य स्वीकार कीजिये। वैसे तो महाराज हम क्या देने योग्य हैं? सब आप की ही विभूति है, हमारा कुछ नहीं। तब भी आप गृहस्थी के घर पधारे हैं, कुछ पूजा तो होनी ही चाहिए।

गार्ग्य – अच्छा राजन्! हमको तेरी पूजा स्वीकार है।

राजा—हे महाराज! आपने जो हमारे द्वारपाल से कहा था कि हम राजा के साथ ब्रह्म की चर्चा करना चाहते हैं, तुम उससे जाकर कह दो। सो महाराज इसके बदले में बछड़ों सहित, शृङ्गार की हुई (अर्थात् दोनों सींगों से और चारों खुरों से सोने की बीस-बीस निष्क नव्वे-नव्वे तोले की लगी हुई हैं और मखमल के वस्त्रों से ढकी हुई हैं) विधि पूर्वक एक सहस्र गौ मैंने आपको दान में दीं।

बालाकी ब्राह्मण आदर पूवक नम्रता से युक्त राजा के मुख से यह वचन सुनकर अहंकार सहित अपने मनमें विचार करने लगा कि इस राजा ने हमारी वाणी मात्र सुनकर नम्रता सहित हमारा इतना दान किया और एक सहस्र गौ भेंट की हैं। गौ भी कैसी कि जो जवान, बछड़ों से युक्त, सोने की मोहरों से मंढी हुई हैं। जब मैं इसको ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूँगा तब तो यह हमको न जाने क्या दे डालेगा? जो हम इच्छा करेंगे सोई देगा। दूसरा लाभ यह होगा कि यह हमारा शिष्य भी बन जायगा। फिर क्या है? खूब आनन्द रहेगा। सब जगह सत्कार आदर पूर्वक प्रतिष्ठा हुआ करेगी कि यह महाराज राजा के गुरु हैं, राजा इनके शिष्य हैं। क्योंकि यह राजा भी ब्रह्मज्ञान से शून्य है, अभी तक इसको ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। यदि ब्रह्मज्ञान होता तो इतना दीन न होता। लोगों में इसने अपने-आपको ब्रह्मज्ञानी पण्डित प्रसिद्ध कर रखा है, पर यह ब्रह्मज्ञानी कोई नहीं। यदि हम इसके पास न आते तो बड़ा धोखा होता। बहुत ही अच्छा हुआ जो मैं यहाँ आ गया।

राजा—हे ब्राह्मण! अब कृपा करके उस ब्रह्म का निरूपण करिये कि मैं भी सुनकर शान्ति पाऊँ।

गार्ग्य—हे राजन्! सावधान होकर सुन। यह पुरुष जो सूर्य में और चक्षु में एक होकर उनका अभिमानी नेत्रों के मार्ग से मन में आया हुआ कर्ता तथा भोक्ता है, वही ब्रह्म है। मैं इसे ब्रह्म देखता हूं तथा इसी की ब्रह्मरूप से उपासना भी करता हूं और तुमको भी कहता हूं कि इसी का सहारा पकड़ो।

राजा—नहीं, नहीं। हे ब्राह्मण! इसमें झगड़ा न करो क्योंकि मैं इसे जानता हूं। यह ब्रह्म तो पहले ही हमारे देखे हुए पड़े हैं। यह उच्च कोटि की एक प्राणात्मा है जो समस्त देहधारियों की शिरोमणि और शासक है। मैं भी इसका अवलम्बन करता हूं। जो पुरुष इसका अवलम्बन करता है, वस्तुतः वह उत्तम पद पाता है तथा समस्त देहधारियों का शिरोमणि होता है। इससे अधिक और कोई ब्रह्म कहो तथा ब्रह्मज्ञान की चर्चा करो।

गार्ग्य—हे राजन्! यह पुरुष चन्द्रमा और मन के भीतर आया हुआ उनका अभिमानी कर्त्ता,

भोक्ता है। मैं इसे ब्रह्म मानता हूं तथा इसी की उपासना भी करता हूं और तुमको भी कहता हूं इस का सहारा पकड़ो तो तुम्हारा कल्याण होगा।

राजा ने सिर हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं! इसमें झगड़ा न करो। हे गार्ग्य! यह तो हमने पहले ही देखा है। मैं इसे भी जानता हूं। यह भी एक विराटात्मा है। इसका वेष (अर्थात्) श्वेत है। यही जलों से शरीर होकर उन्हीं में तैरता हुआ वनस्पति के रूप में आया हुआ खाया जाता है, जिसे सोम बोलते हैं। इसी को वेदविद् ब्राह्मण सोमराज कहते हैं। इसी को चन्द्र, अन्न और मन में उनका अभिमानी जानता हुआ मैं उपासना करता हूं। जो पुरुष इसे इस प्रकार से जानता है दिन-प्रतिदिन उसके वंश में बढ़ोतरी तथा कुलों की उन्नति होती है। दूध, दधि, पुत्र, अन्न—सब कुछ यहाँ होता है। किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। इससे अधिक और कोई ब्रह्म कहो अर्थात् इस से अधिक ब्रह्म का कथन करो।

तब गार्ग्य बोला—हे राजन्! यह पुरुष जो बिजली, त्वचा और हृदय-कमल में व्यापक है उनका अभिमानी हुआ कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ तथा इसी की उपासना करता हूँ। तुम को भी कहता हूँ कि इसी का सहारा पकड़ो, तुम कृतकृत्य हो जाओगे।

राजा ने पुनः सिर हिलाया और कहा कि हे ब्राह्मण, नहीं, नहीं! ऐसा न कहो। इसमें विवाद न करो क्योंकि इसे मैं पहले से ही जानता हूं। यह ब्रह्म तो मेरा देखा पड़ा है। यह भी एक प्राणात्मा है और मैं इसे बिजली, देह की त्वचा और मन के अन्दर एक ही देखता हुआ, उन्हीं के अभिमानी और तेज को मैं कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूं। जो उपासक इसको इस प्रकार से उपासता है वह तेजस्वी होता है और उसकी सन्तान भी तेजस्वी जीवन व्यतीत करती है। हे ब्राह्मण! और कहो, इसमें सन्तोष करना तो ठीक नहीं।

गार्ग्य—हे राजन्! वह पुरुष जो बाहर के आकाश और हृदय-आकाश में व्यापक है उसका अभिमानी हुआ कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूं तथा इसी की उपासना करता हूँ तुम्हें भी कहता हूँ कि इसी का सहारा पकड़ो और कल्याण को प्राप्त हो।

राजा ने फिर भी अपने सिर को हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं। हे ब्राह्मण! यह तो हमारे पहिले ही देखे पड़े हैं। इससे अधिक और ब्रह्म कहो। इसमें भी झगड़ा न करो, मैं तुम्हारे इसको खूब जानता हूं। यह तुम्हारा ब्रह्म एक प्रणात्मा है जो सब में पूर्ण हुई सब कुछ करती है और डांवाडोल नहीं होती। मैं भी इसे बाहर और भीतर के आकाश में एक ही अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता रूप से उपासता हूं। जो इसे इस प्रकार से उपासता है वह भी संतान और पशुओं से पूर्ण होता है और उसकी सन्तति का क्रम भी कभी भंग नहीं होता।

गार्ग्य—हे राजन्! जो पुरुष वायु, श्वासों और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूं तथा उसकी उपासना भी करता हूं। तुम्हें भी कहता हूं कि इसी का आलम्बन करो, उसी को जानो और सुखी हो।

राजा ने इस बार भी सिर हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं। इसमें भी झगड़ा न करो। मैं इसे भी जानता हूं। ऐसे-ऐसे ब्रह्म तो हमारे पहिले ही देखे पड़े हैं और कोई इससे अधिक ब्रह्म कहो। तुम्हारा जो ब्रह्म है, वह भी एक बड़ी शक्ति की प्राणात्मा है। इसका नाम इन्द्र देवता है।

धाम में रहता है और सब पर विजयी है। इसको किसी ने विजय नहीं किया। इसकी सेना भी नित्य विजयी है। मैं इसकी भी उपासना करता हूं और बाहर तथा भीतर की वायु में एक ही (अर्थात् समष्टि-व्यष्टि में अभेद) देखता हूं। जो इसे इस प्रकार उपासता है वह नित्य विजयी रहता है और कोई दूसरा उसका प्रतियोगी किंवा वैरी नहीं हो सकता।

गार्ग्य—हे राजन्! यह पुरुष जो अग्नि, वाणी और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूं तथा इसी की उपासना करता हूं। हे राजा! तुम्हें भी कहता हूं कि इसी की उपासना करो।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा कि हे ब्राह्मण! नहीं, नहीं। ऐसा न कहो और न इसमें झगड़ा करो। मैं इसे भी खूब जानता हूँ। यह भी हमारे पहिले ही देखे पड़े हैं और कोई ब्रह्म का निरूपण करो। तुम्हारा यह ब्रह्म भी एक प्राणात्मा है जो समस्त क्रिया करने की आत्माओं का (अर्थात् प्राणों का) मुख है। सब देवता इसी में दी हुई आहुति को खाते हैं और तृप्त रहते हैं। मैं भी इसको अग्नि, वाणी और हृदय में एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूं। जो इस प्रकार इसकी उपासना करता है, वह सबका मुख होता है। सब इसी के द्वारा खाते हैं। उसकी सन्तान भी ऐसी होती है और सब उस सन्तान के आश्रय या उपजीवी हो जाते हैं।

गार्ग्य—हे राजन्! यह पुरुष जो जल, वीर्य और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूं तथा इसकी उपासना करता हूं। तुमको भी आज्ञा देता हूं कि इसी का अवलम्बन करो। यही ब्रह्म है।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं। हे गार्ग्य! यह ब्रह्म भी हमारा देखा हुआ है। इसमें झगड़ा न करो। यह भी एक प्राणात्मा है। मैं इसको जल, वीर्य और हृदय में एक अभिमानी देवता कर्त्ता-भोक्ता उपासता हूं। जो इसे इस प्रकार उपासता है उसकी सन्तति में शुद्ध-सन्तान ही उत्पन्न होती है। उसकी जाति में वर्णशंकर बच्चे उत्पन्न नहीं होते। अतः हे ब्राह्मण! और कोई ब्रह्म का निरूपण करो। यह ब्रह्म नहीं हो सकता।

गार्ग्य—हे राजन्! यह पुरुष जो दर्पण तथा स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में एक होकर उनका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूं तथा इसकी उपासना करता हूं। तुमको भी कहता हूं कि तुम भी इसकी उपासना करो।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं। इसमें भी झगड़ा न करो क्योंकि, हे गार्ग्य! मैं तुम्हारे इस ब्रह्म को भी जानता हूँ। यह भी एक प्राणात्मा है जिसे मन-मोहन कहते हैं। मैं भी दर्पण, स्वच्छ वस्तुओं और हृदय में इसे एक अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता देवता जानता हुआ उपासता हूं। जो इसकी इस तरह उपासना करते हैं, वे आप भी मन-मोहन होते हैं और सन्तान भी मन-मोहन उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक उन्हीं को देख-देखकर मोहित हो जाते हैं। वास्तव में यह सदाचार और सौंदर्य का देवता है। अतः हे गार्ग्य! और किसी ब्रह्म को कहो, इसको तो हम पहिले से ही जानते हैं।

गार्ग्य—हे राजा! वह ब्रह्म जो 'इदं-तन्' इत्यादि संकेत और इसके साथ-साथ प्राणात्मा में जीवन का कारण है और हृदय में एक होकर कर्त्ता-भोक्ता है, हे राजन्! मैं इसे ब्रह्म जानता हूं तथा

इसकी उपासना करता हूं और तुम्हें भी कहता हूँ कि तुम भी इसी का सहारा लो, तुम्हारे सिद्ध होंगे।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा—नहीं, नहीं। हे ब्राह्मण! बस करो, इसमें भी न करो क्योंकि तुम्हारे इस ब्रह्म को भी पहले से ही हम जानते हैं और कोई ब्रह्म कहो। यह तुम्हारा वायु का देवता है। मैं भी इसे इसी प्रकार उपासता हूँ। जो मनुष्य इसे इस प्रकार उपासता है वह विक जीवन पाता है, बीच में ही नहीं मरता और उसको कठिन रोग भी नहीं होते।

गार्ग्य—हे राजन्! यह पुरुष जो दिशाओं तथा कानों और हृदय में एक होकर उनका देवता और कर्त्ता-भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की ब्रह्मरूप से उपासना भी तुमको भी आज्ञा करता हूँ कि तुम भी इसकी उपासना करो।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं। हे ब्राह्मण! इसमें विवाद न तुम्हारे ब्रह्म को पहले से ही जानता हूँ। और कोई ब्रह्म जानते हो तो निरूपण करो। यह एक है जो जोड़ा हो रहा है और साथ रहने से जोड़ा कहलाता है। इसी को अश्विनीकुमार देवता करते हैं। मैं भी इसे दिशाओं, कानों और हृदय में एक अभिमानी देवता जानता हुआ उपा जो पुरुष इसे दिशाओं, कानों और हृदय में एक देखता हुआ उपासता है, वह जोड़ा बना रहता अपने जोड़े से पृथक नहीं होता।

गार्ग्य—हे राजन्! वह पुरुष जो भौतिक अन्धेरे और अज्ञान में एक होकर हृदय में कर्त्ता-भोक्ता है, मैं उसे ब्रह्म जानता हूँ और उसी की उपासना करता हूँ। तुम्हें भी कहता हूँ कि सहारा पकड़ो और कृतकृत्यता को प्राप्त हो।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा कि नहीं, नहीं, इसमें भी झगड़ा न करो क्योंकि भी जानता हूँ। यह तुम्हारा ब्रह्म भी हमारा देखा हुआ है और कोई ब्रह्म तुम जानते हो तो तुम्हारा ब्रह्म एक प्रकार का देवता है जिसे यमराज बोलते हैं। मैं भी इसे अन्धेरे तथा अविद्या हृदय में एक करके जानता तथा पहिचानता हूं और उपासता भी हूँ। जो इसे इस प्रकार उपासता दीर्घायु पाता है तथा नियत-काल तक जीवित रहता है, बीच में नहीं मरता।

गार्ग्य—हे राजन्; यह पुरुष जो प्रजापति, बुद्धि और हृदय में एक हुआ उनका अभिमानी भोक्ता है, मैं इसे ब्रह्म जानता हूँ और इसी की उपासना भी करता हूँ। तुमको भी कहता हूं कि इसी की उपासना करो।

राजा ने फिर सिर हिलाया और कहा कि अरे ब्राह्मण! ऐसा न कहो। इसमें भी झगड़ा क्योंकि मैं इसे भी जानता हूँ। यह तुम्हारा ब्रह्म हम जानते हैं। यह एक महान् प्राणात्मा निकटवर्ती देवता है। सब देवता इसी एक की शाखायें हैं। हम इसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। लोग इसी को ईश्वर कहते हैं और यही संसार का आदि कारण अर्थात् संकल्प कहलाता है प्रजापति तथा बुद्धि और हृदय में व्यापक देखता हुआ सबका अभिमानी कर्त्ता-भोक्ता उपासता इसे इस प्रकार उपासता है, वह बुद्धिमान् और विचारवान् कहलाता है और उसकी सन्तान भी होती है। अतः हे ब्राह्मण! और कोई ब्रह्म कहो।

गार्ग्य—हे राजन्! देखो, इस प्राण के आश्रय सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत, नक्षत्र, पाँच तत्व, चार अन्तःकरण, पाँच इन्द्रियाँ और विराट पुरुष यह सब रहते हैं। इन सब को प्राण ही चला रहा है। इस कारण से सब से परं ब्रह्म यही है। इस प्राण से इतर कोई ब्रह्म नहीं है। हम तो इतना ही जानते हैं। इतना कहकर गार्ग्य चुप हो गया, आगे कुछ न बोला। क्योंकि प्राणात्माओं के आरम्भ से अन्तिम तक जितने देवता हैं, वे उसने क्रमानुसार बतलाये, यहां तक कि जो आदि संकल्प रूप ईश्वर का पद है, उसे भी प्रकट कर दिखलाया। यह सब देवता उसी की शाखायें हैं। ये प्राणात्मा नाम से कही जाती हैं। यह सब अहंकार युक्त हैं, इसी कारण राजा ने सबके लिए सिर हिलाया और उनकी उपासनाओं का फल और परिणाम भी साथ-साथ वर्णन कर दिया, जिससे कि गार्ग्य जान ले कि राजा उनको अच्छे प्रकार जानता और पहिचानता है, राजा वेसमझ नहीं है। यह तो निस्संदेह सब उपास्य हैं और भिन्न-भिन्न विशेष-विशेष फल देते हैं, किन्तु ये कोई मोक्ष दाता नहीं हैं अर्थात् मोक्ष के स्वामी नहीं हैं, वरन् करनी-भरनी रूप नियम के आधीन हैं। जो संप्रसाद की आत्मा है वह तो केवल साक्षी है, क्रिया वाली नहीं। और यह जो नाना ब्रह्म उपास्य देवता हैं, उस शुद्ध ब्रह्म की अर्थात् साक्षी आत्मा की सेवा करते हैं। इनको कथन मात्र ब्रह्म बोला जाता है, यथार्थ में ब्रह्म हैं नहीं। यह सब अहंकार से युक्त होने से अब्रह्म हैं।

गार्ग्य—हे राजन्! हम तो सब से श्रेष्ठ परब्रह्म प्राण को ही जानते हैं, दूसरे को नहीं क्योंकि यही सब का प्रेरक है। जब यह शरीर से निकल जाता है, उस काल में सब का अभाव हो जाता है। प्राण से इतर और कोई ब्रह्म नहीं है। तुमने इसको भी ब्रह्म नहीं कहा। हम इस से परे और किसी ब्रह्म को नहीं जानते हैं। जो इससे परं और कोई ब्रह्म है तो कृपा करके कहिए।

जब राजा ने गार्ग्य ब्राह्मण की प्राण में दृढ़ निष्ठा देखी कि यह तो इतना ही जानता है, अधिक नहीं, तब राजा ने कहा कि क्या तुम इतना ही जानते हो या कुछ और भी ज्ञान रखते हो?

गार्ग्य—हे राजन्! मैं तो इतना ही जानता हूं, आगे नहीं जानता हूं। यदि आप इस से आगे का ज्ञान रखते हों तो मैं आपका शिष्य होता हूं। मुझे आप बतलावें कि इस से बढ़कर और कौन सा ब्रह्म है?

राजा—अरे ब्राह्मण! यह उल्टी बात है कि ब्राह्मण शिष्य हो और क्षत्रिय गुरु बने। नहीं, नहीं, यह वचन अयुक्त है। अस्तु, तुम गुरु ही बने रहो। मैं यों ही बतलाये देता हूँ। हे ब्राह्मण! प्रथम यह तो बतलाओ कि तुमने सूर्य, चन्द्र, बिजली, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, स्वप्न, विराट, प्राण,—इन पन्द्रह पदार्थों को जो ब्रह्म कहा है सो इन में से तो कोई भी ब्रह्म नहीं है। यह सब के सब जड़, परिच्छिन्न, नाशवान हैं। तुम इनको ब्रह्म मानकर उपासना भी करते हो और फिर साक्षात् हमारे सामने ब्रह्मरूप करके कहा भी है। यह तुमने सब मिथ्या ही माना है और हमको भी मिथ्या ही कहा है। तुमने जो इनके ज्ञान के भरोसे अपने आप को ब्रह्मज्ञानी समझा और अहंकार किया है, सो सब व्यर्थ है। क्या पढ़े-लिखे तुम को इतना भी ज्ञान नहीं कि कहीं जड़ नाशवान परिच्छिन्न पदार्थ भी ब्रह्म हुआ करते हैं? स्वयं धोखा खाकर दूसरों को भी उलटा मार्ग बताते हो। देखो, याद रक्खो! कि जब तक ठीक-ठीक पूरी समझ न आ जाय तब तक दूसरों को उपदेश नहीं करना चाहिए।

इस से संसार में बड़ा अनर्थ फैल जाता है और मानव समाज में बड़ी हानि की सम्भावना है। आ... अच्छा नहीं किया, अस्तु ।

इस प्रकार गार्ग्य ब्राह्मण ने राजा अजातशत्रु के वचन सुनकर आश्चर्य माना और ... तूष्णी भाव को प्राप्त हुआ। जो कुछ अहंकार था सो सब एकदम टूट गया। नीचे को गर्दन ... प्राणों का वेग अधिक हो गया। प्राण में जो भारी निष्ठा थी, वह भी जाती रही और ... सामर्थ्य न रही ।

राजा ने फिर कहा—हे गार्ग्य! बस इसी विश्वास से ब्रह्मज्ञानी बने फिरते थे? इसी ... बल से पृथ्वी को जीत आये थे? इसी ज्ञान के भरोसे से महात्माओं और ब्राह्मणों का तिरस्... है? यह तुमने अच्छा किया कि जो तुमने शिष्यों की नाईं दीन होकर सरल स्वभाव धारण ... ब्रह्म जिज्ञासा की है। इसी कारण से हम तुमको उपदेश करेंगे। प्रथम हम तुम से यह पूछते हैं ... यह जो पंचदश ब्रह्म मान रक्खे हैं, सो तुम इनके नाम, गुण, देवता और प्रतिष्ठा भी जानते हो ... यह कहो। तब इसके पश्चात् हम को जो कुछ कहना होगा कहेंगे, प्रथम नहीं कहते।

गार्ग्य—हे राजन्! हमको तो उनके नाम, गुण, देवता और प्रतिष्ठा की कुछ भी ... है। आप कृपा करके वह भी कहिए और जो इनसे भिन्न परब्रह्म है उसका भी उपदेश करिये।

राजा ने मन में विचार किया कि इसका अभिमान पिशाच निकल कर भाग गया। ... प्रतिष्ठा के स्वरूप को स्मरण नहीं करेगा और मेरा उपदेश शीघ्र ही ग्रहण कर लेगा क्योंकि इसका ... करण शुद्ध हो गया है। तब राजा ने ऊपर कहे हुए पन्द्रह पदार्थों के नाम, गुण, देवता और ... कहे। बालाकी सुनकर बड़ा आश्चर्य चकित हुआ और मन में विचारने लगा कि मैं जो ... कहाता था और इन मिथ्या जड़ वस्तुओं को ब्रह्म जानता था, वह सब भ्रम निकला। अब ... कि मेरे उत्तम पुण्य उदय हुए हैं कि जो ऐसे तत्त्ववेत्ता राजा का दर्शन मिला है। मैं अहंकार में ... था और इसकी उपेक्षा करता था। बड़ा शोक है, राम राम! शास्त्रों में लिखा है कि ईश्वर की ... ही तत्व-वेत्ता का दर्शन होता है। अब इस राजा की कृपा से मैं भी ब्रह्मज्ञानी होऊँगा। अब ... कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में अहंकार का विनाश ही प्रधान साधन है।

राजा—हे ब्राह्मण! अब हम उस ब्रह्म का स्वरूप तुम को श्रवण करा दें अथवा ... पकड़ा दें या बोलता हुआ सुनादें।

गार्ग्य—हे भगवन्! जो आप उस ब्रह्म को मुझे पकड़ा दें तो बहुत ही अच्छा है। ... कृपा से देखे और पकड़े जाने से रहित ब्रह्म को मैं ग्रहण कर लूं तो इससे अच्छी और कौनसी ...

राजा—अब तुम यहां पर ही विश्राम करो। रात के समय उस समय ब्रह्म को पकड़ा दूंगा। ... रात्रि का समय हुआ तब राजा अपने महल से उठा और गार्ग्य का हाथ पकड़कर अपने साथ ... और कहा कि चलो, अब तमको ब्रह्म पकड़ा दें। गार्ग्य साथ हो लिया। गार्ग्य ने मन में विचार... कि वह ब्रह्म महलों के किसी कोने में छिपा होगा इसलिए राजा हमको अपने साथ ले चला है ... बालाकी को महलों के दरवाजे पर ले गया। ड्योढ़ीवान चौकीदार रहते थे। उन में से रात्रि ... पहर का चौकीदार पहरा बदलाकर सो रहा था और तीसरे पहर वाला चौकीदार दरवाजे पर ... था। जो पुरुष पहरा बदलाकर सो रहा था उसके पास राजा बालाकी को ले गया और ...

गार्ग्य ! जो ब्रह्म हमने तुमसे कहा था वह इस मन्दिर में स्थित है और जिनको तुमने ब्रह्म माना था वह भी इस मन्दिर में हैं ।

बालाकी—हे प्रभो ! यह तो कोई मनुष्य सोया पड़ा है । वह परब्रह्म कहाँ है ?

राजा—हे गार्ग्य ! इसी शरीर में है । हमारे तुम्हारे दोनों के ब्रह्म इसी शरीर में स्थित हैं । अब पहले तुम अपने एक-एक ब्रह्म का नाम लेकर बुलाओ । जो वे तुम्हारे ब्रह्म होंगे, तो हे ब्राह्मण ! तेरे साथ बातें करेंगे क्योंकि वे तेरे उपास्य हैं और तू उनका उपासक है । यदि तेरे बुलाने से वह न बोलें तो उनको झूठ और जड़ जानना और समझना कि यह अन्य किसी चैतन्य के चलाये चलते हैं, ब्रह्म नहीं हैं ।

तब गार्ग्य ने जिनको ब्रह्म माना था, एक-एक का नाम लेकर बुलाया जिन-जिन देवताओं का उल्लेख किया था, उन-उन नामों से उसे पुकारा परन्तु किसी ने भी उत्तर न दिया, न वह जागा ही । फिर राजा ने कहा कि तुम प्राण को सबका स्वामी मानते थे, उस परब्रह्म को भी बुलाओ । गार्ग्य ने प्राण का नाम लेकर भी बुलाया, परन्तु उसने भी कुछ उत्तर न दिया और न वह जागा ही । तब राजा ने कहा कि हे गार्ग्य ! जो यह देवता चैतन्य ब्रह्म होते तो तेरे साथ बातें करते । जिसको तू सब से श्रेष्ठ और सबका प्रेरक परब्रह्म मानता था, सो प्रसिद्ध प्राण भी तेरे सामने ही इस मन्दिर के बाहर तथा भीतर आता जाता है तो भी तेरे बुलाने से नहीं बोलता । बता, यह ब्रह्म कैसे हुए ?

गार्ग्य—हाँ राजन् । यह ब्रह्म नहीं है ।

तब राजा ने कहा कि इस कारण से, हे गार्ग्य ! तुम यह निश्चय करो कि यह प्राण भी जड़ अज्ञान रूप है । यदि चैतन्य होता तो मुझ से अवश्य बातचीत करता क्योंकि तू उसका बड़ा श्रद्धावान भक्त है । जिस परब्रह्म को हमने कहा था सो इन सब चैतन्यों का चैतन्य है और सबका अधिष्ठान है । यह सब जड़ देवता उस परब्रह्म की सत्ता से ही चेतन हो रहे हैं । हे गार्ग्य ! समझा कि नहीं ।

गार्ग्य—हे राजन् ! समझ गया । आपने मेरे ब्रह्म को तो जड़ सिद्ध करके दिखला दिया । अब आप अपने ब्रह्म को भी तो बुलाइये । उसको भी तो मैं देखूं ।

राजा—हे गार्ग्य ! अच्छा अब हम अपने पूज्य चैतन्य परब्रह्म को इस मन्दिर में बुलाकर खड़ाये देते हैं । चित्त को सावधान करके पकड़ना । देख, वेदों ने जिसको निर्विकार और निर्विशेष ब्रह्म कहा है, वही विशेष रूप धारकर इस मन्दिर में से बोलेगा, कान खोलकर सुनना ।

तब राजा ने नाम लेकर उस पुरुष को हाथ से जगाया । वह एकदम नाम सुनते ही भयभीत होकर जाग उठा और राजा को पास में खड़ा देखकर नमस्कार किया । राजा ने उसको धीरज देकर शान्त किया और कहा कि तुम डरो मत, सोते रहो । तुम्हारा अभी पहरा नहीं है । तेरे जगाने तक ही काम था । राजा ने यह सिद्ध कर दिखाया कि गार्ग्य की समझ ठीक नहीं थी, क्योंकि गार्ग्य तो उन देवताओं को, जो उसने वर्णन किये, इस शरीर का स्वामी, इसमें कर्त्ता तथा भोक्ता मानता था । परन्तु राजा का यह मनोगत अभिप्राय था कि वे सब देवता स्वतन्त्र नहीं हैं, न स्वामी हैं, किन्तु सेवक हैं और परतन्त्र हैं । सेवक स्वतन्त्र नहीं होता और स्वामी नाना नहीं होते ! जिसके लिए यह सब देवता काम करते हैं, जिसके बिना ये सब-के-सब बेकार या व्यर्थ होते हैं और न कुछ जानते ही हैं, वही निर्विकार ब्रह्म है ।

जब हम यहाँ आये थे, उस काल में यह परब्रह्म अपने निर्विशेष रूप में स्थित था, इस कारण से इसने हमको नहीं जाना था क्योंकि उस काल में इस परब्रह्म में स्वामी-सेवक आदि का अभाव हो गया था, केवल अपने निजी आनन्द में मग्न था। कोई भी निर्विशेष-सविशेष भावना नहीं थी। वही परब्रह्म विशेषरूप धारकर अपने आप को सेवक मानने लगा। इसी कारण से इसने होकर नमस्कार किया और अपना अपराध क्षमा कराया, क्योंकि अपने को खाट पर लेटे हुए को नीचे खड़े हुए देखा। हे गार्ग्य! यह परब्रह्म अपने निर्विशेष स्वरूप को भी जानता है और स्वरूप को भी जानता है। कभी निर्विशेष स्वरूप में स्थित होता है और कभी सविशेष रूप धारण कर योग्य विचरता है,—जैसे सूर्य में सूरज का काम करता है, चन्द्रमा में चन्द्रमा का काम करता है, में बिजली का काम करता है। अथवा सूर्य, चन्द्रमा, बिजली, वायु, अग्नि आदि सब-के-सब इसी से अपनी-अपनी मर्यादा में चलते हैं। पाँचों तत्व तथा विराट्, अन्तःकरण, प्राण, शरीर, इन्द्रिय देवता इसी परब्रह्म से प्रकट हुए हैं, इसी में वर्तते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं। अथवा यह सब ही हैं। इस कारण से यह जानो कि यह परब्रह्म चेतनों-का-चैतन्य, सत्तों-का-सत् और आधारों-का हैं। इसी की सत्ता से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपनी मर्यादा में चलता है। इसके बिना क्या सूर्य, क्या क्या बिजली, क्या पाँचों तत्व, क्या शरीर, क्या इन्द्रियाँ, क्या अन्तःकरण आदि सब शिला के फें-तहाँ पड़े रहते हैं। यही ब्रह्म जाग्रत में है, यही स्वप्न में है और यही सुषुप्ति में है। क्या जाग्रत, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, सब इसी से सिद्ध होती हैं।

हे गार्ग्य! तेरे ग्रहों के समान यह जड़, पराधीन नहीं है। ये सब इसके चलाये चलते हैं। इसी कारण से यह स्वतः सिद्ध परब्रह्म चेतनों-का-चेतन है। जो इसको जानता है वही परब्रह्म है। ब्रह्म जाग्रत अवस्था में परिच्छिन्न अहंकार के साथ मिलकर कर्त्ता तथा भोक्तापने का अभिमान जीव कहलाता है, स्वप्नावस्था में तेजस नाम पाता है और सुषुप्ति अवस्था में कारण अज्ञान धारण करके प्राज्ञ नाम से विख्यात होता है। सोई परब्रह्म तेरे शरीर में ब्राह्मण तथा बालाकीपने का कार कर रहा है, मेरे शरीर में क्षत्री तथा राजा अजातशत्रुपने का अहंकार कर रहा है। कहीं कहीं शूद्र चाण्डाल का, कहीं स्त्री का, कहीं पुरुष का, कहीं नपुन्सक का, कहीं बालक का, कहीं का, कहीं लाठी लेकर बुड्ढेपने का, कहीं रोगी, कहीं निरोगीपने का, कहीं गरीब, कहीं धनी, कहीं कहीं मूर्ख इत्यादि का अहंकार कर रहा है। सोई परब्रह्म हमारे-तुम्हारे व्यापार का साक्षी है। सोई तू है, सोई परब्रह्म मैं हूँ।

जैसे मकड़ी के तार को जरा हिलाने से मकड़ी तत्काल अपने स्थान पर आ जाती है, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि इस परब्रह्मरूपी मकड़ी के तन्तु हैं। जब कोई इनको छेड़ता है तब (जो साक्षी नाम से भी वर्णन किया जाता है) तत्काल ही अपने स्थान पर चला आता है। जो इस प्रकार ब्रह्म को जानता है सोई ब्रह्म है।

जैसे कोई बालक दूसरे बालक को थप्पड़ मारकर जल्दी से पिता की गोद में जा बैठे वहाँ और बालकों का वश नहीं चलता कि जो उसको पकड़कर मारें। दूर से क्रोध सहित ही रहते हैं। उसी प्रकार परब्रह्म का आभासरूप बालक जाग्रत-स्वप्न रूप बालकों के रोज मारकर परब्रह्म रूपी पिता की आनन्द रूपी गोद में जा बैठता है। जब जाग्रत-सुषुप्ति की

सहित दूर खड़ी देखती रहती हैं क्योंकि उनका वहाँ कुछ वश नहीं चलता अर्थात् वहां उनका अभाव हो जाता है। हे गार्ग्य! जो इस प्राज्ञरूपी बालक के पिता को जानता है, सोई ब्राह्मण है। उपाधि के साथ मिलने से सोई परब्रह्म विशेष कहा जाता है और उपाधि के त्यागने से सोई निर्विशेष कहा जाता है। जो इस प्रकार विचार करके ब्रह्म को जानता है, वही ब्रह्म होता है।

राजा गार्ग्य ब्राह्मण को सोये हुए मनुष्य के पास जो ले गया था उसका तात्पर्य यह था कि हे ब्राह्मण! तेरे देवता अपने-आप कुछ सुनने-समझते होते तो बुलाने से वाणी को सुनते और समझ का प्रकाश करते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। जिस प्रकार अग्नि में फेंके हुए तिनके को अग्नि न जलाये तो निश्चय होता है कि वह अग्नि नहीं है। उसी प्रकार राजा की वाणी के न सुनने से निश्चय होता है कि गार्ग्य के उपास्य देवता अपने-आप वाणी के भोक्ता नहीं हैं। जिस तरह वे वाणी के भोक्ता नहीं, उसी प्रकार वे देखने, चखने और सूँघने इत्यादि के भी भोक्ता नहीं। वे तो भोग के साधन हैं। जो सेव्य और भोक्ता है, वह इनसे पृथक है और वही यथार्थ में उपास्य देव है। इन इन्द्रियों किंवा इनके देवताओं को उपास्य ठहराना मानो पत्थर को उपास्य ठहराना है। यह इन्द्रियाँ और इनके देवता तो किसी दूसरे चैतन्य देव के चलाये हुए चलते हैं। स्वयं तो पत्थर के समान जड़ हैं। इनको गार्ग्य ने ईश्वर मानकर उपासना की है, सो गार्ग्य बड़ा बे-समझ, विचार-शून्य है।

गार्ग्य—हे राजन्! सोये हुए मनुष्य के पास जो तुम मुझको लाये तो इससे आपका क्या तात्पर्य निकला?

राजा—हे ब्राह्मण! तेरे उपास्य देव के अतिरिक्त एक दूसरी शुद्धात्मा है, जो केवल ज्योति है और जिसके कारण ये काम करने की आत्मायें प्रकाशित होती हैं। वह शुद्धात्मा कुछ करती कराती नहीं है, वरन् नित्य आनन्दमय है। उसमें कर्तापने तथा भोक्तापने का धर्म कल्पित है। इन तेरे उपास्य देव के सम्बन्ध से उसमें कल्पित सम्बन्ध आ जाता है। हे ब्राह्मण! तू देखले, सुषुप्ति में उसका निजी आनन्द पाया जाता है। जैसे कोई मनुष्य दूर गये को ज़ोर से पुकारते हैं और वह नहीं सुनता है, उसी प्रकार यह साक्षी आत्मा भी इन इन्द्रियों और तेरे उपास्य देवताओं से बहुत दूर थी, अतः शब्द न सुन सकी। इसलिये सोये हुए को मैंने हाथ से हिलाया ताकि उस साक्षी आत्मा के सोये हुए देवता चेतन हो जावें। जैसे तिनकों को अग्नि पर रखकर हिलाते और फूँक मारते हैं, उसी तरह हिलाने और जोर से पुकारने से मेरा तात्पर्य यही था कि ये सेवक देवता जो गार्ग्य के उपास्य हैं, वह चैतन्य आत्मा से प्रज्वलित और दीप्तिमान हो जावें। इसीलिये, देख, वह जाग उठा और सोचने समझने लगा, सत्कार पूर्वक मुझसे बातें भी करने लग पड़ा। इससे मैंने तुझको यह उपदेश किया कि जो साक्षी शुद्धात्मा है, वह कुछ नहीं करता। वह तेरे देवताओं का शिरोमणि, स्वामी और निर्गुण है। यद्यपि इनमें आया हुआ कर्त्ता-सा प्रतीत होता है, तो भी वह वास्तव में न तो कर्ता है न भोक्ता ही है, वरन् इन (इन्द्रिय, मन, बुद्धि) के कामों का साक्षी और नित्य आनन्दमय है और वही तेरा असली स्वरूप है। इसी से मैं उसको अपना आत्मा नाम देता हूँ। यह विकारी नहीं होता, एक रस रहता है। हे गार्ग्य! जो इस प्रकार विचार करके ब्रह्म को जानता है वही ब्रह्मवेत्ता है।

राजा के वह वचन सुनकर गार्ग्य ने विचार किया कि मैं अब ब्रह्मज्ञानी हुआ। बड़ा आश्चर्य है कि जो मैंने अब अपने-आपको समझा और मेरा भ्रम निवृत्त हुआ। अभी सब पृथ्वी को मैंने जीता। पहले

मैंने किसी को पराजय नहीं किया था, उलटा आप ही पराजित हुआ था क्योंकि मिथ्या जड़ब्रह्म परब्रह्म जानकर ज्ञानी बना फिरता था। राम ! राम !! मेरे मिथ्या अभिमान को धिक्कार है। आपकी कृपा से मैं ब्रह्मवेत्ता और आचार्य कहलाऊँगा।

गार्ग्य—हे भगवन् ! अब आपकी कृपा से मेरा भ्रम निवृत्त हुआ और मैंने ब्रह्म को जाना। अभी मैंने पृथ्वी को भी जीता है। अब मेरे मन में कोई शङ्का भी नहीं रही। अब आज्ञा हो तो मैं अपने आश्रम पर जाऊँ ?

राजा—हे ब्राह्मण ! जैसी तेरी इच्छा हो सो कर।

फिर राजा की आज्ञानुसार, नम्रतापूर्वक शिष्यभाव से नमस्कार करके, गार्ग्य ने कहा कि जो ब्रह्म आपने कहा सो परब्रह्म में ही था आपने कृपा करके मेरी भ्रान्ति मात्र निवृत्त की है, ब्रह्म पकड़ाया है। मैं सिवाय नमस्कार के और कुछ गुरु दक्षिणा नहीं दे सकता। हे राजन् ! जिसने अपने-आप प्रत्यग् आनन्द स्वरूप को जाना है अथवा जानने की इच्छा की है, वही संसार से पार पाता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता और जिज्ञासु ही ब्राह्मण कहलाने के योग्य हैं। इनके अतिरिक्त जो स्वाभि-मान, ब्राह्मण, पण्डित अथवा श्रेष्ठ मानते हैं, वे यद्यपि काव्य, पुराण आदिक ग्रन्थों का पठन करते-कराते हैं, तो भी अनात्म-परायण होने से मूर्ख ही हैं। कितने ही बड़े-बड़े पण्डित, वैयाकरण काव्यों की रचना करते हैं कि जिनका अर्थ करना साधारण पण्डितों का काम नहीं है। तो भी वे हैं क्योंकि वे चावलों की प्राप्ति के निमित्त धानों की भूसी को कूटते तथा छानते हैं और कहते हैं हम अज्ञानी हैं, जन्मने-मरने वाले दीन-दुःखी जीव हैं, हम ब्राह्मण आदिक हैं, हमारा यह ... यह हमारा सनातन-धर्म है। बड़ा आश्चर्य है कि अपने-आपको बुद्धिमान पण्डित मानते तथा तथापि धनी पुरुषों की कामना करते हैं। विवेक वैराग्यवान मनुष्य इनकी दृष्टि में तुच्छ प्रतीत होते अज्ञानजन्य मोह का माहात्म्य है, और कुछ नहीं। हे राजन् ! अब मेरे बोध के निमित्त कृपा ... और बतलाइये कि यह शरीर कैसे उत्पन्न होता है और इसका अभाव किस प्रकार होता है ?

राजा—हे ब्राह्मण ! एक दृष्टान्त द्वारा कहते हैं, सुन। जैसे वायु, मेघ, विद्युत और ... चारों आकाश में शरीर-अशरीर, प्रकट-गुप्त होकर आकाश रूप से सदा रहते हैं, कभी नाश नहीं ... इनके अशरीर-काल में केवल आकाश ही दिखाई देता है। जब इन चारों के प्रकट होने का ... है, उस काल में ये सबको दीखने लगते हैं। आकाश को भी आच्छादित करके चारों भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध नजर आते हैं। इसी प्रकार शरीर रूपी आकाश है, अभेद रूपी वायु है, अमर रूपी ... अमृत रूपी बिजली है तथा अविनाशी रूपी गर्जना है। यह चारों अशरीर होकर देह रूपी ... सदा रहते हैं, परन्तु अज्ञान-काल में केवल शरीर रूपी आकाश ही नजर आता है। जब इनके ... का समय आता है तब अभय, अमर, अमृत और अविनाशी शरीर धारकर प्रकट होते हैं अर्थात् ... आनन्द, अद्वैत भाव शरीररूपी आकाश का अभाव कर देते हैं।

अब जिस प्रकार यह प्रकट होते हैं सो भी सावधान होकर सुन। जैसे प्रथम ... तपता है, उसी प्रकार जब साधन चतुष्टय युक्त जिज्ञासु ब्रह्मवेत्ता गुरु से महावाक्य का श्रवण ... तब उसके शरीररूपी ब्रह्माण्ड में ज्ञानरूपी सूर्य तपता है। जैसे सूर्य के तपने के पश्चात वायु ...

इसी प्रकार परोक्ष ब्रह्मज्ञान के पश्चात् अहंब्रह्मास्मि रूपी वायु उदय होती है। जैसे वायु के पश्चात् बादल उदय होते हैं और आकाश को ढक लेते हैं, वैसे ही अहंब्रह्मास्मि रूपी वायु के पीछे स्वस्वरूप प्रत्यग् आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान उदय होता है जो शरीररूपी आकाश को चारों ओर से ढाँप लेता है।

गार्ग्य—हे राजन्! इनका आधार रूप कौन है?

राजा—हे गार्ग्य! यह परिच्छिन्न अहंकाररूपी शरीर है। पहले अज्ञान काल में यही अपने को ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, स्त्री, देवता, पित्र, गंधर्व, राक्षस आदि मानता था और कहता था कि यह मुझको अवश्य करना है, यह मेरा धर्म है और यह भोक्तव्य है। अनेकों प्रकारों की अन्य वासनायें उठाता था। बोधकाल में इस अहंकार रूप शरीर का अभाव हो जाता है। जैसे बादल के उदय हुए पीछे बिजली (अर्थात् चमक) उदय होती है, वैसे ही आत्म-साक्षात्कार के उत्पन्न हुए पीछे ब्रह्मनिष्ठा उदय होती है। जैसे बिजली के पीछे गर्जना होती है, वैसे ही अनुभव के पीछे 'सोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं आनन्दम् ब्रह्म' 'तत्वमसि' रूपी गर्जना होती है। जब इस गर्जना का आविर्भाव होता है तब मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर का त्रिकाल में अभाव निश्चय हो जाता है।

हे गार्ग्य! जिस पुरुष के शरीर का इस प्रकार त्रिकाल में अभाव निश्चय रूप बाध होता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं। कारण और कार्य रूप जो अक्षर और क्षर हैं, इन दोनों से जो प्रथम है वही तुर्या पुरुषोत्तम जीवन्मुक्त का आत्मा है। जीवन्मुक्त के अतिरिक्त इस पुरुषोत्तम भाव को और कोई प्राप्त नहीं हो सकता। जीवन्मुक्त ही सर्वात्म होकर ब्रह्मलोक से लेकर चींटी पर्यन्त सब शरीरों में बैठकर सब भोगों को भोगता है। लोक व्यवहार से जीवन्मुक्त का अपना एक ही शरीर है, परन्तु अपनी दृष्टि से जीवन्मुक्त सब शरीरों को अपने देखता है और सबसे पृथक भी होता है।

हे गार्ग्य! मैंने तुझको दृष्टान्त और युक्ति सहित निर्विकार ब्रह्म का साक्षात् कराया है। अब तू आत्म साक्षात्कार को प्राप्त हुआ है। जो ब्रह्म मैंने तुमको चक्षु द्वारा द्रष्टा, कान द्वारा श्रोता, नासिका द्वारा घ्राता, जिह्वा द्वारा रसका आस्वादन कर्त्ता, हाथ द्वारा क्रिया कर्त्ता, त्वचा द्वारा स्पर्श कर्त्ता कहा है, वही यह अपना प्रत्यग् आत्मा है, अच्छी तरह से समझ ले। मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पदार्थों के नाम और व्यापार भिन्न-भिन्न हैं। इनके साथ मिलने से ही ब्रह्म अनेक नाम और व्यापार वाला कहा जाता है। चक्षु उपहित होने से द्रष्टा और कर्ण उपहित होकर श्रोता आदि कहलाता है। सुषुप्ति में जब इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अहंकार का अभाव हो जाता है, तब भी आत्मा का अभाव नहीं होता।

हे गार्ग्य! बुद्धिमान् दयालु गुरु और शीलवान सन्तोषी सरल स्वभाव शिष्य—जब इन दोनों का मिलाप होता है, तब जीव की मुक्ति होती है। केवल शास्त्र घोटने मात्र से ही सांसारिक बंध नहीं कटते। जब स्थूल, सूक्ष्म, कारण, समष्टि-व्यष्टि तीनों शरीरों का बाध हो जाता है, तब एक रस परमानन्द चैतन्यघन सत्ता शेष रहती है। जैसे रस्सी के ज्ञान से सर्प का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से जगत् का बाध हो जाता है, वैसे ही प्रत्यक्ष अभिन्न ब्रह्म में कारण सहित जगत् का बाध हो जाता है। हे गार्ग्य! अब तुझको ब्रह्मभाव की प्राप्ति हुई अथवा नहीं। तेरी बुद्धि कृतकृत्य हुई अथवा नहीं।

गार्ग्य—हे राजन्! आपकी कृपा से मैं अपने आप प्रत्यक्ष अभिन्न ब्रह्म को प्राप्त हुआ हूँ। हे राजन्! मैं तो अभिमान में डूब रहा था। अज्ञान के मारे आत्मा से दूर पड़ा था। इसके नाश होने

पर अब देखता हूँ तो चारों तरफ शान्ति और आनन्द ही आनन्द दिखाई देता है। अज्ञान दश में अपने स्वरूप से कुछ इतर नहीं हो गया था। जो मैं पहले था, वही मैं अब हूँ। जो अब पहले था। मैं धन्य हूँ! मैं धन्य हूँ!! मैं बड़ा चतुर हूं कि संसार (अर्थात् शरीर आदि चिरकाल से धारण कर रहा था, तो भी उसके रङ्ग से नहीं रङ्गा गया। असंग का असंग ही सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच मुझ में कल्पित है और मेरे आश्रय है। मैं सच्चिदानन्द निराश्रय हूं। मैं नहीं हूँ और मैं हूं। मैं स्वयं ज्योति स्वरूप हूँ। हे राजन्! आपकी कृपा से मैं शान्ति हूँ। वेद मुझको ही अक्रिय, अभय, आनन्द, अमृत, ब्रह्म, परमात्मा, कूटस्थ, तुर्या, भूमा, कहते हैं क्योंकि मुझसे भिन्न द्वैत का तीन काल में भी अभाव है। मेरे स्वरूप में ईश्वर, जीव, श्रुति, स्मृति आदि किसी की गति नहीं है। अधिकारियों को बोध कराने के मिस से वेद अनन्त नामों की मुझ में कल्पना करता है। मैं वास्तव में नाम रूप से रहित हूँ। हे भगवन्! प्रतिकार में सिवाय सरलता से नमस्कार करने के और कुछ अपने पास आपके देने योग्य नहीं ओ३म् नमो नमः।

इति राजा अजातशत्रु-बालाकी सम्वाद नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

सातवाँ अध्याय

[इन्द्र और ब्रह्मा का संवाद]

अब आगे ब्रह्मा और इन्द्र का जिस प्रकार सम्वाद हुआ है, सो निरूपण किया जाता है। श्रोता लोग ध्यान देकर सुनें।

जिज्ञासु—हे गुरु महाराज ! पूर्व आचार्यों ने जिस प्रकार मन्द अधिकारियों को मोक्ष की प्राप्ति करा कर बंधन से मुक्त किया है, सो कृपा करके मेरे बोध के निमित्त कहिये।

गुरु—हे शिष्य ! मन्द अधिकारियों को जिस प्रकार उपदेश किया जाता है सो ध्यान पूर्वक सुनो। हे शिष्य ! मन्द अधिकारी उनको कहते हैं जो बुद्धि की स्थूलता के कारण निर्विशेष ब्रह्म को नहीं जान सकते क्योंकि मन्द अधिकारियों को बुद्धि की स्थूलता के कारण ऐसा निश्चय होता है कि जो कुछ है सो प्रत्यक्ष यह विशेष ही है, निर्विशेष कोई वस्तु नहीं। परन्तु वेद भगवान् अपने दयालु स्वभाव से मन्द मुमुक्षुओं को निर्विशेष आत्मा का बोध करा देता है। जैसे अन्धे मनुष्य को रास्ते के आश्रय से नगर को प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार वेद भगवान् ब्रह्मचर्य आदि साधनों द्वारा संन्यास मार्ग से उसको निर्विशेष आत्मा की प्राप्ति कराता है। देश, काल, वस्तु, परिच्छेद से रहित सत्, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म का नाम निर्विशेष है। इस में किसी प्रकार का भेद भाव नहीं है।

शिष्य—हे गुरु ! सो निर्विशेष ब्रह्म कौन है और कहाँ रहता है ?

गुरु—हे पुत्र ! वेद ने जो निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन किया है सो यह चिदाभास है। यही परब्रह्म है। यह ब्रह्म इस शरीर में इस प्रकार आया है जैसे आकाश घट द्वारा अपने विशेष स्वरूप को दिखाकर घट के नष्ट होने पर अपने सामान्य रूप को प्राप्त होता है। किंवा जैसे वायु स्पन्द द्वारा अपने विशेष रूप को दिखाकर फिर सामान्य हो जाता है और जैसे अग्नि काष्ठ द्वारा अपने विशेष रूप को दिखाकर फिर समान रूप को प्राप्त होती है। उसी प्रकार यह चिदाभास ब्रह्म अपने विशेषरूप को दिखाकर और अनेक प्रकार की क्रीड़ा करके फिर अपने निर्विशेष रूप को प्राप्त होता है। उस निर्विशेष ब्रह्म को वेद भगवान् ने जिस प्रकार जिन साधकों को प्राप्त कराया है, सो सावधान होकर सुन।

शिष्य—हे गुरु महाराज ! चिदाभास का क्या स्वरूप है और निर्विशेष ब्रह्म का क्या स्वरूप है ? यह निर्विशेष ब्रह्म कैसे विशेष रूप हो गया ? उसका कौन देश है ?

गुरु—हे शिष्य ! जैसे चक्रवर्ती राजा का महत्व होता है उसी प्रकार चिदाभास ब्रह्म का महत्व है। जैसे राजा के रहने का एक विशेष नगर होता है, उसी प्रकार इस चिदाभास ब्रह्म के रहने का मनुष्य शरीर रूपी विशेष नगर है। जैसे नगर के चारों तरफ दूसरी बस्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार इस शरीर के चारों तरफ नख, बाल आदि हैं। जब किसी नगर में डाका पड़ता है तो प्रथम बाहरी बस्ती पर पड़ता है, उसी प्रकार इस ब्रह्मपुर शरीर के नख, केश आदिक आठवें दिन लूटे जाते हैं अर्थात् काटे जाते

हैं। जैसे नगर में जो चोर आते हैं उनको बस्ती वाले मनुष्य बाहर निकाल देते हैं, उसी प्रका
जब कोई काँटा आदिक लग जाता है उस काल में उस कांटे को नख आदि मिलकर निकाल फें
बाहर की बस्ती वाले पुरुष राजा के भय से उन चोरों को मार कर भगा देते हैं, उसी प्रकार
केश आदिक ब्रह्म राजा के डरके मारे शरीर में लगे कांटों को पकड़कर निकाल देते हैं। जैसे
नगर के द्वार पर पहरेदार होते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्म राजा के शरीर रूपी नगर की चौकीदा
जो मुखरूपी दरवाजे पर सदा बैठी रहती है। जैसे राजा के महल के रक्षक होते हैं, उसी प्र
ब्रह्मपुर की चौकीदारी पाँच प्राण करते रहते हैं।

जैसे राजा के नगर के चारों तरफ वाटिकायें होती हैं उसी प्रकार इस शरीर रू
के चारों ओर दाढ़ी, मूछ आदिक होते हैं। जैसे नगर में बड़े-बड़े बाजार होते हैं और उन
प्रकार के पदार्थ होते हैं, उसी प्रकार कान, नाक, आँख आदिक ब्रह्मपुर के बाजार हैं। उन
गन्ध, रूप आदिक अनेक पदार्थ पड़े हैं। जैसे राजा के नगर की मोरियाँ होती हैं, उसी प्र
ब्रह्मपुर शरीर की मोरियाँ गुदा, उपस्थ आदिक हैं। जैसे राजा की विभूति सब से अधिक
उसी प्रकार ब्रह्मपुर राजा की विभूति अनन्त अग्नि, जल और पृथ्वी हैं। जैसे राजा के
बड़े-बड़े साहूकार तथा धनी रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मराजा के नगर में मन, बुद्धि, चित्त तथा अहं
धनी बसते हैं। जैसे राजा के नगर में साहूकारों के बड़े-बड़े मकान होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म
साहूकारों के मकान मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश हैं। जैसे नगर में गरीब और भिखा
रहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मराजा के पुर में नाना तृष्णा तथा कामनायें भरी हुई हैं। जैसे राजा का
मन्त्री होता है, उसी प्रकार ब्रह्मराजा का श्रेष्ठ मन्त्री प्राण है। जैसे मन्त्री राजा के सब कार्य
है और राजा को कुछ कहना तथा करना नहीं पड़ता, उसी प्रकार प्राण ब्रह्मराजा के सब काम-का
है तथा ब्रह्मराजा को कुछ कहना या करना नहीं पड़ता है।

हे शिष्य! यह प्राण चतुर मन्त्री है। जैसे राजा के बड़े-बड़े बुद्धिमान सलाहकार हों
प्रकार ब्रह्मराजा के सलाहकार व्यष्टि में मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार और समष्टि में ब्रह्मा, वि
शिव हैं। जैसे राजा की नाना प्रकार की सेना होती है उसी प्रकार ब्रह्मराजा की सेना नाना
बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार, दो सौ एक नाड़ियाँ हैं। वे सदा सेना की नाईं जहाँ-त
फिरती हैं। जैसे राजा के भोगने के नाना प्रकार के पदार्थ होते हैं, उसी प्रकार चिदाभास
भोगने के नाना प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध भोग हैं। जैसे राजा के नगर
पदार्थों के लाने वाले कर्मचारी होते हैं, उसी प्रकार इस ब्रह्मराजा के शरीर रूपी नगर में बाह
प्रकार के पदार्थों के लाने वाले श्रोत्र, चक्षु आदि ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं! जैसे राजा का लाल
के बीच में होता है और मणि आदिकों से पूर्ण होता है, उसी प्रकार चिदाभास रूपी ब्रह्मराजा
महल शरीर के बीच में हृदय-कमल है, अँगूठा मात्र जिसका प्रमाण है और जो चन्द्रमा की तरह
है। उस अन्तःकरण में चिदाभास ब्रह्मराजा विराजमान है। जैसे राजा सदा तीन स्थानों में
है—कभी तो शिकार के स्थान में, कभी राजसभा में और कभी अन्तःपुर में, उसी प्रकार इस
भी तीन स्थान हैं—जाग्रत अवस्था रूपी वन है, स्वप्न अवस्था रूपी राजसभा है और सुषुप्ति
पुर है, जहाँ वह सदा आनन्द का भोग करता है।

जैसे राजा का महल कारीगर बनाते हैं, उसी प्रकार यह ब्रह्मपुर मायारूपी कारीगर ने बनाया है। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि परब्रह्म ने अपना महल स्वयं बनाया है और स्वयं ही उसमें प्रवेश किया है। जैसे रेशम का कीड़ा स्वयं ही अपना घर बनाकर उसमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार ब्रह्म ने स्वयं ही शरीररूपी नगर बनाकर उसमें प्रवेश करके निवास किया है। जब इच्छा होती है तब इसे त्याग देता है। चतुर कारीगर ब्रह्म जैसी रचना करता है वैसी माया को भी नहीं आती। जैसे राजा के आगे लेने-देने वाले सेवक होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मराजा के आगे लेने-देने वाले ये हाथ हैं। जैसे राजा की सवारी के घोड़े होते हैं, उन पर चढ़कर शिकार आदिक खेलने को जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मराजा के ये पैर हैं। जैसे राजा सभा में शोभा पाता है उसी प्रकार स्वप्न में ब्रह्मराजा प्रकाशित होता है। जैसे राजा शिकार खेल कर आता है उस काल में सब लोग उसकी जय बोलते हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में सब इन्द्रियाँ मिल कर ब्रह्मराजा की जय-जय बोलती हैं। उस काल में ब्रह्म भी राजा की तरह अपनी महत्ता और उपमा को सुन कर प्रसन्न होता है और शोभा पाता है। हे शिष्य! तू भी इस शालिग्राम स्थानीय हृदय कमल की उपासना करके ब्रह्मराजा को प्राप्त हो। बता, अब और क्या चाहता है?

शिष्य—गुरु महाराज! एक शंका है। आपने चिदाभास को ब्रह्म नाम दिया है और बहुत से आचार्य इस चिदाभास को जीव कहते हैं। इन दोनों में किसका कहना यथार्थ है, सो कृपा करके कहिये।

गुरु—हे शिष्य! जीव ही ब्रह्म रूप है। त्रिपुटी के साथ मिलने से ब्रह्म ही जीव भाव को प्राप्त हुआ है। जब तत्व की विशेष रूप धारने की इच्छा हुई तब उसने अपने विभूतिरूप तीन तत्वों से शरीररूपी पुर बनाया। उसमें चेतन देवताओं को प्रवेश कराकर पीछे स्वयं भी शिखा द्वार से प्रवेश कर गया और अपने नाम रूप को प्रगट किया। जैसे शीशे के साथ मिलने से मुख दूना होता है उसी प्रकार ब्रह्म आत्मा बुद्धि रूपी शीशे के साथ मिलने से दूना होकर नाना रूप रंगों को देखने लगा और सम्राट की तरह अपने साथ नाड़ी और इन्द्रियरूपी सेना लेकर जाग्रतरूपी वन की सैर करने लगा।

जैसे राजा के बड़े-बड़े बुद्धिमान सभासद होते हैं, उनके सिवाय और कोई राजा के पास नहीं आने पाता, उसी प्रकार इस ब्रह्मात्मा के पास भी बड़े-बड़े विद्वान् रहते हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिक साधन सम्पन्न श्रेष्ठ पुरुष ही इस परमात्मा के समीप आते-जाते हैं। ब्रह्मचर्य आदि साधनों से रहित, चोर, हिंसक, मिथ्यावादी पुरुष इस परमात्मदेव के पास नहीं जा सकते। मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सुखों से जिसने वैराग्य तथा त्याग किया है, ऐसे उदार पुण्यात्मा पुरुष ज्ञानद्वारा ब्रह्मराजा को प्राप्त होते हैं। हे अधिकारी! दहर आकाश, चिदाकाश, कूटस्थ, तथा चिद-अणु भी इस ब्रह्मात्मा का नाम है। दहर आकाश नाम सूक्ष्म का है। इस भूताकाश से चित्ताकाश सूक्ष्म है और चित्ताकाश से चिदाकाश अत्यन्त सूक्ष्म है। इसी कारण से ब्रह्म को सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म कहा है।

शिष्य—हे प्रभो! इस अल्प तथा अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म के जानने से क्या लाभ होगा?

गुरु—हे शिष्य! उसके जानने से जो बड़ा लाभ है सो आगे कथन करेंगे। इस चिदाभास ब्रह्म को सूक्ष्म इस कारण से कहा है कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि इसको नहीं जान सकते हैं। इस ब्रह्म को तुम अल्प न समझो क्योंकि श्रुति माता ने अनेक स्थानों में इसको बड़े से बड़ा कहा है। जैसे आकाश में अनन्त पदार्थ भरे पड़े हैं, पर वह सभी ब्रह्म के एक कोने में हैं, उसी प्रकार चिदाकाश में अनन्त

ब्रह्माण्ड भरे पड़े हैं। ये नाना ब्रह्माण्ड जो अब स्थित हैं, जो पूर्व हो गए हैं और जो आगे... तीनों कालों के सब पदार्थ चिदाकाश के किसी एक देश मात्र में कल्पित स्थित हैं। जैसे सूक्ष्म... आकाश किसी से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अत्यन्त सूक्ष्म होने से किसी... नहीं करता, सदा अपनी महिमा में स्थित है। जो कोई धीर-वीर पुरुष इस चिदाकाश ब्रह्म को... है, वह चिदाकाश ब्रह्म ही हो जाता है।

शिष्य—हे गुरु! उस चिदाकाश ब्रह्म को कैसे जानें?

गुरु—हे शिष्य! ध्यान देकर सुनो। ब्रह्माण्ड से यह देह सूक्ष्म है, शरीर से इन्द्रियां... इन्द्रियों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि और बुद्धि से चिदाकाश ब्रह्म सूक्ष्म है। मन्द बुद्धि वाले... योगी, यती इस प्रकार ब्रह्म को जानते हैं। जैसे शुद्ध अचल मणि में मुख का प्रतिबिम्ब स्पष्ट... मलीन चंचल मणि में नहीं पड़ता, उसी प्रकार अधिकारी जन सब तरफ से मन को रोक कर... मणि में ध्यान के बल से चिदाकाश ब्रह्म का दर्शन करते हैं। दूसरे साधन से रहित जीवों... चिदाकाश ब्रह्म इस कारण से दर्शन नहीं देता कि उनकी बुद्धि रूपी मणि राग-द्वेष रूपी मल से... रहती है। इसी कारण से यह परमात्मा प्रत्यक्ष हुआ भी दिखाई नहीं देता। जब साधक गुरु को... लेता है, वेदान्त श्रवण करके मनन, निदिध्यासन द्वारा बुद्धि को शुद्ध करता है, उस काल में यह... ब्रह्म प्रत्यक्ष होता है। यह चिदाकाश ब्रह्म अभय, अक्रिय, अचल, असंग, निर्विकार, अद्वैत,... है। जैसे समुद्र में अनन्त लहरें उठ कर उसी में वर्तती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं,... चिदाकाश ब्रह्म रूपी समुद्र से अनन्त ब्रह्माण्ड, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, विराट, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य... आचार्य, पशु, पक्षी आदि समुद्र की लहरों के समान उत्पन्न होते और उसी में समा जाते हैं।... इसी कारण यह चिदाकाश ब्रह्म सब से बड़ा है। जो कुछ भी नाम-रूप प्रपंच तुम को दिखता... सब नाश होने वाला है। आदि, अन्त में स्वरूप से रहित अनिर्वचनीय, प्रतीति और कथन मात्र...

शिष्य—हे भगवन्! इतना बड़ा और अविनाशी इस नाशवान शरीर में क्यों आ... आनन्द रूप ब्रह्म इस कष्ट में क्यों फंसा?

गुरु—हे शिष्य! शरीर के नाश से चिदाकाश ब्रह्म का नाश नहीं होता। जैसे आकाश... पांच भूतों ने जब शरीर में प्रवेश किया तब उन्होंने पहले ही विचार लिया था कि इस पुर... हमारा नाश नहीं होगा क्योंकि हम निरावयव हैं, निराकार हैं, नाश तो आकारों का होता... प्रकार निष्कंटक तथा निर्भय होकर शरीर में प्रवेश किया। चिदाकाश ब्रह्म इन पंच भूतों से भी... सूक्ष्म होने से शरीर के नाश होने से कैसे नाश होगा? नहीं नाश होगा। अतः यह चिदाकाश... नित्य अविनाशी है और शरीर रूपी पुर क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होता रहता है। कभी बालक... जवान, कभी बुड्ढा होता है। इन सब अवस्थाओं तथा भाव-अभाव का साक्षी चिदाकाश ज्यों का त्यों... जहाँ का तहाँ निर्विकार स्थित है।

जैसे शीशा किसी लकड़ी या दिवाल के आश्रय होता है और देखने वाला मनुष्य... होता है। लकड़ी या दिवाल के नाश से देखने वाले पुरुष का नाश नहीं होता है। उसी प्रकार... रूपी मिट्टी है, बुद्धि रूपी शीशा है, पुरुष रूपी चिदाभास ब्रह्म है। सो चिदाकाश ब्रह्म बुद्धि रूपी... प्रपंच की लीला को देखता है। शरीर, इन्द्रियाँ तथा बुद्धि का नाश हो जाता है। साक्षी...

का नाश कदापि नहीं होता। हे शिष्य! इस कारण से चिदाकाश ब्रह्म उत्पत्ति-नाश से रहित अविनाशी है। क्षुधा-पिपासा, जन्म-मरण, हर्ष-शोक इन षट् ऊर्मियों से रहित है। हे शिष्य! इस ब्रह्मात्मा से इतर और कोई ब्रह्म नहीं है।

शिष्य—हे प्रभो! पूर्व में आपने ब्रह्म को हृदय रूपी कमल में स्थित कहा था। जब शरीर मरता है और अग्नि में दाह किया जाता है, उस काल में हृदय कमल नष्ट हो जाता है। तब आधार के नाश होने पर ब्रह्म आत्मा का नाश क्यों न हो जाता होगा? अवश्य होता होगा। इस मेरे संशय को दूर करो।

गुरु—हे शिष्य! जैसे आकाश आदि भी तो शरीर में स्थित हैं, परन्तु शरीर के जलने से यह नहीं जलते हैं। उसी प्रकार चैतन्य परब्रह्म आकाश से भी अत्यन्त सूक्ष्म होने से शरीर के जलने पर भी नहीं जलता है। वह चिदाकाश ब्रह्म तमाम भूख-प्यास, पुण्य-पाप, शोक-मोह आदि विकारों से परे है। हृदय रूपी कमल में स्थित जो हमने परमात्मा को कहा है, वह मन्द जिज्ञासु के बोध कराने के वास्ते कहा है। मन्द अधिकारी अपने हृदय में परमात्मा का ध्यान करे। जो उत्तम अधिकारी हो वह ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाकर श्रद्धा सहित महावाक्य को सुने, पश्चात् मनन और निदिध्यासन द्वारा अपने आप प्रत्यग् को जाने। जब अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब शान्त आत्मा होता है, दूसरे प्रकार से नहीं होता। जब तक महावाक्य का श्रवण नहीं प्राप्त हुआ, तब तक वह मन्द अधिकारी है। उसको चाहिए कि वह हृदय कमल में अपने आपे का ध्यान करे। इस ध्यान के प्रसाद से उसको आत्मज्ञानी गुरु मिल जायगा और वह आत्मज्ञान को प्राप्त हो जायगा।

वह चिदाकाश ब्रह्म सत् धर्मा, सत् कामा तथा मर्यादा पुरुषोत्तम है। वह जो इच्छा करता है वही तत्काल सिद्ध होता है। जब तक उस चिदाकाश ब्रह्म की कामना पूरी नहीं होती; तब तक उसको कोई नहीं रोक सकता क्योंकि वह स्वतन्त्र है, किसी के आधीन नहीं है। वही चिदाकाश सब का अपना आपा अविनाशी प्रत्यग् स्वरूप है। हे शिष्य! इस प्रकार मन्द मुमुक्षु विचार करके ज्ञान द्वारा परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होता है। सत् शास्त्रवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ महात्मा से जब अधिकारी मिलता है, उस काल में शान्त आत्मा हो जाता है। जैसे तराजू के दो पलड़े होते हैं और डण्डी के बीच में एक सुई होती है। जब उन दोनों पलड़ों में समान भार होता है, तब सुई ठीक बीच में स्थित रहती है और जो न्यून अधिक भार होता है तो सुई ठीक बीच में नहीं रहती, अधिक भार वाले पलड़े की तरफ झुक जाती है। उसी प्रकार गुरु का कथन और शास्त्र का अभिप्राय कांटे के दोनों पलड़ों की तरह हैं। शिष्य का अनुभव सुई के समान है। जब ये तीनों मिल जाते हैं, तब गुरु मुमुक्षु को शीघ्र ही आत्मतत्त्व प्राप्त करा देता है।

यदि गुरु शास्त्र नहीं पढ़ा है तो मुमुक्षु को मोक्ष नहीं करा सकता तथा जिसने शास्त्र पढ़ा हो, परन्तु अनुभव से रहित हो, वह भी मोक्ष नहीं करा सकता। यदि गुरु शास्त्र भी पढ़ा हो, अनुभवी हो परन्तु मुमुक्षु विचाररूप पुरुषार्थ से रहित और राग आदि दोषों से युक्त हो तो भी मुमुक्षु मोक्ष को नहीं प्राप्त होता। जब तीनों का अनुभव एक हो जाता है, तब मोक्ष होती है। जो अधिकारी निर्विशेष सत्ता को प्राप्त होता है, हे शिष्य! उसकी महिमा हम तुम से क्या कहें? सब ब्रह्माण्ड उसी की आराधना करता है और वह किसी की आराधना नहीं करता क्योंकि वह सब को अपना-आपा देखता है। यह सकाम उपासक जो ईश्वर, देवता आदि की उपासना करते हैं, उससे उनको तुच्छ स्वर्ग आदि भोगों की प्राप्ति

होती है। जैसे कोई पुरुष किसी राजा की आराधना करता है, तब राजा उसकी मेहनत के अनुग्रह कुछ रुपया-पैसा दे देता है और जो बीच में ही राजा की कोई अवज्ञा कर बैठता है तो राजा हुआ पदार्थ भी छिन जाता है, साथ ही ताड़ना भी होती है। उसी प्रकार इन्द्र आदि देव उपासक की मेहनत के अनुसार कुछ भोग दे देते हैं, वह भी नाशवान, क्षण भंगुर होते हैं। पुरुष बीच में ही कोई अवज्ञा कर बैठता है तो देवता भी दिये हुए पदार्थ छीन लेता है। हे शिष्य ! यह सकाम उपासक सदा जलते रहते हैं, शान्ति कदापि नहीं पाते। आत्मा के घटी यंत्र की नाईं जन्मते-मरते हुए संसार कूप में भ्रमते रहते हैं। पूर्व जो मन्द अधिकारी भी चिदाकाश आत्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! यह पुरुष चिदाकाश आत्मा को जानकर कहाँ जाकर मोक्ष पाते हैं? और कहीं ? कृपा करके कहिये।

गुरु—हे शिष्य ! जिस अधिकारी ने दहर आकाश सूक्ष्म ब्रह्म की अहंग्रह उपासना की "मैं ब्रह्म हूं" इस प्रकार निरन्तर ध्यान किया है, पर अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ, वह शरीर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और ब्रह्मलोक में रहकर दिव्य भोगों को भोगता है। अन्त में मोक्ष अन्य कितने ही उपासक तो ब्रह्मलोक से गिरकर फिर उसी उपासना आदि में स्थित आ होते नियम की कोई बात नहीं है। जब तक ब्रह्मा के पास रहते हैं, तब तक सिद्ध संकल्प होते हैं। के भोग की इच्छा करते हैं, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवता, पितृ, पशु, म्लेच्छ, चाण्डाल आदि संकल्प करते ही वे सब शीघ्र प्राप्त होते हैं। जैसे स्वप्न अवस्था में यह पुरुष नाना पदार्थों रचता है और आप ही उनको भोगता है, उसी प्रकार ब्रह्मलोक वासी पुरुष जिन भोगों की इच्छा है, उनको आप ही रच लेता है और आप ही भोगता है तथा जैसे अपनी स्वप्न-सृष्टि का ही को होता है, दूसरे पुरुष को नहीं, उसी प्रकार ब्रह्मलोकवासी पुरुष भी अपनी रचना को देखता है।

शिष्य—हे प्रभो ! ब्रह्मलोक में कौन पुरुष जाते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! मन्द जिज्ञासु ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और उत्तम मुमुक्षु प्रबुद्ध गुरु इस शरीर में ही 'सोऽहं' 'ब्रह्मास्मि' के ज्ञान द्वारा ब्रह्म से अभिन्न अपने स्वरूप का अनुभव कर प्राप्त होते हैं। जिस काल में यह मुमुक्षु पुरुष अपने आत्मा को तीनो शरीरों और तीनों अवस्था पृथक्, उनका साक्षी, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद रहित जानता है, उसी काल में मुक्त हे शिष्य ! यह ब्रह्म की प्राप्ति है। इसी को परम धाम भी कहते हैं। जो अधिकारी चिदाकाश उपासना करते हैं, वह उपासक ब्रह्मलोक में जाकर सिद्ध संकल्प होते हैं। जिस पुरुष ने इस प्रकार चिदाकाश ब्रह्म को परोक्ष रूप से जाना है, परन्तु कामनाओं के मारे साक्षात्कार नहीं किया उसके सत् संकल्प को असत् संकल्प ने आच्छादित कर लिया है और खींच कर इस अज्ञान में है कि मेरा शरीर कभी नाश को प्राप्त न हो, मेरे धन, स्त्री, पुत्र, सदा बने रहें, मेरी मान-प्रतिष्ठा शरीर स्वस्थ रहे, कोई रोग न हो इत्यादि। ऐसे संकल्पवान की मोक्ष कदापि नहीं होगी, चाहे गुरु भी क्यों न प्राप्त हों, चाहे दिन-रात वेदान्त घोटे।

जो पुरुष चिदाकाश ब्रह्म से विमुख है, संसार में उसका जीना व्यर्थ है। हे शिष्य !

ब्रह्म कैसा है ? उसकी महिमा सुन। उसमें ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट, प्राज्ञ, तैजस, तथा विश्व, पर्वत, नदी, समुद्र आदि सब कल्पित हैं और वही चिदाकाश ब्रह्म जड़ चेतन सबको प्रकाशता है। वही परब्रह्म है। इसी चिदाकाश को वेद भगवान् शुद्ध, बुद्ध, ज्ञान स्वरूप, तीनों गुणों से परे, अद्वैत, आनन्द स्वरूप, अभय, अक्रिय कहता है। हे शिष्य ! जिस पुरुष ने कामनाओं का त्याग किया है, वही पुरुष अपने हृदय में चिदाकाश ब्रह्म का दर्शन कर पाता है। सोई ब्रह्म है। उसी ब्रह्म का संकल्प सत है। जैसा संकल्प करता है, वैसा ही होता है।

शिष्य--हे प्रभो ! इस चिदाकाश ब्रह्म में तो सब ही प्राणी स्थित हैं, उनमें से हम किसको जानें तथा मानें कि यह ब्रह्मस्वरूप है ?

गुरु—हे शिष्य ! एक पिता के दो पुत्र थे। एक ने तो शराब पी रक्खी थी, दूसरे ने नहीं। जब वे घूमते-घामते बाहर से घर में आये तो जिसने शराब पी रक्खी थी, उसने कहा कि हे भाई ! घर में मत सोओ, यह चोरों का स्थान है, कोई चोर न आ जाय। जिसने शराब नहीं पी थी, उसने कहा कि हे भाई ! अब तो हम लोग अपने घर आ गये, यहाँ भय का क्या काम है ? हम तो अपने घर आकर निर्भय हुए हैं। भय तथा डर तो बाहर ही होते हैं। उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी दोनों एक पिता के पुत्र हैं। जिसने अज्ञान रूपी शराब पी है, वह स्वयं सत् स्थान को प्राप्त होकर भी कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूं, मैं अज्ञ हूं क्योंकि मैं पापी, अपराधी, दीन, दुखी, जन्मने तथा मरने वाला हूं। जैसे अन्धा पुरुष अपने आपको नहीं देखता और न दूसरे को देखता है, उसी प्रकार यह सकामी उपासक न अपने आत्मा को जानते हैं और न परमात्मा को। इसी कारण से स्वयं को पापी-अपराधी देखते हैं क्योंकि अपने यथार्थ स्वरूप से विमुख हैं और जिस पुरुष ने अज्ञान रूपी शराब को नहीं पिया, वह सत् स्थान पर जाकर स्वयं कहता है कि "अहं ब्रह्मास्मि"। हे शिष्य ! इन दोनों का यही भेद है। जिस पुरुष ने चिदाकाश ब्रह्म को जाना है, वही चिदाकाश ब्रह्म है। यही सनत्कुमार ने भूमा विद्या द्वारा नारद को उपदेश किया है। हे शिष्य ! वेद ने यह सब महत्व उसी ब्रह्म का कहा है जिसने हृदय कमल में प्रवेश करके अपने को जीव कहा था। इसी ब्रह्म की उपासना ब्रह्मा ने इन्द्र को उपदेश की है।

शिष्य—हे गुरु ! ब्रह्म व्यापक, असंग है, उसका प्रवेश नहीं बन सकता।

गुरु—हे शिष्य ! तो फिर सृष्टि कैसी ? यह प्रवेश और सृष्टि दोनों मायावी हैं अर्थात् मिथ्या हैं। मायावान होने से जैसे सृष्टि है, वैसे ही प्रवेश भी है।

शिष्य—हे प्रभो ! उस ब्रह्म चिदाकाश का नाम क्या है और उसका स्वरूप क्या है ?

गुरु—हे शिष्य ! वेद में इस परब्रह्म को सत्कामा, सत धर्मा, कूटस्थ, आत्मा, ब्रह्म आदि नामों से कहा है। यही चिदाकाश ब्रह्म कूटस्थ, सबसे श्रेष्ठ और सबकी शान्ति का स्थान है। इसकी प्राप्ति की सबको इच्छा रहती है।

शिष्य—हे गुरु ! इसको ब्रह्मलोक क्यों कहा है ?

गुरु—हे शिष्य ! इसी ब्रह्मपुर को वेद ने ब्रह्मलोक कहा है, क्योंकि इस ब्रह्म को प्राप्त होकर पुरुष को पुण्य-पाप आदि द्वन्द्व नहीं छूते हैं और यहाँ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सुखी, दुखी, अन्धे, लँगड़े, कोढ़ी, कुत्ते चींटी आदि जाकर सब अमर पद को प्राप्त होते हैं। उसी ब्रह्मलोक की प्रतिमा जीव के हृदय

मैं सुषुप्ति के रूप में है, अनुभव कर लो। इसी का नाम मर्यादा पुरुषोत्तम है। इसने जैसी मर्यादा
है, उस पर आज तक सब चलते हैं। यह चिदाकाश अपनी बांधी मर्यादा का स्वयं भी उल्लंघन
सकता है। हिरण्यगर्भ, विराट, ईश्वर, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, बिजली, इन्द्र, पूर्व
सब इसी ब्रह्म के भय से अपनी-अपनी मर्यादा में चलते हैं। इसी ने यह मर्यादा बांधी है कि
पशु, पक्षी, चींटी, सिंह आदि जैसी-जैसी वासना को लिये हुए सत्त में प्राप्त होते हैं, वैसे के वैसे
हैं, अन्यथा नहीं होने पाते। इसने यह भी मर्यादा बांधी है कि जो पुरुष ब्रह्मचर्य, विवेक, वैराग्य
साधन करता है, वही अमर पद को प्राप्त होता है, दूसरे नहीं। विवेक, वैराग्य आदि के सिवाय
के इस ब्रह्माण्ड में जप, तप, समाधि, योग, मौन, चान्द्रायण व्रत, दान, अग्निहोत्र, यज्ञ,
जितने भी साधन हैं, सो सब इनके अन्तर्गत हैं और एक-एक अंग हैं। उस ब्रह्मलोक की दि
रूपी दो लता हैं, वे सवन के रस से पूर्ण हैं और अनेक स्मरण रूपी वृक्ष हैं जिनके पत्तों से नि
रूपी रस टपकता रहता है जिसे ब्रह्मलोक वासी सदा पान करते रहते हैं, परन्तु हैं ये सब

हे शिष्य! जाग्रत, स्वप्न, ब्रह्मलोक आदि सब बोध आत्मा के आश्रय हैं क्योंकि जिस
चैतन्य आत्मा संकल्प करता है, वही सिद्ध होता है और जिसका संकल्प नहीं करता, वह सिद्ध नहीं
जैसे कुम्हार प्रथम अपने हृदय में बर्तनों का संकल्प उठाता है, फिर मस्तिष्क में
खींचता है, फिर नस-नाड़ियों द्वारा हाथों से क्रिया करके प्रकट कर देता है। ऐसे ही सुनार
करता है, फिर भूषणों का ध्यान करता है, पीछे गढ़ डालता है। इन पदार्थों के दो-दो स्वरूप
विषय, दूसरा ज्ञान। पहले पदार्थ का बोध होता है, पीछे उसका विषय अर्थात् आकार सिद्ध
आकारों का तो नाश होता रहता है, परन्तु बोध का नाश नहीं होता है। उसी प्रकार जाग्रत
ब्रह्मलोक पर्यन्त सब पदार्थ साकार विषयरूप हैं। जब उनका अनुभव होता है, उस काल में
में आते हैं और काल पाकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जिस बोध आत्मा के आश्रय यह सब
होते हैं, उसका नाश नहीं होता है। विषय पदार्थ का अभाव होने पर भी बोध ज्यों का त्यों
क्योंकि घट, पट, भूषण तो टूट-फूट जाते हैं, परन्तु बोध न तो टूटता है और फूटता है।
जाग्रत, स्वप्न और ब्रह्मलोक के पदार्थ सब के सब मनोमात्र हैं। इन सब का नाश हो
शिष्य! तू अपने अनुभव से विचार करले कि जितना भी दृश्य प्रपंच है वह सब मनोमात्र है।

शिष्य—हे प्रभो! यदि ब्रह्मलोक और जाग्रत दोनों के पदार्थ मिथ्या हैं तो यह
अधिकारी, जिज्ञासु जाग्रत के भोगों को त्याग करके चान्द्रायण आदि अनेक क्लेश क्यों
शीत, उष्ण, कर्म, उपासना आदि अनन्त उपाय ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये क्यों करते हैं?
आपके कथन से तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति के साधन करने से इन लोगों की मूर्खता सिद्ध होती
भंगुर पदार्थों के वास्ते इतने क्लेश उठाना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

गुरु—हे शिष्य! यहाँ से ब्रह्मलोक में यह विशेषता है कि ब्रह्म लोक के पदार्थ,
सात्विक हैं जो किसी दूसरे के मिटाने से नहीं मिटते और इस जाग्रत के पदार्थों के समान
नहीं हैं। वहाँ कोई क्लेश, क्षुधा, पिपासा आदि रोग भी नहीं हैं। यहाँ के पदार्थों में यह
हमारे शरीर, मन आदि रजोगुण प्रधान हैं, दूसरों के मिटाने से मिट जाते हैं तथा क्लेश
मात्र ही उन में सुख की प्रतीति है। यहाँ के स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थों से जीवों को

शान्ति नहीं होती और दिन-रात्रि राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि कांटे रूपी क्लेश देते रहते हैं तथा प्राणी की अभिलाषा पूरी बिना हुए ही नष्ट हो जाते हैं, इस कारण से क्षण भंगुर हैं। जिन पुरुषों के पूर्व निष्काम कर्म उदय होते हैं, वह इसी शरीर में जीवनमुक्ति को प्राप्त होकर शान्त आत्मा हो जाते हैं। उनको किसी नवीन विशेष पदार्थ की इच्छा नहीं रहती है क्योंकि वह आत्मा के अतिरिक्त सब को तुच्छ, नाशवान अनुभव करते हैं। जब तक शरीर का प्रारब्ध शेष रहता है, तब तक शरीर इन्द्रियों से क्रिया करते हुए दृष्ट आते हैं। प्रारब्ध के भोग समाप्त होने पर कैवल्य पद को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म लोक-वासी जीवन्मुक्त भी पदार्थों को कल्पित तथा मिथ्या मनोमात्र जानकर असंग हुए भोगते हैं और प्रारब्ध के क्षय होने पर कोई तो ब्रह्मा के साथ, कोई पहले ही मोक्ष हो जाते हैं और कोई-कोई अज्ञानी ब्रह्मलोक से लौट भी आते हैं। बात यह है कि संकल्प से इतर न तो ब्रह्मलोक है, न जाग्रति है। हे शिष्य! तू दहराकाश ब्रह्म की अपने हृदय कमल में उपासना कर, जिससे तुर्या पद को प्राप्त हुआ इसी जीवन में व्यष्टि तथा समष्टि समस्त बन्धनों से मुक्त हो जायगा। इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। सोई सत्-चित्-आनन्द भूमा स्वयं ज्योति तू है। हे शिष्य! प्राणी अपने ही संकल्प से बद्ध और और अपने ही संकल्प से मुक्त हो जाता है। वास्तव में बंध तथा मोक्ष कुछ भी नहीं हैं। आत्मा तो स्वयं मुक्त है, न कोई बद्ध है, न कोई मुक्त है।

शिष्य—हे गुरु! साधक आत्मा को प्राप्त होकर निर्विकार निर्वाण कैसे कहे जाते हैं और उस आत्मा का क्या स्वरूप है?

गुरु—हे शिष्य! तेरे इस संशय को एक गाथा द्वारा, जो पूर्व हुई है, छेदन करते हैं। एक काल देवताओं की सभा से बृहस्पति और दैत्यों की सभा से शुक्राचार्य ब्रह्मलोक को गए। उन दोनों ने ब्रह्मा के मुख से ब्रह्मज्ञान का महत्व जो सुना तो बड़े ही प्रसन्न हुए और बृहस्पति इन्द्र के पास तथा शुक्राचार्य विरोचन के पास आये। इन्द्र ने बृहस्पति से और विरोचन ने शुक्राचार्य से कहा कि आपने बड़ी कृपा की जो हमको दर्शन दिये। तब एक ही काल में स्वर्ग में इन्द्र ने और पाताल में विरोचन ने बृहस्पति और शुक्राचार्य से पूछा कि हे प्रभो! आप कहाँ से आये हो? तब दोनों ने उत्तर दिया कि हे राजन्! मैं ब्रह्मा की सभा से आया हूं। फिर इन्द्र व विरोचन ने पूछा कि वहाँ क्या निर्णय हो रहा था? उन दोनों ने उत्तर दिया कि हमने ब्रह्मा के मुख से ब्रह्मविद्या का ऐसा महत्व सुना है कि ब्रह्म के जानने से सब कुछ जाना जाता है और ब्रह्म के न जानने से, चाहे कोई बुद्धिमान त्रिलोकी के सब पदार्थों को जानता हो, तो भी उसने कुछ नहीं जाना।

वह ब्रह्म सब प्रकाशों का प्रकाश है और केवल अध्यात्म विद्या से जाना जाता है। उधर जो बृहस्पति और शुक्राचार्य दोनों राजाओं की सभा में ब्रह्मा का उपदेश सुन आये थे, वह यह था कि हे राजाओ! बोधमान का प्रताप ऐसा है कि वह यहाँ से लोक-लोकान्तरों को नहीं जाता वरन् उसके प्राण आत्मा में ऐसे लीन हो जाते हैं कि जैसे पानी की बूँदें गरम तवे पर पड़ने से जल जाती हैं और बाहर के आधिदैविक प्राण और ईश्वरीय शक्तियाँ ही नहीं वरन् समस्त माया भी उसी तरह उसके बदले खिंची चली आती हैं जिस तरह एक स्थान का वायु हलका होकर उड़ जाने से देश-देश की हवायें वहीं खिंची जाती हैं और उसी जगह को पूरा करती हैं। बोधमान जब संक्षिप्त अर्थात् परिच्छिन्न अभिमान

को अपने में से निकाल देता है तब देवलोक का बड़ा साम्राज्य यों ही शरीर की छाया के
आ जाता है। इसीलिए तो वह ज्ञान सम्पन्न क्रिया स्वच्छन्द हो कर समस्त संसार का मालि
उसकी आज्ञा में सब के सब काम करते हैं।

हे राजाओ! इसके विषय में एक व्याख्यान है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने सर्व
विज्ञापन करके विज्ञात कर दिया और लोक-परलोक अथवा स्वप्न, जाग्रत में इसी विज्ञापन
पिठवा दिया था ताकि किसी को इस प्रसाद और प्रतिज्ञा से वेखबरी का बहाना न रहे कि
ही न हुई। घोषणा करने वाले इस बड़े वायदे की घोषणा भी करते थे और निष्काम कर्म
मार्ग से निकाल कर प्रसाद अर्थात् ब्रह्मज्ञान की तरफ बुलाते भी थे कि हे निष्काम कर्मियो
अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। तुम लोग ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हुए हो।

उस विज्ञप्ति को सुन कर स्वर्गलोक और पाताललोक में एक खलबली मच गई देव
में और असुर पाताल लोक में सुनते और संकल्प करते थे कि चलो हम इस प्रसाद को प्राप्त
बृहस्पति ने देवताओं की सभा में कहा कि हे देवताओ! जो पुरुष इस सम्प्रसाद अर्थात्
के अर्थी हैं, वही विद्यार्थी वहाँ चलें और जो इसके अर्थी नहीं हैं, वह न जायें क्योंकि वह
हैं अर्थात् अधिकारी नहीं हैं। जैसे अग्नि की लपटों की मूर्ती से कोई कुछ काम करना चाहे
हो सकता है? नहीं हो सकता। हे भाईयो! उसी प्रकार ब्रह्मविद्या से दूसरी जो विद्यायें हैं
की मूर्ती के समान असत् हैं। ब्रह्मा के पास लौकिक विद्या का अभिमान करके नहीं जाना चा
जो कोई पुरुष लौकिक विद्याओं द्वारा इस सम्प्रसाद को प्राप्त हुआ चाहता है वह वृथा ही
को नष्ट करता है। उसको न तो कभी शान्ति मिलेगी न परमानन्द ही प्राप्त होगा। यह
अपनी सभा में इन्द्र तथा विरोचन ने बृहस्पति और शुक्राचार्य से सुने तब सब सभा को
हुआ। देवता कहने लगे कि हम लोग कैसे मूर्ख हैं कि हमने आज तक इस लौकिक, ना
ही अपना समय खोया और ब्रह्म विद्या का कभी भी मन से पुरुषार्थ न किया। बड़ा शोक है
सदुःख भोगों को हमने श्रेष्ठ मान रक्खा है। अब हम को उचित है कि वृथा काल न
करके ब्रह्मविद्या सम्पादन करें।

उसी प्रकार दैत्यों की सभा सहित विरोचन को भी वैराग्य हुआ। सारी सभा परस्
कि हम लोगों का काल अब तक वृथा ही अविद्या में गया। शराब, माँस, अण्डे, प्याज
पदार्थों को हमने उत्तम पदार्थ जाना। अरे, बड़ा शोक है। हे गुरु महाराज! क्षमा करो।
ब्रह्मज्ञान से सब भोगों की प्राप्ति होती है उसके लिये कभी भूलकर भी हमने मनन न किया
शोक है। इस प्रकार जब देवता और दैत्य पश्चाताप करके अन्तःकरण के शुद्ध होने पर
हुए तब दोनों ने ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के पास चलने की तैयारी की और दोनों अपने-अपने
लगे कि यदि हम लोग इस ब्रह्मज्ञान में प्रवेश करें तो हमारी जय अवश्य होगी।

देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन ने अपनी-अपनी सभा में कहा कि हे प्रजा
लोग अपने-अपने पद पर राज का प्रबन्ध रक्खो। हम जाते हैं क्योंकि बहुत सी भीड़-भाड़
ब्रह्मा हम पर कभी नाराज न हो जाय। इस वास्ते हमारे में से एक पुरुष जो सब में
उसको ब्रह्मा के पास जाना चाहिये और ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या सीखकर हम सबको आचार्य

करना चाहिए। फिर उस आत्मविद्या के शिक्षालय भी जगह-जगह जारी कर के शिक्षक नियुक्त कर देने चाहियें। ऐसा आपस में विचार करके देवताओं ने इन्द्र से और दैत्यों ने विरोचन से कहा कि आप हम सबसे बुद्धिमान, श्रेष्ठ हैं। आप ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या सीखकर हम सब को ज्यों-का-त्यों ब्रह्मविद्या का उपदेश करना।

इन्द्र और विरोचन दोनों राजाओं ने यह बात मान ली और दोनों एक ही समय ब्रह्मचर्य धारण करके ब्रह्मलोक को चले। चलते-चलते मार्ग में दोनों का मिलाप हो गया। आपस में एक दूसरे को नमस्कार करके पूछने लगे। वैसे तो परस्पर दोनों का स्वभाव विरुद्ध, इन्द्र का सात्विक तथा विरोचन का तामसिक था तथापि इस दृष्टि से कि तीन लोक के राज्य से ब्रह्मज्ञान की महिमा बहुत बड़ी है, वैराग्य के कारण दोनों का स्वभाव कुछ-कुछ मिल गया था। इन्द्र ने कहा कि हे भाई विरोचन! आप ब्रह्मचारी का रूप धारण करके कहाँ चले हो? विरोचन ने कहा कि ब्रह्मा के पास एक प्रयोजन के वास्ते जाता हूँ। परन्तु हे इन्द्र! तुम ब्रह्मचारी का रूप धारण करके कहाँ चले हो? इन्द्र ने कहा कि मैं भी ब्रह्मा के पास ब्रह्मविद्या सीखने जाता हूँ। दोनों अपने-अपने भोग, ऐश्वर्य त्याग कर और ब्रह्मचारियों का रूप धारण करके तथा लड़कियों का बोझा सिर पर उठा कर साथ-साथ ब्रह्मलोक को चल दिये। वहाँ ब्रह्मा अपनी सभा में बड़े तेजस्वी सिंहासन पर बैठा था। ब्रह्मा के सिंहासन के पास विरोचन दायें तरफ और इन्द्र बायें तरफ लड़कियों का बोझा रखकर जा खड़े हुए। ब्रह्मा ने दोनों को देख लिया, परन्तु अनदेखे की तरह अपने व्यवहार में ही लगा रहा, कुछ न बोला।

जब बत्तीस वर्ष बीत गये तब ब्रह्मा ने एक साथ इन्द्र और विरोचन दोनों की तरफ देखा और कहा कि हे इन्द्र, विरोचन! तुम अपना-अपना राज, साज, समाज छोड़कर ब्रह्मचारियों की तरह यहां क्यों आये हो और यह लड़कियों का बोझा किस वास्ते लाये हो? जो तुम्हारा प्रयोजन हो सो कहो।

तब दोनों ने कहा कि हे भगवन! लड़कियां तो हम आपकी भेंट में लाये हैं क्योंकि खाली हाथ कहीं नहीं जाना चाहिये। आपके लोक में नित्य यज्ञ होता रहता है और यज्ञ में समिधा की जरूरत रहती है। इसीलिए यज्ञ के लिये समिधा लाये हैं। हे प्रभो! बृहस्पति और शुक्र से आप के कहे हुए ब्रह्म का महत्व हमने सुना है और ब्रह्म के जानने का फल जो आपने बृहस्पति और शुक्राचार्य से कहा था वह भी सब हमने सुना है। आपने जो अपनी आत्मा की पहिचान की विज्ञप्ति निकाली थी, उसको भी हमने सुना है। उस विज्ञप्ति में यह प्रतिज्ञा थी कि आत्मा की पहिचान से सब मनोरथ मुफ्त मिल जाते हैं और सब लोकों में कामाचारी और पूर्ण स्वतन्त्र हो जाते हैं। विज्ञप्ति में यह भी था कि ब्रह्म-आत्म-ज्ञान से सब की प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञान से सब का ज्ञान होता है। ब्रह्म के न जानने से सब अज्ञान रूप हैं। उसी ब्रह्म को पूछने और पहिचानने के लिये हम यहाँ पर आये हैं। कृपा करके हमको वह आत्मा दिखा दो जो सतकामा और सतधर्मा है और शोक, मोह, जरा, मरण आदि द्वन्द्वों से रहित है। कृपा करके आप हमको ब्रह्म आत्मा का उपदेश करिये।

प्रजापति ने कहा—हे इन्द्र और विरोचन! तुम दोनों भ्राताओं ने जिज्ञासा तो बहुत भारी की है क्योंकि बत्तीस वर्ष से हमारे दर्बार में नित्य-प्रति आने-जाते हो, यह सब हम देख रहे हैं। राजा होकर हमारी भेंट के लिये लकड़ियों का बोझा सिर पर रखकर स्वयं हमारे दर्बार में लाये जहां बहुत से

देवता भी बैठे थे। जरा भी लज्जा शर्म न मानी। भिक्षा से निर्वाह करते हो जो कि ब्रह्म स्वधर्म है। जितना मिल जाता है उसी में सन्तुष्ट रहते हो। अपने स्त्री, पुत्र, धन आदि सब हो। तुम्हारे शरीर कैसे दुबले-पतले हो गए हैं। तुमने तो बड़ा तप किया। अब तुम्हारा इस ब्रह्मचर्य से कुछ-कुछ शुद्ध हुआ है।

हे सभा के लोगो! शोक है कि इस ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा के लिये देवराज इन्द्र राजा विरोचन ने, जो कि तीन लोक के दोनों एक समान राजा हैं, राज का भोग छोड़कर आकर भिक्षा मांग-मांग कर बत्तीस वर्ष निकाल दिये, परन्तु मृत्युलोक से अभी तक कोई आया। बड़ा शोक है। छोटे-छोटे घरों की छोटी-छोटी मिल्कियत वाले हमारी इस ब्रह्मविद्या के लिये घरबार छोड़ कर हमारे दर्बार में एक भी नहीं आया। न ही वे किसी पूर्ण विद्वान् की मृत्युलोक में रहकर सेवा ही करते हैं। हे सभासदो! बड़ा शोक है।

ब्रह्मा के ऐसा कहने पर सूर्य बोला—महाराज! आज कल मृत्युलोक में प्रायः दास हो गए हैं। चारों जातियाँ परस्पर मिल बैठी हैं। राजा लोग प्रमादी हो चले हैं। तो बात ही क्या है, उन्होंने तो कर्म-उपासना का भी त्याग कर दिया है। अतः अन्तःकरण के कारण वे ब्रह्मलोक के अधिकारी नहीं हैं।

ब्रह्मा—मैं तुम लोगों से बड़ा ही प्रसन्न हूं। तुमको अधिकारी समझकर कुछ उपदेश हे अधिकारियो! कर्मकाण्ड शास्त्र में परोक्ष ईश्वर पर विश्वास करके तुमने सदैव उस परमात्मा की भक्ति और उपासना की, अतः मैं चाहता हूं कि तुमको इसी समय परमात्मा उपस्थित कर दूँ और तुम उनका साक्षात् दर्शन करो। तुमको बड़ा आनन्द प्राप्त होगा।

इन्द्र-विरोचन—हे प्रभो! बड़ी कृपा होगी जो हमें ब्रह्मात्मा का साक्षात् दर्शन करा दो।

ब्रह्मा—हे इन्द्र-विरोचन! मेरे दक्षिण चक्षु में देखो। जो यहाँ इस समय आँख में आत्मा है। सोई अजर, अमर, जरा, मरण, शोक, मोह, क्षुधा, पिपासा से रहित है। यही आत्मा यही अमृत है। यही सर्व सम्पन्न, सत् कामा, सत् धर्मा, अक्रिय, अभय, पाप-पुण्य से रहित इसकी प्राप्ति से सबकी प्राप्ति होती है। तुम विचार करके उस आत्मा को प्राप्त होओ। विचारो और विचार करके जैसा निश्चय करो वह आकर हम से कहना।

ब्रह्मा के कहने का तात्पर्य यह था कि जो जाग्रत के समय चक्षु में बैठ कर देखता है है। क्योंकि देखने वाला केवल आत्मा है जो कि ज्योतियों की ज्योति है। जो दिखाई देता है नहीं है। यह सुनकर इन्द्र और विरोचन एकान्त स्थान में गए और विचार करने लगे।

इन्द्र—हे विरोचन! ब्रह्मा ने तो चक्षु में जो छाया पड़ती है उसको आत्मा कहा है, क्योंकि छाया न तो शस्त्र से कटती है, न जल से गलती है, न अग्नि से जलती है, न वायु से इस छाया ही में आत्मा के सब लक्षण पाये जाते हैं। पहले हम छाया को मिथ्या नाश जानते थे। अब ब्रह्मा ने कृपा करके छाया आत्मा को अविनाशी दिखाया है।

विरोचन—हे इन्द्र! यहाँ आने से हम-तुमको बड़ा लाभ हुआ है। यह छाया आत्मा कामा, सत् धर्मा है और भय, शोक, मोह, जरा, मरण, क्षुधा, पिपासा से रहित है।

इन्द्र—हे विरोचन भाई ! अब हम इसकी परीक्षा भी कर देखें।

ऐसा कहकर दोनों ने शीशे, अग्नि, जल द्वारा परीक्षा की और निश्चय कर लिया कि इस आत्मा का कहीं भी अभाव नहीं होता। दोनों विचार करके ब्रह्मा के पास आये।

इन्द्र—हे भगवन् ! आपने जो छाया को आत्मा कहा है, सो यथार्थ है। हे प्रभो ! इस छाया को तो आपने आत्मा कहा है, परन्तु जो दूसरी नाना छाया हैं वे सब इसी के रूप हैं अथवा इससे पृथक हैं।

प्रजापति—हे इन्द्र ! तुमको जो नाना छाया दीखती हैं, वे सब एक ही पुरुष की हैं। छाया से यह प्रयोजन है कि चक्षु में जो अनुभवी पुरुष है, उसी की सब छाया हैं। यह छाया जहाँ जाती है, वहीं निर्विकार असङ्ग रहती है। किसी के साथ लिप्त नहीं होती। इसी कारण से यही सबकी आत्मा है। यही अभय, अक्रिय, अमर, सत्कामा और सत्धर्मा है।

ब्रह्मा का तात्पर्य यह था कि हृदय-कमल के भीतर हृदयाकाश के सिंहासन पर देखने वाला कारण-कार्य से रहित अर्थात् निरुपाधि, निर्विकार व निरवयव आत्मा है। वही नेत्र में प्रतिबिम्ब की तरह आया सब को देख रहा है अन्यथा नेत्र की क्या शक्ति है जो देखे ? यदि आँख देखती होती तो अँधा भी देखता। जो शरीर में दीप्तिमान देखने वाला है, वह आत्मा पुरुष है। यह जो देखने वाली ज्योति है वह जाग्रत में मनोवृत्ति पर सवार होकर नेत्र में विराजमान होती है। जिस वस्तु को देखना होता है, नेत्रों से विचार और दृष्टि किरणों की नाईं दिखाई देने वाली वस्तु पर जा लगते हैं और उनको यह देखने वाला आत्मा साक्षी, जो ज्योतिषां ज्योति है, उसी तरह उनसे एक होता हुआ उनको प्रकाशित करता है जिस तरह धूप या दिन का उजाला दिवाल पर पड़ता और उसे प्रकाशित करता है। उसी तरह साक्षी आत्मा दृश्य पदार्थों को घेरता और उनसे एक होता है तो यही वास्तव में देखना कहलाता है।

उसी तरह यह प्रतिबिम्ब जो जलों में दिखाई देता है या मुख का प्रतिबिम्ब जो शीशे में दृष्टि-गोचर होता है, पहले उसमें देखने वाले का प्रकाश, जो आत्मप्रकाश है, दिखाई देता है। फिर दिन का उजाला और फिर प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। अन्यथा अँधे को अँधेरे में भी यह प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिये। ब्रह्मा ने तो इस आत्मप्रकाश को, जो उन प्रतिबिम्बों को घेर कर दिखाई देता है, देख कर कहा कि हाँ, यही आत्मा है जो मैंने अपनी आँखों में देखने वाला बतलाया है। इन सब में एक होकर देखता है, वही तुम देखो। किन्तु उन्होंने, उन्हीं लोगों की तरह जो कि दिवाल तो देखते हैं, उसके साथ दिन के प्रकाश को देखते हुए भी नहीं देखते, इस देखने वाले आत्मा को तो न देखा वरन् यही निश्चय किया कि यह शरीर जिसकी परछाईं आँख या निर्मल जल या दर्पण में दिखाई देती है, यही आत्मा है जो अमृत है और इसी पर मुक्ति अवलम्बित है एवं इसी से वह सत्य सङ्कल्प होता है।

शिष्य—हे गुरु ! ब्रह्मा ने पहले ही ज्ञाता को आत्मा क्यों नहीं कहा ? छाया को आत्मा क्यों कहा ? कृपा करके कहिये।

गुरु—हे शिष्य ! ब्रह्मा ने देखा कि यह दैत्यराज विरोचन और देवराजेन्द्र बड़े अहङ्कारी अपने को बड़ा बुद्धिमान जानते तथा मानते हैं। बत्तीस वर्ष इन्होंने ब्रह्मलोक में रहकर ब्रह्मचर्य तो किया है, किन्तु भोगी विलासी राजा हैं और बड़े-बड़े पापों की वासना इनके मन में भरी पड़ी हैं जिनके कारण इनकी अन्तर्दृष्टि मलिन हो रही है। इसी कारण से आत्मज्योति को देखते हुए भी नहीं देखते, मेरी वाणी

को सुनते हुए भी नहीं सुनते और मेरे तात्पर्य को समझते हुए भी नहीं समझते। इनको प्र... करना चाहिये। किन्तु यदि मैं इस प्रकार एकदम कहता हूँ कि तुम कम बुद्धि हो, मेरे तात्पर्य ... समझते तो राजा होने अथवा विद्या के अधिकर्त्ता के अभिमान से अप्रसन्न होंगे। संभव है इसी ... के कारण इनका चित्त आत्मा की जिज्ञासा की तरफ से हट जाय। इसलिए इनको ऐसे इशा... चाहिए कि ये अपने आप अपनी भूल को समझ लें और दुबारा ब्रह्मचर्य करें।

हे शिष्य! ब्रह्मा तो इनकी परीक्षा करता था कि देखें ये क्या निश्चय करते हैं? ब्र... कहा था कि बुद्धि रूपी चक्षु में जो चैतन्य का आभास रूप छाया है, वही सर्वज्ञ और द्रष्टा ... उसके तात्पर्य को न समझा और निश्चय कर लिया कि छाया ही आत्मा है। इन्द्र ने समझा ... देव लोक में आज तक किसी को भी इस आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ। अब हम वहाँ जाकर ... छाया आत्मा के ज्ञान का उपदेश करेंगे और विरोचन ने विचार किया कि ब्रह्मा ने हमारी बुद्धि ... के लिए छाया को आत्मा कहा है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि छाया द्वारा शरी... आत्मा जानें। क्योंकि शरीर चैतन्य है, छाया जड़ है। शरीर जैसी चेष्टा करता है वैसी ही ... क्रिया होती है। छाया जड़, पराधीन शरीर के आश्रय है। इस कारण से ब्रह्मा ने शरीर को आत्मा कहा है। इन्द्र को इस भेद की खबर ही नहीं है। इस वास्ते इससे नहीं कहना चाहिए। यह इन्द्र मूर्ख है। वह ब्रह्मा के गूढ़ाभिप्राय को क्या जाने? इसके सामने यह भेद प्रगट करना उचित नहीं है। यह आत्मज्ञान का अनधिकारी है। ऐसा न हो कि यह आत्मा को जान जाय और देवताओं को ज्ञान द्वारा अमर कर दे।

हे शिष्य! इस प्रकार दोनों अपना-अपना दृढ़ निश्चय करके ब्रह्मा के पास आये। ब्रह्मा ... के अभिप्राय को समझ लिया और कहा कि यह दोनों जड़ हैं। अब इनको हम क्या कहें? इस... की प्राप्ति के वास्ते कितने ही शास्त्रकार ऋषीश्वर ग्रन्थ बना-बना कर और पच-पच कर नष्ट हो गए ... ही अब तक इस छाया में ही अटके हुए हैं। ब्रह्मा ने सोचा कि ये दोनों हमको सबसे श्रेष्ठ ... हमारे पास ही आए हैं और किसी के पास नहीं गए। वैसे देखा जाय तो इन दोनों में नम्रता और ... प्रतीत होती है क्योंकि दुबारा फिर आए हैं। परन्तु इनका मन मलिन है। इनको देवता और दै... अहङ्कार है। इनका अहङ्कार दूर करना चाहिए।

पश्चात् ब्रह्मा ने दोनों के शिर मुड़वा डाले और राजाओं के समान वस्त्र भूषण धारण ... फिर उनके सामने दर्पण रखकर कहा कि अब तुम स्वच्छ दर्पण में क्या देखते हो? जिस आत्मा ... तुमसे कहा है, उसे देखो और देख कर सोचो। सोच कर यदि कुछ संदेह रहे तो मुझे बताना। इ... ने शीशे में छाया को ही आत्मा निश्चय किया और विरोचन ने निश्चय किया कि जैसा वस्तु का ... होता है वैसी ही छाया होती है। पूर्व में ब्रह्मचारियों की सी थी, अब राजा की सी है। यह छा... जड़ है और शरीर चैतन्य है। तमाम व्यापार करने में समर्थ है, इस कारण से यह शरीर ही आ...

तब दोनों ने ब्रह्मा से जाकर कहा कि हे प्रभो! छाया ही आत्मा है। अब हमको ... सन्देह नहीं रहा क्योंकि जैसे हम हैं वैसी छाया है और जैसी छाया है वैसे ही हम हैं। ब्रह्मा ने ... सोचने से भी इनको कुछ समझ नहीं आई। अभी इनके मन में कोई पाप है। तब ब्रह्मा ने ... तुम दोनों अपने कपड़े और भूषण उतार दो, तब दोनों का ... ब्रह्मचारियों का ...

करो। फिर शीशे में दृष्टि करो। उन्होंने ऐसा ही किया। फिर ब्रह्मा ने पूछा कि क्या देखते हो तो उत्तर दिया कि हे भगवन्! जैसे हम मुण्डे हुए, कपड़े उतारे हुए नग्न थे वैसे ही दिखाई दिये, अतः शरीर ही आत्मा है। यही अमृत, यही सम्पन्न और यही ब्रह्म है।

ब्रह्मा ने हँस कर कहा कि अरे बुद्धि के अन्धो! यदि यही आत्मा होता तो यह हर किसी को प्राप्त है, फिर उसकी जिज्ञासा के लिए ब्रह्मचर्य आदि साधनों की आवश्यकता क्यों पड़ती? ब्रह्मा ने मन में विचार किया कि मैंने तो यह कहा था कि चक्षु द्वारा जो सबका अनुभवी है, वही आत्मा है। मन, बुद्धि आदि भी क्षणभंगुर हैं क्योंकि उत्पन्न होते और लीन हो जाते हैं। जिस चैतन्य की छाया इनमें पड़ती है, वही सबकी आत्मा है। इसी को समझाने के लिए इनको तीन दृष्टान्त मैंने कहे थे कि मन, बुद्धि, अहंकार आदि छाया की नाईं जड़ हैं। इन सबका अभाव तो हो जाता है, पर इनके अनुभवी का नाश नहीं होता है। इस कारण से जो नित्य एक रस है और सबको प्रत्यक्ष है, अप्रत्यक्ष नहीं, उसी को तुम आत्मा जानो। परन्तु इन मूर्खों को यह अनुभव न हुआ। दोनों जड़ निकले और उल्टा समझा। क्या कहें?

विरोचन ने तो शरीर को जो आत्मा माना है, ठीक है क्योंकि वह तामसी प्रकृति का है। परन्तु इन्द्र ने भी छाया को आत्मा माना जो दैवी तथा सात्विक स्वभाव वाला है। कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि कोई बलवान पाप इनका प्रतिबन्धक है जो इनकी बुद्धि को आगे बढ़ने नहीं देता। जैसे कमल का फूल अन्धेरे में बन्द हो जाता है, जब सूरज निकलता है तब फिर खिल जाता है। उसी प्रकार इनका हृदय रूपी कमल अविद्यारूपी अन्धकार से मुँद गया है। इनकी बड़ी हानि हुई है क्योंकि इन्होंने उलटा निश्चय किया है। जो कोई इनका उपदेश सुनेगा, उसकी भी हानि होगी। इससे सब संसार में बड़ा अनर्थ फैलेगा। फिर ब्रह्मा ने विचार किया कि कभी तो इनकी अविद्यारूपी रात्रि का अभाव होगा और ज्ञानरूपी सूरज को पाकर कभी-न-कभी तो ये जागेंगे ही। अब जाने दो, इनके साथ कौन माथा मारे। इस समय इन जड़-बुद्धियों को जाने दो।

ऐसा मन में विचार करके ब्रह्मा ने कहा कि हे इन्द्र-विरोचन! अब तुम अपने-अपने आश्रम में जाओ। तीन दृष्टान्तों द्वारा जो हमने चक्षु में आत्मा कहा है सोई अजर, अमर, अभय, अक्रिय, सत् कामा है। इस वाक्य के अर्थ का जाकर तुम दोनों मनन करो।

शिष्य—हे प्रभो! ब्रह्मा ने उन दोनों से यह क्यों नहीं कहा कि छाया, स्थूल शरीर दोनों जड़ हैं। तुमने उलटा निश्चय किया है।

गुरु—हे शिष्य! जीवों को स्वयं निश्चय किये बिना सन्तोष नहीं होता और न किसी की कृपा ही सहायता करती है। ब्रह्मा ने समझा कि जो इनसे बार-बार कहेंगे तो यह त्रिलोकी के राजा हैं, अहंकार के कारण कहीं सामना न कर बैठें। हे शिष्य! लोग कहते हैं कि हम ईश्वर की कृपा से मोक्ष हो जायेंगे, कोई कहते हैं कि मन्त्र, जन्त्र, तीर्थ, यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करके संसार-बन्धनों से छूट जायेंगे। यह इन जीवों की मिथ्या कल्पना है। सिवाय आत्म-विचार के और किसी साधन से संसार-बन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता। देखो, ब्रह्मा साक्षात् वेद की मूर्ति था और इन्द्र-विरोचन देवता और दैत्यों में श्रेष्ठ थे, जिनको ब्रह्मा ने दृष्टान्त-युक्ति सहित आत्मा का उपदेश किया, तो भी उपदेश उलटा पड़ा। अतः अपने निष्काम पुण्यों की सहायता और आत्म-विचार बिना पुरुषों को कदापि शान्ति नहीं होती।

हे शिष्य ! जब ब्रह्मा ने सभा के बीच में यह कहा कि तुम दोनों अपने-अपने घर जाओ, आत्मा को जान चुके हो,—उस काल में दोनों भाई साथ-साथ प्रसन्न होकर नमस्कार करके चले। अपने-अपने मन में आनन्द के मारे फूले न समाते थे कि हमने तो सत् आत्मा को ब्रह्मा की कृपा से जान लिया है। ब्रह्मा ने स्वयं अपने मुख से हमको आज्ञा दी है कि तुम आत्मा को जान चुके हो। जब वह ब्रह्मलोक से बहुत दूर चले गये तब ब्रह्मा ने विचार किया कि इनका वृत्तान्त सभा में कह देना चाहिये क्योंकि जब यह बात सभा में प्रकट होगी, तब कोई-न-कोई इनसे भी जाकर कहेगा और फिर दोनों जिज्ञासा करके मेरे पास आवेंगे। जिस प्रकार दोनों का भला हो, वैसा ही करना चाहिये।

इस प्रकार दया करके ब्रह्मा ने अपनी सभा में स्थित देवता और ऋषियों से कहा कि हे उपस्थित जनो ! यह इन्द्र और विरोचन जो आत्म-जिज्ञासा करके हमारे पास आये थे, सो दोनों जड़, मूर्ख, बुद्धि से शून्य थे। हमने तो उनको अनेक युक्तियों सहित आत्मा का बोध कराया, परन्तु बुद्धि में न बैठा। उन्होंने जो हमारे यहाँ बत्तीस वर्ष भिक्षा से शरीर का निर्वाह किया तथा ब्रह्मचर्य पाला, सो सब-का-सब वृथा गया क्योंकि दोनों आत्मा के धोखे में अनात्मा को आत्मा निश्चय कर गये हैं। बताओ, अब हम क्या करें ? इसमें मेरा क्या अपराध है ? जैसे कोई पुरुष मोतियों के लिए समुद्र में जावे परन्तु भाग्यहीन होने से फूटी कौड़ी भी हाथ न लगे, उसी प्रकार यह दोनों राजा ब्रह्म-रूपी समुद्र में आकर भी खाली-के-खाली गए हैं। ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि वह पुण्यों से रहित थे। हे सभा के श्रोताओ ! एक तो छाया को ही आत्मा निश्चय करके फूटी कौड़ी ले गया है।

एक समय देवता, दैत्य तथा मनुष्य शिष्य रीति के अनुसार ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये मेरे पास आये थे। मैंने तीनों को एक 'द'कार अक्षर का उपदेश किया। तीनों ने विचार करके अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ को समझा। देवताओं ने यह निश्चय किया कि इन्द्रियों के दमन से मोक्ष होगा, क्योंकि हम देवता लोग भोगी-विलासी हैं। दैत्यों ने समझा कि हम प्राणियों को मारते हैं, अतः दया से मोक्ष मिलती है और मनुष्यों ने समझा कि दान करने से मोक्ष होती है, जोड़ना नहीं। मेरे एक 'द'कार अक्षर के उपदेश के ही उन्हें तीन प्रकार के अर्थ समझ पड़े। उसी प्रकार इन्हें भी मैंने चक्षु द्वारा अनुभवी आत्मा का उपदेश किया था। वह इनको दो प्रकार का प्रतीत हुआ। इन्द्र की बुद्धि आगे न बढ़ी और दैत्यराज ने थोड़ा बढ़ के शरीर को आत्मा निश्चय किया। इसी कारण उसका सम्प्रदाय बड़ा होगा। जितने भी शरीरात्मवादी हैं, वे सब दैत्य सम्प्रदाय में हैं और देवराज इन्द्र की बुद्धि थोड़ी होने से उसके सम्प्रदाय वाले थोड़े होंगे। यह बात हमने तुमसे उनके पीछे इस वास्ते कही है कि दोनों अपने-अपने शिष्यों को निश्चय ही उलटा उपदेश करेंगे और मुझको दोषी ठहरायेंगे। सो हे सदो ! मैं दोषी नहीं हूँ। दूसरी बात यह भी है कि जो कोई उनसे कहेगा कि ब्रह्मा तो ऐसा कहते थे, वे फिर जिज्ञासा करके मेरे पास आवेंगे और पशु की नाईं जो मूर्खता है उससे मुक्त हो जायेंगे।

गुरु—हे शिष्य ! वे दोनों राजा बहुत दूर तक साथ गये। फिर दोनों परस्पर में नमस्कार करके अपने-अपने स्थान को गये। दैत्यराज विरोचन पाताल को गया और दैत्य-सभा में राजसिंहासन पर बैठ कर बोला कि हे भाइयो ! हम आत्मज्ञान सीखने के लिए पिता प्रजापति के पास गए थे। सो मैंने उन की कृपा से ठीक-ठीक जाना है। उस आत्मा का ज्ञान अब मैं तुमको उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो। प्रथम तो उस आत्मा की उपासना (अर्थात् जिज्ञासा तथा श्रद्धा) करनी चाहिये।

दैत्य—हे प्रभो! आत्मा क्या वस्तु है जिसकी उपासना करके हम उसको प्राप्त होवें। कृपा करके कहो।

विरोचन—हे सभासदो! जो यह प्रसिद्ध शरीर है, यही सब की आत्मा है। धर्म, अधर्म, लोक, परलोक, भोग, स्त्री, धन, पुत्र, पशु आदि सब-के-सब इस शरीर रूपी आत्मा के लिए ही हैं। जब शरीर है तब सब कुछ है और यदि शरीर रूपी आत्मा नहीं, तो लोक-परलोक आदि सब के सब पदार्थ वृथा हैं। शरीर का अभाव होते ही सब का अभाव हो जाता है, इस कारण से सब की आत्मा शरीर है। तुम लोग यह शंका न करना कि यह शरीर तो मर जाता है, आप इसको आत्मा कैसे कहते हो? हे भाइयो! लोग जिसको मरना कहते हैं, उस समय भी यह शरीर मरता नहीं है। विवेकहीन मूर्खों को नाश हुआ प्रतीत होता है। उस काल में यह शरीर आत्मा मूर्छित हो जाता है। जब यह शरीर आत्मा मूर्छा में आवे उस काल में इसको अच्छे प्रकार से स्नान, शृङ्गार आदि कराके पृथ्वी में सुन्दर गड्ढा खोदकर दाब देना चाहिये, ताकि कोई जीव जन्तु खराब न करे। उस गड्ढे के ऊपर मन्दिर या चरण पादुका आदि बनवा देना चाहिये और सदा दीपक, फूल, मिठाई, गाना-बजाना आदि करते रहना चाहिये। अन्तकाल में यह आत्मा फिर जागेगा। इस कारण से इस शरीर आत्मा की आराधना किया करो।

साकार शरीर रूपी आत्मा से दूसरा कोई आत्मा नहीं है। जो शरीर से भिन्न आत्मा-आत्मा चिल्लाते हैं सो सब भ्रान्त, मूर्ख, जड़-बुद्धि हैं। हमको पिता ब्रह्मा ने यही उपदेश दिया है। मुझे ब्रह्मा जी ने अच्छे-अच्छे वस्त्र और भूषण पहनाये और मुख देखने वाले दर्पण में मुझे दिखलाया ताकि मैं अपना आत्मा देखूं और उसे देख-देखकर प्रसन्न होऊँ। हे भाइयो! तुम भी इस शरीर रूपी आत्मा की भोजन, वस्त्र, माला, चन्दन, अञ्जन तथा मंजन आदि से पूजा करो। नख तथा बाल कटाकर साबुन से साफ सुथरा करके शरीर आत्मा को शुद्ध करो। अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन कर दर्पण में अपने शरीर आत्मा का जरा सौंदर्य तो देखो। अरे, यह हर्ष और सजावट ही परमानन्द है और कोई परमानन्द नहीं है।

गुरु—हे शिष्य! वर्तमान काल में पश्चिमी शिक्षा के कारण प्रायः प्राणी दर्पण में बार-बार अपना मुख देखकर बड़े प्रसन्न होते हैं। ऐसे प्राणी विरोचन सम्प्रदाय के ही हैं। इनकी संगति नहीं करनी चाहिये।

अब इन्द्र का वृत्तान्त सुनो। विरोचन को नमस्कार करके जब इन्द्र स्वर्ग को चला, तब अकेले होकर उसने रास्ते में विचार किया कि मैंने छाया को आत्मा माना है, परन्तु यह तो आत्मा नहीं प्रतीत होता। इसमें तो अनेक दोष दिखाई देते हैं। आत्मा को तो अक्रिय, निर्विकार, अमर, परब्रह्म कहा है और यह छाया क्रिया वाली, नाशरूप, विकारी, परिच्छिन्न है। जब सूर्य आदि शरीर के निकट से हट जाते हैं, उस काल में इस छाया का अभाव हो जाता है तथा छोटी-बड़ी भी हो जाती है। यह छाया जैसे-जैसे शरीर ऊँचा-नीचा होता है, उसी-उसी प्रकार ऊँची-नीची हो जाती है। इस कारण से शरीर के आधीन परतन्त्र है। आत्मा तो स्वतन्त्र है। जिस शरीर की यह छाया है, सो भी दुबला-पतला, मोटा, जन्म-मरण वाला होने से आत्मा नहीं हो सकता है। जैसे पुराना कपड़ा उतारकर नया ग्रहण कर लेते हैं, उसी प्रकार इस शरीर और छाया का अभाव हो जाता है। तब और नये शरीर और छाया दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण से यह दोनों आत्मा नहीं हैं।

बड़ा आश्चर्य है कि ब्रह्मलोक में मुझको यह विचार न हुआ, नहीं तो ब्रह्मा से पूछ लेत तो दीनदयालु हैं। कोई हमारा बड़ा पाप प्रतिबन्धक था, उसने हमको वहाँ पर निर्णय न करने दि इस संशय को दूर करने के लिये ब्रह्मा के पास फिर चलना चाहिए। वह कृपा करके इस सन्देह दूर देंगे। हे शिष्य! यह सोचकर बेचारा इंद्र फिर लकड़ियों को इकट्ठा करके, बोझा बनाकर, सिर पूछने के लिए दुबारा ब्रह्मा जी के पास गया। ब्रह्मा ने इंद्र को देखकर कहा कि हे देवराज इंद्र! आत्मा की पहचान करके ब्रह्मज्ञानी शान्त आत्मा होकर चले गये थे। अब फिर क्यों लौट आये? तुम्हारा दूसरा भाई दैत्यराज विरोचन कहाँ गया?

इन्द्र—हे प्रभो! आपने जो छाया को आत्मा कहा था, उस छाया को अजर, अमर, मानकर दैत्यराज तो पाताल-लोक को चला गया, परन्तु मुझको छाया में बहुत दोष प्रतीत होते तो छाया शरीर के नाश से नष्ट हो जाती है। जैसे वृक्ष के काटने से उसका अभाव हो जाता प्रकार शरीर के अभाव से छाया का भी अभाव हो जाता है। इसमें आत्मा का लक्षण नहीं घटता।

इन्द्र ने जब ऐसा कहा तो ब्रह्मा बोले—हे इन्द्र, शाबाश! मानते हैं। तुम तो वीर हो। तुमने बहुत अच्छा किया कि फिर हमारे पास लौट आये। हम भी चाहते थे कि तुम फिर हमारे आत्मज्ञान का उपदेश लेने आओ।

हे इन्द्र! जो कुछ तुमने कहा है, हमने पहले ही जान लिया था। अब तुम्हारे उदय हुए हैं। क्यों न हो, तुम सात्विक देवता हो। वह मूर्ख दैत्यराज विरोचन शरीर को ही आत्मा करके चला गया, क्योंकि राजसी अहंकारी है। उसके पाप उदय हो रहे थे, जो उससे उलटा निश्चय कर ले गये। हे इन्द्र! तुम्हारा प्रतिबन्धक पाप निवृत्त हुआ है, अतः मैं तुमको फिर इस आत्मा के में कुछ बताऊँगा। परन्तु एक शर्त है, मेरे पास तुम फिर बत्तीस वर्ष और रहो और ब्रह्मचर्य-व्रत का करो, फिर समझ में आ जायेगा।

शिष्य—हे गुरु! देवता और दैत्य दोनों को ब्रह्मा ने समान ही उपदेश किया था। इन्द्र सशङ्कित होकर लौट आया और विरोचन क्यों न लौटा? इसका क्या कारण है?

गुरु—हे शिष्य! दैत्य अपने स्वभाव से ही शरीरों का ख्याल अधिक रखते हैं। वे शरीर को आगे करके ही कोई कार्य आरम्भ करते हैं और पारलौकिक लाभों की तरफ से प्रायः रहते हैं। स्वभावतः ये असुरों के चिह्न हैं। वे आत्मा को क्या जानें? इसी कारण विरोचन नहीं। हे शिष्य! जैसे सूर्य सबको एक समान ही प्रकाशित करता है, परन्तु उल्लू को दिन में भी रात्रि होती है और मनुष्यों को दिन प्रतीत होता है। उसी प्रकार इन्द्र और विरोचन दोनों को समान ही उपदेश किया था, परन्तु उनको दो प्रकार का भान हुआ। ब्रह्मा का उपदेश सूर्य की तरह समान ही था, परन्तु दैत्यराज ने आसुरी स्वभाववश अपने मन में विचार किया कि मृतक ही स्नान, शृङ्गार आदि किया जाता है। उसे वस्त्र, चन्दन, माला आदि पहनाते हैं और शरीर की रक्षा मुख्य है क्योंकि नाना प्रकार के भोजन, वस्त्र, सवारी आदि से सब लोग इसकी रक्षा करने में लगे रहते हैं। परलोक में भी इस शरीर के भोगों के लिए ही नित्य नैमित्तिक कर्म, प्रायश्चित्त, उपासना आदि करते हैं। इस कारण से शरीर ही आत्मा है। विरोचन ने इस प्रकार

मन-ही-मन में कहा कि अब ब्रह्मा जी के पास जाने का क्या प्रयोजन है ? जिस आत्मा के जानने की हमको जिज्ञासा थी वह जान लिया है। चलो, अपने राज में राज-काज सम्भालेंगे। ऐसा सोचकर वह पाताल को चला गया।

हे शिष्य ! इन्द्र का स्वभाव सात्विक था। उसने अपने सात्विक स्वभाव से विचारा कि छाया तो आत्मा हो नहीं सकती क्योंकि आधार (अर्थात् शरीर) के अभाव से इस आधेय छाया का भी अभाव हो जाता है और आत्मा तो एक रस किसी के आधीन नहीं है। इस प्रकार संशयवान होकर फिर पितामह के पास गया। पितामह के आदेशानुसार इन्द्र ने फिर बत्तीस वर्ष रहकर ब्रह्मचर्य का पालन किया। पितामह ने उसे शुद्ध चित्त और जिज्ञासु पाकर कहा—हे इन्द्र ! हमने तो यह दृष्टान्त कहा था, कुछ छाया को आत्मा नहीं कहा था। हमारा अभिप्राय यह था कि चक्षु द्वारा जो चैतन्य का आभास जाग्रत अवस्था में जाग्रत के पदार्थों का अनुभव करता है; वही आत्मा है परन्तु किसी प्रतिबन्धक पाप के कारण से तुमको यह अर्थ ज्ञात न हुआ।

इन्द्र—हे प्रभो ! अब आप कृपा करके उस आत्मा का फिर उपदेश करिये।

ब्रह्मा—हे इन्द्र ! तुम पहिले के समान इन्द्रिय-संयम से रहो। अभी तुम्हारा मन अशुद्ध-सा मालूम होता है। यदि हमने उपदेश कर भी दिया तो भी तुम्हारे चित्त में प्रवेश नहीं करेगा, पूर्व की तरह फिर वृथा जायेगा।

इन्द्र—हे प्रभो ! अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा है वैसा ही करूँगा।

इन्द्र बत्तीस वर्ष पर्यन्त यथालाभ सन्तोष करके भिक्षा-अन्न से शरीर-यात्रा करता रहा। बत्तीस वर्ष के पश्चात् नमस्कार करके दरबार में खड़े होकर कहा कि हे प्रभो ! आपके कथनानुसार बत्तीस वर्ष बीत गये। कृपा करके आत्मज्ञान का उपदेश करिये।

प्रजापति – हे इन्द्र ! तुम आ गये। सावधान होकर सुनो। जो स्वप्नावस्था में सबका अनुभव करता है और किसी के साथ लिप्त नहीं होता, जो मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि उपाधि से मिलकर सर्व दृश्य का अनुभव करता है, सोई आत्मा है। इस अनुभवी से इतर दूसरा और कोई आत्मा नहीं है। यही जाग्रत अवस्था का अनुभव करता है, सोई अभय, अमर, अक्रिय, अविनाशी आत्मा है। यही सत्कामा सत्धर्मा है और क्षुधा-पिपासा, जन्म-मरण, शोक तथा मोह से रहित है।

इन्द्र—हे प्रभो ! आपने यथार्थ कहा। जो सबका द्रष्टा है वही आत्मा है। पूर्व मैंने भ्रांति से शरीर की छाया को आत्मा मान लिया था। इस जाग्रत-स्वप्न के द्रष्टा आत्मा को कोई नहीं जानता और यह सबको जानता है। इस कारण से यही आत्मा है, यही अभय, अक्रिय, अमर, अमृत है। इतना कह-कर इन्द्र नमस्कार करके देवलोक को चल पड़ा। रास्ते में विचार करके उसे फिर संशय उत्पन्न हुआ कि मैंने जिसको स्वप्न में अभय, अक्रिय, आत्मा माना है, वह तो आत्मा नहीं है क्योंकि उसमें आत्मा का लक्षण नहीं घटता। वह तो मृत्यु के भय से भीत प्रतीत होता है। इस कारण से स्वप्न का आत्मा भी अभय न हुआ। प्रजापति ने कैसे कह दिया कि जाग्रत-स्वप्न के दोषों से निर्लेप रहता है। बड़ा कष्ट है कि यह विचार मुझको ब्रह्मलोक में न हुआ। अब इस संशय को निवृत्त करने के लिए फिर ब्रह्मा जी के पास चलना चाहिए। ऐसा विचार करके इन्द्र फिर लकड़ियों का बोझा उठाकर ब्रह्मा जी के पास चल दिया

ब्रह्मा के दरबार में जाकर लकड़ियों का बोझा रख दिया। ब्रह्मा ने पूछा कि हे इन्द्र ! तुम तो आ
पहचान कर शांति पाकर चले गये थे, फिर क्यों लौट आये ?

इन्द्र--हे प्रभो ! आपने स्वप्न का दृष्टा अभय, अक्रिय, अमर आत्मा कहा था। उस
मुझको दोष प्रतीत होते हैं क्योंकि स्वप्नावस्था में इस दृष्टा आत्मा में तो भय, पिटना, रोना,
इत्यादि दुःख प्रतीत होते हैं और आत्मा अभय, अक्रिय, अमर है। हे प्रभो ! फिर कृपा करके
उपदेश करिये।

ब्रह्मा—हे इन्द्र ! हमने जाग्रत और स्वप्न का जो दृष्टा कहा है वही अभय, अक्रिय, अमर,
निर्विकार है। तुमको उसमें जो दोष आरोपित प्रतीत होते हैं वे उसके अपने गुण नहीं हैं वरन्
हैं अर्थात् ये अवस्था अनात्मा की हैं। हे इन्द्र ! जब तुम हमारी दृष्टि के आश्रय होकर देखोगे
में स्वप्न का और जाग्रत का दृष्टा आत्मा निर्विकार ही प्रतीत होवेगा। अभी तुम्हारी बुद्धि मलिन
कारण से हम तुमको उपदेश भी नहीं करते। तुम्हारी बुद्धि विपर्यय हो रही है। अपनी बुद्धि
करने के लिए फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत धारण करो। तब हमारे उपदेश करने पर तुम्हारी समझ
जायेगा।

इन्द्र—हे प्रभो ! बहुत अच्छा जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा ही करूँगा। आप जो कुछ
सो सब हमारे हित के कारण कहते हो, अहित के लिये नहीं। हे महाराज ! कुछ ऐसा जान पड़
बच्चों की तरह थोड़ा-थोड़ा पाठ पढ़ाते हो। ठीक ही है, जैसे अबोध बच्चों को अध्यापक थोड़ा-थोड़ा
देता है। अधिक दे तो बच्चे याद नहीं कर सकते। इसी तरह मुझको भी आप थोड़ा-थोड़ा ज्ञान

इन्द्र ने ब्रह्मलोक में ही रहकर फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत रक्खा। पश्चात् सभा में आ
को नमस्कार करके कहा कि हे प्रभो ! पूर्व जो आपने निर्विकार, शान्त, अभय, अक्रिय, आत्मा
उसका आप कृपा करके उपदेश करिये।

प्रजापति—हे इन्द्र ! पूर्व जो हमने जाग्रत-स्वप्न का दृष्टा कहा था, वही जाग्रत-स्वप्न के
सुषुप्ति का दृष्टा है और सोई जन्म-मरण, सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासा आदि षट् ऊर्मी और विकारों
है। वही सत् कामा और सत् धर्मा है।

गुरु—हे शिष्य ! अब इन्द्र को ब्रह्मा ने घोर निद्रा दिखाई और उसको शिक्षा दी। घोर
मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी उससे उसी तरह उतर गये जिस तरह स्वप्न में जाग्रत के शरीर और
उतर गई थीं। वहाँ वह न कुछ सोचता है क्योंकि सोचना मन का धर्म है। न किसी को जानता है
जानना बुद्धि का धर्म है। न किसी को याद ही करता है क्योंकि यह चित्त का धर्म है।

इन्द्र—हे प्रभो ! अब की बार मैंने आपकी कृपा से निर्विकार, अक्रिय, शांत आत्मा को
क्योंकि क्रिया, भय आदि विकार जाग्रत और स्वप्न में हैं। सुषुप्ति में आत्मा निर्विकार है। इस
यही आत्मा है। अब मैं आपको नमस्कार करता हूं। यदि आज्ञा हो तो मैं जाऊँ।

प्रजापति—हे इन्द्र ! तुम्हें संतोष हो गया हो तो चले जाओ।

मार्ग में इन्द्र ब्रह्मा की शिक्षा को स्मरण करता और सोचता जाता था। विचार करते
संशय उत्पन्न हुआ कि घोर निद्रा में निस्संदेह वह न तो किसी से मार खाता है, न रोता है

में होता है। तो भी वह न तो अपने आप को जानता है, न दूसरे को जानता है। एक मृतक के समान होने के कारण कुछ भोग नहीं देखता। यह तो ब्रह्मा ने अज्ञान को आत्मा कहा है। उन्होंने यह भी कहा है कि यह आत्मा अभय, अमृत है परन्तु अज्ञान अभय, अमृत नहीं हो सकता क्योंकि जड़ है। अब फिर ब्रह्मा से चलकर पूछूँ। सिवाय ब्रह्मा के इस संशय का छेदन करने वाला और कोई नहीं है। इस प्रकार विचार करके देवराज इन्द्र चौथी बार लकड़ियों का बोझा सिर पर रखकर फिर जिज्ञासा और ब्रह्मचर्य के लिये ब्रह्मा जी के पास पहुंचा।

ब्रह्मा—वाह रे शेर बहादुर इन्द्र! अच्छे आये, तुम तो अपनी आत्मा में शांति पाकर चले गये थे, अब फिर क्यों लौट आये?

इन्द्र—हे प्रभो! निस्सन्देह निद्रा में आत्मा न तो पिटता पिटाता है, न रोता-चिल्लाता है, केवल आनन्द में होता है। तो भी न तो वह अपने आपको जानता है, न दूसरे को जानता है। एक प्रकार से मुर्दा सा होता है। आपने अज्ञान को तो आत्मा नहीं बतलाया? मुझको यह आत्मा नहीं जान पड़ता क्योंकि अज्ञान स्वरूप से जड़ और पराधीन है। इसमें आत्मा के लक्षण नहीं घटते।

ब्रह्मा—हे इन्द्र! तुमने ठीक सोचा है। फिर तुमको सिखलाता हूं। अब तुम पाँच वर्ष और मेरे पास रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करो क्योंकि अब केवल थोड़ा-सा आवरण तुम्हारे मन में रह गया है। हे इन्द्र! हमने जो सुषुप्ति में तुमको आत्मा का उपदेश किया था, सो भी किसी प्रतिबंधक पाप के कारण से तुमने जड़ मृतकवत समझा। जब तुम पाँच वर्ष हमारे पास रहोगे तब तुर्या आत्मा का उपदेश करेंगे।

इन्द्र—हे प्रभो! जैसी आपकी आज्ञा है वैसा ही करूँगा।

इन्द्र पाँच वर्ष तक और ब्रह्मलोक में विधिपूर्वक तप करता रहा।

शिष्य—हे गुरु! ब्रह्मा ने इन्द्र को बारम्बार बच्चों की तरह चक्कर क्यों लगवाये? साक्षात् वेदमूर्ति होकर भी एक बार ही पूर्णरूप से उपदेश क्यों नहीं कर दिया?

गुरु—हे शिष्य! सर्वज्ञ ब्रह्मा ने अपने हृदय में यह पहले ही विचार कर लिया था कि देवराजेन्द्र को ऐसा पदार्थ देना चाहिये जो सबसे उत्तम और दुर्लभ हो। शरीर, इन्द्रियाँ, मन तो मैंने सब प्राणियों को दिये हैं। कोई-कोई तो मनुष्य शरीर को श्रेष्ठ कहते हैं, परन्तु वही मनुष्य-शरीर श्रेष्ठ है जिसमें परमानंद आत्मा का बोध हो और वही ब्राह्मण है। अथवा परमानंद बोध की प्राप्ति का साधन जिस शरीर में हो वही मनुष्य-शरीरों में उत्तम और ब्राह्मण है। जीव सब शरीरों में समान है। इसी कारण से सब जीवों को दुःख और भोग भी समान दिये गये हैं, अधिक न्यून नहीं। ब्रह्मलोक वासियों को ब्रह्मलोक के भोग जैसा आनन्द देते हैं, पशुलोक में पशु को भी उसके भोग वैसा ही आनंद देते हैं। इस कारण से भोग भी समान हैं। ब्रह्मलोकवासी मृतलोक के भोगों की और मृतलोकवासी ब्रह्मलोक के भोगों की कामना करते हैं। जैसे मनुष्य को हलवा, मेवा, मिठाई अच्छे लगते हैं, उसी प्रकार पशु को नरम-नरम घास आदि प्रिय लगते हैं। मनुष्य को जो सुख अपनी स्त्री-बच्चों में होता है, वही आनंद इन्द्र को अपनी इन्द्राणी के साथ और कूकर-शूकर को अपने स्त्री-बच्चों के साथ आता है। इस प्रकार हर विषय सब जीवों के एक समान हैं। ऐसा विचार करके ब्रह्मदेव ने इन्द्र को सब से उत्तम पदार्थ देने की इच्छा की थी। त्रिलोकी में सब से उत्तम पदार्थ आत्मज्ञान है। उसके देने के लिये ब्रह्मा ने इन्द्र को बारम्बार तप कराकर शुद्ध किया

और तब सत् का उपदेश किया। जब पाँच वर्ष पूरे हुये तब इन्द्र ब्रह्मा के पास जाकर नमस्कार इस प्रकार विनम्र वचन बोला—

इन्द्र—हे प्रभो! पूर्व आपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीन शरीरों में आत्मा कहा था। सो ये शरीर मुझे असत् प्रतीत होते हैं। भला मिथ्या शरीरों में मैं आत्मा को कैसा मानूँ क्योंकि श्रुति ने आत्मा को तीनों शरीरों से भिन्न और प्रत्यक्ष कहा है। वह किसी का छिपाया हुआ नहीं छिप... हे प्रभो! अब कृपा करके जो सत्-चित्-आनन्द, अक्रिय, अभय, क्षुधा-पिपासा, शोक-मोह, जन्म... से रहित आत्मा है, उसका उपदेश करिये।

ब्रह्मा—हे इन्द्र! हमने तो तुमको स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरों से भिन्न अनुभवी कहा था—परन्तु तुम हमारे वाक्य का यथार्थ अर्थ न समझ कर बार-बार पूछने को आते रहे हो। पहले ही धीरज धर कर विचार करते तो बार-बार धक्के क्यों खाने पड़ते? अब तुम्हारी बुद्धि शुद्ध आत्म-ज्ञान की पात्र हुई है। हम पात्र बिना किसी को भी उपदेश नहीं करते हैं। हे इन्द्र! जिसको मरण परायण कहते हो सो अनुभवी आत्मा तो मरता नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों जड़, व्यभिचारी, परिच्छिन्न, मरणरूप हैं। तीनों अवस्था और तीनों शरीरों का साक्षी द्रष्टा अभय, अक्रिय, अमृत, कूटस्थ है और षट-धर्मों से रहित है। यह शरीर तो सदा काल के मुख में होते, वर्तते और लीन हो जाते हैं। अज्ञानी लोगों की दृष्टि में जो जीवों का मरना प्रतीत होता है ऐसा है जैसे कि अन्धे को जब नहीं दीखता तब उसके लिए तो सूर्य का अभाव-सा ही है। उसी प्रकार मूर्ख प्राणियों को जब कोई पदार्थ नहीं दिखाई देता तब उसको यह मरा जानते हैं। जब यह नाना दृष्ट आते हैं तब उसको यह जीना समझते हैं।

हे इन्द्र! सुषुप्ति दशा में नाना पदार्थों का अभान और अभाव है, इस कारण से तुमने भी नाशरूप कहा है। परन्तु आत्मा तो सुषुप्ति का द्रष्टा है, वह मरता नहीं क्योंकि अभय, अक्रिय और कार है। उस आत्मा ने यह जाग्रत स्वप्न रूपी दो स्थान लीला-भोग करने के लिए रचे हैं। तुमने व्यतिरेक के नियम से विचार नहीं किया। निद्रा में जो आत्मानन्द स्वरूप था तब उसका अभाव उस समय वह अपने मुख्य आनन्द को प्राप्त था। तुम कहते भी हो कि मैं ऐसे आराम से सोया कुछ नहीं जाना। परन्तु उस समय अपने आनन्द और अहंकार को निश्चय नहीं करता, क्योंकि निश्चय या भान करना मन का काम है। आत्मा तो उस समय मन से निकलकर अपने परमानन्द में स्थित लाभ करता है। तुम उस आत्मा के आनन्द का आभास पाते हुए भी पूर्व अभ्यास के कारण निश्चय नहीं कर पाते। कहते हो कि वहाँ हमने कुछ नहीं देखा, मृतकवत् सोये थे, कुछ भी भोग नहीं। हे इन्द्र! वहाँ वस्तुतः अपना मुख्य आनन्द था।

तुम्हारा तो वह हिसाब है कि कोई मनुष्य चश्मे लगाने का अभ्यासी था। बिना चश्मे के पढ़ नहीं सकता था और कहता था कि मुझे चश्मे बिना दिखाई नहीं देता। यद्यपि वास्तव में दृष्टि दोष नहीं था, तो भी चश्मे के द्वारा देखने का अभ्यासी होने से चश्मे के द्वारा जो कुछ वह देखता निश्चय करता था। हे इन्द्र! विचार करो कि देखने का काम आँख का है, चश्मे का नहीं, क्योंकि अन्धे को चश्मा भी क्या करेगा? अभ्यास के कारण चश्मे के न होने से कहता है कि मैं बिना चश्मे के अन्धा सा हूँ। इसी तरह मनुष्य भी प्रत्येक दृश्य की पहचान का निश्चय मन से करता है और यहाँ

अभ्यास है। किन्तु जब मन नहीं होता तो यद्यपि देखता या सुनता है, पर उसका निश्चय नहीं करता वरन् कहता है कि न मैंने देखा, न मैंने सुना। तुम भी मन के द्वारा ही निश्चय करने के अभ्यासी हो गए हो। इसलिये सुषुप्ति में अपने आप को जानते, पहचानते और परमानन्द को पाते हुए भी कहते हो कि यहाँ तो कुछ भी भोग नहीं।

यद्यपि आँखें भी जो देखती हैं तो इसी आत्मा के कारण, कान भी सुनते हैं तो इसी आत्मा के कारण और इसी आत्मा के कारण बुद्धि भी निश्चय करती है। यह आत्मा जो अपने को स्वयं देखता, स्वयं सुनता, स्वयं चखता और स्वयं निश्चय करता है—अन्धा, बहरा, भूठा कदापि नहीं हो सकता। हे इन्द्र! जब यह आत्मा सबको छोड़कर निद्रा में अकेला होता है, फिर न तो आँख देखती है, न कान सुनते हैं, न बुद्धि निश्चय करती है। इससे यह नहीं निश्चय कर लेना चाहिये कि उस समय आत्मा भी नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं निश्चय करता वरन् वह तो दृष्टि स्वरूप, श्रवण स्वरूप तथा निश्चय स्वरूप है जिस प्रकार कि अग्नि उष्ण स्वरूप है। निदान यही आत्मा सत् है क्योंकि अस्तित्व स्वरूप है। यही आत्मा चित् है क्योंकि दृष्टिस्वरूप है, यही आत्मा आनन्द है क्योंकि आनन्द स्वरूप है। इसी कारण से वेदान्त में इसकी उपमा सच्चिदानन्द है।

जिस तरह सूर्य की धूप रक्तस्वरूप, श्वेतस्वरूप, पीतस्वरूप है किन्तु उसका प्रमाण त्रिकोण शीशे के द्वारा होता है। उसी प्रकार इस आत्मा का भी प्रमाण इस शरीर और बुद्धि में होता है क्योंकि जिस तरह त्रिकोण शीशे में धूप, आती हुई अपने स्वरूप के भिन्न-भिन्न रङ्ग दिखाती है उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी आँख में देखता, कान में सुनता, जिह्वा में चखता, मन में मनन करता, समझता, सोचता, निश्चय करता सिद्ध होता है। हे इन्द्र! संक्षेप में तुमको बताए देते हैं। तुम अन्वय-व्यतिरेक के नियम से अन्धकार और बेखबरी के दोष को भी उसी तरह अनात्म धर्म निश्चय करो जैसे जाग्रत में कानापन, अन्धापन, आदिक दूसरे के दोष अपने में ख्याल किये हैं, या स्वप्न में डरना, मरना आदि अनात्मधर्म निश्चय किये जाते हैं। सर्व प्रकार अनात्म सुषुप्ति दोष से ही तुमको भान होता है कि यहाँ यह आत्मा न तो अपने आपको जानता है और न दूसरे को वरन् मृतक-सा होता है। हे इन्द्र! तुमने अपने आत्मा में अन्य (अर्थात् अनात्म जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के दोष) देखे हैं इसलिये तुमको अपना स्वरूप विस्मरण हो गया है। जब तुम विवेक करोगे तो तुम न जाग्रत पुरुष, न स्वप्नपुरुष, न सुषुप्ति पुरुष हो वरन् चतुर्थ पुरुष हो। उस आत्मा ने जाग्रत, स्वप्नरूपी दो स्थान लीला-भोग करने के लिये रचे हैं। जिस परमात्मा ने एक से बहुत होने की इच्छा करके नाना प्रकार के ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करके उसमें प्रवेश किया, वही तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं का द्रष्टा है।

इन्द्र—हे प्रभो! सच्चिदानन्द परमात्मा ने असत्, जड़, दुःखरूप शरीरों में क्यों प्रवेश किया?

ब्रह्मा—हे इन्द्र! लीला देखने के लिए प्रवेश किया। एक, अद्वैत आनन्द स्वरूप परमात्मा में माया अनिर्वचनीय कल्पित है। उस माया विशिष्ट परमात्मा ने सङ्कल्प के द्वारा हिरण्यगर्भ का रूप धारण किया और नाम रूप के प्रकट करने की इच्छा हुई तब अनन्त आकृतियों में मनुष्य शरीर लीला देखने का उत्तम स्थान बनाया। इसी स्थान में जब परमात्मा लीला देख चुकता है अर्थात् लीला देखते-देखते मन भर जाता है तब स्वस्वरूप परमानंद को प्राप्त होता है। इसी कारण मनुष्य शरीर सब शरीरों में उत्तम है।

इन्द्र—हे प्रभो ! लीला भोग तो अज्ञान बिना नहीं हो सकता। परमात्मा ने जब अंगी किया था, तब क्या वह अज्ञानी था कि प्रवेश करके पीछे अज्ञानी हुआ।

ब्रह्मा—हे इन्द्र ! वही शुद्ध परमात्मा शवल द्वारा हिरण्यगर्भ होकर स्वयं को जानने लगा हूँ"। फिर उसने इच्छा की कि नाम रूप को प्रगट करूँ और उनकी लीला देखूँ। ऐसा सङ्कल्प करके तो चार वेद प्रकट किये और उनके द्वारा अपने वास्तविक विशेप रूप को जाना। फिर विचार किया मैंने यह विशेप रूप लीला देखने के लिए धारण किया है और यह भी मैं जानता हूं कि प्रारब्ध है। भोगे बिना तो निवृत्त होगी नहीं। कुछ काल शरीर में रहना पड़ेगा। फिर विचार किया कि और द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य त्रिपुटी सब मिथ्या है। निर्द्वन्द्व होकर शरीर की लीला देखनी चाहिए।

जैसे जीवन्मुक्त विचार द्वारा सब प्रपञ्च को मृगतृष्णा की तरह मिथ्या जानकर असङ्ग हुआ पूर्वक भोगों को भोगता है। जाग्रत का भोग करके जब स्वप्न में जाता है, तब भी सब ब्रह्माण्ड को करके समदृष्टि और निर्विकार हुआ भोगों को भोगता है। उस जीवन्मुक्त पुरुष के स्वप्न में कितने मोक्ष के उपाय करके मुक्त होते हैं। कोई-कोई उपासक ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक आदिक को जाते हैं। दुराचारी नर्क को प्राप्त होते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त असङ्ग हुआ सबका अनुभव करता है और स्व स्वरूप में मग्न रहता है। उसी प्रकार शवल ईश्वर ने हिरण्यगर्भ द्वारा ब्रह्माण्ड रूपी रचकर उसमें प्रवेश किया। उस हिरण्यगर्भ के स्वप्न में ऋषि, मुनि, देवता आदिक पहले बांधकर पश्चात् सत्-असत् के विवेक द्वारा असत् का त्याग करके सत् को प्राप्त होकर शान्त हुए हैं। इसी प्रकार वेदान्त शास्त्र द्वारा आत्म विचार करके अब भी अनेक जीवन्मुक्त हैं। कोई तो मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करते हैं। कोई-कोई कर्मकाण्ड में लगे हुए हैं। कोई ध्यान आदि करते हैं। परन्तु स्वयं हिरण्यगर्भ तो अपने स्वरूपानन्द में तल्लीन रहता है। उसकी दृष्टि में ये आदिक संसार मृग तृष्णा के जल की तरह भ्रम हुआ प्रतीत होता है। लोगों की दृष्टि से जब सब जीवन्मुक्त हो जायेंगे उस काल में हिरण्यगर्भ भी मुक्त हो जायेगा।

शिष्य—हे प्रभो ! जब हिरण्यगर्भ मुक्त हो जायेगा, उस काल में सब जीव सहज ही मुक्त हो जायेंगे। फिर अधिकारी पुरुष अभी से मुक्ति के लिए क्यों प्रयत्न करें ?

ब्रह्मा—हे इन्द्र ! जिस पुरुष को जन्म-मरण, क्षुधा-पिपासा, सुख तथा दुःख आदि भयानक प्रतीत होते हैं, वह यदि पहले ही मुक्त हो जावें तो अच्छा ही है क्योंकि परमात्मा ने बंध-मोक्ष, जन्म-मरण आदिक का जैसा-जैसा विधान स्थापन किया है कल्पपर्यन्त उसी प्रकार है। जो परमात्मा जन्म-मरण से व्याकुल जीवों के मोक्ष का उपाय न रचता तो दुःखों के सहने से होने से वे सब जड़ उन्मत्त के समान हो जाते। हिरण्यगर्भ जीवन्मुक्त की नाईं आनन्द में तुष्ट है। उसको कुछ भी खबर नहीं कि क्या बन्धन है, क्या मोक्ष है ? इसमें किसी की हानि नहीं है। व्यवहार यथायोग्य होता चला जाता है।

जैसे सीपी में अज्ञान से चाँदी का भ्रम होता है, वह सीपी के ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। सीपी तीनों काल में ज्यों-की-त्यों रहती है। उसी प्रकार आत्मा सीपी की तरह स्थित है। उसमें मय ब्रह्माण्ड चाँदी की तरह कल्पित है। जब अधिष्ठान आत्मा का ठीक-ठीक ज्ञान होता है, तब सब ब्रह्माण्ड निवृत्त हो जाते हैं। एक आत्मदेव ज्यों-का-त्यों शेष रहता है। जिसको ज्ञान होता

लिये ब्रह्माण्ड निवृत्त हो जाता है और जिनको ज्ञान नहीं होता उनका संसार-चक्र बना रहता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे एक रज्जु में दश पुरुषों को सर्प का भ्रम होता है। जिसको रज्जु का ज्ञान हो जाता है, उसके सर्प के भ्रम की निवृत्ति हो जाती है और जिसको रज्जु का ज्ञान नहीं होता उनको सर्पभ्रम बना ही रहता है। इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि आत्मा किसी में कल्पित नहीं है। स्वतः सिद्ध और नित्य अविनाशी, अभय, अक्रिय, अमरपद है।

हे इन्द्र! तू भी उस आत्मा को प्राप्त हो। इस शरीर में ही आत्मा की प्राप्ति होती है! वृथा झूठे विकल्पों में शरीर को तप्त क्यों करता है? शरीर स्थिति का कोई विश्वास नहीं है। जो पुरुष युद्ध में जाता है, उसके सम्बन्धी उसके जीवित लौटने का विश्वास नहीं करते। उसी प्रकार प्राणरूपी बालक है, अहंकार रूपी पिता है और बुद्धि रूपी माता है। दोनों माता-पिता प्राण रूपी बालक की रक्षा करते-रहते हैं और कहते हैं कि इसके रहने से हमारी शोभा है। परन्तु यह प्राणरूपी बालक युद्ध करने के स्वभाव वाला और बड़ा ही चञ्चल है। क्षण-क्षण में बाहर की तरफ लड़ाई करने जाता है। क्या खबर कि गया हुआ आवे अथवा न भी आवे। हे इन्द्र! इस कारण से तुम शरीर का विश्वास छोड़ दो और अपने-अपने आत्मस्वरूप में स्थित होने का पुरुषार्थ करो। ऐसा समय फिर नहीं आता।

हे इन्द्र! जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी है, वही तुर्या ब्रह्म है। इसी को क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख आदि स्पर्श नहीं करते, इसी कारण से यह अभय, अक्रिय, निर्विकार है। यही सब जीवों के मोक्ष का स्थान है। यह सब ब्रह्मविद्या के भेद मैंने तुम से कहे हैं। बिना गुरु के इसका भेद नहीं खुलता। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या, ये ही चार शरीर हैं। जाग्रत का नाम, जो सृष्टि का समष्टित्व है, विराट है और स्वप्न जो लिंग शरीर का समष्टित्व है, उसी का नाम हिरण्यगर्भ है, वही प्रजापति ब्रह्मा है। सुषुप्ति अर्थात् कारण शरीर का जो समष्टित्व है, सो अव्याकृत माया है और तुर्या सब शरीरों का समष्टित्व है, वही चैतन्यरूप आत्मा है। तुर्या साक्षीभूत के जानने को कहते हैं। उसका समष्टित्वरूप चेतन शरीर है। चारों शरीर उसके ही हैं। वह सदा निर्विकार चिन्मात्र है। ये चारों शरीर उस परमतत्व के हैं।

हे इन्द्र! तुमने जाग्रत में छाया, स्वप्न में लिंग और सुषुप्ति में अभाव को आत्मा माना था। सो उपाधियुक्त था अर्थात् विशिष्ट आत्मा था। तुमने निर्विशेष आत्मा को नहीं जाना जो कि तुम्हारे मोक्ष का कारण है। जो पुरुष विशिष्ट आत्मा से स्वयं को भिन्न करके जानते हैं, वही जीवन्मुक्त हैं और वही स्वरूपानन्द में स्थित हैं। इस बोध की दृढ़ता तब होती है जब कि अधिकारी अन्तर्मुख वृत्ति करता है। जैसे प्रातःकाल को सूर्य की किरणें ज्यों-ज्यों प्रकट होती हैं, त्यों-त्यों सूर्यमुखी कमल खिलते हैं, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों मनुष्य अन्तर्मुखी होता है त्यों-त्यों बोध खिलता है। विषयों से वैराग्य और आत्मा के अभ्यास से बुद्धि अन्तर्मुख होकर आत्मपद की प्राप्ति करती है। उस काल में आत्मा एकरस अनुभव होने लग पड़ती है।

जिस बोधवान को अपने स्वरूप का अनुभव हुआ है, उसका संसार अपना संकल्पमात्र प्रतीत होता है और जिसको स्वरूप का प्रमाद है, उसको जगत नाना प्रकार का अनुभव होता है। चित्त के संकल्प-विकल्प करने का नाम ही जगत है और वृत्ति के स्थिर हो जाने का नाम ही ब्रह्मबोध है, और कुछ नहीं। हे इन्द्र! अनुभवरूप कल्पवृक्ष है। जैसा-जैसा उसमें फुरता है वैसा-वैसा अनुभव होने लग पड़ता है। एक संकल्प सिद्ध वस्तु है और एक दृष्ट सिद्ध वस्तु है। जब इन दोनों की दृढ़भावना होती है

तब ये दोनों सिद्ध होती हैं। इन्द्रियों में जो द्रव पदार्थ है, वह दृष्ट सिद्ध वस्तु कहलाती है। जैसी भावना होती है, वही मूर्तिमान होती है और जो अपने मन में आप ही मान बैठे कि मैं तो ब्राह्मण वैश्य तथा शूद्र आदि हूँ अथवा गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी किंवा संन्यासी, वर्ण आश्रम वाला यह संकल्प-सिद्ध वस्तु है। जब तक इन दृष्ट-सिद्ध और संकल्प-सिद्ध दोनों वस्तुओं में अध्यास है तब तक आत्मतत्व की खोज करना व्यर्थ है। इससे आत्मतत्व की भी प्राप्ति नहीं होती। जब ब्रह्म का अभ्यास करके दृढ़ बोध होता है, उस काल में दृष्टसिद्ध और संकल्पसिद्ध दोनों का अभाव हो जाता है और अपनी आत्मा ही प्रत्यक्ष अनुभव होने लग पड़ती है। हे इन्द्र ! स्वरूप के प्रमाद से वर्णाश्रमों का अभिमानी होकर दृष्टसिद्ध और सङ्कल्पसिद्ध इन दोनों वस्तुओं का अभ्यास करके में कर्तव्य और भोगतव्य मानता हुआ वासनायें दृढ़ कर लेता है। उसी के अनुसार लोक-परलोक देखने लग जाता है। अतः जो मनुष्य दृष्य से मिलकर अपने को चैतन्य कहे वह जड़धर्मी है, धर्मी नहीं।

इन्द्र—हे प्रभो ! आपने जो आत्मा का आनन्द कहा था उस आनन्द का ग्रहण त्रिपुटी से है, तो फिर आत्मा निर्विशेष नहीं हुआ। फिर तो विशेष की प्राप्ति का साधन करना व्यर्थ है।

ब्रह्मा—हे इन्द्र ! निर्विशेष आत्मा को त्रिपुटी द्वारा कोई नहीं जान सकता. यह तेरा कहना आना ठीक है। आत्मा स्वयं प्रकाश है, अपने-आपको स्वयं ही जानता है। त्रिपुटी तो जड़ है विषय विशिष्ट आत्मा होता है, निर्विशेष साक्षी उसका विषय नहीं है, इसी कारण से वह अप्रमेय है। पुरुष अपने प्रत्यग् स्वरूप को नहीं जानता वह त्रिपुटी द्वारा विशेष आनन्द को प्राप्त होता है, उसे आनन्द कहते हैं। वह क्षणमात्र दिखाई देकर नष्ट हो जाता है। हे इन्द्र ! तू इस विषय-आनन्द को परमानन्द की प्राप्ति के पहले ही त्याग कर आया है। अब परमानन्द आत्मा में स्थित होने का यत्न कर। आत्मा आनन्द से इतर सब आनन्द तुच्छ हैं।

गुरु—हे शिष्य ! इन्द्र ब्रह्मा के पास यह इच्छा करके आया था कि मैं अपने स्वरूप को जानूँ और सर्व भूतों को भी जानूँ। क्षुधा-पिपासा, जन्म-मरण आदि से भी रहित हो जाऊँ, सब भोग भी पाऊँ और तमाम लोक भी मुझको प्राप्त हों। परन्तु ब्रह्मा का यह अभिप्राय है कि इन्द्र आप प्रत्यग् को प्राप्त होवे। यह इन्द्र सब कामना, सब लोक और सब पदार्थों को अपनी आत्मा से भिन्न देखता है। अब जिस प्रकार इसकी भेद-दृष्टि दूर होवे वही उपाय करना चाहिये। जैसे घट का स्वरूप मिट्टी है। मिट्टी से घड़ा भिन्न नहीं होता। उसी प्रकार सब कामना, सब पदार्थ और सब लोक प्रत्यग् से भिन्न नहीं हैं। जैसे यह पुरुष स्वप्न में आप सिंह बनता है और आप ही मनुष्य बनकर मारे जाग उठता है। तब समझता है कि मेरे सिवाय वहाँ कुछ न था। उसी प्रकार जीवन्मुक्त ज्ञानी जानता है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त सब पदार्थ और व्यवहार मेरे संकल्प के आश्रय सिद्ध हैं, सच्चिदानन्द आत्मा से इतर कुछ नहीं है।

जैसे स्वप्न-दृष्टा पुरुष को स्वप्न के दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि स्पर्श नहीं करते क्योंकि सब कुछ वह स्वयं ही है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त ज्ञानवान को सुख-दुःख, जन्म-मरण, पाप-पुण्य, आदि आदि स्पर्श नहीं करते क्योंकि सब उसका अपना आपा ही है। प्रत्यग् आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे काँटा अपने आपे को नहीं चुमता, उसी प्रकार अपने आप प्रत्यग् में विकल्प-जाल कहाँ ?

देना। यही विचार कर ब्रह्मा ने इच्छा की कि इन्द्र अपने आप प्रत्यग् तत्व को अच्छे प्रकार से जान ले और अपने से भिन्न लोक आदि पदार्थों को न देखे। हे शिष्य! ब्रह्मा ने इसी प्रकार से कहा था कि इन्द्र को हमने जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का द्रष्टा कहा था सो तो नित्य प्रत्यक्ष अपना आपा प्रत्यग् तुर्या ब्रह्म है। सो इन्द्र स्वयं ही है और अभय, अमर, अक्रिय भी स्वयं ही है।

इन्द्र—हे प्रभो! स्वप्न में साक्षी को पृथक कोई नहीं कहता। सब मतों वाले बुद्धि के साथ मिला हुआ कहते हैं, क्योंकि बुद्धि बिना साक्षी की सिद्धि नहीं होती। आप साक्षी को सबसे पृथक कैसे कहते हो?

प्रजापति—हे इन्द्र! बुद्धि स्वप्न में जाग्रत के पदार्थों के अनुभव-जन्य संस्कार अपने साथ ले जाती है। उनके अनुसार अनेक पदार्थ आकार और परिणाम को प्राप्त होते हैं। उस स्वप्न रचना का अनुभव करने वाला साक्षी अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। जैसे किसी साहूकार से कोई मनुष्य गुप्त धन ले जावे और अपने घर जाकर व्यवहार में फैला देवे तथा अनेक प्रकार की रचना करे। उस रचना का देखने वाला और कोई पुरुष होता है तो वह भी और दूसरा पुरुष भी दोनों ही प्रसन्न होते हैं और मालिक की भी प्रशंसा होती है। जो उसके ठाट-बाट को कोई न देखे तो उसकी सब रचना व्यर्थ हो जाती हैं। उसी प्रकार यह बुद्धि जाग्रत रूपी साहूकार से संस्कार रूपी धन ले जाकर स्वप्न में नाना प्रकार की रचना को रचती है। उस रचना का उससे भिन्न कोई साक्षी अर्थात् देखने वाला न होवे तो सब रचना व्यर्थ हो जावें। साक्षी के होने से सब पदार्थों की सिद्धि और जाग्रत देश में बुद्धि की कीर्ति भी होती है। बुद्धि जड़ पराधीन रथ की तरह अन्य चैतन्य की चलाई चलती है, स्वतः नहीं। हे इन्द्र! इस कारण से स्वप्न का द्रष्टा साक्षी स्वप्न से भिन्न है।

इसी को वेदांत आचार्यों ने सुषुप्ति में निर्विकार सिद्ध किया है और इसी को तुर्या कहा है। हे इन्द्र! तुर्या साक्षी आत्मा में तीनों शरीर और प्रिय-अप्रिय पदार्थों का अभाव है, क्योंकि इस तुर्या में विज्ञान नष्ट हो जाता है। यही तीनों स्थानों का आसरा है। यह साक्षी स्वरूप से निर्विकार है, इसी कारण से यह तीनों अवस्थाओं को सदा प्रकाशता है। इसका साक्षी नाम भी तीन अवस्था रूप साक्ष्यों की अपेक्षा से है। परमार्थ में तो यह अवाच्य पद है। प्रियाप्रिय सब पदार्थ विज्ञान के आश्रय सिद्ध होते हैं और विज्ञान लिङ्ग शरीर के आश्रय सिद्ध होता है। इस शरीर और विज्ञान का सुषुप्ति में अभाव हो जाता है इसी कारण से प्रिय-अप्रिय पदार्थों का भी अभाव हो जाता है। अतः सुषुप्ति में ज्योति स्वरूप साक्षी ही शेष रहता है। यही स्वयं ज्योति मगरमच्छ की नाईं कभी जाग्रत, कभी स्वप्न रूपी नदी के दोनों किनारों पर आता जाता और मध्य की भी खबर रखता हुआ स्वच्छन्द घूमता है। यह ब्रह्माण्ड रूपी समुद्र है। जाग्रत, स्वप्न रूपी दो किनारे हैं, सुषुप्ति रूपी गम्भीर जल इसका मध्य है और जीव रूपी मगरमच्छ है, जो दोनों किनारों और बीच की खबर रखता है। यही सबका साक्षी है। जो ज्योति तीनों अवस्थाओं की द्रष्टा है, वही अभय, अक्रिय, अमृत, अविनाशी, सत्कामा और सत्धर्मा है और वही पाप, पुण्य, क्षुधा, पिपासा, हर्ष, शोक से अतीत है।

हे इन्द्र! तू स्वयं अनुभव करके देख ले। जिस साक्षी स्वयं ज्योति आत्मा को हमने जाग्रत में विशेष कहा था, उसी का अब निर्विकार, निर्विशेष, अभय रूप से तुमको उपदेश किया है। जो स्थूल, सूक्ष्म, लोक, परलोक, भाव, अभाव, शबल, हिरण्यगर्भ, विराट, जीव, जड़ आदि सब पदार्थों का अनुभव

करता है वही स्वयंज्योति तुर्या आत्मा है। जैसे अग्नि काष्ठों में स्थित होकर कभी ऊँची, कभी कभी टेढ़ी, कभी सीधी होती है। इस प्रकार कुछ काल अपना विशेष प्रकाश दिखाकर फिर सामान्य रूप से स्थित हो जाती है। उसी प्रकार लिङ्गशरीर रूपी लकड़ी है और ज्योति रूपी अग्नि है। ज्योति लिङ्गशरीर रूपी काष्ठों पर आरूढ़ होती है, तब इन्द्रियों के साथ मिलकर द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि अनेक विशेष रूपों को धारती है और अग्नि की तरह ऊँची, नीची, कामी, क्रोधी आदि दिखाई देती है। पश्चात् अग्नि की नाईं अपने सामान्य स्वरूप में लीन हो जाती है। यही ज्योति निर्विकार आत्मा वेद में भी कहा है क्योंकि यह किसी के साथ स्पर्श नहीं करता।

शिष्य—हे गुरु! ब्रह्मा ने इन्द्र को इस स्वयंज्योति निर्विकार आत्मा का अपने अनुभव से किया है अथवा वेद के अनुसार उपदेश किया है किंवा ब्रह्मा से किसी और ने कहा था कि तुम इस आत्मा का साक्षी, द्रष्टा, निर्विकार, ज्योति स्वरूप से उपदेश करना।

गुरु—हे शिष्य! ब्रह्मा ने केवल अपने अनुभव से स्वयं ज्योति आत्मा का उपदेश नहीं और न किसी के कहने से उपदेश किया। जैसा वेद में परमात्मा का निरूपण है, उसी प्रकार से उपदेश किया है। हे शिष्य! वेद ब्रह्मा का रचा हुआ नहीं है, किन्तु ब्रह्मा द्वारा श्वास की तरह प्रकट है। जो वेद ब्रह्मा का रचा हुआ होता तो इन काव्य आदिकों की नाईं मिथ्या होता। वेद स्वतः अनादि है। वह जब किसी जीव को तीन तापों से व्याकुल देखता है, वह चाहे देवता, मनुष्य, पशु आदि कोई क्यों न हो, तब किसी के द्वारा साक्षात् स्वयं ही उपदेश करता है क्योंकि वह सर्वज्ञ और है। वेद भगवान् इस जीव को ही निर्विशेष, परब्रह्म, अभय, अक्रिय, स्वतः सिद्ध कर दिखाता है। वेद ने ब्रह्मा द्वारा इन्द्र को स्वयं ज्योति तुर्या आत्मा का उपदेश किया है। ब्रह्मा द्वारा उपदेश का यह प्राय है कि स्वयं ज्योति आत्मा के ज्ञान में जीवों की अधिक श्रद्धा होवे कि साक्षात् ब्रह्मा ने उपदेश किया है, हम भी इस ज्योति आत्मा को किस प्रकार जानें। ब्रह्मादि भी वेद द्वारा ही उपदेश करते हैं और स्वयं भी वेदार्थ का अभिप्राय निश्चय करके ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

हे शिष्य! इस प्रकार ब्रह्मा ने इन्द्र को और इन्द्र ने देवलोक में जाकर देवताओं को शि देवताओं ने इसी तरह अपने आत्मा की उपासना की, इसी कारण उनके लिये समस्त लोक और मनोरथ, जो आच्छादित थे, खुल गये। असुरों पर विजय पा गये। यह नहीं मान लेना चाहिए शिक्षा की योग्यता देवता ही रखते हैं और वे ही मोक्ष पा सकते हैं। जो कोई भी इस शिक्षा से अपने आपको जानता है और आत्मा की पहचान में शरीर को त्यागता है, वही सत्यकाम, सत्य हो जाता है और तमाम लोकों एवं समस्त मनोरथों में कामाचार करता हुआ पूर्ण स्वतंत्र स होता है। यह ब्रह्मा का वाक्य है। यही शिक्षा ब्रह्मा ने अपने पुत्र कश्यप को दी, कश्यप ने मनु सिखलाई और मनु जी ने भारत की प्रजा को सिखलाई जो हम तक चली आती है। जो कोई इ को पूर्ण ज्ञानी और ब्रह्मदर्शी से सुनेगा वह निस्संदेह मुक्त हो जायगा। वह फिर लौटेगा नहीं,—फिर लौटेगा नहीं।

इति इन्द्र और ब्रह्मा का सम्वाद सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

आठवाँ अध्याय

[नारद—सनत्कुमार सम्वाद]

शिष्य—हे गुरु ! मन्द अधिकारी किस प्रकार परब्रह्म को प्राप्त होते हैं, सो कृपा करके हमारे बोध के निमित्त कहिये।

गुरु—हे पुत्र ! तेरे बोध के निमित्त नारद और सनत्कुमार का सम्वाद कहता हूँ, ध्यान देकर सुन। नारद मुनि ब्रह्मा के पुत्र थे। उनको इस ब्रह्मांड की सब विद्यायें आती थीं अर्थात् पुराण, स्मृति, काव्य, चारों वेद, छः शास्त्र और नागविद्या आदि स्थूल-सूक्ष्म सब विद्याओं को वे जानते थे। उन विद्याओं द्वारा इस ब्रह्मांड की सम्पूर्ण विभूति उन्हें प्राप्त थीं, तथापि वे शांत न थे। इस संसार में सब लोग तीन तापों से तप्त हैं, पर वे छः तापों से तप्त थे। जब उनके अंतिम जन्म में अनेकों जन्मों के सञ्चित मोक्ष देने वाले पुण्य कर्म उदय हुए, तब नारद विचार करने लगे कि अरे ! मैं केवल अक्षरों के बाहरी ठाट-बाट के फेर में ही फँसकर कैसा धोखा खा गया हूँ ? ये कैसे और कहाँ के अक्षर हैं ? ये तो केवल आकाश के ही पत्ते हैं। यहाँ मेरी मति चाहे कितनी ही ऊँची क्यों न उड़ी फिरे, परन्तु इस से शोक की निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। जब तक आत्म-तत्व की थाह न लगे, तब तक शास्त्रों का अर्थ कभी समझ में नहीं आ सकता। अतः जब मैं अध्यात्म विद्या पढ़ूँगा तब ही शांति मिलेगी, दूसरे किसी प्रकार से भी परमानन्द को प्राप्त नहीं हो सकता। मुझको तो ऐसा मालूम होता है कि जो कुछ मैं जानता हूं वह विद्या नहीं, अविद्या है। अपने मन में इस प्रकार विचार करके कि अध्यात्म विद्या पढ़ने के लिए किसी तत्ववेत्ता आचार्य के पास चलना चाहिए, वे गुरु की खोज करने लगे।

नारद ने विचार किया कि अध्यात्म विद्या में जैसे सनत्कुमार कुशल हैं, ऐसा इस ब्रह्मांड में और कोई नहीं है। उनके पास ब्रह्मचर्य धारण करके शिष्य रीति के अनुसार चलूँ, तब वे मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे क्योंकि वेद में लिखा है कि अधिकारी के लक्षणों तथा शिष्यभाव से रहित अधर्मी को उपदेश नहीं करना चाहिये वे हमारे बड़े भ्राता भी हैं। उनको ही गुरु बना लेना चाहिये। मेरा निगुरापन भी छूट जायगा और वे हमको प्रीति सहित उपदेश करेंगे। ऐसा विचार कर अपनी अनेक विद्या तथा गुणों के अहङ्कार को त्याग कर उन्होंने सनत्कुमार के पास जाने की इच्छा की। नारद को अहङ्कार था कि मैं साक्षात् ब्रह्मा का पुत्र हूँ, मेरा बड़ा कुल है, मैं सबसे अधिक विद्या भी जानता हूँ। इस ब्रह्मांड में जो-जो विद्या मुझे आती हैं, वे किसी को भी नहीं आती हैं। मेरे बड़े-बड़े शिष्य हैं जो शायद ही किसी के इस ब्रह्मांड में हों। हम ऋषेश्वर हैं, भला किसके आगे जाकर शीश झुकावें, दीनता के साथ हाथ जोड़ कर खड़े हों ? हमारे समान इस ब्रह्मांड में कोई श्रेष्ठ बुद्धिमान नहीं है जिससे जाकर हम कुछ पूछें।

पिछले पुण्य के प्रताप से नारद ने इन सब अहङ्कारों का त्याग किया और जिज्ञासु बनकर, कुछ हाथ में भेंट ले, सनत्कुमार के पास जाकर नम्रता सहित नमस्कार किया और अत्यन्त कोमल और दीन-वाणी में बोले—"हे भगवन् ! आप शांत आत्मा, परोपकारी, सूर्य के समान हैं। जो कोई दीन-दुखिया आपकी शरण लेता है, वह शांत आत्मा हो जाता है। मैं दीन-दुखी, संसार के तापों से तपा हुआ,

आपकी शरण आया हूं। हे प्रभो! कृपा करके मुझको शांत आत्मा कीजिये। यद्यपि मुझको ज्ञा की सब विद्या और विभूति प्राप्त हैं तथापि मेरा मन शांत नहीं होता है। महाराज! मुझको तो ऐसा होता है कि मैं अध्यात्म को नाममात्र ही जानता हूं। जहाँ मन, वाणी, नहीं पहुँच सकते, उसको तक नहीं जानता। हे प्रभो! संसार के साधारण प्राणी तो आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौति तीन ही तापों से तप्त हैं, पर मैं छः तापों से सन्तप्त हूँ। मेरे तीन विशेप ताप ये हैं – सर्वप्रथम, मैं भूल न जाऊँ, इस भय से निरन्तर पढ़ता-पढ़ाता रहता हूं। दूसरे, विद्या का अहङ्कार भी तो एक प्र जलन ही है। तीसरे किसी के द्वारा ऐसा प्रश्न किये जाने का भय, जिसका मुझसे उत्तर न दिया जा इन तीन विशेप तापों से दिन-रात पीड़ित रहता हूँ। हे प्रभो! जिस प्रकार इन छः दुखों से मेरा छूटे, वह विद्या आप कृपा करके उपदेश करिये। आत्मविद शोक से तर जाता है, पर मैं शोक से रहता हूँ। मुझे शोक से पार कीजिए।

सनत्कुमार--हे नारद! तुम्हारे ऊपर भगवान् ने बड़ी कृपा की जो मेरे पास आने की प्रेर तुम्हारे कोई पिछले शुद्ध पुण्य उदय हुए, नहीं तो तुम भी दूसरे पढ़े-लिखों के समान आत्मतत्व से रह जाते। हे नारद! अब यह बताओ कि गधे के समान इतना बोझा क्यों लादे फिरते हो?

नारद—हे भगवन्! ये शास्त्र हैं। याद करने के लिए लादे फिरता हूँ।

सनत्कुमार—हे नारद! इन सब को जाकर गङ्गा में बहा दो और मूर्ख के समान, मौनी निरभिमानी होकर आओ।

नारद ने जाकर तमाम पुस्तकें गङ्गा में बहा दीं और तब निरभिमान, मूर्खवत् सनत्कुमार में उपस्थित हुए।

सनत्कुमार--हे नारद! अब तुमको जो-जो विद्यायें आती हैं, वे सब हमको सुना डालो जो कुछ हमको कहना होगा सो कहेंगे।

नारद—बहुत अच्छा भगवन्! जो-जो विद्या मुझको आती हैं वे सब आपके आगे करता हूं। हे प्रभो! चारों वेद, सत्ताईस स्मृतियाँ, अठारह पुराण मुझको आप की कृपा से कंठ काण्ड सम्यग् रूप से जानता हूँ। उपासना की भी सब विधियाँ मुझको आती हैं। एक लोक से दूस में चले जाना, ब्रह्म लोक पर्यन्त सब जानता हूँ। गान विद्या, पशु-पक्षी विद्या, शृङ्गार विद्या आती है। हे प्रभो! सूर्य-शास्त्र में भी मैं निपुण हूँ।

सनत्कुमार—हे नारद! आपका कहना यथाथ है। निस्सन्देह तुम सब लौकिक वि चतुर हो, पर ब्रह्मविद्या का तुमको शब्द मात्र ही बोध है।

नारद! हे प्रभो! ब्रह्मविद्या का अर्थ गूढ़ है। यदि उसको मैं जानता तो संसार के क्यों जलता रहता? आप कृपा करके इस अध्यात्म विद्या का उपदेश करिये। मैंने वेदों में पढ़ा है बोध के बिना परमानन्द की प्राप्ति और दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के लिए मुझको अध्यात्म विद्या का रहस्य समझायें।

सनत्कुमार—हे नारद! हम तुमको शांति के लिए एक शालिग्राम स्थानीय उपासना ध्यान पूर्वक सुनो। जैसे यह लोग प्रतिमा की उपासना करके विष्णु आदि लोकों को प्राप्त होते

प्रकार इसकी आराधना करने से सत्‌भूमा पद की प्राप्ति होती है जिसके प्राप्त होने पर शान्ति मिलती है। हे नारद ! उस भूमा पद की प्राप्ति के अर्थ तुम भी इसकी उपासना करो।

नारद की बुद्धि लौकिक विद्याओं के अभ्यास से बहुत ही स्थूल हो गई थी। बुद्धि को सूक्ष्म करने के निमित्त तत्वों की परम्परा सनत्कुमार ने नारद को उपदेश की। क्योंकि उन्होंने विचारा कि नारद को सब शास्त्र, अनेक ग्रन्थ तथा मतमतान्तरों के झगड़े करने खूब आते हैं। उनके मारे इसके हृदय में अनेक शङ्कायें उठती हैं। जब तक इसके तमाम सन्देह दूर न होंगे तब तक शांत आत्मा न होगा। जैसे घास का सूक्ष्म बीज पृथ्वी में दब जाता है और नास्ति की तरह प्रतीत होता है। वही वर्षा ऋतु में वृष्टि होने पर प्रगट होता है। उसी प्रकार नारद भी अज्ञान रूपी पृथ्वी में दब गया है। जब इसके ऊपर अध्यात्म विद्या की वर्षा होवेगी, तब अज्ञान रूपी पृथ्वी से बाहर निकलेगा। ऐसा विचार करके सनत्कुमार मुनि ने परम कृपा करके उसको शिव स्थानीय किंवा शिव पूजा का उपदेश किया।

सनत्कुमार—हे नारद ! तुमने अभी तक एक शब्द मात्र मंत्र को आत्मा माना है, परन्तु इस 'नाम' का आत्मा दूसरा है।

नारद—हे प्रभो ! नाम से इतर और क्या है ? यह शब्द तो सबका आश्रय और आत्मा है। ब्रह्मांड का सब व्यवहार नाम द्वारा ही तो होता है। जिनका नाम लिया जाता है वे ही पदार्थ, पुरुष, देवता आदि सिद्ध होते हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ईश्वर, जीव, गुरु, शिष्य, पाप तथा नर्क, स्वर्ग सब नाम द्वारा ही जाने जाते हैं। जो इस नाम का आत्मा है, उसे भी कृपा करके कहिए। मैं तो भूत, भविष्य, वर्तमान में इन शब्दों को ही आत्मा मानता तथा जानता था।

सनत्कुमार—हे नारद ! तुमने यह जितने नाम कहे हैं, इन सब नाम रूपी मन्त्रों की आत्मा तो वाणी है। क्योंकि वाणी के बिना नाम सिद्ध नहीं होते। सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ईश्वर, जीव, वृक्ष, पर्वत आदि जिसका नाम वाणी उच्चारण कर देती है, उसी का ज्ञान होता है। नाम बिना कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। हे नारद ! इस कारण से नाम का आत्मा वाणी है, नाम आत्मा नहीं है।

नारद—हे प्रभो ! आज से मैं वाणी को ही आत्मा मानूंगा।

सनत्कुमार—हे नारद ! नहीं, कदापि नहीं। अरे इस वाणी की भूमा आत्मा भी दूसरी है।

नारद ! हे प्रभो ! इस वाणी से परे और क्या होगा ? इसी के द्वारा सब नाम प्रगट होते हैं। जो इसका भी और भूमा आत्मा है तो उसे भी कृपा करके मेरे बोध के निमित्त कहिए।

सनत्कुमार—हे नारद ! वाणी का आत्मा मन है क्योंकि मन जो इच्छा करता है, वही वाणी बोलती है। जैसे किसी पुरुष की मुट्ठी में दो दाने हों, उसी प्रकार मन के भीतर नाम तथा वाणी दोनों रहती हैं। उनके भी सात्विकी, राजसी तथा तामसी अनेक भेद हैं। यह वृत्तियाँ अनेक प्रकार की हैं और विविधा बुद्धि के आश्रय रहती हैं, जो कि अन्तःकरण का ही भेद है। अन्तःकरण में अनेकों विविधा बुद्धि रहती हैं।

नारद—हे प्रभो ! अब मैं मन को ही आत्मा मानूँगा क्योंकि मन से ही तमाम ब्रह्मांड उत्पन्न होता है।

सनत्कुमार—कदापि नहीं। हे नारद! मन का आधारभूत भूमा दूसरा है।

नारद—हे प्रभो! इस मन से भी परे क्या होगा? अनेक मतों के आचार्य मन को ही [illegible] कहते हैं और मुझे भी निश्चय है कि मन से परे और कुछ नहीं है। यदि इसका भी और कोई [illegible] तो वह भी कहिए।

सनत्कुमार—हे नारद! इसका आत्मा सङ्कल्प है। जब सङ्कल्प का विवेक होता है तब [illegible] होकर मन में, मन द्वारा वाणी में और वाणी द्वारा नाम में आती है। तब ब्रह्मांड का व्यवहार सिद्ध है। इसी कारण से ब्रह्मा से लेकर अणु पर्यन्त सब ब्रह्मांड सङ्कल्प के आश्रय हैं।

नारद—हे प्रभो! अब मैं सङ्कल्प को ही आत्मा मानूँगा क्योंकि सङ्कल्प बिना कुछ भी नहीं होता है।

सनत्कुमार—हे नारद! इस सङ्कल्प का आत्मा भी अन्य ही है।

नारद—हे प्रभो! संकल्प से भी परे और क्या है?

सनत्कुमार—हे नारद! संकल्प का आत्मा चित्त है। चित्त का स्वरूप है किसी भी पदार्थ विषय को तत्काल जान लेना। यदि किसी पदार्थ या विषय को चित्त तत्काल न जान सके तो [illegible] चित्त है, चाहे ज्ञानी-अज्ञानी किसी का भी हो। हे नारद! ये सब ब्रह्मांड ज्ञान के आश्रय हैं। [illegible] बिना कोई किसी को नहीं देता है और न लेता है। जैसे यह पुरुष पहले स्वर्ग का निश्चय कर [illegible] तब पीछे यज्ञ, अग्निहोत्र, ध्यान, पुण्य आदि कर्म करता है। ज्ञान बिना न पुण्य होता है, न पाप है और न कोई स्वर्ग-नर्क आता जाता है। ज्ञान के बिना शुभ-अशुभ, विद्या-अविद्या किसी की नहीं होती। सब ब्रह्मांड शून्य की तरह होता है। इस कारण से सबका आत्मा चित्त है।

नारद—हे प्रभो! अब मैं चित्त को ही आत्मा मानूँगा क्योंकि सब ब्रह्मांड ज्ञान के बिना शून्य के समान है। मैं जो ब्रह्मांड की नाना विद्याओं को जानता हूँ, वे सब ज्ञान के ही आश्रय हैं। ज्ञान के विश्वास पर मैंने अपने आपको सबसे श्रेष्ठ माना था। यह चित्त ही सबका आत्मा है, [illegible] कोई आत्मा नहीं।

सनत्कुमार—हे नारद! नहीं, इस चित्त का भी भूमा आत्मा दूसरा है।

नारद—हे प्रभो! इसका जो आत्मा हो उसे भी कहिये। मैं तो चित्त से परे और कुछ देखता हूं।

सनत्कुमार—हे नारद! इस चित्त का भूमा आत्मा ध्यान है। यह पुरुष जिस पदार्थ का [illegible] करता है, वही चित्त में आता है और जिसका ध्यान नहीं करता, वह चित्त में नहीं आता और न पदार्थ की सिद्धि ही होती है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, [illegible] पशु, पक्षी, दैत्य तथा पत्थर आदि जिस पदार्थ का दृढ़ होकर ध्यान किया जाता है, वही सिद्ध है और उसका सम्यग् हाल भी मालूम हो जाता है। इस कारण से सब ब्रह्मांड ध्यान के आश्रय हैं। इस पुरुष का ध्यान होता है, वैसा ही चित्त में, चित्त द्वारा संकल्प में, संकल्प द्वारा मन में, [illegible] वाणी में, वाणी द्वारा नाम में, नाम द्वारा रूप में आता है, तब व्यवहार होता है।

उपासक का ध्यान इन्द्रियों को रोक कर निरन्तर अपने उपास्य का चिन्तन है। कर्मी का

नित्य नैमित्तिक कर्मों का विधि पूर्वक अनुष्ठान करना है और ज्ञानी का ध्यान सत्-असत् का विचार है। जैसे कोई पुरुष यदि किसी ग्राम में बहुत दिन घूमता फिरता रहता है तो उसको उस ग्राम का सब वृत्तांत मालूम हो जाता है और जो पुरुष डाक वाले की तरह रात भर पढ़कर चला जाता है, उसको उस ग्राम के शुभ-अशुभ वृत्तांत का ज्ञान नहीं होता। उसी प्रकार जो पुरुष अपने चित्त को एकाग्र करके बहुत काल तक तक किसी वस्तु का ध्यान करता है, उसको उस वस्तु का सम्यग् ज्ञान हो जाता है और जो अपने मन को नहीं लगाता, कुत्ते की तरह जहाँ-तहाँ अपने को भटकाता रहता है, उसको किसी वस्तु का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं होता।

हे नारद! ध्यान रहित पुरुष कुछ भी नहीं समझ पाता कि इस ब्रह्मांड में क्या शुभ होता है और क्या अशुभ? क्या ईश्वर है, क्या जीव है, क्या देवता है, क्या भूत है, क्या भौतिक है, क्या कर्म, क्या अकर्म, क्या विकर्म, क्या उपासना, क्या ज्ञान, और क्या अज्ञान है तथा मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा? पशु की तरह मनुष्य जन्म पाकर काम, क्रोध, लोभ, मोह में जन्म खोकर, पाप का बोझा अपने सिर पर रखकर, पुण्यों से रहित खाली हाथ चला जाता है और सदा नीच योनियों में बार-बार जन्म-जन्म कर मर जाता है। इस कारण से यह सब ब्रह्मांड ध्यान के आश्रय हैं। जिस पुरुष ने इस संसार में आकर ध्यान नहीं किया, उसके लिए तो मानो संसार है ही नहीं।

नारद—हे प्रभो! तो अब मैं ध्यान को ही आत्मा निश्चय करूँगा क्योंकि ध्यान बिना कुछ सिद्ध नहीं हो सकता है। ध्यान बिना ही मैं अब तक भटकता रहा।

सनत्कुमार—हे नारद! यह ध्यान भी भूमा आत्मा नहीं है। इसका आत्मा भी दूसरा ही है।

नारद—हे प्रभो! इस ध्यान से भी परे और क्या हो सकता है? मुझको तो ध्यान से परे और कुछ नहीं दीखता है। ध्यान से ही चित्त की एकाग्रता होती है। यदि ध्यान का भी कोई दूसरा आत्मा है तो उसे भी कहिए।

सनत्कुमार—हे नारद! ध्यान का आत्मा विज्ञान है। विज्ञान शास्त्रजन्य ज्ञान को कहते हैं। शास्त्रवेत्ता पुरुष को ब्रह्मलोक पर्यन्त जाने की सामर्थ्य होती है और शास्त्र ज्ञान से अपना आप प्रत्यग् स्वरूप भी जाना जाता है। जिसको शास्त्र का ज्ञान नहीं है वह मनुष्य पशु के समान ही है। शास्त्र विमुख पुरुष नरक को प्राप्त होता है। हिरण्यगर्भ से लेकर अणु पर्यन्त सब विज्ञान के आश्रय हैं।

नारद—हे प्रभो! अच्छा, मुझको शास्त्र का ज्ञान तो है। अब मैं विज्ञान को ही आत्मा मानूँगा। मुझको सब ब्रह्मांड की विद्या आती हैं। वे सब इस विज्ञान के ही आश्रय हैं, अतः यह विज्ञान ही आत्मा है।

सनत्कुमार—हे नारद! विज्ञान भी आत्मा नहीं है। इस विज्ञान का भूमा आत्मा भी और है।

नारद—हे प्रभो! अब इस विज्ञान का आत्मा और क्या होवेगा? शास्त्र के ज्ञान बिना किसी का काम सिद्ध नहीं होता है। शास्त्र के ज्ञान बिना यह सब ब्रह्मांड जड़, अन्धे की तरह है। ईश्वर से लेकर जीव पर्यन्त सब व्यवहार विज्ञान के आश्रय से ही चलते हैं। विज्ञान बिना लोक, परलोक, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क आदि किसी पदार्थ की भी सिद्धि नहीं होती। जो इसका भी आत्मा है तो उसे भी कृपा करके कहिए।

सनत्कुमार—हे नारद ! विज्ञान का आत्मा बल है, क्योंकि जब इस पुरुष में बल होता है शास्त्र का पठन-पाठन आदि होता है, अन्यथा नहीं। बल ही से शास्त्र जन्य ज्ञान होता है। जिसके में बुद्धि आदि का बल होता है, उस पुरुष से ही गुरु, माता, पिता, भ्राता आदि की सेवा भी होती है। बलहीन प्राणी से सेवा नहीं हो सकती। बलवान पुरुष ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर सकता है। बल द्वारा ही सबको वश किया जाता है। बल बिना कोई व्यापार सिद्ध नहीं होता। बल से ही ईश्वर से जीव पर्यन्त सब व्यवहारों की सिद्धि होती है। इस कारण से यह सब ब्रह्मांड बल के आश्रय

नारद—हे प्रभो ! तो क्या बल ही आत्मा है ?

सनत्कुमार—हे नारद ! यह बल भी आत्मा नहीं है, इसका आत्मा भी और है।

नारद—हे प्रभो ! इस बल से परे और क्या होगा क्योंकि बल तो सभी का आश्रय है।

सनत्कुमार—हे नारद ! इस बल का आत्मा अन्न है। पुरुष जब अन्न खाता है तब बल होता और तब ही शास्त्र का ज्ञान होता है। अन्न से शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, वाणी, नाम आदि होते हैं। अगर दश दिन अन्न न खाया जावे तो पुरुष मरण के निकट पहुंच जाता है, बोलने की शक्ति नहीं रहती, ज्ञान सहित ब्रह्मांड का लोप हो जाता है। इस कारण से यह सब देवता, मनुष्य, पशु, चींटी, नर्क, स्वर्ग आदि अन्न के ही आश्रय हैं।

नारद—हे प्रभो ! अब मैंने जाना कि अन्न ही आत्मा है।

सनत्कुमार—हे नारद ! यह अन्न भी आत्मा नहीं है। इसका भी भूमा विभु आत्मा और है।

नारद—हे प्रभो ! इस अन्न से परे और क्या होगा, क्योंकि अन्न ही सबका कारण है। खूब विचार कर देखा है कि अन्न बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

सनत्कुमार—हे नारद ! इस अन्न का भूमा आत्मा जल है। जल होता है, तब अन्न होता है। हे नारद ! जो कुछ तुमको दिखाई देता है वह तमाम जल का ही कार्य है। जो-जो मूर्तियाँ दिखाई देती हैं, ये सब जल से रची हैं। यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड जल के ही आश्रय है।

नारद—हे प्रभो ! अब मैं जल को ही आत्मा मानूँगा।

सनत्कुमार—हे नारद ! यह जल भी भूमा आत्मा नहीं है। इस जल का व्यापक आत्मा और है। उसे भी सुन। जल का आत्मा तेज है। लोक में प्रसिद्ध है कि जब सूर्य बहुत तपता है और नहीं चलती तब लोग परस्पर में कहते हैं कि इस समय वर्षा बहुत होगी। जब बिजली चमकती है गर्मी बहुत पड़ती है। जब बिजली की चमक पीली होती है, तब बहुत वर्षा होती है और जब बिजली की चमक हरी होती है तब वायु चलती है। अगर बिजली की चमक सफेद हो तो जानना चाहिये कि वर्षा नहीं होगी। यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड तेज के आश्रय है। जैसे जल बिना अन्न नहीं होता, वैसे ही तेज बिना जल नहीं होता। जैसे गर्मी बिना शरीर से पसीना नहीं निकलता, उसी प्रकार ब्रह्मांड में तेज बिना वर्षा नहीं होती है।

नारद—हे प्रभो ! क्या यह तेज ही आत्मा है ? इससे अधिक व्यापक और कोई वस्तु नहीं

सनत्कुमार—हे नारद ! यह भी आत्मा नहीं है। इसका आत्मा वायु है क्योंकि वायु से अग्नि उत्पन्न होती है। लालटेन में चारों तरफ से वायु के रास्ते बन्द कर देने से उसकी रोशनी

जाती है। इस से ज्ञात होता है कि पक्षियों की तरह अग्नि भी वायु के आश्रय है और अन्त में वायु में ही लीन हो जाती है, अतः तेज का आत्मा वायु है।

नारद—हे प्रभो! आपका कहना यथार्थ है। वायु ही अग्नि आदिक सब प्रपञ्च का आत्मा, परमतत्व है। इससे परे और कोई भूमा नाम का आत्मा नहीं है। वायु से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है और वायु में ही लीन हो जाता है। इस कारण से यह सब प्रपञ्च वायुरूप है।

सनत्कुमार—हे नारद! इस वायु का भी भूमा आत्मा दूसरा है।

नारद—हे भगवन्! इस प्रसिद्ध वायु का आत्मा दूसरा क्या होगा? मुझको तो इससे परे और कुछ नहीं सूझता।

सनत्कुमार—हे नारद! इस प्रसिद्ध वायु का आत्मा आकाश है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आकाश के किसी एक कोने में पड़ा है। यह जो तेजोमय सूर्य, चन्द्र, बिजली, नक्षत्र आदि हैं ये आकाश के एक कोने में स्थित हैं। कुछ आचार्यों का ऐसा मन्तव्य है कि आकाश कोई वस्तु नहीं है, पर उनका कथन मिथ्या है। जो आकाश न होता तो ब्रह्माण्ड के तमाम पदार्थ किस में स्थित होते और वायु की चेष्टा किस में होती? जो वायु से परे उसके आधार आकाश को न मानें तो वायु पूर्ण होगी और पूर्णत्व के कारण उसमें स्पन्द का होना असम्भव होगा क्योंकि पूर्णत्व में कभी चेष्टा नहीं होती, यह विद्वानों का अनुभव है। तब चलना, लेना, देना, आना तथा जाना, सूर्य, चन्द्र आदि का उदय-अस्त होना कैसे होता? आकाश के बिना सब घनीभूत ठोस होता। अतः 'आकाश नहीं है' कहना युक्ति और प्रमाण से रहित बच्चों का सा कथन है। इस कारण से सब ब्रह्माण्ड का आत्मा आकाश है।

नारद—हे प्रभो! अब मैं आकाश को ही आत्मा मानूँगा। पहिले तो मैं भी आकाश को तुच्छ ही समझता था। अब आपके कहने से जान पड़ा कि आकाश सबसे अधिक व्यापक सब का आत्मा है।

सनत्कुमार—हे नारद! आकाश भी आत्मा नहीं है, इसका आत्मा भी दूसरा है।

नारद—हे प्रभो! अब इससे परे और क्या होगा? सूक्ष्म, स्थूल तथा सब ब्रह्माण्ड तो आकाश के ही आश्रय हैं। इस अवकाश रूप आकाश का भी कोई और आत्मा है तो उसको भी कहिये।

सनत्कुमार—हे नारद! इस आकाश का आत्मा स्मरण है। स्मरण का स्थान अन्तःकरण है। यदि स्मरण-शक्ति न होती तो ब्रह्माण्ड का कोई व्यवहार न हो सकता। जैसे मन्दिर के किसी अन्धेरे कोने में अनेक चीजें रक्खी हों तो दीपक ले जाने से सब वस्तुयें दीख पड़ती हैं और दीपक के बिना अन्धेरा-ही-अन्धेरा दिखाई देता है, सब वस्तुयें दिखाई नहीं देतीं। इसी प्रकार दृष्टान्त में आकाश रूपी मन्दिर है। अन्तःकरण रूपी दीपक है, प्रकाशरूपी स्मरण-शक्ति है, नाना रूप पदार्थ हैं जो आकाश के किसी कोने में पड़े हुए हैं। जब अन्तःकरण में स्मरण होता है तब ईश्वर-जीव, पुण्य-पाप, नर्क-स्वर्ग आदि सिद्ध होते हैं। स्मरण से ही धन, स्त्री, पुत्र, मित्र-शत्रु, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि सिद्ध होते हैं। जिस पदार्थ का अन्तःकरण में स्मरण होता है, वही प्रकट होता है। इस कारण से आकाश का आत्मा स्मरण है।

नारद—हे प्रभो! अब मैं स्मरण को ही आत्मा मानूँगा।

सनत्कुमार—हे नारद! यह स्मरण भी आत्मा नहीं है। इस का आत्मा भी दूसरा ही है।

नारद—हे प्रभो ! अब स्मरण से परे और क्या होगा ? चारों वेद, षट्शास्त्र, अठारह पु सत्ताईस स्मृति, सब-के-सब इस अन्तःकरण के आश्रय सिद्ध होते हैं। यह सब ब्रह्मांड अन्तःकरण से होता है और अन्तःकरण में ही लीन हो जाता है। हानि, लाभ, पुण्य, पाप आदि सब अन्तःक आश्रय हैं। अन्तःकरण में ही धर्म, अधर्म रहते हैं। इस कारण से अन्तःकरण सबका आत्मा है। तो ऐसा ही अनुभव होता है। यदि आप इस स्मरण रूप अन्तःकरण का भी कोई और आत्मा रहे हों तो उसको कहिए।

सनत्कुमार—हे नारद ! अन्तःकरण का आत्मा आशा है। किसी पदार्थ की पहले आशा हो तब उसका स्मरण होता है। जैसे बालक माता के दूध के आश्रय जीता है, अतः बालक की आशा में होती है। उसी प्रकार स्मरण रूपी बालक आशा रूपी माता के आश्रय जीता है। आशा, इच्छा, अभिलाषा यह एक ही वस्तु के नाम हैं। मंत्र, विद्या, अविद्या, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नर्क, ईश्वर, सूर्य, चन्द्रमा आदि में से जीव जिस-जिस की आशा करता है और उस आशा के अनुसार उसका भी करता है, तब पुण्य, पाप आदि कर्म द्वारा उसको प्राप्त होता है। जिस वस्तु की पुरुष को आशा होती, उसका स्मरण भी नहीं होता। जिस पुरुष की सब आशाओं का अभाव हो जाता है उसी को न्मुक्त कहते हैं, उसी को श्रुति माता ने सत् परब्रह्म विभु कहा है। वेद का यही अभिप्राय है कि पर की प्राप्ति के वास्ते तमाम आशाओं का त्याग करना चाहिये क्योंकि यह सब ब्रह्मांड आदि से आशा सूत में पिरोया हुआ है।

जैसे अरे चक्र के घेरे और नाभि में पिरोये रहते हैं। नाभि में लोहे की बनी कीली होती है के आश्रय वह चक्र बैलों आदि द्वारा घुमाया-फिराया जाता है। उसी प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच न्द्रियाँ तथा चार अन्तःकरण, यह चौदह अरे हैं। सूक्ष्म शरीर नाभि के स्थान में है, जिस में वे रूपी अरे पिरोये हुए हैं। चौदह लोक चक्र के घेरे की जगह हैं। प्राण कीली स्थानीय है। पाप, पुण्य दो बैल हैं जो इस ब्रह्मांड रूपी चक्र को भ्रमाते रहते हैं। यह आशा रूपी पुरुष इस चक्र के आश्रय भ्रमा रहा है। हे नारद ! अब तुम शालिग्राम स्थानीय इस चक्र की उपासना करो जिससे तुम परब्र को प्राप्त होगे।

नारद—हे भगवन् ! अब मैं इस आशा रूपी चक्र की उपासना करूँगा और इसी को आत्मा मानूँगा।

सनत्कुमार—हे नारद ! वह आशा भी आत्मा नहीं है। इसका आत्मा भी और ही है।

नारद—हे प्रभो ! अब इस आशा से परे और क्या होगा ? सब जीवों के अन्तःकरण आश्रय हैं।

सनत्कुमार—हे नारद ! इस आशा का आत्मा प्राण है। इस प्राण रूपी सूत्र में आशा स्मरण आदि मनके पिरोये हुए हैं।

नारद—हे भगवन् ! वह प्राण कौन है जिसमें यह चौदह ब्रह्मांड रूपी मनके पिरोये हुए हैं !

सनत्कुमार—हे नारद ! यह मुख में आने-जाने वाला प्राण सब प्राणों में श्रेष्ठ है। यही स्वरूप है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का कारण यही प्राण है। इसी प्राण में प्रतिबिम्ब द्वारा पर

किया है। इसी प्राण को याज्ञवल्क्य ने गार्गी को सूत्र आत्मा नाम से उपदेश किया था। यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड प्राणरूपी सूत्रात्मा के आश्रय घूमता है। हे नारद! इसी प्राण के आश्रय यह आशा रहती है और आशा में स्मरण रहता है। स्मरण में आकाश, आकाश में वायु और वायु में तेज है, तेज में जल, जल में अन्न, अन्न में बल और बल में समाधि है। समाधि में विज्ञान, विज्ञान में ध्यान, ध्यान में चित्त, चित्त में सङ्कल्प और सङ्कल्प में मन है। मन से वाणी, वाणी से नाम, नाम से मन्त्र, मन्त्र से यज्ञ है और यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्मांड की उत्पत्ति होती है। हे नारद! इस प्रकार परम्परा से सर्व ब्रह्मांड, नाम-रूप प्रपञ्च प्राण में ओत-प्रोत है। यह प्राण ही जीव, ईश्वर, माता, पिता, पुत्र, दास, गुरु, शिष्य, लोक, परलोक, स्वर्ग, नर्क, पाप, पुण्यरूप है। प्राण ही लेने तथा देने वाला है, प्राण ही गौ है, प्राण ही लेने वाला पुरोहित है। हे नारद! यह सब ब्रह्मांड प्राण ही है। मुर्दे में प्राण नहीं होता, इसी कारण से वहाँ न कोई लेता है, न देता है और जहाँ पर प्राण हैं वहाँ लेना, देना, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नर्क, जीव, ईश्वर, गुरु, शिष्य आदि सब के व्यवहार होते हैं। इस कारण से सब ब्रह्मांड प्राण ही है।

नारद अपने मन में विचार करने लगे कि हमने पूर्व में प्राण ही की उपासना की थी। अब गुरु महाराज ने भी प्राण को ही आत्मा कहा है। हमारे सब संशय दूर होकर वृत्ति उपास्य में दृढ़ हो गई। जो कुछ जानने योग्य था यह सब जान चुका हूँ। अब व्यर्थ संशय नहीं करना चाहिए।

सनत्कुमार ने नारद के मन का वृत्तांत जानकर विचार किया कि यह नारद पूर्व में प्राण का उपासक था। अब इसने प्राण को दृढ़ कर लिया। यह हमारे पास आकर भी तीन पापों से रहित न हुआ तो इसका हमारे पास आना व्यर्थ हुआ। यह स्वयं जिज्ञासुओं की तरह अपने अहंकार का त्याग करके हमारे पास आया था तथापि इसको सत्-भूमा पद की प्राप्ति नहीं हुई। जो पुरुष नाम-रूप के उपासक हैं वे सब असत्वादी नास्तिक हैं और जो सत्भूमा के जानने वाले हैं वे ही सत्वादी आस्तिक हैं। इस नारद ने अभी तक सत् पदार्थ को नहीं जाना तथापि अपने-आप को सत्वादी, बुद्धिमान् मान बैठा है। अब जिस प्रकार इसका प्राण में असत् का निश्चय होवे वही उपाय करना चाहिये। तभी यह शान्ति को प्राप्त होगा। इस प्रकार विचार कर उन्होंने नारद से कहा।

सनत्कुमार—हे नारद! तुम प्राण को सत् भूमा जानकर अपने को कृतकृत्य मान बैठे हो; पर यह धोखा है। प्राण भी सत् भूमा नहीं है। इस प्राण का भूमा आत्मा और है। जब तुम उस सत् भूमा आत्मा को जानोगे तभी सत्वादी होगे। पूर्व हमने तुमको पञ्चदश तत्वों द्वारा जो नाम-रूप का उपदेश किया है सो सब नाम-रूपमय कल्पित प्रपञ्च का निर्णय है। जो इस कल्पित नाम-रूप के ही ज्ञाता हैं, वे सब असत्वादी नास्तिक हैं।

नारद—हे भगवन्! इस प्राण से परे और क्या होगा? आपने इस प्राण को ही सब सतों का सत् कहा है और मैंने भी पूर्व आचार्यों से प्राण को सत् सुना है। इस प्राण से भिन्न सब असत् हैं। मेरी धारणा भी यही है। क्या इसका भी भूमा आत्मा कोई और है?

सनत्कुमार—हे नारद! सत् आत्मा वह है जो सब से परे और उत्तम है। उस भूमा आत्मा की प्राप्ति कोरे शब्दों के रटने किंवा बातों से नहीं हो सकती। जब तुमको उसमें दृढ़-श्रद्धा होगी तब परमानन्द भूमापद की प्राप्ति होगी। श्रद्धायुक्त होकर इन्द्रिय-संयम-पूर्वक, सन्तों से उस भूमा-सत् का श्रवण

करके जब मनन और निदिध्यासन करोगे तब 'तत्-त्वं' पदार्थ के शोधन और ज्ञान द्वारा सत् भूमा को प्राप्त होगे। शास्त्रों के शब्दों को रट लेने से या दूसरों को सुनाने से सत्वादी नहीं होगे।

नारद—हे प्रभो! मैं इन्द्रियों का दमन कैसे करूँ और आपने मुझको इन्द्रिय अजित कैसे क

सनत्कुमार—हे नारद! शास्त्रों की युक्ति लगानी, ज्ञान बघारना, ठट्ठा, मखौल, चौदह शृङ्गार, घटा-बढ़ाकर कहने की चालाकी, यहाँ की बात वहाँ जा मिलानी, दो पुरुषों को लड़ा कर आप अलग हो जाने की नट-खट विद्या और अनेक प्रकार की चतुराइयों में तुम्हारा मन लगता है, इसी से चञ्चल भी है। तुम रजोगुण से उत्पन्न हुई इस चञ्चलता का सर्वथा त्याग करोगे शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होगा, तब भूमानन्द की तीव्र जिज्ञासा होगी और इन्द्रियों का दमन सहज हो जायगा। इन्द्रियों के दमन से सन्तों का संग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, 'तत्-त्वं' पद का करके शीघ्र सत्‌भूमा-पद को प्राप्त होगे। जब तुम इन असत् वृत्तियों का त्याग करोगे तब भूमा-पद को होगे। उन सब वृत्तियों के त्याग का उपाय भूमापद की प्राप्ति की तीव्र इच्छा है। जैसे संसारी पुरुष जिस वस्तु की अधिक अभिलाषा होती है उसके बिना वह सब इन्द्रियों से अपने-आप रसों का त्याग देता है और जब तक वांछित-पदार्थ नहीं मिलता तब तक उसकी प्राप्ति के यत्न का त्याग नहीं करता उस वस्तु को पाता है। उसी प्रकार तुमको भी जब भूमापद की प्राप्ति की अधिक अभिलाषा होगी इन्द्रियों का दमन और महात्माओं का संग, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्-त्वं-पद का शोधन ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जायेगा और शोक से भी छुटकारा आप ही मिल जायेगा।

नारद—हे प्रभो! अब, मुझको सत्‌भूमा-पद की प्राप्ति की जिस प्रकार तीव्र इच्छा हो, वहीं करके कहिये।

सनत्कुमार—हे नारद! अल्प का त्याग करने से तथा उसकी प्राप्ति की तीव्र इच्छा होने से उसकी प्राप्ति होती है। भूलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक तथा इन तीनों लोकों में स्थित पदार्थ अल्प हैं। देश, काल, वस्तु परिच्छिन्न को अल्प कहते हैं। यह पुरुष जिस लोक में जाता है की वस्तुओं की तृष्णा कर बैठता है। संतोष, शांति को कहीं प्राप्त नहीं होता। जहाँ जाता है, तृष्णा रूपी दाह पीछे लगा रहता है। अल्प परिच्छिन्न वस्तु दुःखरूप होती है। हे नारद! जहाँ त्रिपुटी है, वहाँ-वहाँ ब्रह्मलोक पर्यन्त सब असत, जड़, दुःखरूप है।

नारद—हे प्रभो! आपने भूलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सब पदाथ अल्परूप कहे और वस्तु इन सबसे उत्तम कही। अब उस सत् का लक्षण कहिये।

सनत्कुमार—हे नारद! वह सत् सर्व व्यापक है। जहाँ अल्प न पाया जावे, जहाँ ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद न हो, जहाँ लेना, देना तथा देखना, सुनना न हो, जहाँ द्वैत न हो, वहीं भूमा स्वरूप है।

नारद—हे प्रभो! अब तक तो मैं ब्रह्मलोक को सबसे श्रेष्ठ मानता तथा जानता था। पर है कि आप उसको भी नर्क रूप कहते हैं। आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की जो यह संशय भी मेरा दिया। अब उस भूमा का स्वरूप कहिये जिसको जानकर शांति पाऊँ।

सनत्कुमार—हे नारद! जहाँ इच्छा है वहीं नरक है। ब्रह्मलोक में भी यह इच्छा बनी

कि हम सन् पद को कब प्राप्त होंगे ? अतः आशा का अभाव ब्रह्मलोक में भी नहीं है। इसी कारण से हमने ब्रह्मलोक को नरक रूप कहा है, दूसरे प्रकार से नहीं। हे नारद ! वह भूमा बड़े-से-बड़ा और छोटे-से-छोटा है। निकट-से-निकट तथा दूर-से-दूर है। उसमें आशा, तृष्णा, स्मरण, प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय आदि त्रिपुटियाँ नहीं हैं। जहाँ त्रिपुटी होती है वहीं नरक है।

नारद—हे भगवन् ! उस भूमा का स्थान कहाँ है और वह कैसे मिलेगा ?

सनत्कुमार—हे नारद ! उस भूमा तक बुद्धि भी नहीं जा सकती क्योंकि वह अप्रमेय और अवाच्य पद है। उसमें स्थूल, सूक्ष्म, देश, प्रदेश, जहाँ, तहाँ, यह, वह, तू, मैं कुछ नहीं कहा जा सकता। अचल, अमर, अक्रिय, वे मन, वे इच्छा को भूमा कहते हैं। वास्तव में वह वाणी का अविषय है। परन्तु तेरे समझाने के वास्ते किंचित् उपाधि द्वारा हम कहते हैं। वह भूमा आत्मा अपनी महिमा में स्थित है। सो तू ही है ''तत्वमसि''। हे नारद ! अब हम तुम दोनों अपने-अपने हृदय में विचार करें क्योंकि वह भूमा कहने, सुनने, समझने से बाहर है। अपने आप प्रत्यग् आत्मा से भूमा भिन्न नहीं है। आत्मा से इतर सब असन् है। जहाँ देखना-सुनना नहीं, जहाँ आना तथा जाना नहीं, वही भूमा है।

नारद—हे भगवन् ! जो अपने आपको देखता, जो अपने को जानता और अपने को सुनता है, क्या वही भूमा है ?

सनत्कुमार—हे नारद ! नहीं, जानना, देखना, सुनना आदि उस भूमा में नहीं हैं। जो उसमें देखना आदि होते तो वह भूमा समाधि मूर्छा, स्वप्न आदि की तरह त्रिपुटी सहित भेद वाला विकारी होता। वह अपना आप प्रत्यग् चैतन्य है। अपने आप में न कोई देखता है, न कोई सुनता है और न कोई लेता-देता है। जो सब त्रिपुटियों का ग्रहण करता है, वही भूमा आत्मा है। प्रमाता का भी द्रष्टा है। उस अपने आपे का द्रष्टा न कोई कभी हुआ और न होगा। इस भूमा आत्मा को ही सन्, अमर, अक्रिय, अभय कहते हैं। जहाँ भूमा पद नहीं है वहीं त्रिपुटी है और इसी कारण उसका बार-बार अभाव भी होता है।

नारद—हे प्रभो ! जिस भूमा की ऐसी महिमा है, वह कहाँ रहता है ? यह तो आपने बतलाया ही नहीं।

सनत्कुमार—हे नारद ! भूमा का कहीं किसी में रहना नहीं बन सकता। जो वह भूमा एक देशीय हो तो आधारों की परम्परा रूप अनवस्था दोष होगा। भूमा के विषय तो सब कल्पित हैं। भूमा नाम सब से बड़े का है। सबल हिरण्यगर्भ, विराट्, देव, जीव, पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, परिमाणु आदि स्थूल, सूक्ष्म जितने नाम, रूप और क्रियायें हैं वे सब भूमा में कल्पित हैं। वह भूमा इन सब पदार्थों से भिन्न है। यह कहना भी व्यवहार में समझाने के वास्ते है। परमार्थ में तो कुछ कह ही नहीं सकते।

नारद—हे प्रभो ! आपने प्रथम उस भूमा को अपनी महिमा में रहता कहा और फिर कहीं नहीं रहता कहा। ये दोनों विरोधी वचन कैसे ?

सनत्कुमार—हे नारद ! तुमने महिमा का अर्थ क्या समझा है ? धन, स्त्री, पुत्र, गौ, जीव, ईश्वर आदि नाम-रूप प्रपञ्च का नाम महिमा है। लोक में भी विभूति को महिमा कहते हैं। व्यवहार में उस महिमा में सत्ता-स्फूर्ति रूप से भूमा स्थित है और परमार्थ में यह महिमा उस भूमा में है ही नहीं। इसी कारण से उस भूमा को "महिमा में है" यह कहना भी नहीं बनता। तुमने पूछा कि वह भूमा कहाँ रहता है ? उसका उत्तर यह है कि वह अपने-आपे में रहता है। हे नारद ! उत्तर—भूमा, दक्षिण—भूमा, पूर्व—

भूमा, पश्चिम–भूमा, ऊपर–भूमा, नीचे–भूमा, मैं भी भूमा, तू भी भूमा, यह भी भूमा, वह भी भूमा-ही-भूमा हैं। इस प्रकार वह भूमा सर्वरूप से स्थित है। वह मैं ही हूँ—"अहं ब्रह्मास्मि"। वेद, सत्, ज्ञान, अनन्त रूप कहता है, वह भूमा ब्रह्म मैं ही हूँ।

इस संसार में दो आनन्द हैं—एक योगानन्द दूसरा विषयानन्द। योगी शरीर में स्थित योगानन्द का अनुभव करता है। भोगी पदार्थों में स्थित होकर भोगानन्द अर्थात् विषयानन्द का करता है। ये दोनों आनन्द-भूमा आनन्द के आश्रय हैं, भूमा में कल्पित हैं और स्वरूप से तुच्छ। योगानन्द और विषयानन्द दोनों का अधिष्ठान सनातन–भूमा है, वही आत्मा है। जो पुरुष आनन्द को प्राप्त हुआ है वही जीवन्मुक्त है। इसी को अमर-पद कहते हैं। वह जीवन्मुक्त ऐसा करता है कि प्रारब्ध से जो धन आदि प्राप्त होता है सो तीन प्रकार के कार्य के वास्ते है—एक रक्षा, दूसरे गरीब-अनाथों की सेवा, तीसरे यज्ञ, पुण्य, दान करने के वास्ते। यह तीनों प्रकार सच्चिदानन्द आत्मा के आश्रय सिद्ध होता है। हे नारद! इसी बोध आत्मा को तुम भी प्राप्त। पूर्व सर्वज्ञ ऋषियों ने अपने शिष्यों को इसी बोध आत्मा को प्राप्त कराया है। उद्दालक ने श्वेतकेतु द्वारा इसी आत्मा का उपदेश किया है। वही सच्चिदानन्द भूमा आत्मा हमने तुमको उपदेश किया है।

नारद—हे प्रभो! आप बोध स्वरूप और भूमा सबका आधार रहो। परन्तु इससे हमें लाभ हुआ? हमको तो उस काल में आनन्द होवे जबकि हम भी इस बोधानन्द भूमा को प्राप्त हों।

सनत्कुमार—हे नारद! यह तुम क्या कहते हो? जो बोध हम हैं, सोई बोध तुम हो। हमारा, तुम्हारा और सबका जो बोध स्वरूप आत्मा है सोई भूमा है। जो पुरुष इस बोध आत्मा को प्राप्त हुआ है सोई इस संसार में जीवन्मुक्त है और सोई परे-से-परे, पुरुषोत्तम, अद्वैतानन्द स्वरूप है। आत्मा ही सब प्रपञ्च को उत्पन्न, पालन और अन्त में अपने में लीन करता है। जो हमने पहिले अन्नमय प्रयादि पंचदश तत्त्व कहे थे, सो अन्धतम की तरह जड़ हैं। इन सब में जीवन्मुक्त चैतन्य है। जैसे सूर्य बिना ब्रह्माण्ड में अन्धकार होता है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में जीवन्मुक्त सूर्य बिना अन्धकार रहता है। हे नारद! तुम भी जीवन्मुक्त-पद को प्राप्त होओ।

जब तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा तब तुमको भूमा–पद की प्राप्ति होवेगी। अन्तःकरण उस काल में होगा जब पहले तुम्हारा खान-पान शुद्ध होगा। आहार तब शुद्ध होगा जब आप प्रारब्ध के अनुसार, ईश्वर की प्रेरणा से भेजे हुए अथवा न्याय पूर्वक स्वधर्म से उत्पन्न किये हुए में सन्तुष्ट, राग-द्वेष से रहित, निरभिमान, नम्रता पूर्वक त्यागी बनोगे। यह त्याग उस काल में सिद्ध जब तुमको त्यागी महात्माओं का संग मिलेगा जब तुमको परमसुख की तीव्र इच्छा होगी। सुख की इच्छा तब होगी जब तुम अल्प का त्याग करोगे और अल्प का त्याग तब होगा जब सत्-असत् विवेक करके सत् भूमा पद की प्राप्ति होगी। सत् भूमा की प्राप्ति तब समझनी चाहिये जब द्वैत का अभाव हो जाय। द्वैत का अभाव तब समझना चाहिये जब कि स्वस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो। अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव तब जानना चाहिये जब कि अपने आपको 'सोऽहं' ब्रह्म रूप जानो। ब्रह्मरूप से जानना तब समझो जब कि तुम्हारी बुद्धि कृतकृत्य, शांत आत्मा हो जाय। 'मैं ब्रह्म हूँ'—'साक्षी हूँ'—'द्रष्टा हूँ' कहने मत लग जाना, इससे बड़ा अनर्थ होगा।

हे नारद! इस प्रकार मुमुक्षु जब सत् भूमा पद को प्राप्त हो जाता है तब उसको ऐसा अनुभव

लग पड़ता है कि मैं सत् हूं, भूमा हूं, आनन्द स्वरूप हूं। चारों वेद, षट् शास्त्र, समस्त देवता पुकार-पुकार कर मेरी ही स्तुति आराधना करते हैं। मैं ही वेदांत वेद्य हूँ। सिवाय वेदांत के और किसी शास्त्र, पोथी, पुराण, कुरान, बाइबिल, इञ्जील, तौरेत आदिक से मुझ भूमा का बोध नहीं होता। हे नारद ! सो तुही है। यह सत् भूमा ही जीवन्मुक्त का स्वरूप है। जीवन्मुक्त तत्ववेत्ता से जब कोई मुमुक्षु प्रश्न करता है तब इस प्रकार उपदेश करता है जैसा कि हमने किया है।

तुम्हारे दृढ़ बोध के निमित्त हम फिर दुबारा कथन करते हैं। हे नारद ! जो अग्नि का प्रकाश है, जो चन्द्रमा का प्रभा रहस्य है, जिसके द्वारा सूर्य में दिखाने की शक्ति आती है और जिसके तेज से तारागण चमकते हैं। जिसके आधार पर महातेज सुखपूर्वक सारे संसार में प्रकाशित होता है, जो आदि का भी आदि, वृद्धि की भी वृद्धि करने वाला है। जो बुद्धि की भी बुद्धि, जीव का भी जीव, मन का भी मन, नेत्रों का भी नेत्र, कानों का भी कान, वाचा की भी वाचा, प्राणों का भी प्राण, गती के भी पैर, क्रिया की भी क्रिया शक्ति है। आकारों का आकार, विस्तारों का भी विस्तार, संहारों का भी संहार, पृथ्वी की भी पृथ्वी, जल का भी जल, तेज का भी तेज, वायु का भी वायु तथा आकाश का भी आकाश है। हे नारद ! जो इन सब का चैतन्य बीज है और जिसके कारण इन सबका स्फुरण होता है। जो एक अद्वैतमात्र होकर भी सब में सर्वरूप है। जिस भूमा में द्वैत की गन्ध का भी होना सम्भव नहीं है। जिसके दर्शन होते ही दृश्य और दृष्टा आपस में मिलकर एक रस हो जाते हैं, वही भूमा है। वही ज्ञान, वही बोध और ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों हो जाता है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य जिस स्थल को प्राप्त करना चाहता है, वह स्थल भी वही हो जाता है। जब कोई हिसाब ठीक तरह से लग जाता है तब उन भिन्न-भिन्न अङ्कों में कोई भिन्नता नहीं रह जाती है जिनके द्वारा कि वह हिसाब लगाया जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उस अद्वैत भूमा की प्राप्ति हो जाती है तब साध्य और साधन आदि सभी मिल कर एक हो जाते हैं। जिसके विषय में द्वैत का कोई उल्लेख ही नहीं किया जा सकता और जो सबके हृदयों में निवास करता है, वही "ब्रह्म" भूमा नाम से कहा जाता है।

हे नारद ! जैसे शिखर आदि पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनानी पड़ती हैं किंवा बाढ़ आने पर डूबने से बचने के लिए किश्ती की जरूरत होती है, उसी प्रकार भूमा पद की प्राप्ति के लिए सब काम करने पड़ते हैं। यदि मैं यह कह दूँ कि सब भूमा ही भूमा है किंवा ब्रह्म ही ब्रह्म है या आत्मा ही आत्मा है, दृष्टा ही दृष्टा है, आत्मा साक्षी कूटस्थ है, तो इस प्रकार के कथन से तुम्हारे मन को कभी भी सन्तोष न होगा और नहीं तुम शांति को प्राप्त होगे। अतः तुम्हारी बुद्धि की मन्दता का ध्यान रखते हुए एक ही ब्रह्म को विभाग करके अलग-अलग बयान किया है। जिस प्रकार बच्चों को खिलाने के लिए एक ही ग्रास के दश-बीस छोटे-छोटे ग्रास माता को बनाने पड़ते हैं, उसी प्रकार मैंने एक ही ब्रह्म के यह विभाग करके सबका अलग-अलग वर्णन किया है। तुम्हारी ग्रहण शक्ति का अनुमान लगाकर मैंने उस भूमा परम तत्त्व ब्रह्म का आत्मा रूप से उपदेश किया है।

जिस समय सङ्कल्प-जन्य अविद्या की सन्ध्या का अन्त हो जाता है, तब फिर कोई किसी प्रकार की शंका या चंचलता नहीं रहा करती। जब आत्मा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) वाली दशा में जरा-सा भी प्रवेश करती है तब यह यही कहना आरम्भ करती है कि यह शरीर मैं ही हूँ। फिर जन्म से लेकर मरण पर्यन्त सभी शारीरिक कर्मों के विषय में उसका सदा यही अभिमान बना रहता है। मछली के मुख में ज्यों ही

माँस का टुकड़ा पड़ा, त्यों ही मछेरा उसको पकड़ कर खींच लेता है। उसी प्रकार जरा-सा भी ... का अभिमान फुरा, त्यों ही सतोगुण रूपी मछेरा सुख और ज्ञान का जाल बिछाकर झट खींच ... और साधक उसमें फँस जाता है। यह जीवात्मा इस ज्ञान के अभिमान से बड़-बड़ाती है। ... कारण छटपटाती है और हाथ में आया हुआ आत्मसुख खो बैठती है। उस अवस्था में यदि ... विद्वत्ता तथा त्याग का आदर करने लगता है तो साधक को बहुत ही सन्तोष होता है और यदि ... भी सुख प्राप्त होता है तो बहुत आनन्द मानता है। उसको इस बात का अभिमान होने लगता है ... समान और कौन सुखी होगा? उसमें आठों सतोगुणों का वेगपूर्वक सञ्चार होने लगता है। ... भूत की हवायें उसके अङ्गों में खेलने लगती हैं। उसे इस बात का कुछ भी दुःख नहीं होता ... विक्षेप ही होता है कि मुझको क्या करना था और क्या कर रहा हूँ? वह अपना स्वरूप सर्वथा ... है और अपने ही ज्ञान से फूलकर आकाश के समान हो जाता है।

जिस प्रकार राजा स्वप्न में भिखारी हो जाता है और उस अवस्था में स्वयं अपनी ... में प्रवेश करके अन्न और भिक्षा मिलने पर गुरुदेव से कहने लग पड़ता है कि क्या मैं इन्द्र के समान ... को नहीं भोगता हूँ? उसी प्रकार निराकार केवल आत्मा जब जीवात्मा का स्वरूप धारण कर लेती ... वह पारमार्थिक स्वरूप से भ्रष्ट हो जाती है। वह व्यावहारिक बातचीत करने में चतुर हो ... अपने ज्ञान के गर्व के कारण ब्रह्मलोकों को भी तुच्छ बतलाने लग पड़ती है और अपनी शेखी ... है मेरे समान कोई न तो त्यागी है, न उपदेश करने वाला है और न कोई बोधवान है। हे नारद ... प्रकार सतोगुण भी इस साधक को ज्ञानाभास की डोरी में बांध लेता है। वह अज्ञानियों के ... बैठकर ऐसा विलास करता है मानो आकाश में चन्द्रमा विलास करता हो।

हे नारद! ऐसे सतोगुणी ज्ञानी की दशा अपाहिज बैल के समान होती है। शुद्ध सतो... कारण ज्ञान की विलक्षण वृद्धि होती है। उससे बुद्धि एकदम विवेक रूपी समुद्र में तैरने लग ... सम्पूर्ण तत्वों का विचार करके अन्त में जीवात्मा के स्वरूप में मिलकर समरस हो जाती है। ... ब्रह्म जो भूमा है उसको प्राप्त कर लेती है। ज्ञानदान करने वाले अत्यन्त उदार उन गुरुदेव का ... भजन, सेवा, सत्कार तन-मन-धन से करना चाहिये, क्योंकि ज्ञानवान गुरु के मिलते ही सब ... सर्वथा नष्ट हो जाते हैं। तब वह स्वधर्मरूपी अंगीठी में अभ्यास योग के पुट देकर अभिमान ... सब दोषों को जला कर भस्म कर देता है।

हे नारद! मन के सङ्कल्प-विकल्पों के झगड़ों के न रहने पर यह तुम्हारा मन केवल ... भूमा में स्थिर हो जायेगा। मन अपने स्वभाव को उसी प्रकार परित्याग कर देता है जिस प्रकार ... से सुन्न हो जाने वाला शरीर का कोई अंग स्पर्श ज्ञान से रहित हुआ सर्दी की बाधा का अनुभव ... करता। उस काल में मन को निश्चल, कलङ्कहीन तथा परिपूर्ण चन्द्र मण्डल के समान, ... प्राप्त होता है। मन की उस अवस्था में वैराग्य के कष्ट नहीं के समान हो जाते हैं और चंचलता ... अन्त हो जाता है। केवल आत्मबोध, पूर्णता ही शेष रह जाती है। जिस प्रकार नमक पानी में ... तरह घुलकर लीन हो जाता है, उसी प्रकार मन आत्म तत्व भूमा में लीन हो जाता है।

हे नारद! यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो प्राणियों के मन में दिन रात यही ... आती रहती है कि मैं अमुक हूं, मैं ऐसा हूँ, वह वस्तु मुझको मिल जाय। परन्तु सन्तों की ...

योगज्ञान का अभ्यास करने से और वैराग्य से सम्पन्न होकर गुरुदेव के चरणों की सेवा करने से जिनका मोह, मद नष्ट हो जाता है और जिनका अहंभाव इस भूमा के बोध में रमण करने लगता है, वह साधक आप से आप मुक्त भूमा आत्मा को पहिचान लेते हैं और सदैव के लिए सुखी हो जाते हैं। सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार हम लोग सूर्य के प्रकाश से ही उसे देख पाते हैं, उसी प्रकार मुक्त साधन से ही मेरा बोध होता है। इसके विपरीत शरीर अभिमान से जकड़े रहने के कारण जिनकी अहंभावना शरीर में ही डूबी रहती है, वे प्राणी बाहरी आडम्बरों से प्रसन्न रहकर समय को गंवाते और ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को प्राप्त करने के लिए इधर-उधर दौड़ पर दौड़ लगाते रहते हैं। हे नारद! अहंकारी प्राणी अहंकार को अपने हृदय से चिपटाये हुए अपने चारों ओर ढोंग की राशि एकत्र करते रहते हैं। पागल मस्त हाथी को शराब पिलाने से उसकी जो अवस्था होती है, ठीक वही अवस्था ऐसे लोगों की होती है।

हे नारद! मैंने जो तुमको भूमा पद का उपदेश दिया है इसका ज्ञान असत् अर्थात् अज्ञान जन्य नाम रूपात्मक जगत् की छाप मिटाकर तमाम मोह ममता के बन्धन काट देता है। तब उस परम-तत्वरूपी स्वरूप का सच्चा और निर्दोष रूप प्रकट होता है। आत्म स्वरूप ब्रह्म दिखाई देने लग पड़ता है। हे नारद! भूमा नाम रूपात्मक तमाम माया जन्य संसार से परे है। जो सब कुछ देखने वाला है वही मैंने "आत्मा" तथा "भूमा" शब्द से कहा है। वही सबका कारण है। उसी का तुम अपने मन में ध्यान करो। शरीर आदि के अभिमान के कारण जो मैं-तू का द्वैत भाव रहता है, इसी से ब्रह्म अपने से पृथक किंवा पराया सा जान पड़ता है। उस परम आत्मतत्व अर्थात् अपने स्वरूप का आप ही प्रत्यग् होने के कारण ही हमने भूमा शब्द रक्खा है।

अब मैं पहली बतलाई हुई बात को ही तुमको फिर से बतलाता हूँ जिससे तुम संसार में बेपरवाह होकर विचरोगे। ध्यान देकर सुनो—वह आत्मा चौबीस तत्वों से भी परे पचीसवाँ तत्व है, जो तीन गुण, तीन शरीर तथा तीनों अवस्थाओं से आगे और परे का चौथा पद है। यह तीनों गुण इस शरीर को निमित्त बनाकर ही अपनी-अपनी सामर्थ्य दिखलाते हैं। जैसे अग्नि वही रूप धारण करती है कि जो रूप काष्ठ का होता है अथवा पृथ्वी के अन्दर रहने वाला रस जिस प्रकार वृक्ष के रूप में दिखाई देता है अथवा मधुरता जिस प्रकार गन्ने को निमित्त बनाकर उसी के रूप में प्रकट होती है, उसी प्रकार यह तीनों गुण भी अन्तःकरण से युक्त होकर इस शरीर का रूप धारण करते हैं। इसीलिये तो वह बंधन के कारण बनते हैं। परन्तु, हे नारद! आनन्द की सहज स्वतन्त्रता में कभी नाम मात्र की भी कमी नहीं आती। यह तीनों गुण शरीर के संचित, क्रियमाण कर्मों का आचरण करते रहते हैं, परन्तु उनके कारण निर्गुण आत्म तत्व में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने पाती।

अब मैं एक सिद्धान्त ऐसे ढंग से तुमको बतलाता हूँ कि जिस में तुमको कुछ भी शंका न रह जाय और तुम स्वयं अपनी गलती को आपही अनुभव करके मेरे अनुभव को फौरन जान जाओ। वह सच्चा और निर्दोष ज्ञान तुम अपने मन में खूब बिठाओ ताकि तुमको उस एक आत्म तत्व भूमा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का दर्शन ही न हो।

नारद—हे गुरु! ऐसा ही करूँगा।

सनत्कुमार—हे नारद! तुम याद रक्खो कि वही भूमा नाम की आत्म ज्योति कुत्तों में पड़कर भौं-भौं करती देखी जाती है, वही शूकरों में रह कर घुर-घुराती और गधों में रहकर रेंकती है। परन्तु प्रायः

मूर्ख लोग शरीरों पर ही दृष्टि रखते हैं, चैतन्य तत्व पर नहीं। ज्ञानी लोग इन शरीरों की अ आत्मा का दर्शन करते हैं। हे नारद! पंचभूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार नाम की यह आठ प्र चिन्मात्र भूमा आत्मा के ही अपरमार्थिक रूपान्तर हैं। जब इन सब के साक्षी का ध्यान किया तभी निरुपाधिक सदाशिव आत्मदेव दृष्टिगोचर होने लग पड़ता है। जब इन आठों प्रकृतियों प साधक की दृष्टि पड़ी तभी उसको शीघ्र ही अपने भूमा सदाशिव का अखण्ड दर्शन हो जाता है, कि समाधि होने लग पड़ती है और धीरे-धीरे संसार के कार्यों से उपरामता होने लगती है।

परा प्रकृति ने ही यह आठ रूप धारण कर लिए हैं। यही कारण है कि प्राणी को इ तरफ से आये हुए आठ प्रकार के ही दुःखों को भोगना पड़ता है। इन आठों प्रकृतियों की द्वारा लक्षणावृत्ति से ज्यों ही इन के साक्षी चैतन्य आत्मा का अन्वय व्यतिरेक से कोई साधक कर लेता है, त्यों ही आठों प्रकृतियों का एक दम बाध हो जाता है। तब तो वहाँ साक्षी आत्म विराजमान होते हैं। हे नारद! भ्रमरूप अज्ञान की निवृत्ति होते ही माया, ममता, शोक, ता दुःख, मान, अभिमान, राग, द्वेष, हिंसा, लोभ, मोह, क्रोध, मद तथा मात्सर्य आदि अन्त तमोमय, रजोमय, सतोमय तमाम दोषों का नाश हो जाता है। कामना के रहने से तृष्णा अर्थात् बढ़ता है। गौरव के ज्ञान से रौरव नर्क मिलता है। प्रतिष्ठा की इच्छा करने से इष्ट का चिन्तन न सकता। अतः इसका सूकर की विष्टा के समान त्याग करना चाहिए। अपने को बड़ा समझने से ज्ञानी गुरु मिलता है और न शान्ति ही मिलती है। ज्ञानी गुरु के न मिलने से बड़ा कष्ट उठाना पड़

हे नारद! अच्छी तरह से समझ लो कि सांसारिक इच्छाओं के रहते हुए भूमापद की करनी निरर्थक है। अहं के ज्ञान से सोऽहं नहीं निकला करता। केवल पाखंड की रचना से ह कर्मों का भी नाश हो जाता है। इसलिये यदि सच्चे साधक या योगी किंवा भक्त बनने की इ तो देह को मिट्टी की जानकर, शरीर का अभिमान मिट्टी में मिलाकर, मिट्टी होकर, मिट्टी खाकर में मिलकर प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करने से ही सब सबा हो जायगा। मिट्टी की देह भी हो जायगी। सीधे-साधे भाव से सब मिट्टी करके यदि तुम मिट्टी के मानव भी नहीं हो सके तो किया कराया सब मिट्टी ही है। यह बात याद रक्खो कि बन्धनों से तथा पंच क्लेशों से मुक्त सकता है जिसका अहंभाव नष्ट हो गया हो, फिर वह चाहे चुप रहे, चाहे बात करे। परन्तु के बने रहने पर तो ब्रह्मादिक भी मुक्त नहीं हो सकते, तुम्हारी तो बात ही क्या है? जो कुल के में चूर रहता है, वह पारलौकिक उन्नति से बहुत दूर जा पड़ता है। हे नारद! बोलो अब चाहते हो?

नारद—हे गुरु! मैं शोक से पार और कृतकृत्य हो गया। गुरु की ठोकर लगी, स्वप्न भङ्ग हो मैं जग गया—मैं जग गया। आपकी जय हो—जय हो। मैं धन्य हूँ—मैं धन्य हूँ। हे गुरु महाराज कभी यह भाव उत्पन्न हो जाय कि यह कान, नाक, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ मेरी हैं, यह कर्मेन्द्रियाँ मैं इनसे कार्य करता हूँ, भूख-प्यास, सुख तथा दुःख भी मुझको ही होते हैं, तो इस भाव मिटावें?

सनत्कुमार—हे नारद! सदाशिव ज्ञानदेव भूमा में दीक्षित हो जाने के पश्चात् पूर्व

जब कभी यह भाव उत्पन्न हो जाय तो शीघ्र ही साधक चित्त को सावधान करके इन सब अनात्म धर्मों के ख्याल को त्याग दे और इसके बदले में यह चिन्तन करे कि शुद्ध आत्मतत्व भूमा में इन अनात्म धर्मों का ठिकाना भला कहाँ ? यह सब धर्म इन्द्रिय, प्राण तथा मन या अहङ्कार के हैं, मुझ आत्मा के नहीं। जब कोई साधक अपने ज्ञान-दीपक को कभी भी बुझने नहीं देता तो बस यही भूमा नामक शालिग्राम स्थानीय आत्मा का पूजन है। यदि कोई जिज्ञासु इस भूमा सदाशिव आत्मदेव की पूजा का संकल्प कर लेता है तो उसके संकल्प का इतना अद्भुत प्रभाव पड़ता है कि अनात्म संकल्पों से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण दुःख स्वयमेव भाग जाते हैं।

हे नारद ! शालिग्राम स्थानीय सदाशिव आत्मदेव भूमा का पूजन करते-करते दृढ़ साक्षात्कार करके जब अधिकारी का अहंकार नष्ट हो जाय, तब मुमुक्षु को चाहिए कि संसार से इस प्रकार गिर पड़े जैसे डण्डा लम्बा होकर भूमि में गिर पड़ता है और वहीं पड़ा-पड़ा गल-सड़ कर भूमि में लीन होकर अपना नाम-रूप आदि खो दे, मानो ब्रह्म में पग गया है। फिर आनन्द की स्फूर्ति होने लग पड़ती है। यही आत्मदेव भूमा का पूजन है। हे नारद ! तुम शालिग्राम स्थानीय हृदय-कमल की उपासना करके भूमा पद को प्राप्त हो !

॥ इति शालिग्राम उपासना प्रकरणम् ॥

गुरु-स्तुति

ब्रह्मणे नमो नमः — ब्रह्मणे नमो नमः
अलख हो अनन्त हो — आदि हो न अन्त हो
निर्गुण निराकार हो — निर्मल निराधार हो
ज्ञान हो विज्ञान हो — केवल अधिष्ठान हो
मुक्त हो निर्वाण हो — अगम हो अपार हो
सूक्ष्म हो स्थूल हो — मूल फल फूल हो
सर्वदा अगम अरूप हो — एक हो अनेक हो
शान्त हो निरभिमान हो — अचल हो समान हो
साक्षी हो भगवान् हो — राम हो आगम हो
अधिक हो न न्यून हो — बोलते हो मौन हो
स्वाद हो न अस्वाद हो — मधुर हो रसखान हो
बुरे हो न भले हो — जुदे हो न मिले हो
बंधे हो न खुले हो — एक से अनेक हो
हाज़िर हजूर हो — सब में भरपूर हो
नाज़िर हो न मंजूर हो — स्वयं आप ही आप हो
साकार हो न निराकार हो — शुद्ध चैतन्य निर्विकार हो।

[याज्ञवल्क्य—ब्राह्मण-संवाद]

शिष्य—हे गुरु ! मुझको एक शङ्का है कि आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से काम, क्रोध का पराजय होता है अथवा परोक्ष ज्ञान से। राजा जनक ने याज्ञवल्क्य मुनि को ही क्यों गुरु बनाया ब्राह्मणों को क्यों नहीं बनाया ?

गुरु—हे शिष्य ! चित्त को सावधान करके सुन। एक समय संसार में याज्ञवल्क्य मुनि की बहुत फैली। उस कीर्ति को सुनकर अश्वल आदि ब्राह्मण अनेक प्रकार की निन्दा करने लगे, परन्तु वल्क्य की कीर्ति तथा प्रशंसा का प्रभाव जनक राजा के हृदय से दूर नहीं हुआ। हे शिष्य ! परोक्ष कारण ही काम-क्रोध से युक्त अश्वल आदि ब्राह्मणों में निन्दाभाव प्रकट हुआ। अपरोक्ष ज्ञानी वल्क्य मुनि की क्षमा तथा शान्ति को भी सुन। अश्वलादि अनेक ब्राह्मणों द्वारा की गई को याज्ञवल्क्य मुनि अपने कानों से सुनता हुआ तथा दूसरे पुरुषों से भी सुनकर किंचित् मात्र को प्राप्त नहीं हुआ। अपरोक्ष आत्मज्ञान के प्रभाव से याज्ञवल्क्य मुनि उससे प्रसन्न ही हुआ। काल के मेघ गर्जना से रहित जल की वर्षा करते हैं, उसी प्रकार शान्ति पूर्वक अपने शिष्यों को हुआ याज्ञवल्क्य मुनि अश्वल आदि अपने निन्दक ब्राह्मणों को क्षमा करता रहा।

हे शिष्य ! इस प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि की कीर्ति को सुनकर मिथिला के राजा जनक ने को देखने की अभिलाषा की परन्तु अश्वल आदि ने अनेक प्रकार के उपायों द्वारा उसे याज्ञवल्क्य के दर्शन करने से रोक दिया। तब राजा ने उन अश्वलादि ब्राह्मणों के दुष्ट अभिप्राय को जानकर कुछ भी नहीं कहा ! याज्ञवल्क्य मुनि के दर्शनों की तीव्र इच्छा से प्रेरित जनक ने यज्ञ का विचार और मन्त्रियों को आज्ञा दी कि सब देशों में जाकर सब ब्राह्मणों को सूचना देवें कि राजा जनक का होने वाला है। आप सब ब्राह्मण राजा जनक की मिथिला नगरी में आकर यज्ञ की शोभा बढ़ावें प्रकार जनक की आज्ञा को पाकर कुरु तथा पांचाल देश आदि से लेकर सब देशों में एकदम सूचना दी गई।

यज्ञ की तैयारी होने लगी। मिथिला नगरी सजाई गई। मार्ग ठीक होने लगे। मिथिला के चारों द्वार वस्त्रों से अलंकृत किये गये। मिथिला नगरी ठीक इन्द्रपुरी-सी जान पड़ने लगी। जगह पाकशालायें खोल दी गईं ताकि किसी को भी खाने-पीने का कष्ट न हो। यज्ञ की सूचना पाकर में स्थित जितने भी विद्वान् ब्राह्मण थे, शिष्यों सहित जनकपुरी में आकर एकत्रित हो गए। याज्ञवल्क्य भी अपने शिष्यों सहित उस यज्ञ में आये। उन सब ब्राह्मणों के आने से जनक के गृह में वेदों की होने लगी। उस यज्ञशाला में एक ब्रह्मनिष्ठ गार्गी नामक स्त्री भी आई थी। अनेक विद्वान् ब्राह्मण अपने शिष्यों सहित वहाँ आये। इस प्रकार अनेकों कोटि ब्राह्मण इकट्ठे हो गये। उन ब्राह्मणों में शकल नामक ब्राह्मण का पुत्र शाकल्य भी था। उसका दूसरा नाम विदग्ध था। वह बड़ा ही वाचाल और अत्यन्त अभिमानी था। अज्ञान से मोहित हुआ सर्वदा याज्ञवल्क्य से द्वेष रखता था।

सब ब्राह्मणों के एकत्रित होने पर राजा जनक यज्ञ में आया और सबके प्रति हाथ जोड़कर लगा कि हे ब्राह्मणो ! अश्वमेध आदि यज्ञों के द्वारा मैं देवताओं का पूजन करने की इच्छा करता हूँ

बहुत दक्षिणा द्वारा सब ब्राह्मणों को भी पूजना चाहता हूं। आप सब ब्राह्मण मुझको यज्ञ करने की आज्ञा दें, पश्चात् में सब दिशाओं को मेरी आदि शब्दों से पूर्ण करूँगा।

हे शिष्य ! जब राजा ने ब्राह्मणों से इस प्रकार कहा तब सब ब्राह्मणों ने जनक को यज्ञ करने की आज्ञा दी। यज्ञ के पश्चात् जनक को यह जानने की इच्छा हुई कि इन में से सबसे अधिक वेदों का जानने वाला कौन ब्राह्मण है ? पर इस विषय में पूछे जाने पर तो सभी अपने और अपने प्रेमियों, मित्रों को ही सर्वोत्तम बताते, भले ही वे महामूर्ख ही क्यों न होते और द्वेष के कारण वे अन्य विद्वानों को भी मूर्ख ही बतलाते। इस प्रकार इन ब्राह्मणों के परस्पर राग-द्वेष के कारण सत्य का निर्णय असंभव हो जाता।

शिष्य—हे गुरु ! जो ब्राह्मण राग-द्वेष से रहित उदासीन हो, उससे पूछ कर अधिक विद्वान् ब्राह्मण का निश्चय कर लेना चाहिये था।

गुरु—हे शिष्य ! उदासीन पुरुष से पूछने पर भी उत्तमता का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि शम-दमादि गुणों के ज्ञान से उत्तमता का निश्चय होता है और क्रोध, लोभ आदि दोषों से अधमता का ज्ञान होता है। इन गुण-दोषों का ज्ञान उदासीन पुरुष को नहीं होता। इसलिये उदासीन पुरुष के द्वारा भी सब से अधिक विद्वान् ब्राह्मण का ज्ञान सम्भव नहीं था।

शिष्य—हे गुरु ! जनक ने कोई प्रश्न करके उनके विद्वानपने का निश्चय क्यों न कर लिया ?

गुरु—हे शिष्य ! इस प्रकार से भी सबसे अधिक विद्वान् ब्राह्मण का निर्णय नहीं हो सकता था, उलटे हानि होती। ब्राह्मणों के सामने कठिन प्रश्न किये जायें तो वह कुपित होकर शाप दे दें। अतः इन उपायों से अधिक विद्वान् ब्राह्मण का निर्णय नहीं हो सकता। उनके परस्पर के विवाद से ही इसका निर्णय हो सकता है। राजा जनक ने विचार किया कि जो मैं इन ब्राह्मणों से यह कहूं कि आप सब परस्पर विवाद करो, तो ये क्रोध पूर्वक मुझको शाप देकर भस्म कर देंगे। इसलिए कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए कि जो मुझे कुछ भी कहना न पड़े और ये परस्पर स्वयं ही विवाद करेंगे और विवाद में सबसे अधिक विद्वान् का निर्णय हो जायगा।

हे शिष्य ! व्यवहार कुशल राजा जनक ने अपने मन में यही निर्णय किया। धन ही विवादों का कारण है। विषय भोग का साधन यह धन किसके चित्त को क्षोभ नहीं करता ? ब्रह्मवेत्ता संन्यासी के चित्त में भी यह धन क्षोभ करता है, तब कुटुम्बी गृहस्थों की तो बात ही क्या है ? काम, क्रोध आदि दोष भी धन से ही उत्पन्न होते हैं। धन के अभाव से काम, क्रोध आदि का भी अभाव होता है।

शिष्य—हे गुरु ! राजा जनक को धन में दोष दीखे तो ब्राह्मणों को धन देने का निश्चय क्यों किया ? धन प्राप्त कर ब्राह्मणों में भी तो इन दोषों की वृद्धि ही होती।

गुरु—हे शिष्य ! ब्रह्मज्ञानी विद्वान् ब्राह्मण द्वारा धन से पाप कर्म होता ही नहीं क्योंकि वह शम, दम आदि गुणों से सम्पन्न तथा वासनाओं से रहित होता है। शम, दम आदि गुण जहाँ रहते हैं वहाँ काम, क्रोध आदि दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और जहाँ कामादि दोष नहीं होते वहाँ पाप की भी प्राप्ति नहीं होती। राजा जनक ने विचार किया कि ब्राह्मणों के इस समाज में याज्ञवल्क्य मुनि के बिना दूसरे किसी ब्राह्मण में सर्वोत्तमता की सम्भावना नहीं हो सकती।

शिष्य—हे गुरु ! संभाषण किये बिना याज्ञवल्क्य की उत्तमता राजा ने किस प्रकार जानी ?

गुरु—हे शिष्य ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व इत्यादि दोषों से रहित जो पुरुष है, वही ब्रह्मज्ञानी है। राजा जनक ने यह लक्षण याज्ञवल्क्य के विषय में ही घटते देखे, दूसरे ब्राह्मणों में नहीं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं विद्याभिमान से रहित जड़ पुरुष की तरह मौन, शान्ति में याज्ञवल्क्य मुनि के समान कोई दूसरा विद्वान् नहीं दीख पड़ा। याज्ञवल्क्य मुनि धन को अपने लिए नहीं ग्रहण करेगा किन्तु प्राणियों के उपकार के लिए ही धन ग्रहण करके सब ब्राह्मणों को परास्त करेगा। यह बात राजा जनक ने याज्ञवल्क्य मुनि के मुख की आकृति द्वारा जान ली। याज्ञ मुनि के जीतने की इच्छा करने वाले जो अहंकारी ब्राह्मण थे वे परस्पर हँसी करते, कुवचन बोलते तथापि याज्ञवल्क्य अज्ञानी पुरुषों की नाईं शांत रहकर क्षोभ को प्राप्त नहीं हुआ। इन लक्षणों से राजा जनक को याज्ञवल्क्य मुनि पर श्रद्धा हो गई।

इस प्रकार विचार कर राजा जनक ने एक सहस्र जवान, बछड़े वाली कामधेनु यज्ञ-मण्डप द्वार पर खड़ी कर दीं। उनके दोनों सींगों और चारों खुरों से बीस-बीस निष्क बांध दीं। प्रत्येक निष्क नव्वे तोले की थी। तब जनक सभा के बीच हाथ जोड़ कर कहने लगे कि हे ब्राह्मणो! आपने कृपा की जो मुझ जैसे दीन दास को घर बैठे दर्शन दिये। मैं आप की क्या सेवा करूँ ? यह सब मिथिला नगरी आप ही की है। मैं सेवक आपका काम-काज करके इस शरीर का निर्वाह कर लेता हूं। हे ब्राह्मणो! इस कष्ट के लिये मैं आप से क्षमा चाहता हूँ !

ब्राह्मण—हे राजा ! तेरी क्या इच्छा है ?

जनक—हे ब्राह्मणो ! मेरी यह इच्छा है कि यज्ञ-मण्डप के सामने खड़ी एक सहस्र गौवें जिनके दोनों सींगों तथा चारों खुरों से बीस-बीस निष्क बंधी हुई हैं, मैं संकल्प करूँ। आप सब ब्राह्मणों में जो सबसे अधिक ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हो, वही इन गौवों को ले जा सकता है।

हे शिष्य ! जनक के इन वचनों को सुनकर तमाम ब्राह्मण नीचा मुख करके मौन हो गए। याज्ञवल्क्य मुनि ने देखा कि कोई भी ब्राह्मण गौवों के ले जाने को समर्थ नहीं है तो स्वयं उठा और ब्राह्मणों के सामने खड़ा होकर ऊँचे स्वर से कहने लगा कि हे ब्राह्मणो ! मैं याज्ञवल्क्य मुनि गौवों को ले जाता हूं। इस प्रकार के वचन सुन कर याज्ञवल्क्य का सामवेद पाठी शिष्य गौवों को उनके आश्रम ले जाने लगा। तब सब ब्राह्मण याज्ञवल्क्य के ऊपर क्रोध करने लगे। यज्ञ-मण्डप में खलबली मच गई। इस दशा को देखकर राजा जनक को बड़ा ही आनन्द हुआ और ब्राह्मणों को बड़ा दुःख हुआ।

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! देखो, सांख्य शास्त्र वाले शब्द, स्पर्श आदि विषयों में ही सुख-दुख को मानते हैं, पर वास्तव में सुख-दुख अपने मन में रहते हैं। एक ही काल में मैं ब्राह्मणों को दुख और तुम को सुख का कारण हो रहा हूँ। इससे स्पष्ट है कि सुख-दुख विषयों में नहीं, केवल मन में हैं। स्नेह वाले चित्त में सुख की उत्पत्ति और द्वेष वाले चित्त में दुख की उत्पत्ति होती है। यदि सुख-दुख विषयों का ही धर्म होता तो सब को उन से सुख अथवा दुःख की ही प्राप्ति होनी चाहिये थी। किसी को सुख की और किसी को दुख की प्राप्ति, यह विषमता सम्भव नहीं होती। इसलिये सुख-दुख विषयों का धर्म नहीं, किन्तु मन का ही धर्म है।

जब सभा के ब्राह्मणों ने गौवों को गया हुआ समझा तो वे सब क्रोधावेश में भूताविष्ट की सी चेष्टा करने लगे। आँखों को लाल करके उन्मत्त की नाईं अनेक दुर्वचन याज्ञवल्क्य मुनि के प्रति

लगे। पूर्णमासी के दिन विक्षुब्ध समुद्र की भांति सब ब्राह्मण क्षोभयुक्त हो कर कहने लगे कि देखो कैसा अनर्थ हुआ है? हम सब ब्राह्मणों का तिरस्कार करके यह याज्ञवल्क्य अकेला ही गौवों को ले गया। हमारे कुलों को, विद्या को, जीवन को, गुरुओं की सेवा को और शिष्यों को धिक्कार है।

सब ब्राह्मणों की यह दशा देखकर अश्वल ब्राह्मण बहुत ही क्रोधित हुआ और सभा का उल्लङ्घन कर याज्ञवल्क्य मुनि के पास जाकर कहने लगा कि रे दुष्ट! गुरु संप्रदाय से रहित दुराचारी धूर्त, अभिमानी, निर्लज्ज, तुझको शर्म नहीं आई कि तू हम सब ब्राह्मणों का अपमान करके गौवों को ले गया। क्या तू ही हम सब से अधिक विद्वान् है? तू ने समझा क्या है? विद्या में तो तू हम से अधिक नहीं है। हाँ, लोभ तथा घमण्ड में हम से अधिक अवश्य है। क्या तू देखता नहीं कि हम सब ब्राह्मण हिरण्यगर्भ के समान हैं तथा गर्व, लोभ आदि दोषों से रहित, शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न हैं। तर्क रूपी मनन की सिद्धि के लिए चतुर्दश विद्या को भी हम अच्छी प्रकार जानते हैं। हे याज्ञवल्क्य! इस भूमि में लज्जा से रहित हुआ कौन पुरुष पंडित नहीं बन सकता? किन्तु क्या लज्जा से रहित हुआ पुरुष ही पंडित होता है, जैसे कि हम सब ब्राह्मणों में लज्जा से रहित हुआ तू ही पंडित है। गर्व, लोभ तथा अनम्रता से युक्त हुआ तू ही हम सब ब्राह्मणों को क्रोध कराने वाला है, इसलिए सब ब्राह्मण क्रोध करके तेरा ही नाश करेंगे।

हे शिष्य! इस प्रकार कठोर वचन रूपी बाणों से याज्ञवल्क्य को छेदता हुआ वह भूताविष्ट के समान थर-थर कांपने लगा।

याज्ञवल्क्य मुनि शान्ति पूर्वक उसके कटु वचनों को सुनता हुआ भी प्रसन्न मुख ही रहा। जैसे ओलों की वर्षा से पीड़ित पर्वत क्षोभ को प्राप्त नहीं होता वैसे ही अश्वल के वचनों को सुनकर हँसता हुआ याज्ञवल्क्य कहने लगा कि हे अश्वल! इस ब्राह्मण समाज में ब्रह्मवेत्ता को तो मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं, परन्तु तुम से एक बात पूछता हूँ कि मैं जिन गौओं को ले गया हूँ, वे तुम्हारी तो नहीं हैं। तुम लोग बे प्रयोजन मुझ पर क्रोध क्यों करते हो? जनक गौवों का दाता है और मैं ले जाने वाला हूं। इस में तुम सब ब्राह्मणों के क्रोध का कौन सा कारण है? जनक बहुत धनवान है। यदि तुमको भी धन की इच्छा हो तो तुम भी राजा से माँग लो। तुम्हें देने के लिये मैं राजा को रोकता नहीं। मेरे ऊपर क्रोध करना तथा दुर्वाच्य कहना उचित नहीं। हे अश्वल! विचार करके बोलना चाहिये, बे विचारे नहीं। क्या इसी का नाम पढ़ना, लिखना तथा शम, दम आदि गुणों का धारण करना है?

हे शिष्य! याज्ञवल्क्य मुनि के यह वचन सुन कर घृताहुति से अग्नि के समान अश्वल एक दम विक्षुब्ध हो गया और याज्ञवल्क्य मुनि के साथ विवाद करने को उद्यत हो बोला कि हे याज्ञवल्क्य! दिन-रात रूपी काल से सम्पूर्ण पदार्थ परिच्छिन्न हो रहे हैं। उस परिच्छिन्न भाव की निवृत्ति किस ज्ञान से होती है? और हे याज्ञवल्क्य! शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष रूप से तमाम पदार्थ परिच्छिन्न हो रहे हैं। उस परिच्छिन्न भाव की निवृत्ति किस ज्ञान से होती है?

याज्ञवल्क्य—हे अश्वल! वृत्ति रूप से मन अनन्त है और विश्वे देवता भी अनन्त हैं। उस अनन्त रूप सामान्य धर्म को ग्रहण करके जब ब्रह्मा मन को विश्व देवता रूप से चिन्तन करता है, उस काल में ब्रह्मा के समष्टि रूप ज्ञान से परिच्छिन्न ज्ञान की निवृत्ति होती है और तत्पश्चात् यमराज को

अनन्त फल की प्राप्ति भी होती है। हे अश्वल! तीन ऋचाओं को गाने वाला जो उद्गाता प्राण, अपान, व्यान रूप करके देखता है सो उद्गाता अभेद रूप ज्ञान से यजमान के निमित्त भूर्भुवः तीन लोकों को जीतता है।

हे शिष्य! इस प्रकार जब याज्ञवल्क्य मुनि ने अश्वल के प्रश्नों का उत्तर दिया तो वह याज्ञवल्क्य मुनि के जीतने की इच्छा को त्याग कर लज्जित हो चुपचाप सभा में जा बैठा। उसके पश्चात् आर्तभाग नाम का ब्राह्मण याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न करने लगा।

आर्तभाग—हे याज्ञवल्क्य! ग्रह कितने प्रकार के होते हैं?

याज्ञवल्क्य—आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं।

आर्तभाग—हे याज्ञवल्क्य! वह आठ ग्रह और आठ अतिग्रह कौन-कौन हैं?

याज्ञवल्क्य—हे आर्तभाग! कान, त्वचा, चक्षु, रसना, नाक, मन, वाणी और हाथ यह इन्द्रियाँ जीव का बन्धन करती हैं, इसी से इन आठों को ग्रह नाम से पुकारते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध, इच्छा, नाम तथा क्रिया ये आठ इनके विषय हैं। इन ही आठ विषयों को अतिग्रह नाम से कहते हैं। यह जीव के बन्धन करने वाले हैं, इसी से अतिग्रह कहाते हैं। हे आर्तभाग! जैसे समुद्र में पड़े मनुष्य को मगर खा जाते हैं और उन मगरों को भी अधिक बलवान् मगर आदि खा जाते हैं, इसी प्रकार संसार रूप समुद्र में पड़े हुए अज्ञानी जीव को यह आठ इन्द्रिय रूपी ग्रह खा जाते हैं अर्थात् इन्द्रियाँ उस मूर्ख को अपने वश में कर लेती हैं और श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ रूपी ग्रहों को शब्द आदि रूप अतिग्रह खा जाते हैं। हे आर्तभाग! जैसे पिशाचादि ग्रह से युक्त हुआ यह पुरुष अपने हित को, अहित को नहीं जानता है, उसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों के अधीन हुआ भी अपने मोक्ष रूप हित तथा बन्ध रूप अहित को नहीं जानता है। जैसे किसी बलवान् पुरुष से बँधा हुआ मगर यद्यपि उस पुरुष के मारने की इच्छा नहीं करता है, तो भी बलवान पुरुष रूप अतिग्रह द्वारा प्रेरित वह मगर उस पुरुष के मारने के लिए प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रिय रूप ग्रह यद्यपि जीवों के बन्धन की इच्छा नहीं करती हैं तथापि शब्द आदि विषय रूप अतिग्रहों के अधीन हुए श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ जीव को बन्धन करने के लिए प्रवृत्त होती हैं।

हे शिष्य! इस प्रकार जब याज्ञवल्क्य मुनि ने आर्तभाग के प्रश्न का उत्तर दिया तब आर्तभाग भी चुपचाप होकर बैठ गया। इसके पश्चात् उपस्त ब्राह्मण याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न करने लगा।

उपस्त—हे याज्ञवल्क्य! जैसे जड़, तमोगुण रूप लोहा अग्नि के सम्बन्ध से प्रकाशित होता है, उसी प्रकार वृत्ति अविच्छिन्न चैतन्य के सम्बंध से घट-पट आदि जड़ पदार्थ प्रतीत होते हैं। इसलिए घट-पट आदि जड़ पदार्थों में मुख्य रूप से अपरोक्ष रूपता नहीं है, किन्तु घटादि में गौण अपरोक्षपना है। हे याज्ञवल्क्य! ब्रह्म स्वयं प्रकाशरूप चैतन्य है, इसलिए ब्रह्म में मुख्य अपरोक्षपना है और वह ब्रह्म अन्दर तथा बाहर व्यापक है, इससे वह ब्रह्म ही आत्मरूप है। हे याज्ञवल्क्य! यह बात हमारी समझ में नहीं आती। शास्त्र ने तो आत्मा में ब्रह्मरूपता तथा अद्वितीयरूपता यह दोनों धर्म कथन किये हैं, इस में तो हम विवाद नहीं करते। परन्तु ब्रह्मरूपता तथा अद्वितीयरूपता यह दोनों धर्म जिस आत्मा रूप में रहते हैं, वह आत्मा मुझे इस संघात से भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसलिए, हे याज्ञवल्क्य! इस संघात से जो आत्मा विलक्षण है, उसे हमारे प्रति कथन करो, तब हम तुमको बुद्धिमान् पण्डित जानेंगे।

याज्ञवल्क्य—हे उपस्त ! यह आत्मा अद्वितीय ब्रह्मरूप है, इसलिए अत्यन्त समीप आत्मा में तुम्हें असंभावना करना ठीक नहीं है। हे उपस्त ! तू अन्तर्मुख हो जा; बहिर्मुखता को त्याग। कथन-मात्र से तू उस आत्मा को नहीं जान सकता। तूने जो यह कहा है कि संघात से आत्मा का स्वरूप हमारे प्रति कथन करो सो, अरे उपस्त ! वह तुम्हारा आत्मा अत्यन्त अपरोक्ष है। "अहं-अस्मि" इस प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा तू भी आत्मा को जानता है। इसलिए अपरोक्ष आत्मा में असम्भावना करनी ठीक नहीं।

उपस्त—हे याज्ञवल्क्य ! वह आत्मा कौन है ? स्थूल शरीर है अथवा सूक्ष्म शरीर आत्मा है अथवा इनका प्रकाशक साक्षी आत्मा है।

याज्ञवल्क्य—हे उपस्त ! जैसे मदारी रस्सी में बन्दर को बाँधकर अनेक प्रकार के नाच नचाता है, उसी प्रकार तेरे शरीर में स्थित होकर जो प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा बुद्धि आदिक संघात को अपने-अपने व्यापार में लगाता है, सोई तेरा आत्मा है।

उपस्त—हे याज्ञवल्क्य ! आत्मा से भिन्न प्राण, मन, बुद्धि आदि पदार्थ सत्य हैं अथवा असत्य हैं ? यदि सत्य हैं तो जैसे 'घट' 'पट' आदिकों में अन्तर नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा में सब से विभिन्नता नहीं घटती और जो कहो कि आत्मा से भिन्न बुद्धि आदि पदार्थ असत्य हैं तो आत्मा में सर्वान्तर्यामित्व नहीं घटता, क्योंकि सर्व शब्द से बुद्धि आदि का भी ग्रहण हो जाता है। हे याज्ञवल्क्य ! बुद्धि आदि पदाथ तेरे सिद्धान्त में अत्यन्त असत्य हैं, इसलिए इनका अभाव होने से आत्मा में सर्वान्तर्यामीपना नहीं घटता।

याज्ञवल्क्य—हे उपस्त ! इस आनन्दस्वरूप आत्मा से भिन्न जितने भी बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदिक पदार्थ हैं, वे सब-के-सब जड़ हैं और घट-पट की नाईं जन्म-मरण वाले हैं। इसीलिए वह कल्पित हैं। उन कल्पित बुद्धि आदिकों में अधिष्ठान आत्मा की व्यापकता सम्भव है, असम्भव नहीं। जैसे रस्सी-रूप अधिष्ठान में कल्पित जो सर्प, दण्ड, जलधारा आदिक हैं, उन कल्पित सर्प आदिकों में रस्सीरूप अधिष्ठान व्यापक है। उसी प्रकार बुद्धि आदिक में अधिष्ठान आत्मा व्यापक है। इसलिए आत्मा में सर्वान्तर्यामीपना सम्भव है।

हे शिष्य ! जब इस प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि ने सङ्घात से विलक्षण आत्मा का स्वरूप निरूपण किया तो उपस्त को यह निश्चय हो गया कि याज्ञवल्क्य मुनि बड़ा ही बुद्धिमान है, हम इसको नहीं जीत सकते। इस प्रकार निश्चय करके उपस्त चुपचाप होकर अपने आसन पर जा बैठा। इसके पश्चात् उद्दालक नाम का ब्राह्मण याज्ञवल्क्य से विवाद करने लगा।

उद्दालक—रे धूर्त पाखंडी याज्ञवल्क्य ! तू हम सब ब्राह्मणों का तिरस्कार करके गौवों को ले जायगा तो शीघ्र ही तेरा सिर फट कर पृथ्वी पर गिर पड़ेगा। मैं एक प्रश्न करता हूं, उसका उत्तर दे। मैं सूत्र तथा अन्तर्यामी के स्वरूप को अच्छी तरह से जानता हूँ। यदि तू भी जानता हो तो मेरे प्रति कथन कर।

याज्ञवल्क्य—हे उद्दालक ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, भूलोक, स्वःलोक, स्वर्ग, सूर्य, दिशा, चन्द्रमा, तारागण, आकाश, अन्धकार, यह वेद ने बारह अधि देवता कहे हैं। प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र,

त्वक्, मन, बुद्धि, उपस्थ इन सबमें रहता हुआ परमात्मा देव इन सबसे भिन्न स्थित है। इन सबको अपने कामों में लगाता हुआ आप निर्विकार अशरीरी रूप से रहता है। जैसे इन जीवों का यह हाड़मय विकाररूप शरीर है, जैसे राजा अपने नौकरों को अनेक प्रकार के व्यापारों में नियमपूर्वक लगाता है, उसी प्रकार जो परमात्मदेव पृथ्वी आदिकों के अभिमानी चैतन्यरूप लिङ्ग शरीर को अपने-अपने में लगाता है, वह माया का अधिपति परमात्मा देव ही अन्तर्यामी है। हे उद्दालक! जिस अन्तर्यामी स्वरूप तुमने पूछा था सो अन्तर्यामी परमात्मा देव तुम्हारा, हमारा तथा सब प्राणियों का आत्मा है। जन्म, मरण, क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, इन षट् उर्मियों से रहित है। नेत्रादि इन्द्रियों तथा बुद्धि जितने भी अन्दर एवं बाहर के व्यापार हैं उन सबको यह अन्तर्यामी आत्मा जानता है।

हे शिष्य! जब इस प्रकार का उत्तर याज्ञवल्क्य मुनि ने उद्दालक के प्रति दिया तो वह चुप बैठ गया। जब सब ब्राह्मण प्रश्न करके थक गए और कोई भी याज्ञवल्क्य को निरुत्तर न कर सका तो सभा में उपस्थित ऋषि कन्या गार्गी सभा में खड़ी हो गई और हाथ उठाकर कहने लगी कि हे सभासद ब्राह्मणो! आप याज्ञवल्क्य को पराजित नहीं कर सकते। अब मैं इस मुनि से दो प्रश्न करती हूं। यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दिया तो तुम में से किसी की भी सामर्थ्य नहीं कि जो याज्ञवल्क्य को पराजित कर सके।

गार्गी—हे याज्ञवल्क्य! जैसे तुम प्रसिद्ध हो, मैं भी प्रसिद्ध हूं और जैसे तुम अधिक बुद्धिमान हो उसी प्रकार मैं भी अधिक बुद्धि वाली हूँ क्योंकि मैं नीति शास्त्र में सरस्वती के समान तीक्ष्ण बुद्धि हूँ। यदि तुम कहो कि हे गार्गी! तेरे में ऐसी कौन-सी बुद्धि है जिस बुद्धि से तू सबसे अधिक अपने मानती है, तो हे याज्ञवल्क्य! सब जगत में आत्मबुद्धि ही मेरे में अधिकता का कारण है। इस बुद्धि के कारण ही मैं सब संसार को पुरुष भाव से रहित, एकमात्र अपने को ही पुरुष मानती तथा देखती हूं। क्योंकि जगत् में जितने भी स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक हैं, उन सबको मैं आत्म रूप से देखती हूं। जिसे सर्वत्र व्यापक आत्मा का बोध है वही पुरुष है और जिसको व्यापक अद्वितीय आत्मा का बोध नहीं ऐसा अज्ञानी जीव नपुंसक या स्त्री है।

जो अज्ञानी जीव अत्यन्त समीप हृदय देश में स्थित जो आनन्द स्वरूप आत्मा है उसको जानने में भी समर्थ नहीं है, वह नपुंसक के समान ही है। जैसे नपुंसक स्त्री के समीप रहता हुआ भी उसके आनन्द का हेतु नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी संसार में व्यर्थ है। हे याज्ञवल्क्य! जिन पुरुषों को आनन्द स्वरूप अद्वितीय आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ, वही अज्ञानी पुरुष स्त्रियां हैं। जैसे संसार में स्त्रियों का अपने से भिन्न पति होता है और उस पति के ही वह सर्वदा अधीन रहती हैं, स्वतन्त्र नहीं रहतीं। उसी प्रकार अज्ञानी प्राणी भी अपने से भिन्न जो पति ईश्वर है, अज्ञानी जीवरूपी स्त्री उस के अधीन ही रहती है, स्वतन्त्र कदापि नहीं रहती। अतः अज्ञानी जीव ही स्त्री है। हे याज्ञवल्क्य! वे अज्ञानी जीव केवल स्त्री मात्र ही नहीं वरन् वारांगना के समान हैं क्योंकि वारांगना के समान ही अज्ञान रूपी स्त्री को भी काम, क्रोध, लोभ तथा मोह आदि अनेकों पति भोगते हैं। इसलिए, यह सम्पूर्ण अज्ञानी जीव वारांगना स्त्री के समान हैं। मैं इन सबसे सर्वथा रहित होने के कारण पुरुष हूं, स्त्री नहीं।

हे याज्ञवल्क्य! जैसे संसार में प्रसिद्ध है कि स्त्री पुरुष के सम्बन्ध से गर्भ धारण करती है उसी प्रकार यह अज्ञानी जीव रूपी स्त्री भी काल रूपी पुरुष के सम्बन्ध से सप्तम् वीर्य रूप गर्भ को धारण करती है। हे याज्ञवल्क्य! यदि तुम यह कहो कि कामादि विकार तो युवावस्था में सबको होते हैं, पुरुष

अवश्य होंगे तो, हे याज्ञवल्क्य ! तुमको कामादि विकारों का अभाव मैं अपने में प्रत्यक्ष करके दिखाती हूं। मैं यौवन अवस्था में स्थित हूं तथा युवक पुरुषों के बीच में खड़ी हूं, तो भी किंचित मात्र भी काम आदि विकारों को नहीं प्राप्त होती। सभा के बीच में मैं नग्न खड़ी हूं, इससे सब ब्राह्मण काम आदि विकारों के भय से युक्त हैं क्योंकि इन्होंने मेरी तरफ से अपना मुख फेर लिया है, मुझको देखते नहीं हैं। हे याज्ञवल्क्य ! मेरा शरीर-अभिमान निवृत्त हुआ है, इससे सम्पूर्ण ब्राह्मणों को मैं देखती हूं आँखें नहीं चुराती। इतना ही नहीं, अपने हाथों से स्पर्श करने पर भी हमारे में किञ्चित् मात्र भी काम आदि विकार नहीं होते। इसलिए मैं स्त्री नहीं हूं, अज्ञानी जीव ही स्त्री हैं।

याज्ञवल्क्य – हे गार्गी ! शास्त्र-दृष्टि से यद्यपि तुझ में स्त्रीपना नहीं है, तूने युक्ति द्वारा ठीक-ठीक कहा है। तथापि लोक दृष्टि से तो स्त्रीपना घटता है।

गार्गी – हे याज्ञवल्क्य ! कदापि नहीं घटता। लोक दृष्टि से भी स्त्री शब्द का अर्थ नहीं घटता, तब मैं किस प्रकार स्त्री हो सकती हूँ ? स्त्रीत्व—"मैं इसकी वधू हूँ, मैं यौवन अवस्था वाली हूँ, सुन्दर मुख वाली हूँ, मेरे समान संसार में कोई भी स्त्री सुन्दर नहीं है, मैं शृङ्गार वाली हूँ, यह मेरे भूषण हैं, मैं बड़े कुल की लड़की बड़े कुल में व्याही गई हूँ, यह मेरा पति है, यह मेरे पुत्र-पुत्री हैं, यह मेरी ननद है, यह मेरी जिठानी-देवरानी हैं, यह मेरा श्वसुर, देवर है और यह धन तथा अन्न वस्त्र मेरे हैं, मैं वंध्या हूँ"—इस प्रकार के शब्दों से प्रकट होता है। इन शब्दों का समूह जिस-जिस मूर्ख अज्ञानी जीव में घटे वही स्त्री है। जो प्राणी आत्मज्ञान से पूर्ण हैं, श्रुति माता उनको ही पुरुष कहती है। चाहे वे किसी भी शरीर में हो, वे स्त्री नहीं पुरुष हैं। हे याज्ञवल्क्य ! आत्मज्ञान से ही प्राणी पुरुष होता है। जिनको शरीर का अभिमान है, वह सब-के-सब स्त्री ही हैं क्योंकि शरीर माया का कार्य है और माया व्याकरण से स्त्री लिङ्ग है। इससे भी शरीर अभिमानी स्त्री है।

हे याज्ञवल्क्य ! जैसे एक ही नट अपनी माया से स्त्रियों को मोहित करने के लिए सुन्दर पुरुष रूप को धारण कर लेता है और फिर क्षणमात्र में वही नट पुरुषों के धैर्य को नाश करने वाली सुन्दर स्त्री का रूप धारण करता है। परन्तु उन कल्पित शरीर रूप उपाधियों से वह नट विकारों को प्राप्त नहीं होता। शुद्ध, निर्विकार, ज्यों का त्यों रहता है। हे याज्ञवल्क्य ! जैसे एक ही पुरुष स्वप्न में निद्रा दोष से पुरुष, स्त्री, हाथी, घोड़ा आदि अनेक रूपों को प्राप्त होता है, परन्तु उन कल्पित रूपों से स्वप्न-द्रष्टा पुरुष का असली स्वरूप निवृत्त नहीं होता। उसी प्रकार मैं ब्रह्मात्मा अपनी माया द्वारा स्त्री, पुरुष, नपुंसक, हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल आदि अनेक रूपों को धारण करता हूं, परन्तु उन कल्पित रूपों से मुझ आत्मा का स्वरूप निवृत्त नहीं होता। एक रस ज्यों-का-त्यों रहता है।

हे याज्ञवल्क्य ! आत्मज्ञानरूपी पुरुषभाव से युक्त तथा सर्वज्ञ मैं गार्गी वाक्यरूपी धनुष में दो प्रश्नरूपी बाणों को धारण करके तुम्हारे हनन करने के लिए यहाँ आई हूं। यदि तुम्हारी सामर्थ्य हो तो धैर्य को धारण करके मेरे साथ वादरूपी युद्ध करो और जो सामर्थ्य नहीं, तो सामने आकर नम्रता भाव करो। इन दोनों प्रकार की बातों में जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर। हे याज्ञवल्क्य ! जैसे काशी के राजा दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन एक समय हाथ में धनुष बाण लेकर अकेला इन्द्र के साथ युद्ध करने के लिए स्वर्ग में पहुंचा था उसी प्रकार धैर्य पूर्वक मैं भी प्रश्नरूपी बाणों को ग्रहण करके अकेली तुम्हारा हनन करने के लिए यहाँ स्थित हूँ।

हे शिष्य ! गार्गी के विवाद को सुनकर सारी सभा दंग रह गई। सब उसे साधुवाद देने राजा जनक ने भी उसकी छिपी हुई विद्वत्ता को समझ कर बड़ा आश्चर्य माना और अपने राज्य ब्रह्मनिष्ठा विदुषी होने का गौरव अनुभव किया। पर याज्ञवल्क्य अपने उसी अव्यय भाव से स्थि

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! तुम को जो प्रश्न करना हो सो निःशंक होकर करो।

गार्गी—हे याज्ञवल्क्य ! सूत्र आत्मा का जो स्वरूप शास्त्रवेत्ता पुरुषों ने ब्रह्माण्ड के कपाल से भी ऊपर स्थित कहा है और जिस सूत्र आत्मा का स्वरूप दोनों ब्रह्माण्ड के कपालों के कथन किया है तथा जिस सूत्र आत्मा का स्वरूप शास्त्रवेत्ता पुरुषों ने भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान सम्पूर्ण प्रपंचरूप से कथन किया है, वह सूत्र आत्मा किस कारण में ओत-प्रोत रहता है ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! तुम ने सूत्र आत्मा रूप कार्य का कथन किया है। वह सूत्रा कार्य आवरण, विक्षेप शक्ति वाले अव्याकृतरूप आकाश में ओत-प्रोत होकर रहता है।

याज्ञवल्क्य का यह उत्तर सुनकर गार्गी ने उन्हें नमस्कार किया और साधुवाद कहकर दूसरा प्रश्न किया। गार्गी का दूसरा प्रश्न भी उसके प्रथम प्रश्न के सूत्रात्मा से ही संबंधित था। उसके प्रश्न का अभिप्राय था कि जब सूत्रात्मा अव्याकृतरूप आकाश में ओत-प्रोत रहता है तो क्या अव्याकृ आकाश भी इस सूत्रात्मा में ही ओत-प्रोत होकर रहता है या उसका कोई अन्य आधार है ?

गार्गी—हे याज्ञवल्क्य ! वह अव्याकृत आकाश किस में ओत-प्रोत होकर रहता है ?

इस प्रश्न के करने में गार्गी का यह अभिप्राय था कि अव्याकृतरूप आकाश का अधिष्ठा आत्मा है वह मन, वाणी का विषय तो है नहीं। यदि ऐसे आत्मा को याज्ञवल्क्य मुनि वर्णन करेगा तो अप्रतिभारूप निग्रह स्थान को प्राप्त होगा और जो वह मन वाणी के अविषय आत्मा का करेगा तो विप्रतिपत्तिरूप निग्रह स्थान को प्राप्त होगा अर्थात् दोनों प्रकार से पराजित हो जायगा। करने योग्य अर्थ के अज्ञान को अप्रतिभा, विरुद्ध कथन को विप्रतिपत्ति और पराजय के कारण को कहते हैं।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी ! सम्पूर्ण लोकों की बुद्धि आदि के साक्षी तथा नित्य ही आत्मारूप अक्षर में यह अव्याकृतरूप आकाश ओत-प्रोत होकर रहता है। यहाँ अव्याकृत आकाश से मूलाज्ञान का ग्रहण करना। यह मूलाज्ञान किंवा अव्याकृतरूप आकाश जीव तथा ईश्वर के नहीं रहता, किन्तु जीव ईश्वर के विभाग से रहित जो शुद्ध चैतन्य है, उसके आश्रित रहता है। शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा सर्वव्यापक तथा उत्पत्ति-नाश से रहित है। इस कारण शुद्ध आत्मा ही है। उस आत्मारूप अक्षर के आश्रित अव्याकृत आकाश रहता है। अब आगे अप्रतिभा विप्रतिपत्तिरूप निग्रह स्थान दोष की निवृत्ति के लिए अनात्म पदार्थों के निषेध द्वारा अक्षर आत्म स्वरूप को सुन।

हे गार्गी ! जैसे घड़ा बेलफल की अपेक्षा से बड़ा और पहाड़ की अपेक्षा से छोटा होता है। उसी जितने भी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ हैं, उन सब से यह अक्षर आत्मा विलक्षण है। घास के तिनके जितने भी लघु तथा वट वृक्ष के समान जितने भी दीर्घ पदार्थ हैं, उन सम्पूर्ण पदार्थों से वह आत्मा विलक्षण है। कहाँ तक कहें, संसार में जितने भी नाम, रूप तथा मान, गुमान में न आवे

पदार्थ हैं, उन सब से यह अक्षर आत्मा विलक्षण है। यह अक्षर आत्मा गति से रहित है, इससे गतिवान वायु तथा आकाश से भी विलक्षण है। यह अक्षर आत्मा षट् रसों से भी विलक्षण है। हे गार्गी! पांच कर्मेन्द्रियाँ भी अक्षर आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—यह चार अन्तःकरण भी इस अक्षर आत्मा का स्वरूप नहीं और न प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान,—ये पाँच प्रकार के प्राण ही इसका स्वरूप हैं।

मोक्ष पर्यन्त जिसकी स्थिति है, ऐसा जो दोनों लोकों में गमन करने वाला सूक्ष्म शरीर है, सो भी अक्षर आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस अद्वितीय आत्मा के भेद कर डालने वाला जो अविद्यारूप कारण शरीर है, वह भी अक्षर आत्मा का स्वरूप नहीं। यदि यह अक्षर आत्मा केवल अन्दर हो तो बाहर के पदार्थों को कौन प्रकाश करे और यदि केवल बाहर ही हो तो अंदर के पदार्थों को कौन प्रकाश करे? इसलिए हे गार्गी! आत्मा से भिन्न सब पदार्थ जड़रूप हैं। वही अक्षरात्मा अपने प्रकाश से अन्दर तथा बाहर के भाव से रहित है। यह निर्विकार और असंग है इसीलिए तो भोक्ता तथा भोग्य भाव से शून्य है। जैसे रस्सी में सर्प, दण्ड आदि प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस अक्षर आत्मा में यह सम्पूर्ण संसार प्रतीत होता है। जैसे कल्पित सर्प, दण्ड आदि से रस्सी का भेद नहीं होता है, उसी प्रकार कल्पित प्रपंच से अक्षर आत्मा का भेद नहीं होता। अतः यह अक्षर आत्मा सब भेदों से रहित है।

हे शिष्य! इतने कथन से याज्ञवल्क्य मुनि ने गार्गी के प्रति उपाधि से रहित अक्षर आत्मा का स्वरूप कथन किया। अब आगे जिन पुरुषों की समझ में निरुपाधिक अक्षर आत्मा का स्वरूप नहीं आता, उनके लिए याज्ञवल्क्य मुनि ने अनुग्रह करके माया विशिष्ट अन्तर्यामी के जानने के लिए लिंग को कथन किया। अप्रत्यक्ष पदार्थ को जो दिखा दे, उसको लिंग कहते हैं। जैसे पहाड़ में अप्रत्यक्ष अग्नि को धूमरूपी लिंग दिखा देता है।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गी! जसे नौकर नियम पूर्वक अपने मालिक की आज्ञा में सदा वर्तते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य, चन्द्रमा आदि भी नियम पूर्वक जगत् के व्यवहार को चलाते हैं। इसी से जाना जाता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मा देव सूर्य-चन्द्रमा का अधिपति है, जिसकी आज्ञा से ये नियम से अपने-अपने कार्य में तत्पर रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा की यह नियमित प्रवृत्ति ही अन्तर्यामी को दिखाने का लिंग है। गुरुत्व धर्म वाले पदार्थों का किसी आधार के विना नीचे पतन हो जाता है। जैसे गुरुत्व धर्मी वस्त्रादिक पुरुषरूप आधार के बिना भूमि पर गिर पड़ते हैं। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत प्राणियों के भार को धारण करने वाली पृथ्वी तथा स्वर्ग यह दोनों भी गुरुत्व धर्म वाले ही हैं परन्तु इनका नीचे पतन नहीं होता। इससे यह जाना जाता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मा देव इनको धारण कर रहा है। इस प्रकार पृथ्वी तथा स्वर्ग की स्थिति भी सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान कराने का चिन्ह है।

जैसे राजा की प्रेरणा से नौकर-चाकर नियम से कार्य करते हैं उसी प्रकार संवत्सर से लेकर मुहूर्त पर्यन्त काल का प्रेरक भी कोई सर्वज्ञदेव अवश्य है। हिमालय आदि पर्वतों से निकलने वाली अनेकों नदियाँ हैं। उनके उत्पत्तिकाल में जिस-जिस दिशा में उनका प्रवाह होता है, उसी दिशा में अब तक नियम से चला आता है। अन्यथा प्रवाह कदापि नहीं होता। हे गार्गी! इससे यह जाना जाता है कि कोई सर्वज्ञ परमात्मादेव सब नदियों को नियम से गति देने वाला है। अधिक क्या? जिस अक्षर आत्मा

के आश्रित अव्याकृत आकाश है, उसी अक्षर आत्मा की आज्ञा में यह सम्पूर्ण जगत् काम कर उसके विषय में असम्भावना करनी ठीक नहीं।

जैसे कीड़ों से युक्त सड़े कुत्ते को देखकर दयालु मनुष्य शोक करते हैं, उसी प्रकार अधिकांश मनुष्य-शरीर पाकर अक्षर आत्मा को बिना जाने यदि मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो विद्वान् पुरुष पश्चात्ताप करते हैं। हे गार्गी ! यह शुद्ध अक्षर आत्मारूपी उपाधि को धारण करके संसार की स्थिति तथा लय, प्रेरणा किंवा प्रवेश आदि कार्य करता है। शुद्ध अक्षर आत्मा को ही अन्तर्यामी हैं। इस अक्षर आत्मा से अन्तर्यामी भिन्न नहीं है। यही अक्षर आत्मा नेत्रादिक तमाम दृश्य का साक्षी है, पर इस को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि नहीं जान सकते। जैसे भीत (दीवाल) से भिन्न होता है, वैसे ही द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता रूप यह जीवात्मा उस अक्षर आत्मा से भिन्न नहीं है। सूक्ष्म प्रपंचरूप विक्षेप का कारण तथा आत्मा का आच्छादन करने वाला अव्याकृत आकाश (मूलाज्ञान) भी इस अक्षर आत्मा में ही रहता है।

याज्ञवल्क्य के इन अमृत रूपी वचनों को सुनकर श्रद्धावान् पुरुष अत्यन्य आनन्द को प्राप्त और श्रद्धा से रहित, याज्ञवल्क्य से द्वेष करने वाले, ब्राह्मण संताप को प्राप्त हुए। याज्ञवल्क्य की उदार वाणी को सुनकर गार्गी अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई और सब ब्राह्मणों से कहने लगी—

गार्गी—हे ब्राह्मणो ! मैं भरी सभा के बीच में खड़ी होकर पक्षपात से रहित एक बात कहूं चित्त को एकाग्र करके श्रवण करो। यद्यपि इस संसार में मैंने बहुत प्रकार के पुरुष देखे हैं तो याज्ञवल्क्य के समान कोई नहीं देखा। यदि तुम कहो कि हे गार्गी ! याज्ञावल्क्य में तूने ऐसी विशेषता देखी जो तू उसकी स्तुति करती है और हम सब की उपेक्षा किंवा निरादर करती है, तो इस संसार में मैंने अनेकों पुरुष धन, बल, ग्रह के समान दूर से बहुत अच्छे लगने वाले पर अन्दर जड़ देखे हैं। उसी प्रकार अनेकों पुरुष सात्विक साधु वेषभूषा से सज्जित पर अन्दर से महा मूर्ख कामी, क्रोधी तथा लोभी और राग, द्वेषपूर्ण देखे हैं। बहुत से पुरुष बैल तथा गधे के समान बोझा ढोते हुए देखे हैं। जैसे बैल, गधा अपने प्रयोजन के बिना ही बोझा उठाये फिरते हैं, उसी प्रकार बहुत पुरुष शास्त्र को पढ़कर के दूसरों को तो शास्त्रों के अर्थ की खूब व्याख्या करते हैं और बड़ी युक्ति तथा के द्वारा सिंहासन पर बैठ कर समझाते हैं, परन्तु अपने अन्तःकरण में किंचित् मात्र भी उसके अर्थ धारण नहीं करते। अतः व्यर्थ ही शास्त्ररूपी भार को लादे फिरते हैं।

बहुत से पुरुष तोता-मैना के समान सुन्दर-सुन्दर शास्त्र वाक्यों का उच्चारण तो करते तथा हैं परन्तु उन शब्दों के तात्पर्य को नहीं समझते। हे ब्राह्मणो ! बहुत से पुरुष बड़ी-बड़ी आंखें होने पर भी अन्धों की तरह ही देखे हैं क्योंकि जैसे अन्धा पुरुष पास रखी हुई वस्तु को नहीं देखता उसी प्रकार वे अत्यन्त समीप हृदय-देश में रहने वाले आत्मा को भी नहीं देखते। मैंने पुरुष चित्र लिखित मूर्ति के समान भी देखे हैं जो भीत पर खिंची मूर्त्ति के समान देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु किसी कार्य के करने में समर्थ नहीं होते। बहुत से पुरुष कुपथ्य भोजन के समान तो सत्य अर्थ का उपदेश करके किंचित् मात्र प्रसन्नता को उत्पन्न कर देते हैं परन्तु एकान्त देश में मिथ्या अर्थ का उपदेश करके दुःख का कारण होते हैं।

बहुत से पुरुष व्याघ्र के समान शरीर, मन तथा वाणी से सर्वत्र जीवों की हिंसा करते हैं। बहुत से पुरुष शराब-पान करके उन्मत्त हुए अज्ञान रूपी शराब पीकर बन्दर के समान चंचल बने शास्त्र विरुद्ध अनेक प्रकार की चेष्टा करते देखे हैं। अनेकों पुरुष काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओं के वश में पड़े हुए देखे हैं। हे ब्राह्मणो! कहाँ तक कहूं, वेद-वेदाङ्गों को जानने वाले जो विद्वान् पुरुष हैं उन्हें भी सत्व, रज, तम गुणों से युक्त ही देखा है। बिना पढ़े तथा पढ़े-लिखे इन दोनों में कुछ भी विलक्षणता नहीं देखी। जैसे वे पढ़े-लिखे मूर्ख पुरुष अद्वितीय आत्मा के ज्ञान से विमुख रहे, उसी प्रकार त्रिगुण अभिमानी पढ़े-लिखे हुए पुरुष भी अपने अज्ञान की निवृत्ति नहीं कर सके अर्थात् आत्मज्ञान से विमुख ही रहे। इसलिए दोनों में समानता ही देखी।

धर्म शास्त्र पढ़कर, धर्म-अधर्म के ज्ञान में कुशल बुद्धि वाले देखे। परन्तु अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादक, वेदान्त कुशल नहीं देखा। जिन पुरुषों को वेदान्त शास्त्र के अर्थ मात्र का ज्ञान है भी, तो उनके संशय की निवृत्ति नहीं है। काम, क्रोधादि प्रतिबन्धकों के कारण वह ज्ञान उनके मूलाज्ञान को जड़ से नाश नहीं करता। जैसे अपराधी चोर के बन्धन का मकान स्तम्भों के सहारे होता है। उन स्तम्भों में भी एक बीच का स्तम्भ मुख्य होता है और दूसरे गौण होते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी जीवों के बंधन का घर यह संसार काम, क्रोध आदि स्तम्भों के सहारे रहता है। उन में यह अहंकार मध्य का मूल स्तम्भ है। अन्य सब स्तम्भों के नष्ट होने पर भी जब तक मूल का स्तम्भ अहंकार विद्यमान है तब तक इस संसार की निवृत्ति होनी कठिन है। इसलिए आत्मज्ञान होने में मुख्य प्रतिबन्धक यह अहंकार ही है जो सब जीवों में स्थित है। अहंकार से रहित किसी भी जीव को मैं नहीं देखती।

राजा जनक के इस यज्ञ में सब देशों के विद्वान् ब्राह्मण इकट्ठे हुए हैं। इन में से कितने ही ब्राह्मण काम दोष से रहित हैं, अन्य कितने ही काम, क्रोध दोषों से रहित हैं तथा कुछ ऐसे भी हैं जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि बहुत दोषों से रहित हैं। परन्तु अहंकार से रहित कोई भी ब्राह्मण इस सभा में मैं नहीं देखती। काम, क्रोध, लोभ, मोह में बुद्धिमान् पुरुष शास्त्र-प्रमाण तथा अपने अनुभव से दुःख की कारणता जानकर उन का त्याग करने में समर्थ है। परन्तु अहंकार में जो दुःखों की कारणता है, वह शास्त्र-प्रमाण से तथा अपने अनुभव से भी नहीं जानी जाती। शास्त्रों के जानने वाले विद्वान् पुरुष में भी अहंकार देखा जाता है। यदि वे शास्त्र तथा अनुभव प्रमाण से अहंकार में दुःख की कारणता को समझें तो अहंकार क्यों करें? जैसे शराब पीकर पुरुष विपरीतदर्शी हो जाता है उसी प्रकार अहंकार रूपी शराब पीकर पुरुष विपरीतदर्शी हो जाता है। यह अहंकार दोष इस याज्ञवल्क्य में नहीं है। जैसे व्यापक अग्नि का अभाव होने से व्याप्य धूम का भी अभाव होता है, उसी प्रकार व्यापक अहंकार के अभाव से व्याप्य काम, क्रोध आदि का भी अभाव होता है। अतः इस सभा में यह याज्ञवल्क्य ही पुरुष है। इस याज्ञवल्क्य के समान कोई दूसरा पुरुष नहीं है। वेद में सर्वत्र पूर्ण को पुरुष नाम से कथन किया है। यह स्थूल, सूक्ष्म रूप सम्पूर्ण संसार याज्ञवल्क्य मुनि से पूर्ण हो रहा है।

हे ब्राह्मणो! श्रुतिमाता ने ब्रह्म को सर्वत्र पूर्ण ही कहा है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ब्रह्म का जानने वाला पुरुष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। इससे ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य मुनि में सर्वत्र पूर्णता सम्भव है, ऐसा मैंने शास्त्र-प्रमाण तथा अपने अनुभव से निश्चय किया है। श्रुति ने कहा है कि सर्वत्र परिपूर्ण पुरुष को मांसमय आँखों से कोई भी नहीं देख सकता, पर मैं तो इन मांसमय आँखों से ही सर्वत्र याज्ञवल्क्य

को अपने सम्मुख देती हूँ। इसलिए वह श्रुति मुझको असत्य-सी ही जान पड़ती है। वास्तव में विचार करके देखा जाय तो श्रुति सत्य ही कहती है। क्योंकि मांसमय नेत्रों से तुम ब्राह्मण याज्ञवल्क्य के सामने बैठे हुए भी इसके स्वरूप को इन आँखों से नहीं जानते। मैं भी शास्त्र तथा अन्तर-अनुभव,—इन दोनों से युक्त नेत्रों से याज्ञवल्क्य के असली स्वरूप को जानती हूँ। मांसमय नेत्रों से मैं भी नहीं जानती। इन नेत्रों से तो नाम-रूप वाला एक आकार-सा दीख पड़ता है। जैसे "सोऽयं देवदत्तः"—इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में अतीत तथा अंश के ज्ञान में, केवल नेत्र-इन्द्रिय को कारण नहीं मानना चाहिये, किन्तु पूर्व के संस्कार सहित नेत्र इन्द्रिय की कारणता है। उसी प्रकार पूर्ण पुरुष के बोध में भी केवल नेत्र-इन्द्रिय को कारण नहीं समझना चाहिए किन्तु शास्त्र-प्रमाण अन्तर-अनुभव इन दोनों से युक्त नेत्र इन्द्रिय ही इसमें कारण है। इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति असत्य नहीं है।

जिस माता-पिता से यह ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य जन्मा है उनको वारम्वार धन्यवाद है। जिस पृथ्वी के ऊपर यह याज्ञवल्क्य विचरता है, उसको भी धन्य ही है। इस सभा में मुझे, राजा जनक तथा सब ब्राह्मणों को याज्ञवल्क्य मुनि का दर्शन तथा उनके वचनों का श्रवण हुआ है। याज्ञवल्क्य द्वारा शापरूपी कालकूट विष अग्नि उत्पन्न होकर सब द्वेष करने वाले ब्राह्मणों का नाश करेगी। इसलिए याज्ञवल्क्य के साथ तुम लोग विवाद का त्याग करो। इसको जीतने में कोई समर्थ नहीं, क्योंकि इसने द्वादश वर्ष खड़े होकर तपश्चर्या द्वारा सूर्य को प्रसन्न करके उससे विद्या का अध्ययन किया है। तुम दोनों लोकों में दुःख देने वाले अहंकार को, जो सब दोषों की जड़ है, परित्याग करके याज्ञवल्क्य को नमस्कार करो।

हे ब्राह्मणो! आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान वाले याज्ञवल्क्य के साथ तुम परोक्षवादी ब्राह्मणों ने अहंकार तथा लोभ में आकर विवाद तथा झगड़ा करना प्रारम्भ किया है। यह बड़े शोक की बात है। इस विवाद से तुमको दुःख ही भोगना पड़ेगा। जैसे संसार में एक पुरुष को नेत्रों द्वारा और दूसरे को शब्द से काशी का परोक्ष ज्ञान हुआ है। इन परोक्ष ज्ञान वाले पुरुषों का अपरोक्ष ज्ञान वाले पुरुष के साथ काशी के स्वरूप का निर्णय करने में विवाद करना ठीक नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान वाले इस याज्ञवल्क्य के साथ आत्मा के परोक्ष ज्ञान वाले तुम ब्राह्मो का विवाद ठीक नहीं। इस अहंकार रूपी पिशाच का त्याग करो। यह महान् अनर्थ का हेतु है।

हे ब्राह्मणो! पूजा करने के योग्य आत्मज्ञान रूपी समुद्र याज्ञवल्क्य को त्याग करके विवाद रूपी पाप की निवृत्ति का उपाय दूसरा कोई नहीं है। इस पाप की निवृत्ति के वास्ते तथा मनोवांछित पदार्थों की प्राप्ति के लिए तुम सम्पूर्ण ब्राह्मण याज्ञवल्क्य के लिए नमस्कार करो। इस लोक तथा परलोक के धन पुत्रादि पदार्थों की कामना करने वाले सकामी पुरुषों के लिए श्रुति में कहा है कि वे लोग शरीर तथा धन से ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी पुरुष की सेवा करें, जिससे सब मनोवांछित पदार्थ उनको प्राप्त होंगे। इसलिए हे ब्राह्मणो! याज्ञवल्क्य को जीतने की इच्छा का परित्याग करो।

हे शिष्य! जब गार्गी ने इस प्रकार के वचन ब्राह्मणों के प्रति कहे तो सब ब्राह्मण एकदम क्रोध में आकर कहने लगे कि हे गार्गी! तूने हमको अहङ्कारी और परोक्षवादी तथा याज्ञवल्क्य को अपरोक्ष

और अपरोक्षवादी कहा, सो हम किस प्रकार अहङ्कारी और परोक्षवादी हैं और याज्ञवल्क्य को तूने कैसे जाना कि वह अहङ्कार से रहित और आत्मा का अपरोक्ष ज्ञानी है ?

गार्गी—हे ब्राह्मणो ! कार्य को देखकर कारण का ज्ञान हो जाता है। जैसे धूप को देखकर अग्नि का अनुमिति ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे काम, क्रोध तथा अहङ्कार से मैंने जान लिया कि केवल कुछ-कुछ शास्त्रीय ज्ञान तो रखते हो, पर अहङ्काररूपी पिशाच तुममें वास कर रहा है। जहाँ परोक्ष ज्ञान होता है वहाँ अहङ्कार अवश्य होता है और जहाँ अहंकार होता है, वहाँ क्रोध, लोभ, आदि का परिवार भी होता है, यह नियम की बात है। याज्ञवल्क्य ने आत्मा का साक्षात्कार करके इस अहंकार रूपी पिशाच का नाश किया है। अपरोक्ष ज्ञान के बिना अहंकार का नाश नहीं होता। अहंकार के नाश हुए बिना काम, क्रोध, लोभ आदि दोषों का भी नाश नहीं होता। तुम सब ब्राह्मणों के क्रोध करने पर भी यह याज्ञवल्क्य कैसा शान्त मूर्ति बना बैठा है ? इसके मुख पर मन्द-मन्द मुस्कान है। इसके हृदय-कोट में कोई विक्षेप भी नहीं है। प्रश्न के उत्तर देने में यह याज्ञवल्क्य कितना बुद्धिमान् है कि जो युक्ति-प्रमाण के साथ-साथ एक दम प्रश्न का समाधान कर देता है। हे ब्राह्मणो ! तुमने देखा नहीं कि मैंने प्रश्नरूपी दो बाण इसके बींधने के लिए छोड़े थे, उनसे यह साफ़ बच गया। अब किसी की शक्ति नहीं कि जो याज्ञवल्क्य को पराजित कर सके।

हे शिष्य ! गार्गी के वचनरूपी अमृत के पान द्वारा अहंकार आदि दोषों से निवृत्त हुए अश्वल आदि ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य के लिए नमस्कार कर अपने अपराधों की क्षमा मांगी और गार्गी को अनेक प्रकार से सम्मानित कर साधुवाद दिया। उन ब्राह्मणों में अहंकारी विदग्ध (शाकल्य) ने मृत्यु से ग्रस्त हो याज्ञवल्क्य को नमस्कार नहीं किया। उसने गार्गी के वचनों की अवहेलना करके उसकी भर्त्सना की और कहा कि यह गार्गी कुमारी तथा जवान है। माता-पिता के घर से निकल कर बिना वारिस स्वेच्छा से घूमती-फिरती है और कामी पुरुषों की सदैव इच्छा करती है। वास्तव में इस सभा में याज्ञवल्क्य को छोड़कर शेष जितने भी ब्राह्मण हैं, वे सब-के-सब सदाचारी और स्नान, शौच, तर्पण आदि कर्मों में नित्य प्रीति रखते हैं। तप करके जिनके शरीर भी सूख गये हैं, जटाधारी तथा वृद्धावस्था वाले भी हैं। ऐसे उत्तम ब्राह्मण इस नग्न गार्गी को देखते भी नहीं तो फिर इस निर्लज्ज गार्गी की हम भला किस लिए इच्छा करेंगे ? हे ब्राह्मणो ! यह याज्ञवल्क्य युवावस्था वाला है। शरीर से हृष्ट-पुष्ट, गोल-चिकना, गठा हुआ है। शरीर का पालन-पोषण ध्यान देकर करता है। बड़ा खाने वाला है, इसी से अत्यन्त कामी भी है। इस नग्न गार्गी को यह घूर-घूर कर देखता है। जब से इस सभा में आया है, अब तक इसकी दृष्टि जनक या गार्गी पर ही हम देखते हैं। इन दोनों को छोड़कर किसी भी ब्राह्मण की तरफ यह देखता ही नहीं।

हे ब्राह्मणो ! और भी इस दुर्बुद्धि याज्ञवल्क्य की चालाकी देखो कि वेदों के अर्थों को अन्यथा कर देता है। यह कुल्टा निर्लज्ज गार्गी याज्ञवल्क्य में आसक्त होकर बार-बार उसकी स्तुति करती है। कैसा आश्चर्य है कि सम्पूर्ण ब्राह्मण भी इस व्यभिचारिणी गार्गी के अभिप्राय को न जानकर उसके वचनों से मोहित हुए इस दुष्ट याज्ञवल्क्य को नमस्कार करते हैं। सब धर्मात्माओं में मुख्य राजा जनक भी तो इस व्यभिचारिणी के वचनों से मोहित हो गया और इसके चक्कर में आकर इस व्यभिचारिणी गार्गी को और इस दुष्ट पाखंडी याज्ञवल्क्य को बार-बार नमस्कार करता है। बस, एक मैं ही इसकी बातों से मोहित नहीं हुआ क्योंकि लिखा-पढ़ा हूं और निर्भय बोलने वाला हूँ। किसकी शक्ति है जो मुझसे शास्त्रार्थ कर सके ?

हे शिष्य ! इस प्रकार अनेक दुर्वाक्य विदग्ध ने राजसभा में याज्ञवल्क्य तथा गार्गी को कहे। गार्गी तथा याज्ञवल्क्य का मनोभाव किंचित् भी टस से मस न हुआ। दोनों हँसते-से रहे। राजा जनक के मन से शाकल्य की श्रद्धा हट गई और याज्ञवल्क्य तथा गार्गी में अत्यन्त श्रद्धा बैठ गई।

शिष्य—हे गुरु महाराज ! शाकल्य ने बिना कारण इनकी निन्दा क्यों की ?

गुरु—हे शिष्य ! जब नाश का समय आता है उस समय बुद्धि उल्टी हो जाती है। जैसे काल के समीप गया हुआ पतङ्ग जलती हुई अग्नि को उल्लङ्घन करने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार मृत्यु के समीप पहुँचा हुआ शाकल्य फिर याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने लग पड़ा। पर याज्ञवल्क्य ने बड़ी शान्ति के साथ उन के उत्तर दे दिये।

शिष्य—हे गुरु महाराज ! वह प्रश्न क्या थे ? उनका भी विवरण मुझसे कहिये।

गुरु—हे शिष्य ! प्रश्न बहुत हैं तथा उनके उत्तर भी बहुत हैं। यदि तुमको जानने की तीव्र इच्छा हो तो आत्म-पुराण के पञ्चम अध्याय में देख लो। यहाँ तो हमको केवल तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना है कि आत्मा के परोक्ष ज्ञान से अहङ्कार का नाश होता है किंवा अपरोक्ष ज्ञान से ? इस गार्गी, याज्ञवल्क्य तथा ब्राह्मणों के सम्वाद के द्वारा उसका उत्तर दे दिया।

शिष्य—हे गुरु ! उस शाकल्य का फिर क्या हुआ ?

गुरु—हे शिष्य ! जब याज्ञवल्क्य शाकल्य के प्रश्नों का उत्तर दे चुके तब कहने लगे कि हे शाकल्य ! जैसे तू बिना कारण हम से द्वेष करता है, वैसे तुम्हारे माता-पिता आदि तो किसी से भी द्वेष नहीं करते थे। ऐसे श्रेष्ठ कुलों में उत्पन्न होकर मेरे से इतना क्यों द्वेष करता है ? हे शाकल्य ! मैं चाहता हूं कि द्वेष करके तेरा नाश न हो, तेरी स्त्री विधवा न हो, तेरे पुत्र-पौत्र रुदन न करें। मैं घमंड नहीं कहता, तेरे हित की बात कहता हूँ। यह विद्या मैंने सूर्य से पढ़ी है, किसी मनुष्य से नहीं पढ़ी। इसी कारण से मुझको संसार में कोई जीत नहीं सकता। इस वेद विद्या का बड़ा भारी तेज है। तू हमारी इस विद्या की अवज्ञा न कर। यदि तू अहङ्कार पूर्वक हमारी विद्या की अवज्ञा करेगा तो क्षणमात्र में भस्म हो जायगा।

हे शिष्य ! इतने कहने पर भी वह शाकल्य नहीं माना क्योंकि मृत्यु उसकी घात में खड़ी थी। दुष्ट शाकल्य काल के वश हुआ और अधिक निंदा करने लगा। तब संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करने वाले सूर्य भगवान् अत्यन्त कुपित होकर याज्ञवल्क्य की जिह्वा पर आकर बैठ गये और कहने लगे—हे शाकल्य ! अब तू मेरे शिष्य की निन्दा न कर ! शाकल्य फिर भी चुप न हुआ। तब सूर्य भगवान् ने एक दम अपनी तेजोमय किरणों से उस दुष्ट शाकल्य को भस्म कर दिया। कोयले के समान काला होकर शाकल्य पृथ्वी पर गिर पड़ा। यज्ञ मण्डप में हा-हा-कार मच गया और सभा के सब मनुष्य उस को धिक्कारने लगे। ब्रह्मवेत्ता से द्वेष करने वाले की यह गति सबने देख ली।

हे शिष्य ! राजा जनक ने इसी कारण से परोक्षवादी ब्राह्मणों को गुरु नहीं बनाया क्योंकि परोक्षवादी ज्ञानियों से न तो संशय आदि भ्रमों की निवृत्ति होती है और न अहंकार आदि का ही नाश होता है। अहंकार के रहते हुए काम, क्रोध तथा लोभ आदि दोषों का भी नाश नहीं होता है।

इति याज्ञवल्क्य—ब्राह्मण सम्वाद नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

नवाँ अध्याय

[अक्षर ब्रह्म का अन्तर्यामी रूप]

शिष्य—हे गुरु ! ब्रह्म को ब्राह्मण लोग अक्षर क्यों कहते हैं ? वह अक्षर ब्रह्म सब पर आज्ञा किस प्रकार करता होगा ? क्या जैसे राजा सेना को आज्ञा करता है, उसी प्रकार आज्ञा करता है ?

गुरु- हे शिष्य ! अक्षर का ऐसा प्रताप है कि इसके भय से सब अपना-अपना काम करते हैं। राजा की तरह से अक्षर ब्रह्म आज्ञा नहीं करता कि तुम यह काम करो, तुम वह काम करो। यदि ऐसा हो तो ब्रह्म भी द्वैत की तरह सिद्ध हो जायगा। जैसे सूर्य सब को समान प्रकाश देता है और अपने स्वरूप में एक रस भी रहता है। ब्रह्मज्ञानी का स्वरूप भी तो अक्षर है। वह निर्विकार है और इस से भिन्न सब के सब विकारी हैं। जैसी शरीर की आकृति होती है उसी के अनुसार उसकी छाया भी होती है। उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म भी स्वतः प्रकाश है। सब की बुद्धि में वह अक्षर ब्रह्म यथायोग्य प्रेरणा करता है। जैसी देह में आता है, उसी के अनुसार काम में जा लगता है। सूर्य के शरीर में बैठकर सूर्य का, चन्द्रमा के शरीर में चन्द्रमा का; जल के शरीर में बैठकर जल का, पृथ्वी के शरीर में पृथ्वी का, अग्नि के शरीर में बैठ कर अग्नि का, ईश्वर के शरीर में बैठ कर ईश्वर का, चींटी के शरीर में चींटी का, हाथी के शरीर में हाथी का और मनुष्य के शरीर में मनुष्य का काम करता है। स्थूल-सूक्ष्म में जैसा-जैसा जिस शरीर का अधिकार देखता है, उसी के अनुसार उसको उस काम में जोड़ता है। इस प्रकार अक्षर ब्रह्म सर्व अन्तर्यामी रूप होकर सब प्रपंच को प्रेरित करता है। वह अपना पृथक शरीर नहीं रखता। जो इनका शरीर है, वही अन्तर्यामी का शरीर है।

हे शिष्य ! वह अन्तर्यामी अक्षर ब्रह्म तू ही है। जिन पूर्व गुरुओं ने शिष्यों को अक्षर ब्रह्म का उपदेश किया है, उन्होंने इसी प्रकार से अपने आप प्रत्यग् ब्रह्म में शिष्यों को स्थित किया है, क्योंकि वह न सत् है, न असत् है। सबका अपना आपा परम आनन्द स्वरूप है।

शिष्य—हे गुरु ! श्रुति-स्मृति ऐसा कहती हैं कि जीवन्मुक्त सब पदार्थों को समान देखता है। सोना, मिट्टी, लोहा, ब्राह्मण, चाण्डाल, कुत्ता, गौ, किसी में भी भेद-भाव नहीं देखता। जीवन्मुक्त किन के आश्रय यह समानता देखता है ? यह दृष्टि तो हमको भी प्राप्त होनी चाहिये।

गुरु—हे शिष्य ! जैसे दो योद्धा साक्षी बिना युद्ध करते हुए शोभा नहीं पाते, उनके युद्ध को देखने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। वैसे ही सात्विकी, राजसी, तामसी वृत्तियाँ निरन्तर आपस में लड़ती रहती हैं। जीवन्मुक्ति का आसरा पाकर जीवन्मुक्त उनकी लड़ाई को सदा साक्षी होकर देखता रहता है। सोना सात्विकी अंश का है; सात्विकी वृत्ति ही उसको ग्रहण करती है। देखो, जिस समय यज्ञादिकों का कार्य प्रारम्भ करते हैं, उस समय यज्ञ में सुवर्ण की ही जरूरत होती है, मिट्टी की नहीं। मिट्टी तामसी अंश की है और तामसी वृत्ति ही उसको ग्रहण भी करती है। ये दोनों वृत्तियाँ सदा परस्पर लड़ती रहती हैं। इन दोनों का जीवन एक चैतन्य के आश्रय होता है। जीवन्मुक्त दोनों को सत्ता भी देता है और उनकी लड़ाई को भी देखता रहता है।

पृथ्वी के रजोगुण का अंश लोहा है। लोहे के हथियारों को रजोगुणी वृत्ति ग्रहण करती है। शरीर रूपी प्रजा की रक्षा के लिए मिट्टी का तिरस्कार करती है। ये दोनों वृत्तियाँ भी सदा लड़ती रहती हैं। जीवन्मुक्त साक्षी हुआ सदा उनकी लड़ाई को देखता है। तामसी वृत्ति अपने काम के समय तक मृत्तिका को मिट्टी रूपी शरीर की शुद्धि आदि के लिए ग्रहण करती है। सोने और लोहे का तिरस्कार करती है। जीवन्मुक्त साक्षी की तरह उनका तमाशा देखता है। स्वयं किसी पदार्थ अथवा वृत्ति को स्पर्श नहीं करता। जहाँ मान, प्रतिष्ठा; आदर; सत्कार होता है उसको रजोगुणी वृत्ति ग्रहण करती है क्योंकि वह इनको सदा चाहती रहती है। मान को पाकर वह कहती है कि इस संसार में मैं भी कुछ हूँ। यह सम्मान पाकर मेरा जीवन सफल हुआ। इस प्रकार रजोगुणी वृत्ति बड़ी ही प्रसन्न होती है। अपमान को तामसी वृत्ति ग्रहण करती है। उस अपमान को पाकर वृत्ति कहती है कि अब मेरे जीने को धिक्कार है। मैं बड़ा अभागा हूँ। मेरा जीवन मिथ्या है। अब मैं उसको मार कर मरूँगा। मैं भी किसी समय उसका अपमान करूँगा। उसको नीचा दिखाऊँगा। उसने मेरा बड़ा अपमान किया है।

आनन्द को सात्विकी वृत्ति ग्रहण करती है। उस आनन्द को पाकर वह कहने लगती है कि संसार में हम भी कुछ हैं जो आजकल हमको जहाँ-तहाँ आनन्द की प्राप्ति होती है। जहाँ राग है वहाँ राजसी वृत्ति है, जहाँ निन्दा या चुगली है वहाँ तामसी वृत्ति है। जहाँ कर्म का ज्ञान है वहाँ राजसी वृत्ति उसको ग्रहण करती है। जहाँ प्रत्यग् का ज्ञान है वहाँ सात्विकी वृत्ति होती है और जहाँ पाप का ज्ञान होता है वहाँ तामसी वृत्ति होती है। ये वृत्तियाँ अपने-अपने धर्म पर लड़ती रहती हैं। जीवन्मुक्त इन वृत्तियों को और इनके व्यापारों को साक्षी होकर अनुभव करता है और पृथक हुआ सदा यह जानता रहता है कि शरीर और वृत्ति,—ये सब अपने-अपने धर्म पर लड़ रही हैं, क्योंकि मैंने इनको अपने-अपने धर्म पर लड़ने के लिए स्थित किया है। हमको ये अपनी लीला दिखाती हैं। ये निर्भय होकर युद्ध करें। इसका दुःख-सुख हमको स्पर्श नहीं करता।

हे शिष्य ! इस प्रकार बोधमान जीवन्मुक्त सब से पृथक होकर तमाशा देखता है और सदा निर्विकार रहता है। किसी के साथ वह विकारी नहीं होता। यदि इस जीवन्मुक्त को पृथक न मानें तो इन वृत्तियों और इन की लड़ाई का साक्षात् कौन करे और इनका विज्ञान किसको हो ? यदि यह जीवन्मुक्त इनका साक्षी न हो तो यह सब व्यापार अंधाधुन्ध की तरह हो जावें तथा ब्रह्माण्ड की रचना ही वृथा हो जाय। अतः जीवन्मुक्त को आकाश की नाईं पृथक मानना चाहिये। जैसे आकाश सब में रहता है। किसी से लिपायमान नहीं होता, परन्तु यदि आकाश इन पदार्थों को अवकाश न दे तब इनका व्यापार किस प्रकार हो ? उसी प्रकार जीवन्मुक्त इन वृत्तियों को प्रकाश रूपी सत्ता न दे तो फिर इनका आकाश की नाईं पृथक न रह सकें और न इनका व्यापार ही सम्भव रहे। इस कारण से जीवन्मुक्त अपनी महिमा में आप स्थित है। केवल अज्ञानियों की दृष्टि में कर्त्ता-भोक्ता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में अकर्त्ता-अभोक्ता है।

यह बद्ध अज्ञानी जीव दिन-रात जीवन्मुक्तों की निन्दा करते रहते हैं। ये लोग उनके महत्त्व को नहीं समझते। वह स्वयं अपने स्वरूप को जानता है। विना जाने ज्ञान की बात सब लोग प्रायः किया करते हैं। जीवन्मुक्त अपने ज्ञान के आश्रय मिट्टी, लोहे, सोने, शत्रु, मित्र, शीत, उष्ण, मान, अपमान को समान देखता है। संसार की दृष्टि से वह चाहे कर्त्ता-भोक्ता दिखाई देता रहे, तो भी ज्ञानी की दृष्टि

सब वृत्तियों में अहंता की धारणा नहीं होती वरन् अपने आनन्द-स्वरूप में अहंभाव की धारणा होती है। इसी धारणा के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' निश्चय करता है। इसी आत्मज्ञान के बल से वह सुख-दुःख आदि से सम्बन्ध नहीं जोड़ता। बस, जीवन में तो इतनी ही मुक्ति है कि वह अन्तःकरण की दुख-सुख रूप वृत्तियों को चलती-फिरती देखता हुआ भी अपने में नहीं देखता, वरन् अपने निजी विश्राम में रहता है। अज्ञानी अपनी आत्मा तथा मनोवृत्तियों के अविवेक के कारण मन की दुख-सुख रूप वृत्तियों में दुखी-सुखी होता है। अज्ञानी का अहंकार उन मनोवृत्तियों के वर्ताव को अपने में मानता तथा जानता है और जीवन्मुक्त को उसमें अहंता की धारणा नहीं, वरन् आत्मा में अहंभाव की धारणा होती है।

हे शिष्य ! आत्मबोध तो भ्रांति को दूर करता है। वह न तो अन्तःकरण को और न अन्तःकरण की वृत्तियों को एवं शरीर को, न कर्मों को दूर करता है। केवल भ्रान्ति को दूर करता है। अन्तःकरण और मनोवृत्तियाँ सब ज्यों-की-त्यों चलती रहती हैं और प्रारब्ध कर्म भी ज्यों-के-त्यों काम करते और भोग देते रहते हैं। अज्ञानियों की दृष्टि में अज्ञानियों जैसा व्यापार भी चलता रहता है। परन्तु ज्ञानी उस बुद्धिमान की तरह, जो शीशे में मुख देखता है, उन में वर्ताव देखता हुआ भी आप ज्यों-का-त्यों आराम में स्थिर रहता है। मूढ़ उन्हीं वृत्तियों के साथ एक हुआ स्वयं वर्ताव करता-सा हो जाता है। चाहे जीवन्मुक्त निर्विकार, भोग-अभोग से पृथक ही है, तो भी इस शरीर के भोग और व्यापार चलाने के लिए दो वृत्ति अपने पास अवश्य रखता है। एक निवृत्ति की और दूसरी प्रवृत्ति की। क्योंकि प्रारब्ध बाकी है, इस कारण इस शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की वृत्तियों तथा लोकों और पदार्थों को सत्ता देकर चलाता है। ये सब अपने-अपने धर्म में चलते रहते हैं और वह सब से निर्लेप रहता है।

आकाश का स्वभाव लोभ, वायु का स्वभाव तृष्णा, अग्नि का स्वभाव क्रोध, जल का स्वभाव मोह, पृथ्वी का स्वभाव भय है। इन पाँच देवताओं का बाहर का स्वभाव है। अब इनके अन्दर का व्यापार भी सुनो। जैसे बाहर का शब्द श्रोत्र में आता है, इसी प्रकार बाहर के पदार्थ इन्द्रियों में आते हैं। इन्द्रियों द्वारा मन में आते हैं, तब मन संकल्प-विकल्प करता है। मन द्वारा बुद्धि में आते हैं, तब बुद्धि निश्चय करती है। बुद्धि द्वारा चित्त में आते हैं, तब चित्त चिन्तन करता है। चित्त द्वारा अहंकार में आते हैं, तब अहंकार आप भी कार्य करता है और दूसरों से भी कराता है। "अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता" यह अहंकार का स्वरूप है। यह 'अहं-अहं' कहने वाली वृत्ति जिज्ञासु को बड़ा कष्ट देती है क्योंकि जिज्ञासु अभी वृत्ति के आश्रय है, उससे भिन्न स्वतन्त्र नहीं हुआ है। जब तक वह अधिकारी जीवन्मुक्त पद को प्राप्त नहीं होता तब तक उसको ये वृत्तियाँ दुःख देती रहती हैं। जब वह ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाता है तो गुरु 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों को श्रवण कराता है। जब वह जिज्ञासु गुरु के वचनों के अनुसार वर्तता है तब जैसे-जैसे उन वृत्तियों को जानता जाता है, वैसे-वैसे उन से स्वतन्त्र होता जाता है। जब वृत्तियों से पृथक होकर ज्ञानवान् के पद को प्राप्त होता है, तब वहाँ उसको 'सोऽहं', "ब्रह्मास्मि" की शक्ति प्राप्त होती है।

जब वह जिज्ञासु इस प्रकार अपने परमानन्द को प्राप्त होता है, तब वही सब का साक्षी होकर रहता है। पूर्व जिस प्रकार परमात्मा ने नीति रक्खी है, उसी प्रकार की होती है। गुरु महावाक्यों का वक्ता है और अनुभवी है। उसके द्वारा जिज्ञासु मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इससे इतर और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। जो पुरुष ज्ञान की दशा को प्राप्त हुए हैं, वे इस प्रकार अपने परमानन्द स्वरूप को देखते हैं।

वे स्वयं को आकाश की तरह देखते हैं। जो इन सब में पर ब्रह्म रहता है सो मैं ही हूँ, ऐसा ... का अनुभव है। जैसे सन्तोषी स्त्री दूसरे पुरुष को अपना मुख नहीं दिखाती, उलटा दूर भागती ... अपने पति के साथ निःशंक होकर वर्तती है, उसी प्रकार मायारूपी स्त्री भी सन्तोषी है। यह ... रक्षार्थ पर पुरुष रूप ज्ञानवान् को अपना मुख नहीं दिखाती। स्वतन्त्र न होने से अपनी इच्छा ... नहीं वर्तती। परन्तु बोधवान का भय सदा रखती है! ज्ञानवान से तो सदा दूर ही भाग जाती है ... अज्ञानी पतिदेव के साथ निःशंक होकर क्रीड़ा करती है। जैसे अग्नि काष्ठों को भस्म करके पीछे ... गुप्त हो जाती है, उसी प्रकार माया रूपी अग्नि काष्ठ रूपी अज्ञानी पुरुषों को मिट्टी में मिला कर ... छुप जाती है।

हे शिष्य! यह माया सिवाय ज्ञानी के और किसी से भी भय नहीं करती। यदि तुम ... प्राप्त होना चाहते हो तो प्रत्यग् स्वरूप परब्रह्म को जानो और नाना प्रकार की चतुराई अर्थात् ... शास्त्रों का अध्ययन करना छोड़ो। यह शास्त्र-वासना बुद्धि की चतुराई के लिए है कि मैं भी ... में कुछ बनूँ, मेरी भी ख्याति हो। इसी प्रयत्न में अनेकों अन्त समय रोते-झींकते शास्त्रों से ... चले गये। अनेकों अब भी पड़े रो रहे हैं और रोने की इच्छा कर रहे हैं। हे शिष्य! तुम ऐसा ... करना, नहीं तो तुम भी इनकी तरह रोते-चिल्लाते जाओगे। साथ ही संसार की जितनी भी चतुर... उन में भी मत फूल जाना। यह संसार जो तुमको भान होता है वास्तव में कुछ नहीं, मृगतृष्णा ... की तरह है। तुम ब्रह्मविद्या परायण ही रहना।

यह ब्रह्मविद्या ही परमानन्द की प्राप्ति का कारण है और उसका स्वरूप—'सत्यं-ज्ञानं-अनन्त...' है। उस साधक पुरुष में ही यह ब्रह्मविद्या निवास करती है जो सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग ... क्योंकि कामनाओं के उदय होने से शांति कदापि प्राप्त नहीं होती। जिस मनुष्य को सुख की अभिलाषा ... है उसको दुःख बिना बुलाये ही आया करते हैं। अपने सुख-दुःख को लेकर अनेक कामनायें ... तुम प्रथम इनका ही त्याग करो और इनके चिन्तन का भी विस्मरण कर दो। यदि जिज्ञासु ... किंचित् भी सांसारिक वस्तुओं की कामना रहे तो वह साधनों का नाश कर देती है। इसका ... त्याग करो! तब परम शान्ति को प्राप्त होगे।

शिष्य—हे गुरु! कामना के अभाव से तो वेद का भी अभाव हो जायगा।

गुरु—हे शिष्य! वेद का अभाव नहीं होता। यह नाम रूप प्रपंच, हिरण्यगर्भ से लेकर ... पर्यन्त सब, वेद से ही प्रगट हुए हैं। इन सब का तो नाश हो जाता है, परन्तु वेदरूपी शब्द का नाश नहीं ... होता। वेद अनादि, अनन्त है। जैसे समय पाकर वृक्षों से फूल-फल प्रगट होते हैं, उसी प्रकार ... ईश्वर, ब्रह्मा, विराट्, देवता, सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब पूर्व सृष्टि की तरह ... उत्पन्न हुए हैं। जैसे पूर्व ब्रह्मा, विष्णु, देवता, व्यास आदि हुए हैं, उसी प्रकार माया विशिष्ट चेतन ... भी उत्पन्न हुआ। वेद ने इस ब्रह्मा को सब पदार्थों का अनुभव कराया। तब ब्रह्मा ने अपनी ... देखा और उनके रूप को देख कर उनका प्रतिबिम्ब रूप देवता प्रगट किये। तब मन को प्रगट ... चन्द्रमा, पितृलोक, भूलोक, स्वर्गलोक को प्रगट किया। अर्थात् वेद ब्रह्मा को जैसे-जैसे ज्ञान ... ब्रह्मा प्रगट करता गया। जैसे स्त्री-पुरुष द्वारा पुत्र, पौत्र, कलत्र आदि अनेक सृष्टि हो जाती है, ... दों ने भी जीवों के कर्मों को देख कर ब्रह्माण्ड रूपी मन्दिर बना कर खड़ा कर दिया। मनरूपी पुरुष ...

रूपी स्त्री तथा स्वयं ज्ञान स्वरूप हुआ। जैसे स्त्री को देख कर काम प्रगट होता है, उसी प्रकार मन, वाणी को देख कर संकल्प उत्पन्न होता है। जैसे प्रथम घड़े का नाम लेते हैं, पश्चात् उसका ज्ञान होता है। उसी प्रकार वेद ने प्रथम मन को अनुभव कराया, मन ने वाणी को अनुभव कराया और तब वाणी ने इस सम्पूर्ण सृष्टि को प्रगट कर दिखाया।

हे शिष्य! इस प्रकार ब्रह्मा ने वेद के अनुभव के आश्रय से पूर्व ब्रह्मांड के समान श्रुति, स्मृति, पुराण, शास्त्र, आचार्य, देवता, मनुष्य आदि सब प्रगट किये हैं। पहिली सृष्टि में जो हिरण्यगर्भ, विराट्, ईश्वर, देवता, सूर्य, चन्द्रमा, काल, याज्ञवल्क्य, सनत्कुमार, व्यास आदि जीवन्मुक्त हो गये थे, वेद ने दूसरी सृष्टि में उनके उपासक वे ही फिर और प्रगट कर दिये। माया विशिष्ट ईश्वर ने विचार किया कि जिस पुरुष ने, जिस देवता की अहंग्रह उपासना की है, उसको उसी के पद पर बिठाना चाहिए। यह विचार कर हिरण्यगर्भ के उपासक को हिरण्यगर्भ का पद दिया और विराट् के उपासक को विराट् का, सूर्य के उपासक को सूर्य का और चन्द्रमा के उपासक को चन्द्रमा का पद दिया। हे शिष्य! जो माया विशिष्ट शबल चैतन्य है, उसने ही संकल्प करके ब्रह्मादि सर्व ब्रह्मांड को प्रगट किया। इस कारण से कार्य रूप ब्रह्मा से वेद प्रगट नहीं हुआ, किन्तु सब आकृति वेद से उत्पन्न हुई हैं। इसी कारण से वेद को अनादि कहते हैं। यही सबका आदि है। इसका कोई आदि नहीं है।

शिष्य—हे गुरु! कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि इन आकृतियों द्वारा वेद प्रगट होकर इस ब्रह्मांड को अपने-अपने धर्म में जोड़ता है।

गुरु—हे शिष्य! इस पर एक दृष्टांत सुन। एक मनुष्य जगन्नाथ की यात्रा को जाने वाला था। उसने किसी से जगन्नाथ का मार्ग पूछा। उसने उसको मार्ग बता दिया कि यह है। उसी प्रकार जिस पुरुष के हृदय में स्वर्ग की कामना है, इससे उसे कर्तव्य बुद्धि तो होती है, परन्तु स्वर्ग जाने की विधि तथा मार्ग का ज्ञान नहीं होता। उसे जानने की उसकी इच्छा होती है। वेद भूले हुए पुरुष को आज्ञा देता है कि यदि तुमको स्वर्गलोक की प्राप्ति की इच्छा है तो अग्निहोत्र, पंच अग्नि आदि की उपासना करो। वेद यह आज्ञा नहीं देता कि तुमको स्वर्ग, पितृलोक आदि की चाहे इच्छा हो या न हो, तुम अवश्य श्राद्ध, अग्निहोत्र आदि करो। क्योंकि वेद का स्वभाव अपने आप किसी को कुछ कहने का नहीं है। कामी पुरुष अनेक कामना करके स्वयं ही उनमें जाकर बँध जाते हैं। इसी से उन मूर्ख प्राणियों का जन्म-मरण नहीं छूटता।

उपनिषद् में एक कथा है। एक समय महादेव जी को जीवों का जन्म-मरण रूपी महान् कष्ट देख कर बहुत दया आई और विचार किया कि ये जीव मोक्ष के बिना इन दुःखों से कदापि नहीं छूट सकते, अतः इनकी मुक्ति के लिए तप करना चाहिए क्योंकि तप के बिना तो वरदान भी सफल नहीं हुआ करता। महादेव ने यह विचार करके सब जीवों की मोक्ष के निमित्त उग्र तप आरम्भ कर दिया। इन्द्र आदि देवता उनके तप को देखकर भयभीत हुए। सब देवता मिलकर महादेव के पास आये और कहने लगे कि हे सदा-शिव! ऐसा महान दारुण तप आप क्यों करते हो? आप तो सदा शांत आत्मा हो। कामना के बिना कोई भी पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हुआ करता। महादेव बोले कि हे देवताओ! तुम लोग यहाँ से चले जाओ।

विचारे देवता मारे डर के वहाँ से चले आये और विष्णु लोक में पहुँचे। वहाँ विष्णु अपने सिंहासन पर विराजमान थे। महादेव का सम्पूर्ण वृत्तांत विष्णु जी के आगे निवेदन कर क हे प्रभो! आप महादेव के पास जायें और उनसे पूछें कि वे ऐसा भारी तप क्यों कर रहे हैं? वे तो हैं। देवताओं की प्रार्थना सुनकर विष्णु महादेव के पास चल दिए। वहाँ पहुँच कर देखा कि तप में लगे हुए हैं। भगवान् विष्णु ने पास जाकर पूछा कि हे सदाशिव! ऐसा उग्र तप आप किस से करते हैं? आप तो शांत आत्मा, निष्काम हैं। ऐसी कौन-सी कामना आपको उदय हुई है कि लिए ऐसा दारुण तप कर रहे हो?

महादेव—हे विष्णो! इन जीवों के मोक्ष की कामना खड़ी हो गई है। इनको जन्म-मरण महान् कष्ट लग रहा है। मोक्ष बिना इनका कष्ट दूर नहीं हो सकता। उसी के लिए मैं तप और कोई कामना नहीं है।

विष्णु—हे महादेव! आप सब जीवों को मोक्ष दे सकते हैं। ऐसा दारुण तप करने की आवश्यकता है? आपके तो संकल्प मात्र में मोक्ष है।

महादेव—हे विष्णो! निस्सन्देह हम उनको मोक्ष दे सकते हैं। परन्तु अपना वरदान फलीभूत कदापि नहीं हुआ करता। जब कोई और वरदान दे, तब कहीं वह सिद्ध होता है।

विष्णु—हे सदाशिव! परमात्मा ने जो मर्यादा स्थापित की है उसको क्या भला कोई कर सकता है? आपको भी उसका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। फिर इन जीवों का प्रारब्ध संसार का व्यवहार किस प्रकार चलेगा?

महादेव—हे विष्णो! चले चाहे न चले, जो हो सो हो, परन्तु इन जीवों का मोक्ष होना चाहिये।

विष्णु ने देखा कि सदाशिव का हठ है। वे मान नहीं सकते। तब वे बोले कि हे सदाशिव ही होगा। जाओ इस मृत्यु भूमि में चार प्रकार के मोक्ष होंगे, परन्तु एक लिंगभंगरूप कैवल्य होगा। क्योंकि लिङ्गभङ्ग मोक्ष बिना ब्रह्मविद्या के नहीं होती। परमात्मा स्वतन्त्र है, किसी के है। उसकी मर्यादा का कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। यह लिङ्ग शरीर किसी के वर-शाप अथवा उत्पन्न नहीं हो सकता। हे सदाशिव! यह परमात्मा की आदि नीति है। हे शम्भो! हम उसी परमात्मा की आज्ञा में वर्तते हैं, स्वतन्त्र नहीं हो सकते, अन्य जीवों की तो बात ही क्या है इन जीवों को चार प्रकार की मोक्ष होगी। एक सायुज्य, दूसरी सालोक्य, तीसरी सामीप्य और सारूप्य। हे महादेव! जो हमारा अथवा तुम्हारा भक्त होगा, जो मनुष्य शरीर में शास्त्र के विधिपूर्वक विचरेगा, उसको यथा अधिकार इन मोक्षों में से किसी एक की प्राप्ति होगी।

विष्णु के यह वचन सुनकर महादेव तप से उपराम हुए। जिस पुरुष की शिव, विष्णु में और इनके द्वारा मोक्ष की इच्छा है और जो विधि पूर्वक शास्त्र के अनुसार वर्तते हैं, वे काशी जाकर मोक्ष को प्राप्त होंगे। अन्य जीव जो काशी में रहकर भी शास्त्र के विपरीत वर्तते रहते हैं, वे सर्प, कुत्ता आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। जो दैत्य, पशु, पक्षी की मोक्ष कहते हैं वे अर्थवाद उपमा के लिए कहते हैं। देवता के भाव को जाने बिना कोई भी मोक्ष नहीं पा सकता। इन अनेक प्रकार की कामना रूपी भार का ही बन्धन है। मूर्ख प्राणी इस बोझे को शिर पर लादे हुए

उधर भटकते हैं। जब इस बोझे को फेकेंगे, तब कहीं जाकर मुक्त होंगे। इसमें काशीपुरी भला क्या करेगी? बहुत-से पुरुष नाना आकारों की उपासना करते हैं। कोई शिव, विष्णु, देवी आदि में भिन्न-भिन्न नाम की कल्पना करते हैं कि विष्णु का वाहन गरुड़ है, ब्रह्मा का वाहन हंस है, शिव का वाहन नन्दी आदि है। यह सब इन जीवों की अपनी कल्पना है। जो उपासक लोग विष्णु, शिव आदि को नाना प्रकार के भोग लगाते हैं, यह भी उनकी अपनी कल्पना है। यह लोग अनेक कामनाओं के वश में होकर उन्मत्त हुए पागलों की नाईं बिना समझे बूझे कहते रहते हैं।

विष्णु—हे शिव! हमारे में अनेक प्रकार की वृथा कल्पना उठाने वाले यह पुरुष जब इन कामनाओं का भार उतार कर फेकेंगे तब हमारे यथार्थ स्वरूप को जान सकेंगे। हम चेतनों के चेतन्य प्रकाश स्वरूप हैं। इन जीवों का अपना आप प्रत्यग् स्वरूप हैं। जैसे वृक्ष जल के आश्रय रहता है। यदि उसको जल न सींचा जावे तो वह सूख जाता है, उसी प्रकार इन जीवों के आशा रूपी वृक्ष के लिए सत्ता रूपी जल है। अपनी इस सत्ता को न जानना ही क्लेश का हेतु है। जब यह पुरुष अपनी सत्ता को जानकर उसे खींच लेता है तब इस आशा रूपी वृक्ष का नाश हो जाता है। आशा के नाश होने से इस जीव का हृदय शान्त हो जाता है। तब ब्रह्मविद्या भी आशा रूपी मल से रहित शुद्ध हृदय रूप स्थान को देखकर वहाँ आ निवास करती है। ब्रह्मविद्या के प्रवेश करते ही उस अधिकारी का जीवभाव नष्ट हो जाता है अर्थात् यह जीव स्वयं को ब्रह्मस्वरूप मानने लगता है।

जीव का स्वरूप भूत प्रकाशस्वरूप ब्रह्म "सोहमस्मि" है। वह जीवभाव से मुक्त महापुरुष अपनी इच्छा के अनुसार किसी स्थल में एक वर्ष, किसी में दश वर्ष, किसी में पाँच वर्ष रहता है। किसी जगह शत वर्ष भी ठहर जाता है। कहीं-कहीं दो-चार पक्ष रह कर स्वर्ग, लोक अथवा नर्क आदि लोकों को चला जाता है अथवा ब्रह्मलोक में चला जाता है। यदि कोई इसको रोके तो रुकता नहीं। अपनी इच्छा से आता-जाता है। यही ब्रह्म आत्मा, जाग्रत, स्वप्न को त्याग कर सुषुप्ति में अनन्त नाड़ियों के सुख को भोगता है। यही ब्रह्मात्मा शरीर को त्याग कर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण, तीन अविद्या, पंचभूत इन सत्ताईस तत्वों का पुर्यष्टिका रूप लिंग शरीर में स्थित होकर स्वर्ग को चला जाता है और देव शरीर को पाकर देवताओं के भोग भोगता है। यह आत्मा जहां भी जाकर रहता है, वहीं उदासीन की नाईं रहता है। किसी भी पदार्थ के साथ स्वयं विकारी नहीं होता, क्योंकि निर्विकार स्वरूप है।

शिष्य—हे गुरु! क्या यह लिंग शरीर ही आत्मा है? आने-जाने वाला तो यही है। इससे भिन्न और कोई आत्मा ज्ञात नहीं होता। आपने आत्मा को निर्विकार कहा है। लिंग शरीर से भिन्न जो निर्विकार है, वह कौन आत्मा है? उसको मैं जानना चाहता हूं।

गुरु—हे शिष्य! वह आत्मा इस लिंगशरीर से पृथक है पर इसको सत्ता दे रहा है। जो इस मन को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध में प्रेरित करता है, वही आत्मा है। जो सदैव तेरे और सब जीवों के पास है। वे मनुष्य कैसे जड़ हैं जो ऐसे आत्मा के पास रहकर भी उसके महत्व को नहीं जानते? हे शिष्य! आत्मा का न जानना ही मूल अविद्या का स्वरूप है। और भी इनकी मूर्खता देख कि यही पर ब्रह्म कभी किसी जगह किसी प्रतिमा में प्रगट होता है तो उस प्रतिमा पर यह मनुष्य टूट और झपट कर दर्शन-पूजन के लिए उसी प्रकार लड़ते हैं जैसे मक्खियाँ गुड़ पर टूट-टूट कर पड़ती हैं। परन्तु यह

ब्रह्मात्मा सब के पास विराजमान है। उसके महत्व को कोई नहीं जानता। यह कि
अज्ञान है।

जिस समय आत्मा इस शरीर को त्यागता है, तब उसके सम्बन्धी अपने-अपने प्रयोजन
उसके साथ अपना प्रेम दिखाते हैं। पर यह अपनी सब सामग्री अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्रा
साथ लेकर चल देता है। किसी का कहना नहीं सुनता। परम स्वतन्त्र है। अपनी इच्छानुसार
जाता है। हे शिष्य! वही परब्रह्म अक्रिय, अभय, अविनाशी है। यह सब महत्व तेरा ही
नि˙प है। तुम्हीं ईश्वर होकर जीव को और जीव होकर ईश्वर को दर्शन देते हो। शत्रु-मित्र
परस्पर राग-द्वेष का व्यवहार करते हो। गुरु होकर शिष्यों को उपदेश और शिष्य होकर गुरु
ग्रहण करते हो। पिता होकर पुत्र को देखते हो। स्त्री, पति, राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक आदि
रूप होकर तुम ही सब को दर्शन देते हो। तुम्हारे स्वरूप से भिन्न और कोई परब्रह्म नहीं है।
इस प्रकार अपने आप परब्रह्म प्रत्यग् स्वरूप को जानता है, वही पर ब्रह्म है।

हे शिष्य! इसी ब्रह्म ने इन सब विशेष रूपों को धारण किया है जो सब को दिखाई दे
जो इस प्रत्यक्ष प्रगट ब्रह्म को त्याग कर प्रतिमा आदि में परमात्मा को देखना चाहता है, वह
अज्ञानी है। वह ऐसा मूर्ख है कि हाथ में आए हुए लड्डू को फेंक कर हाथ को चाटने लगता है।
बड़े श्रेष्ठ बुद्धिमान पंडित अनुमान के आश्रय आज तक यह सिद्ध नहीं कर सके कि सीपी में
उसी प्रकार यह मूर्ख प्राणी अनुमान के द्वारा मिट्टी, पत्थर में ब्रह्म को सिद्ध करना चाहते हैं,
तक मिट्टी के सिवाय और कुछ सिद्ध नहीं हो सका। यह केवल उनकी मूर्खता ही है। हे शिष्य!
प्रगट बोलता-चालता, बात-चीत करता है, यही वह परब्रह्म है। इससे इतर और कोई ब्रह्म
नहीं है। जिस पुरुष ने इस अपने आप प्रत्यग् ब्रह्म को जाना है, वह परब्रह्म ही तो है। वही ब्र
का अनुभव करता है, पर उसको कोई अनुभव नहीं कर सकता। तुम भी ऐसे ज्ञान स्वरूप
प्राप्त हो।

शिष्य—हे गुरु! अब मैं जिस प्रकार ब्रह्म स्वरूप की निष्ठा को प्राप्त हूं, वही कहिये।

गुरु—हे शिष्य! तत्वमसि आदि महावाक्यों का विचार करके दिव्य चक्षु प्राप्त
आप प्रत्यग् ब्रह्म को देखो। जो कोई पुरुष तुम से ऐसा आकर कहे कि हमने तो श्रवण,
निदिध्यासन किया है। निरन्तर वेदान्त शास्त्रों का विचार करते रहे हैं। सब शास्त्र हमको
तथापि हम तृष्णा से व्याकुल और अहंकार द्वारा पाप-पुण्य में विचरते हैं तथा अहं मम से घिरे
ऐसे लोगों का तुम संग कदापि न करना। साथ ही तुम उन वेदान्तियों के पास भी न जाना
किसी देवता की या किसी राजा की आशा रखते हैं या उनके आगे-पीछे चापलूसी करते फिरते हैं।
वेदान्ताचार्य तो महामूर्ख कंगाल कहा जाता है। भला जो वैराग्यवान है, वह जो कुछ करना
कर चुका और परमानन्द को प्राप्त भी हो चुका। सब ब्रह्माण्ड उसी की आराधना करता है।
विद्वान भला किस की आराधना करेगा और इन मूर्खों के आगे-पीछे क्यों घूमेगा? वह तो ब्रह्मा
देवों को भी कुछ नहीं समझता। अरे! जो वैराग्यवान-सा बनकर अज्ञान और नाना कामना
कारण इधर-उधर प्रपंच रचने के लिए धनी पुरुषों को टटोलता फिरता है, वह पुरुष नीच, ठग है
मूर्ख प्रपंची लोगों के शिष्य भी मूर्ख होते हैं।

जैसे दीपक सब पदार्थों और मन्दिर को प्रकाशता है तथा स्वयं अक्रिय प्रकाशमात्र रहता है, उसी प्रकार शरीर रूप मन्दिर है, मनरूप दीपक है, आशा रूपी तेल है और ब्रह्मविद्या रूपी अग्नि है। ज्ञान रूपी प्रकाश है और जिज्ञासु रूपी पुरुष है। जब वह जिज्ञासु ज्ञानरूपी प्रकाश को अपने अन्दर ले जाता है, तब वह ज्ञान सत्-असत् सब पदार्थों का बोध करा देता है और स्वयं (ज्ञान) कुछ भी क्रिया नहीं करता। केवल सबको प्रकाशता ही है। यह जिज्ञासु जड़ चैतन्य आदिकों का भेद और क्रिया आदिक सब दीपक वाले पुरुष की तरह ही करता है। हे शिष्य! तुम तो चैतन्य हो। यह मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ जड़ हैं। सत्-असत् का विचार जब तुम करोगे तब ज्ञानचक्षु रूप दीपक द्वारा अपने आप प्रत्यग् स्वरूप को देखोगे। और जब तुम अपने स्वयं प्रत्यग् स्वरूप का अनुभव करोगे, तब तुम्हारे चित्त में ऐसा स्फुरण होने लगेगा कि जिस परब्रह्म को हम पुकारते थे, सो परब्रह्म हम ही हैं। यह जीव-ईश्वर का स्वरूप धारकर भी "मैं" ही प्रगट हुआ हूं। जिस परब्रह्म को वेद, स्मृति, पुराण, पुकार-पुकार कर कहते हैं, वह मैं ही हूं। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, विद्युत आदि भी मैं ही हूँ।

हे शिष्य! इस ब्रह्मविद्या द्वारा जब तुम परमानन्द को प्राप्त होगे, उस समय तुम्हारे चित्त में ऊपर कही हुई स्फुरणा होने लगेगी। अव्याकृत से लेकर अणु पर्यन्त सब में अपने महत्व को देखोगे। तू ही समस्त ब्रह्माण्ड को चैतन्य कर रहा है। तू ही सब को देख रहा है, तुझको कोई नहीं देख सकता क्योंकि तू चैतन्य है और सब जड़ हैं। तू सर्वशक्तिसम्पन्न है। इस कारण सब देवता, मनुष्य आदि तेरी शक्ति की इच्छा करते हैं।

शिष्य—हे गुरु! मेरा स्वरूप कैसा है? उसको साक्षात् कैसे देखें?

गुरु—हे शिष्य! जब परमात्मा ने इस सृष्टि के उत्पन्न करने का संकल्प किया, तब प्रथम विराट् की गोलकों को रचा। उन गोलकों से विराट् रूपी देवता प्रगट हुए। इन देवताओं को क्षुधा लगी, पर क्षुधा की निवृत्ति का कोई उपाय उनके देखने में न आया, क्योंकि उनको सब अपना आपा ही दीखता था। भला अपने को स्वयं ही कैसे खावें? तब सब देवता मिलकर परमात्मा से प्रार्थना करने लगे कि हे देव! जिस प्रकार हमारी क्षुधा निवृत्ति हो, वही उपाय आप करिये। इस महान शरीर में तो क्षुधा की निवृत्ति सम्भव नहीं, इसलिए कोई और छोटा-सा शरीर दीजिए जो हमारी क्षुधा आसानी से नष्ट हो। तब परमात्मा ने कहा कि अच्छा, अब हम तुमको छोटा-सा शरीर देते हैं। उस शरीर में तुम्हारी क्षुधा दूर हो जायगी और अपने स्वरूप को भी प्राप्त होगे। अब हम उन सब शरीरों को दिखाते हैं। उनमें से तुमको जो अच्छा लगे, उसी को ले लेना। तब परमात्मा ने गौ से लेकर मच्छर आदि विशाल और सूक्ष्म सब शरीरों की पड़ताल कराई। पर देवताओं ने इन शरीरों में से किसी को भी ग्रहण नहीं किया।

देव बोले—हे प्रभो! यह सब आकृति हमारे काम की नहीं। ये सब विकराल, भयानक शरीर अच्छे नहीं मालूम होते। कोई अच्छा सुन्दर शरीर दीजिए।

परमात्मा—हे देवताओ! अब हम तुमको अपना मनुष्य शरीर दिखाते हैं।

जब परमात्मा ने मनुष्य शरीर को प्रगट किया तब देवता देखते ही बहुत प्रसन्न हुए और मारे हर्ष के नाचने लगे क्योंकि इस मनुष्य शरीर से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब सिद्ध हो जाते हैं।

देव—हे प्रभो ! इस शरीर द्वारा हमारी क्षुधा भी निवृत्त होगी और इसके द्वारा हम आनंद को भी प्राप्त होंगे। सब कामना भी सिद्ध होगी। यह शरीर बहुत ही श्रेष्ठ है।

परमात्मा—हे देवताओ ! यह दूसरे गौ आदिक शरीर हैं, इनमें भी तुमको प्रवेश करना; क्योंकि ऐसा मेरा संकल्प है, जो अन्यथा नहीं होता।

जैसे कोई श्रेष्ठ पुरुष अपने प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ किसी नीच काम को भी अङ्गीकार लेता है, उसी प्रकार देवताओं ने भी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए नीच गौ आदि शरीरों का अङ्गीकार कर लिया और परमात्मा की आज्ञा लेकर अपने-अपने द्वार पर जा बैठे। तत्पश्चात् वायु ने विचार किया कि अब हम भी इस शरीर में प्रवेश करें नहीं तो यह सब देवता हमारे बिना चेष्टा करेंगे ? हमारे बिना यह सब जड़ की तरह पड़े रहेंगे। दूसरे परमात्मा का संकल्प भी सबके प्रवेश का है। इस कारण से हमको भी इसमें प्रवेश करना चाहिए। यह विचार कर वायु ने शरीर के सब द्वार देखा। पर एक पैर का और दूसरा शिखा का, इन दो दरवाजों को छोड़कर शरीर के शेष सब द्वार पाये। तब वायु ने फिर विचार किया कि परमात्मा को भी इस शरीर में आना है। उसके बिना हम का कार्य सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वही तो सब का अधिष्ठान प्रकाश स्वरूप है। हम सब तो जड़ हमको चैतन्य करने वाला तो वही है। अतः शिखा के श्रेष्ठ द्वार को ईश्वर के निमित्त छोड़कर पैरों की संधि के द्वार से प्राण शरीर में प्रवेश कर गया। क्योंकि वह वायु देवता सब देवताओं से श्रेष्ठ परमात्मा का मंत्री है, इस कारण से सब देवताओं का प्रेरक है।

जब वायु प्रवेश कर गया तब परमात्मा ने विचार किया कि अब हम भी इस शरीर में प्रवेश करें। जैसे सूर्य के प्रकाश बिना ब्रह्मांड की चेष्टा नहीं होती, जड़ की नाईं पड़ा रहता है, वैसे ही मैं सबका प्रकाशक हूँ। मेरे बिना यह देवता कैसे चेष्टा करेंगे ? यह भी तो जड़, तमरूप हैं। दूसरे यदि मैं इसमें प्रवेश न करूँ तो यह देवता मेरे महत्व को कैसे समझेंगे ? मेरे महत्व को बिना जाने यह मुझको प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए अपना महत्व इनको प्रगट करके दिखाने के लिए मुझे शरीर में प्रवेश करना ही चाहिए। यदि मैं इनमें प्रवेश न करूँ, तो जैसे राजा अपनी सेना को किसी काम के लिए भेज दे और वह किसी अन्य का बल पाकर राजा की आज्ञा का पालन न करे, तो वह राजा बेकार हो जाता है, उसी प्रकार यह सब देवता शरीर में सत्ता का बल पाकर यदि मुझे भुला देंगे तो मैं निकम्मा रह जाऊँगा। इस कारण से भी मुझको इसमें अवश्य प्रवेश करना चाहिए।

मेरे बिना इनकी शोभा भी नहीं हो सकती। जैसे कमल बिना सूना-सूना तालाब शोभा नहीं पाता उसी प्रकार यह सब देवता भी मेरे बिना शोभा और प्रकाश कैसे पावेंगे ? जब मैं प्रवेश करके इनको अपनी सत्ता दूँगा, तब यह भी चैतन्य होकर चेष्टा करेंगे। मैंने यह लीला स्वयं तमाशा देखने के लिए रची है, जो मेरा एक खेल है। मैंने यह प्रपंच अपनी स्वतन्त्रता से बड़ी प्रसन्नता पूर्वक उत्पन्न किया है, किसी दूसरे की प्रेरणा से नहीं किया। अब स्वतन्त्रता पूर्वक प्रसन्नता से ही इसमें प्रवेश भी करना चाहिए। जब मैं इस नाटकशाला में प्रवेश करूँगा तब इनकी लीला का रसपान करके चित्त में प्रसन्नता होगी। पुतलियों को नचाने वाले तथा लीला को देखने वाले में से एक भी न हो, तो वह लीला नहीं होती, उसी प्रकार मुझ साक्षी आत्मा के बिना यह देवता कुछ भी नहीं कर सकते।

हे शिष्य ! इस प्रकार विचार करके वह परमात्मा शरीर के सब द्वारों को देखने लगा। उसको केवल एक शिखा का द्वार, जो प्राण ने परमात्मा के लिए ही छोड़ दिया था, खाली मिला। इसी मार्ग से परमात्मा देव ने शरीर में प्रवेश किया। अन्दर प्रवेश करके इन्द्रियों के सब स्थानों को देखा और विचारा कि यह सब भ्रम के स्थान हैं। यहाँ किसी स्थान में भी हमको शांति नहीं दीखती।

शिष्य—हे गुरु ! परमात्मा ने भ्रम के स्थान कौन-कौन-से कहे हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! एक जाग्रत का चक्षु, दूसरा स्वप्न का कण्ठ, तीसरा सुषुप्ति का हृदय, चौथा पिता का शुक्र, पाचवाँ स्त्री का गर्भ, छठा गर्भ से प्रगट होना, सातवां देवताओं के लोक में जाकर देवभाव को प्राप्त होना, आठवां इस शरीर को त्याग कर पुर्यष्टिकामय शरीर और नवां देव लोक से गिरकर पृथ्वी रूप अन्नभाव की प्राप्ति। हे शिष्य ! यह नौ स्थान परमात्मा ने अच्छी प्रकार विचार कर भ्रम मात्र कहे हैं, चाहे ये स्थान उत्तम हैं अथवा नीच हैं। पश्चात् परमात्मा दीर्घ और भोगे बिना अमिट प्रारब्ध को देख कर यहां रहने लगा। इस प्रकार के कथन से परमात्मा ने यह प्रगट किया कि मैं शरीर, इन्द्रिय, देवता, स्थान, इन्द्रियों के भोग व व्यापार आदि से भिन्न हूँ। यह सब मेरे में कल्पित हैं। मैं असङ्ग निर्विकार हूँ। मेरा इनमें प्रवेश भी कल्पित है। इन कल्पित पदार्थों का धर्म मेरे को कदापि स्पर्श नहीं करता। इसी कारण से वेद, स्मृति, पुराण आदि में मुझे निर्विकार कहा है।

हे शिष्य ! सत् परमात्मा सबमें है भी और सबसे प्रथक भी है। तेरे में ही उस परमात्मा के सब लक्षण पाये जाते हैं। अतः तू ही वह परमात्मा है। तुझको यहां इस शरीर में रहते हुए बहुत दिन हो गए हैं, इस कारण से तू अपने स्वरूप को भूल गया है। यह शास्त्र, पुराण आदि सब तेरा ही यश गाते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! कोई कहता है कि मैं जानता हूँ और कोई कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ। कोई कहता है कि अज्ञान में दुःख और ज्ञान में सुख है। आप कहते हो कि परमात्मा ज्ञान-अज्ञान दोनों से प्रथक है। कोई पुरुष ऐसा भी कहते हैं कि इस भाव रूप संसार में दुःख है और अभाव रूप सुषुप्ति में सुख है। हे गुरु ! यह अनेक आचार्य अपने-अपने मत के अनुसार नाना प्रकार की कल्पना करते हैं। उनका यह मत सत्त है वा असत्, यह संशय भी कृपा करके निवारण करो।

गुरु—हे शिष्य ! सुषुप्ति में इन्द्रियों का तो अभाव है, तो वहां सुख किसको हुआ ? जाग्रत में कौन कहता है कि मैं सुख से सोया ?

शिष्य—हे गुरु ! वहां हमारे सिवाय कोई नहीं था। हम ही सुषुप्ति में सुख पा रहे थे और हम ही जाग्रत होकर उस सुख का वर्णन करते हैं।

गुरु—हे शिष्य ! जब सुषुप्ति में भी तुम ही थे और जाग्रत में भी तुम ही हो, तो फिर यह मिथ्या कैसे है कि जाग्रत में दुःख है और सुषुप्ति में सुख है ? यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, सुख, दुःख सब तेरे आत्म प्रकाश से ही सिद्ध होते हैं। जहां तेरा प्रकाश नहीं, वहां कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अतः उन आचार्यों का कहना मिथ्या है। भाव-अभाव, सुख-दुःख सब चित्त में है, बाहर कुछ भी नहीं है। हे शिष्य ! तुम स्वतः प्रकाश भाव-अभाव और द्वैत से रहित हो। तुम एक परब्रह्म प्रकाश स्वरूप हो। यह बुद्धि, मन, इन्द्रियां सब भाव-अभाव रूप प्रपञ्च कल्पित हैं। न होने पर भी मृगतृष्णा के जल की भांति भान होता है। एक तुम ही सत् हो। वेद का भी तात्पर्य यही है।

हे शिष्य ! हम तुमको सत्-असत् का सम्यग् रूप से ज्ञान कराते हैं। इस दुर्लभ मनुष्य तन को पाकर वृथा खोना बुद्धिमानों का काम नहीं है। इस मनुष्य शरीर में ही ज्ञान हो सकता है, दूसरे शरीर में नहीं। जो प्राणी संसार के भोगों में फँसे रहते हैं वह कीट, पतङ्ग आदि नाना योनियों को प्राप्त होते हैं। मानव-शरीर को पाकर पशुओं के समान खा-पीकर समय नष्ट करोगे तो तुम में और पशु में क्या अन्तर रहा। इस मानव शरीर में आत्मा के महत्व का ज्ञान होता है। तुम अपने महत्व के ज्ञान के पात्र हो। एक आत्मज्ञान ही मनुष्यता को सिद्ध करता है। आत्मज्ञान बिना यह पशु के समान और कुछ नहीं। अज्ञानी का विवेकी पुरुष, वेद, शास्त्र सब धिक्कार पूर्वक तिरस्कार करते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! अज्ञानी पुरुष को ऋषि, मुनि, विवेकीजनों का ही धिक्कार बहुत है। वेद क्यों धिक्कार देते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! एक घोड़े को दश मनुष्यों ने मिलकर अपना बोझ लादने के लिये मोल लिया। जब वह यात्रा को चलने लगे तब सबने अपना-अपना बोझ उस घोड़े पर लाद दिया। बोझा बहुत हो गया। उन यात्रियों में से उस ग़रीब घोड़े पर किसी को भी दया नहीं आई कि मैं थोड़ा बोझ कम करूँ। बिचारे घोड़े ने गिरते-पड़ते ज्यों-त्यों करके उस बोझ को पड़ाव पर जा डाला। वहाँ जाकर सबने अपना-अपना बोझ तो उतार लिया और घोड़े को डण्डा मारकर घास चुगने को छोड़ दिया। घास-दाना किसी ने भी न दिया। इन दश मनुष्यों में से किसी को भी दया न आई कि यह भूखा-प्यासा होगा। सब अपने-अपने मन में सोचते रहे कि मैं ही क्यों दूँ, यह तो सब का ही है। यदि वह घोड़ा एक का ही होता तो सुखी रहता। उसी प्रकार अज्ञानी जीव पशु है और ब्रह्मा, शिव आदिक उसके मालिक हैं। यह जिस भक्तिरूपी बोझ लादकर सब देवताओं के आधीन हुआ है। वह जिस देवता के आगे प्रार्थना, पूजा, अर्चन न करे वही देवता उस पर क्रोध करता है। अब इस अज्ञानी भक्त के कुछ माँगने का समय आता है तब सब देवता घोड़े की तरह इसका त्याग कर देते हैं। कोई भी देवता नहीं कहता कि इसको कुछ दें। प्रत्येक देवता कहता है कि यह तो अमुक का सेवक है, वही जाने। हमको इस से क्या प्रयोजन ! इस प्रकार सब देवता इस घोड़े रूपी मनुष्य से उदासीन रहते हैं।

हे शिष्य ! अज्ञानी मनुष्य का जन्म सेवा करते-करते व्यर्थ जाता है, परन्तु यह मूर्ख अपने भाव को नहीं छोड़ता। इसी कारण से इस को सत्-असत् का कुछ भी विवेक नहीं होता और श्रुति भी इसको धिक्कारती है।

प्रथम तो मनुष्य शरीर का मिलना ही दुर्लभ है और ब्रह्मज्ञानी गुरु का मिलना तो अति दुर्लभ है। जिस पुरुष ने ब्रह्मज्ञानी पुरुष को पाकर उनके उपदेश के द्वारा सत्-असत् का विचार नहीं किया उस पुरुष का जीवन वृथा है। अतः तुम सत्-आत्मा को प्राप्त कर निज स्वरूपामृत का पान करो जिस के पान से पुरुष अमर हो जाते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! मैंने सुना है कि प्रत्येक जीव के हृदय में हिरण्यगर्भ से लेकर अणु पर्यन्त वस्तु रक्खी हुई हैं। जिस वस्तु की पुरुष उपासना करे, वही उसको फुर आती है। वह उपासक किस प्रकार से उपासना करते हैं और कैसे उन-उन वस्तुओं को प्राप्त होते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! इन सब जीवों की बुद्धि में स्थूल-सूक्ष्म सब प्रपंच की सामग्री वैसे ही स्थित है जैसे दुकान में सब सामग्री होती है। जिस वस्तु को दुकानदार बाहर निकाल कर रखता है वह तो ग्राहक

में आती है शेष सब पदार्थ दुकान के अन्दर गुप्त रहते हैं। उसी प्रकार यह जीव रूपी पुरुष दुकानदार है और हिरण्यगर्भ से लेकर अणु पर्यन्त सब नाम रूप पदार्थ हैं। जिस पुरुष ने उपासना द्वारा जिस पदार्थ को बाहर निकाला है, वह तो देखने में आता है और शेष सब उत्तम, मध्यम, कनिष्ट पदार्थ बुद्धि रूपी दुकान में छिपे रहते हैं। ईश्वर, ब्रह्मा, शिव, देवता, सूर्य, चन्द्रमा, विराट्, जीव, पशु, पक्षी, चींटी आदि जिस पदार्थ को बाहर निकालता है वही दिखाई देता है। इस विषय में एक जीव की गाथा है जो ब्रह्मा की अहंग्रह उपासना द्वारा ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुआ था। उसने उपासना द्वारा अच्छे प्रकार ब्रह्मदेव को प्रसन्न किया था।

शिष्य—हे गुरु! उसने किस प्रकार उपासना की थी?

गुरु—हे शिष्य! उसने मन में ही अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ किया था और हृदय में हिरण्यगर्भ का ध्यान किया। इसी प्रकार उपासना करते-करते शरीर त्याग दिया। उसी काल में ब्रह्मा की आयु के भी सौ वर्ष पूरे हो गए। तब वह उपासक ब्रह्मा के पद को प्राप्त हुआ और ब्रह्मलोक की सब सामग्री उसको फुर आई। उस जीव ने ब्रह्मा होकर यह विचार किया कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ। जैसे, जब जीव वानर की योनि को प्राप्त होता है, तब वानर का सब व्यवहार उसको फुर आता है, उसी प्रकार उस उपासक को ब्रह्मा का व्यवहार फुर आया। उसने विचार किया कि मैं अकेला हूँ। यदि कोई मेरे से भी अधिक बलवान आ जाय तो मैं अकेला क्या कर सकता हूँ? पर क्योंकि मैं तो सत्, चैतन्य, एक, अद्वितीय हूँ। मेरे से इतर कुछ नहीं है। फिर मैं क्यों भय करूँ? इस विचार द्वारा वह निर्भय हुआ। जैसे कोई पुरुष अन्धकार में लकड़ी के ठूंठ को चोर जान कर भयभीत होकर और फिर विचार द्वारा निर्भय हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मा भी अपने स्वरूप का विचार करके निर्भय हुआ।

तब समाधि में स्थिर होकर ब्रह्मा ने विचार किया कि मुझको एक स्त्री चाहिए। झट स्त्री का संकल्प सत्य हो गया। उस ब्रह्मा के संकल्प के दो भाग, एक स्त्री और दूसरा पुरुष बनकर दोनों मिले हुए उत्पन्न हुए। फिर वह ब्रह्मा उस अपने शरीर को त्याग कर समाधि में स्थित हो गया। तब उन दोनों मिले हुए शरीरों के दो भिन्न-भिन्न भाग हो गए, एक मनुष्य और दूसरी स्त्री। उनका नाम मनु और सतरूपा हुआ। अर्थात् यह दोनों इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अंकुर उत्पन्न हुए। जैसे अंकुर द्वारा वृक्ष फैल जाता है, वैसे ही इन दोनों द्वारा सब ब्रह्माण्ड विस्तार को प्राप्त हुआ है। तत्पश्चात् मनु और सतरूपा ने पृथक्-पृथक् हो कर विचार किया कि जैसे चने के दो अलग-अलग भाग परस्पर मिले जुले होते हैं, जो छिलका उतारते ही पृथक हो जाते हैं। उसी प्रकार यह मनु और सतरूपा पृथक्-पृथक् हो गए हैं।

इस संसार में भी ब्रह्मचारी आधी फाँक माना जाता है। जब उसका विवाह हो जाता है तब पूरा कहा जाता है। पूरे को ही वेद की सम्पूर्ण क्रियाएँ करनी चाहिएँ। अधूरे मनुष्य को नैमित्तिक कर्म कर्त्तव्य नहीं। इसीलिए तो गृहस्थी ब्रह्मचारी को नमस्कार, प्रणाम नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि मुझ से इसका पद छोटा है। जितना मुझको अनुभव है, इसको नहीं। अतः ब्रह्मचारी ही गृहस्थाश्रमी को नमस्कार प्रणाम करता है क्योंकि वह अपने को न्यून समझता है। आशय ये है कि ब्रह्मचारी से गृहस्थ श्रेष्ठ है। हाँ, विरक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी के प्रति गृहस्थी को अवश्य नमस्कार करना योग्य है। ऐसे विरक्त ब्रह्मचारी को ब्रह्मचारी और गृहस्थ दोनों नमस्कार करेंगे।

सत्रूपा ने विचार किया कि मनु तो मेरे शरीर से प्रगट हुआ है अतः मेरा पुत्र है। पुत्र में काम की भावना करने में पाप होगा। पर इस को उत्पन्न काम की भावना से ही किया है। इस से बचना तभी संभव हो सकता है जब कि इस शरीर का त्याग किया जावे क्योंकि शास्त्र में कहा है यदि किसी पुरुष से कोई उग्र पाप बन जाय तो वह शरीर के त्यागे बिना निवृत्त नहीं होता। इस से मुझ को शरीर का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। यह विचार कर सतरूपा स्त्री का रूप छोड़कर गई। तब मनु बैल बन गया। हे शिष्य! दोनों ने अनेक शरीर धारण किए। यहाँ तक कि अन्त में दोनों ने चौदह लोक भर दिए। इन दोनों के धारण किये हुए शरीरों का कहाँ तक कथन करें उनका अन्त नहीं दिखाई देता। इसीलिए पुराणों में संक्षेप मात्र से चौरासी लक्ष योनियें वर्णन है।

हे शिष्य! यह वाक्य वेद ने वैराग्य की उत्पत्ति के लिए कहे हैं। वास्तव में ब्रह्मा से प्रगट मनु और सतरूपा सब से श्रेष्ठ और शान्त आत्मा थे। उन्होंने भी अनेक कामना कर के चौदह जीवों से भर दिये तथापि उनकी कामना अपने स्वरूप को जाने बिना शान्त न हुई, तो इतर जीवों की तो बात ही क्या है? यह बात वेद भगवान् ने ब्रह्मबोध की प्राप्ति के लिये प्रत्यक्ष कही है। जैसे श्रेष्ठ पुरुषों के बुरे कर्मों की निन्दा करके अन्य जीवों को बुरे कर्मों से हटाता है, उसी प्रकार मनु की कामना की निन्दा करके इन जीवों की कामना निवृत्त करने में वेद का अभिप्राय है। कामना करते-करते कदापि शान्त आत्मा नहीं होंगे, इस कारण से सकाम उपासना का त्याग कर ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवण आदिक में प्रवृत्त हों। उस ब्रह्मा का भय भी तभी मिटा जब उसने विचार करके अपने स्वरूप को जाना। सकाम कर्मों के करने से लोक-परलोक के भोगों की कामना उत्पन्न होती है। उस से बारम्बार जन्म-मरण होता है। इस कारण से यदि तुम को मोक्ष की इच्छा है तो तुम सत्-चित्-असत् का विवेक करो।

शिष्य—हे गुरु! सत्-असत् का विचार हम कैसे करें?

हे शिष्य! वेद भगवान् ऐसा कहते हैं कि हे जीवो! यह जो कुछ दृष्ट है यह सब सोम है और प्रजापति के रेत से उत्पन्न हुआ है। यह जो दृश्य मात्र सोम है, वही अन्न है। इसके अत्ता (खाने वाले) को अग्नि कहते हैं। चौदह भुवन रूप सब ब्रह्माण्ड सोम और अत्ता से पृथक् नहीं है। कोई भोग्य है तो कोई भोक्ता है। सम्पूर्ण चतुर्दश भुवन प्रजापति की कामना से उत्पन्न हुए हैं। यह सब भुवन सोम है। काल इसका अत्ता (खाने वाला) है। काल सोम है हिरण्यगर्भ इसका अत्ता है। हिरण्यगर्भ सोम है, शबल ईश्वर इसका अत्ता है। इस शबल ईश्वर से इतर और कुछ नहीं है।

यह दृश्यमात्र पदार्थ सोम हैं और इन्द्रियाँ इसकी अत्ता हैं। इन्द्रियाँ सोमरूप हैं, मन इनका अत्ता है। मन सोम है, बुद्धि उसकी अत्ता है। बुद्धि सोम है, तुर्या साक्षी उसका अत्ता है। हे शिष्य! यह समष्टि-व्यष्टि सब ब्रह्माण्ड सोम-अत्ता रूप है। स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच सोम-अत्ता से पृथक नहीं है। जो कोई पुरुष इस प्रकार करके सोम और अत्ता को जानता है अथवा जानकर प्रजापति की अहंग्रह उपासना करता है वह अन्त समय शरीर को त्याग कर प्रजापति हो जाता है। हे शिष्य! तू भी इस प्रकार विचार कर। यह सोम-अत्ता रूप वेद में जो ब्रह्म की उपासना कही है वह भी ब्रह्मज्ञान का साधन

इसके करने से वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है।

उन मनु और सतरूपा दोनों ने मिलकर अनेक कामना करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सृष्टि से भर दिया तथापि उनकी कामना पूरी न हुई। जब अपने स्वरूप को देखा तब शान्त हुए। ब्रह्मा की तो बात ही क्या है ? जो कदाचित् यह संसारी जीव शबल पद को भी प्राप्त हो जाय, तो भी अपने स्वरूप के जाने बिना कामना से रहित शान्त आत्मा नहीं हो सकता। जब मुमुक्षु शबल ईश्वर पर्यन्त सब पदार्थों से वैराग्य करे तब कहीं जाकर ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होता है। हे शिष्य ! देख यह सृष्टि ब्रह्मा से भी उत्तम है। क्योंकि ब्रह्मा तो मनु-सतरूपा द्वारा बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता रहा है। परन्तु यह व्यावहारिक सृष्टि तो अमर हो गई है। परमार्थ की अपेक्षा से ब्रह्मा और सृष्टि सब की सब मिथ्या हैं।

शिष्य—हे गुरु ! यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मिथ्या है तो यह शास्त्र और आचार्य, गुरु, शिष्य, माता, पिता, कर्म, उपासना, तीर्थ, यज्ञ, दान, लोक, परलोक सब मिथ्या हुए। इन सब मिथ्या द्वारा सत् की प्राप्ति होनी असम्भव है। यह जीव जितने भी कर्म करते हैं, सब वृथा हैं, तो फिर यह वृथा समय क्यों नष्ट करते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! ऐसा कहना तुमको योग्य नहीं है। देखो मिथ्या द्वारा भी सत् का लाभ होता है। इस पर एक दृष्टान्त कहते हैं—जैसे किसी की गौ, भैंस आदि को चोर चुरा ले जाते हैं, तब पशु का मालिक खोजी से जाकर कहता है कि यहाँ से चोर हमारे पशु को ले गये हैं। वह खोजी उस पशु के पैरों के चिह्न द्वारा मालिक को पशु पकड़ा देता है। वैसे तो पशु के खुर मिथ्या हैं। तो भी उन्होंने सच्चे पशु को जता दिया। उसी प्रकार यह जिज्ञासु भी मिथ्या पुरुषार्थ द्वारा सत् आत्मा को प्राप्त हो जाता है। अब इसका तात्पर्य सुनो।

गौ, भैंस के स्थान में तो आत्मा है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि खोज के स्थान में हैं। ब्रह्मवेत्ता गुरु खोजी है। गौ के मालिक की जगह जिज्ञासु है। चोर स्थानीय कर्म उपासना है। इसने सत् आत्मा रूपी गौ को छिपाकर अपने आप आत्मा का मिथ्या व्यवहार (वर्ण, आश्रम आदि) प्रगट किया है। जब यह जिज्ञासु जानता है कि इस आत्मा रूपी गौ को चोर ले गये हैं तो वह ब्रह्मवेत्ता गुरु रूप खोजी के पास जाता है और दीनता पूर्वक निष्कपट होकर अपने सब दुःखों को कहता है। तब वह गुरु महा-वाक्यों द्वारा अन्वय व्यतिरेक की युक्ति करके जिज्ञासु को आत्म-साक्षात्कार करा देता है। जिस चैतन्य की चैतन्यता को पाकर यह मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीर आदि चैतन्य हो रहे हैं, वही सब चेतनों का चैतन्य आत्मा है। जो जिज्ञासु गुरु द्वारा महा वाक्यों को सुनकर अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है, उसको जीवन्मुक्त कहते हैं और उसी को विदेह मुक्त कहते हैं। वह जिज्ञासु चैतन्य को अपना आप प्रत्यग् मानता है। एक देशीय आत्मा को त्याग कर सब का स्वरूप आत्मा होता है। तब सब की सत्ता उसी के आश्रय होती है। देख, मिथ्या व्यवहार ने सभी वस्तु को दिखा दिया।

जैसे अग्नि सब काष्ठों में समान रहती है। उसी प्रकार आत्मा मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रिय शरीर आदि सब प्रपंच में समान रहता है। इसी कारण से परब्रह्म चैतन्य सबको प्रिय लगता है। जैसे स्त्री, पुत्र, धन, ग्राम, पशु, आदि अपने लिए प्रिय होते हैं, दूसरे के लिए नहीं होते हैं। उसी प्रकार लोक, परलोक, ईश्वर, देवता भी अपने लिये प्रिय होते हैं। उन लोक-परलोक, ईश्वर-देवता के लिए प्रिय नहीं

होते हैं। इसी कारण जिज्ञासु पुरुष ईश्वर, देवता, स्त्री, पुत्र, धन, पशु, पक्षी आदिक सबको आत्म की प्राप्ति के लिए त्याग देता है।

हे शिष्य ! जिस ब्रह्मज्ञानी को अपना आपा प्रिय है उसको कल्याण के अर्थ शिष्य उपदेश करना चाहिये—'तुमने जो स्त्री, धन, पुत्र आदि को प्रिय माना है, यह तुमको पहुँचायेंगे क्योंकि एक दिन इन का वियोग अवश्य होगा। संयोग के साथ वियोग लगा हुआ सब पदार्थों का समय पाकर वियोग अवश्य होगा। उनके वियोग में तुमको रोना पड़ेगा। अभी से अपने आप प्रत्यग् आनन्द स्वरूप में प्रीति क्यों नहीं करते जो फिर कभी रोना-पीटना जिस अनात्म वस्तु में तुम्हारा अधिक स्नेह होगा वही तुमको अधिक रुदन करावेगी। तुमसे उसका अवश्य वियोग होगा। यह संयोग तथा वियोग देखने मात्र नाश रूप हैं। एक अपना प्रत्यग् अविनाशी ही अजर-अमर है। इस कारण से आत्मा में प्रीति करो।'

शिष्य—हे भगवन् ! कोई-कोई जिज्ञासु कहते हैं कि जब हम आत्मा को प्राप्त होंगे रूप ही जायेंगे। वह कौन-सा आत्मा है जिसकी प्राप्ति से वे अपने को सर्वरूप की प्राप्ति मानते हैं अपना आपा प्रत्यग् है अथवा कोई दूसरा आत्मा है। उस ज्ञान का स्वरूप क्या है जिसके द्वारा की प्राप्ति होती है तथा उस सर्वभाव प्राप्ति का क्या लक्षण है ? मेरे इन प्रश्नों का उत्तर कृपा करके

गुरु—हे शिष्य ! इस प्रमाता-प्रमाण के पूर्व एक परब्रह्म ही था। यह जाग्रत स्वप्न आदिक जब उस सत् आत्मा ने मनु-सतरूपा द्वारा एक से अनेक होने की इच्छा की, तब प्रमाता, प्रमाण, स्वप्न, आदि सब ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ और यह सब प्राणी अपने आप प्रत्यग् को भूल प्रमाता-प्रमाण के विषय में वर्तने लगे। जैसे कोई मनुष्य नाव में बैठा हो और भ्रान्ति से कहे कि पूर्व की ओर जाते हैं और यह वृक्ष पश्चिम दिशा की ओर भागे जाते हैं। वह मनुष्य नाव में बैठा है और वृक्ष भी अपने स्थान पर स्थित हैं। केवल नौका चलती है। भ्रान्ति से नौका के चलने मानकर स्वयं को और वृक्षों को चलता देखता है। उसी प्रकार संसार रूप नदी है। शरीर रूपी है। बुद्धि रूप मल्लाह है। बल्ली रूप मन है। पाथा रूप मन की वृत्तियाँ हैं और पुरुष रूप विद्वान किनारे के वृक्षों के समान साक्षी है। प्रमाता, प्रमाण, बुद्धि रूप मल्लाह शरीर रूप नौका को संसार नदी में चलाते हैं।

जीवात्मा अपने आप को भूलकर भ्रान्ति से शरीर, इन्द्रिय, मन के धर्म अपने में मानकर है कि मैं ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य शूद्र हूँ। पापी अपराधी जीव हूँ। हमारे समान मूर्ख अपराधियों को की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है ? मोक्ष हम को अत्यन्त दुर्लभ है। वह चिदाभास शरीर रूप नौका बैठकर अर्थात् शरीराभिमान कर के शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के धर्मों को अपने मानकर, से मोहित हुआ कहता है कि मैं पापी अपराधी जीव हूं। कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी हूं। वह अपने को अपने से दूर चलता हुआ देखता है। वह चिदाभास और साक्षी कदापि नहीं चलते। वह अपने आप स्वरूप में अचल स्थित हैं।

जैसे कोई पुरुष उस भ्रान्त पुरुष को ऐसा कहे कि भाई तेरे को भ्रम हुआ है। न तो वृक्ष चलते हैं और न मनुष्य, केवल नौका ही चलती है। उसी प्रकार इस जिज्ञासु को भी उसके के पूर्व पुण्यों की प्रेरणा से जब कोई तत्त्व-वेत्ता गुरु मिल जाता है तब वह कृपा तथा दया कर के इस

ऐसा कहता है कि हे शिष्य ! तेरे को भ्रम हो रहा है। तू दूसरे के धर्मों को अपने धर्म मान बैठा है। कर्ता-भोक्ता तो बुद्धि, प्रमाता, प्रमाण हैं। ये तेरे धर्म नहीं। तू निर्विकार, अचल, अद्वितीय, एक है। तेरे में दूसरा कदापि न हुआ, न है और न होगा। जिस ब्रह्म ने मनु-सतरूपा द्वारा एक से बहुत होने की इच्छा की थी सो ब्रह्म "तत्वमसी" तू ही है। यह सुन कर स्वयं को वह अधिकारी ब्रह्म मानने और कहने लगा—'मैं ब्रह्म हूँ'।

कर्म उपासना अधिकारी के प्रति हैं। इनका नियम है कि कोई कर्म जो एक वर्ण आश्रम वाले को करना योग्य है, वही दूसरों को करना अयोग्य है। ब्रह्मज्ञान का यह नियम नहीं है। चाहे कोई वर्ण आश्रम वाला हो, चाहे देवता हो, चाहे मनुष्य हो, चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बालक, स्त्री, चाण्डाल आदि कोई भी हो, मनुष्य-मात्र ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हैं। अधिकार का सम्पादक केवल वैराग्य है। जो साधन चतुष्टय सम्पन्न होवे, सोई जिज्ञासु मुमुक्षु ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। वैराग्य रहित सब वर्ण, आश्रम, देवता, मनुष्य आदि अनधिकारी हैं।

जिस पुरुष को विवेक वैराग्य नहीं, उसको कर्म उपासना करनी चाहिए। जो पुरुष आश्रम से रहित हो और कर्म उपासना में रुचि रखता हो, उसको चाहिए कि पुण्य कर्मों द्वारा अपनी सम्पत्ति का त्याग करे। यज्ञादिक करने का तो उसको अधिकार नहीं। आश्रम च्युत पुरुष जो कुछ कर्म करेगा, वह सब उसको क्लेश कारक होंगे अर्थात् विक्षेप के ही हेतु होंगे और उलटा पाप लगेगा क्योंकि उसको कर्म का अधिकार नहीं है। उसको तो सिवाय एक आत्म-अनात्म विचार के और कुछ करना-कराना योग्य नहीं। जो पुरुष विचार द्वारा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हुआ है वह सब में समान और स्वतंत्र प्रकाश स्वरूप है।

हे शिष्य ! कोई-कोई पुरुष ऐसा भी कहते हैं कि यह जीव ब्रह्म कदापि नहीं होता, जीव ही रहता है। ऐसा कहने वाला महामूर्ख है। वह समझ नहीं रखता, चाहे पढ़ा लिखा ही क्यों न हो। ऐसे दुष्ट-वचनों के निवारणार्थ व्यास जी ने शारीरिक के तीसरे अध्याय में एक दृष्टान्त द्वारा जीव को ब्रह्म सिद्ध किया है। यह जीव स्वतः सिद्ध ब्रह्म है। कल्पित उपाधि के सम्बन्धकाल में भी और असम्बन्ध काल में भी ज्यों-का-त्यों रहता है। जैसे सर्प कुण्डलाकार बैठा है तब भी सर्प ही है और वीणा के शब्द को सुनकर फुँकारता हुआ नाचता है तब भी सर्प ही रहता है। सर्प से इतर भाव को कदापि नहीं प्राप्त हुआ। उसी प्रकार वह चैतन्य पुरुष कल्पित विकारी उपाधि के साथ मिला है तब भी ब्रह्म है और विकारों से रहित था तब भी ब्रह्म ही था। कहीं यह क्रोधाकार दृष्ट आता है, कहीं लोभाकार दृष्ट आता है तो कहीं आनन्दाकार दृष्ट आता है, परन्तु रहता सर्वदा ब्रह्म ही है। दूसरा कुछ नहीं बन जाता। जब कोई सर्प को छूता है तब वह शीघ्र ही अपने आप को संभाल लेता है। उसी प्रकार जिस समय इस पुरुष को कष्ट होता है उसी समय विचार के द्वारा अपने स्वरूप को देखता है। हे शिष्य ! कल्पित उपाधि के सम्बन्ध से ब्रह्म को ही मूर्ख अज्ञानी जन जीव कहते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! वेद हम को ही ब्रह्म कहता है अथवा और किसी को भी कहता है।

गुरु—हे शिष्य ! एक ऋषि की गाथा द्वारा तुम सब जीवों को वेद ब्रह्म सिद्ध करता है। पूर्वकाल में एक मनुष्य से आचार्य द्वारा वेद ने यह कहा कि 'हे जीव ! तू ब्रह्म ही है' और वह जीव स्वयं को ब्रह्म ही मानने लगा। उसका नाम वामदेव ऋषि हुआ। वह वामदेव ऐसा कहने लगा कि मनु-सतरूपा द्वारा सूर्य में ही हुआ हूं। यह अग्नि, वायु, आकाश में ही हुआ हूं। पृथ्वी जल में ही हूं। यह दृश्यमात्र

ब्रह्माण्ड में ही हूं। वामदेव ने कहा कि इसमें तुम लोग आश्चर्य मत करो। यह अपने आप पहचान की महिमा है कि मैं अपने आप को सर्वरूप देखता हूँ। यही ब्रह्मबोध है। हे भाइयो! यह मुझको ऐसा दिखाई देता है जैसे भात का एक ग्रास होता है और यमराज तो मुझको एक चटनी हे शिष्य! यह ब्रह्मरूप जीव इस प्रकार सर्व आत्मा हुआ। सत् को सत् और असत् को असत् का नाम ही ज्ञान है। इस कारण से, हे शिष्य! तू ही ब्रह्म है। वेद डंके की चोट कहता है कि हिम से लेकर चींटी पर्यन्त जिस प्राणी ने अपने आपको ब्रह्म जाना है वही सब का आत्मा परब्रह्म है।

शिष्य—हे भगवन्! मेरी बुद्धि में तो कुछ ऐसा निश्चय होता है कि मनुष्य को ब्रह्म होनी कठिन है। क्योंकि यह जीव विषय के आधीन है। इसको कामना क्षणमात्र भी विश्राम नहीं देती। न जप है, न तप है। क्षुद्र संकल्पों में जीव बहे जाते हैं। साधनों का भी अभाव है। आयु थोड़ी है। धीरज तो है ही नहीं। ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करनी निष्फल है। देवता शुद्ध हृदय हैं इस कारण से उनको ही ब्रह्म की प्राप्ति का अधिकार है, मनुष्य को नहीं।

गुरु—हे शिष्य! ब्रह्म की प्राप्ति देवताओं को ही कठिन है। मनुष्यों को तो सहज ही प्राप्ति है। देवताओं को भोगों से वैराग्य होना कठिन है क्योंकि उनके भोग दिव्य हैं तथा चिरकाल स्थायी देवयोनि में संताप आदि भी बहुत कम हैं। वैराग्य का कारण दुख है। वह देवताओं में है नहीं। मनुष्य वर्ग को नाना कष्ट-संताप घेरे रहते हैं। इस कारण से मनुष्यों को वैराग्य शीघ्र ही हो जाता है। वैराग्य परब्रह्म की प्राप्ति का कारण है। इसके लिए न तो जप-तप की और न अधिक जीवन की ही आवश्यकता है। जब जीव इस लोक-परलोक के भोगों को दुःख रूप जान कर उनकी इच्छा त्याग देता है और ब्रह्मवेत्ता गुरु की सेवा करके तथा उनके वाक्यों को ग्रहण करके मन इन्द्रियों को अपने अधिकार में कर लेता है तब अपने आपको सब से प्रथक् देखता है और माया तथा माया के कार्यों को नश्वर जानता है और आत्मा को सत् अविनाशी देखता है। इस प्रकार मनुष्यों को आत्मा की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

शिष्य—हे प्रभो! जब कर्मी उपासक लोग परमानन्द की प्राप्ति के लिए कर्म उपासना आदि करते हैं, उस काल में देवता उनके मार्ग में क्यों विघ्न करते हैं?

गुरु—हे शिष्य! यह देवता अपना पशु जानकर विघ्न करते हैं। वे इस शरीर में इन्द्रियों के निकट ही रहते हैं। जब किसी जिज्ञासु ने कर्म-उपासना से हाथ खींचा और परमानन्द की प्राप्ति की इच्छा की, तभी देवता इस अधिकारी के हृदय-कोट में अनेक कामना तथा संताप उदय कर देते हैं। स्त्री आदि की प्राप्ति कराते हैं और कभी धन की हानि, कभी पुत्र की हानि, कभी स्त्री का वियोग करके दुःखी करते हैं। कभी-कभी शरीर के दुःखों को देखकर औषधि आदि में फँसा देते हैं। जठराग्नि मन्द कर देना, वायु का कोप कर देना, वाणी, चक्षु, श्रोत आदि का विपर्यय कर देना, इस प्रकार तरह-तरह के विघ्न पहुंचाते हैं ताकि विघ्नों के मारे साधक राग-द्वेष में ही लगा रहे और विषयों की प्राप्ति के लिए देवताओं की ही प्रार्थना करता रहे। अपना पशु जानकर देवता इस पुरुष को स्वरूप की तरफ नहीं जाने देते। कभी-कभी तो यह ऋद्धि-सिद्धियों के साधन में जोड़ देते हैं अर्थात् बहकाते रहते हैं। उन देवताओं ने पहले ही विचार लिया है कि यदि यह परमानन्द आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया तो हमको नहीं मानेगा। ज्ञानी हुए पश्चात् इस पर हमारा वश भी नहीं चलेगा। देवता तो इस कर्मी उपासक के आश्रय में ही जीवन-धारण करते हैं।

शिष्य—हे गुरु यदि जिज्ञासु अपने पुरुषार्थ द्वारा ब्रह्म पद को तो प्राप्त हो, परन्तु प्रारब्ध के शेष रहने से तत्काल ही विदेह मुक्त न हुआ हो तो फिर विदेह मुक्ति में तो यह देवता विघ्न नहीं करते।

गुरु—हे शिष्य! ब्रह्मज्ञान हुए पश्चात् फिर यह देवता विघ्न नहीं करते। मनुष्यों की दो प्रकार की बुद्धि होती है। एक व्यावहारिक बुद्धि और दूसरी शास्त्र के अनुसार बुद्धि होती है। जब साधक वेदान्त शास्त्रानुसार बुद्धि द्वारा शरीर, इन्द्रिय, देवता आदि से अपने आपको भिन्न निश्चय करके और सर्व आत्मा होकर इन में अनासक्त हुआ लोभ-लालच को त्याग देता है, उस काल में देवता भी विचार लेते हैं कि यह पुरुष शास्त्र बुद्धि द्वारा सर्व आत्मा हो गया है। इस कारण से हमारा भी आत्मा ही हुआ। अपने आप अपनी बुराई कोई नहीं करता वरन् अपने आप की सब रक्षा ही करते हैं। इस वास्ते हमको इस ज्ञानवान की रक्षा ही करनी योग्य है क्योंकि यह अब हमको अपने से भिन्न नहीं देखता।

जब तक जीव की भेद बुद्धि रहती है तब तक यह देवता विघ्न करते रहते हैं और अपने आप प्रत्यग् को जान लेने पर उदासीन हो जाते हैं। विघ्न नहीं करते। यह जो कर्मी उपासक होते हैं सो शास्त्र-बुद्धि से रहित होते हैं। यह शरीरों में ही अहं का निश्चय किये बैठे हैं, इस कारण इनको अपना पशु जानकर देवता मोक्ष मार्ग से रोक देते हैं। अतः यह कर्मी उपासक अनेक देवताओं का पशु है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, वरुण, पितर, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, राजा, स्त्री, पुत्र, माता, पिता अनेकों के साझे का पशु है। कुत्ता, कौआ, बिल्ली, चींटी, ब्राह्मण, साधु, संन्यासी, दरिद्री आदि इन सब का भी पशु है। इन सब देवताओं से यह अज्ञानी शरीराभिमानी कर्मी उपासक कठिनता से छूट सकता है क्योंकि शास्त्र बुद्धि के अभाव में इसके ऊपर अनेक प्रकार की आज्ञा लगाई जाती हैं।

हे शिष्य! जैसे बहुत पुरुषों के साझे का एक पशु सदा दुखी रहता है, सुखी कदापि नहीं रहता, वैसे ही यह कर्मी उपासक भी बहुत पुरुषों का पशु होने से सदा दीन-दुखी रहता है। सुखी कदापि नहीं हो सकता। जब वह अपने निजी पुरुषार्थ से साधन द्वारा कर्मों की बेड़ियों को तोड़ डालता है और ब्रह्मविद्या के सम्मुख होता है, तब इसको ब्रह्मविद्या द्वारा आत्मज्ञान होता है। फिर इस पर किसी देवता का बल नहीं चलता। उलटे सब देवताओं का पूज्य हो जाता है अथवा सर्व आत्मा हो जाता है। इस कारण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जीवन्मुक्त ज्ञानी का पशु है और कर्मी उपासक सब ब्रह्माण्ड का पशु है। ब्रह्माण्ड कर्मी उपासक का देवता है। ज्ञानवान स्वयं देवों का देव है। वह किसी का पशु नहीं है।

कर्मी उपासक ईश्वर को अपने से भिन्न मान कर अपनी कल्पना द्वारा पुष्प, माला, चन्दन, भोग आदि से ईश्वर की आराधना करते हैं। जैसे गौ मनुष्य का पशु होता है और पुरुष उसका स्वामी होता है। गौ दूध आदि देकर स्वामी का पालन करती हैं। स्वामी अपना पशु जानकर घास आदि देकर गौ की रक्षा करता है। उसी प्रकार यह कर्मी उपासक सब देवताओं का पशु है। सब देवता इसके स्वामी हैं। यह पशु कर्म उपासना करके देवताओं का पालन करते हैं। देवता उनको अपना पशु जानकर इच्छित भोग देकर उनका पालन करते हैं। पशु से इस मनुष्य में यही विशेषता है कि गौ, घोड़ा आदि पशु एक ही स्वामी की आज्ञा पालन करते हैं, पर यह मनुष्य अनेक देवता रूप स्वामियों की आज्ञा पालन करता है। अतः उन पशुओं से यह मनुष्य पशु श्रेष्ठ है। इसीलिए देवता चोर आदि से इसकी रक्षा करते रहते हैं। जब पशुओं को कोई चोर चुरा ले जाता है, तब उनका स्वामी लोगों से पकड़वा

है कि तुम हमारे पशु को ढूँढो। स्वयं स्वामी लाठी-डण्डा लेकर नहीं दौड़ा फिरता, क्योंकि अनं पशु हैं, किस-किस के पीछे भागा-भागा डोले ?

कर्मी उपासक शरीराभिमानी पशु को चुराने वाला ब्रह्मज्ञानी गुरु है। ब्रह्मविद्या रूपी रस्सी समय उपासक कर्मों को छोड़कर ज्ञान की इच्छा करता है, तब उसके स्वामी देवता ब्रह्मज्ञानी गुरु से उसकी रक्षा करते हैं। जब ब्रह्मज्ञानी के हाथ में वह उपासक पशु आ जाता है तब वह ब्रह्मज्ञान रस्सी से उसको बाँध लेता है। उस काल में सब देवताओं में खलबली मच जाती है कि हमारा कर्मी पशु चोरी चला गया। वे देवता और किसी के ऊपर विश्वास नहीं करते। स्वयं ही सब प्रकार रक्षा करते हैं। प्रथम तो पुरुष को ब्रह्मज्ञान की तरफ आने ही नहीं देते। इन मूर्ख पशुओं के गुरु हैं, वह भी उनको राग, द्वेष, स्त्री, पुत्र, धन आदि में फँसाये रखते हैं। इस फाँसी से निकलने नहीं देते, क्योंकि वे जानते हैं कि ब्रह्मज्ञान हुए पश्चात् फिर वह हमारा प्रतिपालन नहीं करेगा, इस कारण इसको प्रथम ही रोकना चाहिये।

शिष्य—हे गुरु ! क्या देवताओं का ब्रह्म के साथ विरोध है जो इन कर्मी उपासकों को ब्रह्म तरफ नहीं जाने देते ?

गुरु—हे शिष्य ! देवताओं का ब्रह्म के साथ विरोध नहीं, ब्रह्मज्ञान से विरोध है। ब्रह्म तो अपना आप प्रत्यग् है। यदि यह मनुष्य ब्रह्मज्ञानी हो जाता है तो देवताओं का भी पूज्य हो जाता इसी मत्सरता से ग्रसे हुए वे इसको ब्रह्मज्ञान नहीं होने देते। हे शिष्य ! पहिले जो हमने मनु-सत्रूप सृष्टि कथन की थी और भय देने वाले देवता कहे थे सो अब विस्तार से सुनो। इस सृष्टि से पहले था। केवल एक ब्रह्म था। उससे ब्रह्मा प्रगट हुआ। वह स्वयं को भूल कर विचार करने लगा कि मैं से रहित हूँ। विभूतिवान किस प्रकार बनूँ ? यह विचार कर उस ब्राह्मण ब्रह्मा ने क्षत्री अर्थात् इन्द्र, यम, सूर्य, चन्द्रमा, ईश्वर, ब्रह्मा, शिव, देवता आदि क्षत्रियों को उत्पन्न किया। अब इनका भिन्न-भिन्न भी सुनो।

जो हमने पूर्व ब्राह्मण कहा था सो तुम अग्नि को समझना। अग्नि ने ही विचार किया जिस प्रकार मैं अपनी महिमा को जानूँ, सोई करूँ। अपने महत्व को जानने के लिए ही अपने मैंने प्रगट किया है और विभूति बिना हमारी महिमा ही क्या होगी ? अब मैं एक हूँ और शिथिल शिथिल पुरुष किसी के भय बिना कुछ काम काज नहीं करता अतः मैं दण्ड देने वाला अपना अपने ऊपर प्रगट करूँ। उसके भय से फिर मैं कुछ करूँगा। यह विचार कर क्षत्री राजा को उत्पन्न हे शिष्य ! व्यवहार में भी क्षत्री सिंहासन पर बैठता है और ब्राह्मण द्वार पर खड़े होकर आशीर्वाद है। क्षत्री अपने बाहुबल के अहङ्कार से ब्राह्मण की तरफ दृष्टि भी नहीं करता क्योंकि इन ब्राह्मणों अपना भयदाता स्वयं ही उत्पन्न किया है। अब कलियुग में इन ब्राह्मणों को दण्ड देने वाला कोई नहीं रहा है। इसी कारण से ये ब्राह्मण अपने धर्म से भ्रष्ट हो गये हैं तथा राजा के दण्ड के भय से स्वतन्त्र हो गये हैं। प्रजा भी ब्राह्मणों की आज्ञा का पालन नहीं करती। अश्वमेध यज्ञ में क्षत्री सिंहासन पर बैठता है, ब्राह्मण खड़ा होकर देवता की तरह पूजा करता है।

इस प्रकार यह ब्रह्मांड देवताओं के भय से भयभीत रहता है। इन्द्र देवताओं पर राज्य करता वरुण जल-जन्तुओं का राजा है। चन्द्रमा ब्राह्मणों का राजा है। धर्मराज दण्ड देने वाले पुरुषों का

है। विद्युत मेघों का राजा है। धर्म मित्रों का राजा है। मृत्यु रोगों का राजा है। ईश्वर पृथ्वी आदि प्रकाशमय सब पदार्थों का राजा है और सबको दण्ड देने वाला है। यह देवता राजा की नाईं अपने-अपने लोक में राज्य करते हैं और अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार यथायोग्य दण्ड देते हैं। अब भी जो कोई ब्राह्मण पाप कर्म करता है तो राजा उसको दण्ड देता है। अपना आत्मा जानकर; क्योंकि ब्राह्मण सर्वात्मा होता है, उसके प्राण हनन नहीं करता। जो उसके प्राणों का हनन करेगा तो राजा आप ही नष्ट हो जायगा। हे शिष्य! ब्राह्मण नाम ब्रह्मज्ञानी का है। ब्रह्मज्ञान रहित ब्राह्मण तो ऐसा है जैसे बुझी हुई अग्नि। जैसे बुझी हुई अग्नि से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता वैसे ही नाम मात्र के ब्राह्मण से कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

हे शिष्य! फिर वह अग्नि ब्राह्मण द्वारा विचार करने लगी कि इस क्षत्री के उत्पन्न करने से भूमि भयभीत हुई है और यह ब्राह्मण सबका आत्मा होने से सबसे श्रेष्ठ है। तो भी इसमें श्रेष्ठता अपने कर्मों से ही है। यह क्षत्री बलवान है। जो कदाचित् यह अपने बल के आश्रय किसी ब्राह्मण को अन्यथा दोष लगा कर दण्ड देगा तो इसको पाप अवश्य होगा। जैसे शिष्य या पुत्र, गुरु या पिता को दण्ड दे तो उस को पाप होता है। उसी प्रकार अन्यथा दण्ड देने वाले क्षत्री को भी पाप लगता है। ऐसा विचार कर उस अग्नि ब्राह्मण ने विश्व को उत्पन्न किया। जैसे सभा में कोई विशेष नाम से नहीं कहा जाता है, एक पञ्चायत कही जाती है। तैसे ही जब देवताओं की सभा एकत्र होती है, तब विश्व कहे जाते हैं। क्षत्री, ब्राह्मण आदि भेद नहीं रहता है। राजा एक होता है। सैन्य अनेक होती है। सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, रुद्र, विद्युत, धर्म, ईश्वर—ये आठों जब सभा में एकत्र होते हैं तब यह सब-के-सब विश्व कहे जाते हैं और अलग-अलग अपने-अपने लोक में रहते हैं तब क्षत्री कहलाते हैं अर्थात् सङ्घात का नाम विश्व है।

फिर ब्राह्मण ने विचार किया कि अब भी हम विभूतिवान नहीं हुए। ब्राह्मण का धर्म शम, दम आदिक करना, क्षत्री का धर्म युद्ध करना और चोर आदिकों को दण्ड देना, वैश्य का धर्म खेती, व्यापार, गौ का पालन आदि करना है। अब इनकी कोई सेवा करने वाला भी चाहिए। जैसे गौ, भैंस, घोड़ा आदि की सेवा करने वाले नौकर लोग और होते हैं और भोक्ता कोई दूसरा होता है। उसी प्रकार इनकी भी सेवा करने वाला कोई दूसरा होना चाहिए। यह विचार कर अग्नि ब्राह्मण ने शूद्र को उत्पन्न किया। इन आठ देवताओं से इतर जो दूसरे देवता हैं, वे शूद्र कहे जाते हैं। मनुष्य-सृष्टि की तरह देवताओं में भी चार वर्ण हैं। जैसे पृथ्वी के सहारे सब ब्रह्मांड रहता है और उसी की वस्तु खा-खा कर मोटा होता है, उसी प्रकार यह प्रजा भी शूद्रों के आश्रय मोटी हो रही है।

हे शिष्य! वह परब्रह्म अग्नि ब्राह्मण द्वारा देवताओं के चार वर्णों को उत्पन्न करके विचार करने लगा कि ब्राह्मण का बल वाणी है, क्षत्री का बल भुजा, वैश्य का बल व्यापार, शूद्र का बल सेवा है। इन चारों में क्षत्री बलवान है। यह सबको दण्ड देने वाला है। यह क्षत्री ऊँच, नीच, छोटे, बड़े, अपने, पराये की तरफ ध्यान नहीं देता और इसको हमने अपना दण्डक स्वयं ही उत्पन्न किया है। अब हम विभूतिवान तब होंगे जबकि क्षत्री को भी दण्ड देने वाला और कोई उत्पन्न करें। यह विचार किए बिना किसी को दण्ड दे बैठे तो ठीक नहीं होगा। यह विचार कर उस अग्नि ब्राह्मण ने उस क्षत्री को दण्ड देने वाला धर्मराज प्रगट किया। यह धर्मराज ही सबका मूल है और बलवान भी है। जब अग्नि ब्राह्मण ने इन चारों के उत्पन्न होने से भी अपने को विभूतिवान न देखा तब उसने सबके ऊपर धर्म को प्रगट किया जिस

के डर के मारे राजा अन्याय नहीं कर सकता। तभी तो प्रजा राजा का भय करती है और राजा भय करता है।

हे शिष्य ! इस प्रकार एक दूसरे का भय मानते हुए राष्ट्र का कार्य चला करता है। अब तक यही नीति चली आती है कि जब कोई अन्याय करता है तो उसको दण्ड के लिए राजा ले जाते हैं। राजा भी धर्म के भय से उन चोर आदि को दण्ड देता है और सबों का मान जैसे निर्बल पुरुष राजा का बल पाकर बलवान हो जाता है, उसी प्रकार निर्बल राजा भी धर्म का बलिष्ट हो जाता है। फिर कौन शक्ति है जो इसके बल को नष्ट कर सके ? धर्म के बल से राष्ट्र उपद्रव नहीं होता और न असत् ही विस्तार को प्राप्त होता है। प्रजा शांति पूर्वक अपने-अपने स्थित रहती है। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। जो राजा किसी पर अन्याय कर बैठता है तो निर्बल धर्म के आश्रय यह प्रतिज्ञा करता है कि सबका नियामक धर्म है। जो मैं सत्यवादी हूँ तो धर्म कर देगा। तब धर्म अन्यायी राजा और असत्यवादी का नाश कर देता है जिससे दूसरे पुरुष भी जय मनाते हैं।

शिष्य—हे प्रभो ! धर्म का क्या स्वरूप है ?

गुरु—हे शिष्य ! यज्ञ, दान, तप अथवा यथार्थ कहना यह तीनों पर्याय हैं। सत् अनुसार वर्तना धर्म कहलाता है। शास्त्र की आज्ञा का उल्लङ्घन न करना सत् कहा जाता है। में प्रसिद्ध है कि जो शास्त्र के अनुसार यथार्थ वचन बोलता है, उस पुरुष का कथन सब राजा सत्य मानते हैं। शास्त्र के अनुसार न वर्तना अन्याय कहलाता है। लोग कहते भी हैं कि यह 'मन-मुखी' है, इसकी वाणी का कोई भी विश्वास नहीं करता। अतः उस ब्रह्म ब्राह्मण ने विचार को प्रगट किया है।

हे शिष्य ! पूर्व वेद ने मनुष्यों को देवताओं का पशु कहा था। इस कारण से प्रथम देव कही, उसके पश्चात् मनुष्यों की सृष्टि हुई। देव-सृष्टि के वर्णन में ही इन मनुष्यों की सृष्टि का भी जान लेना। इस प्रकार देवताओं और मनुष्यों का ब्रह्माण्ड प्रगट हुआ है। इन मनुष्यों ने अपनी से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, शूद्र को भिन्न-भिन्न माना है। देवताओं ने व्यापार मात्र माने हैं विपरीत भावना से ही मनुष्य शरीर पशु कहलाते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! उन मनुष्यों का पशुभाव त्याग कराकर वेद किस प्रकार से मोक्ष कराता क्योंकि पशुधर्म के त्याग बिना मोक्ष नहीं हो सकती।

गुरु—हे शिष्य ! इन मनुष्यों को मोक्ष का साधन वेद इस प्रकार ही कहता है कि इससे कुछ न था, एक ब्रह्म ही था। एक से बहुत होने की इच्छा करके अग्नि स्वरूप हुआ। सोई ब्रह्म द्वारा ब्राह्मण हुआ। यह अग्नि और ब्राह्मण दोनों साक्षात ब्रह्म ही हैं, देवताओं में अग्नि मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। प्रथम ब्रह्म से अग्नि प्रगट हुई और पीछे अग्नि से ब्राह्मण प्रगट हुए। से देवताओं की उत्पत्ति हुई। देवताओं के अनुग्रह से चारों वर्ण उत्पन्न हुए। ब्राह्मण मुख द्वारा हुआ। क्षत्रिय भुजा द्वारा हुआ। वैश्य जंघा द्वारा हुआ और शूद्र चरणों द्वारा उत्पन्न हुआ। अपने-अपने पूर्व कर्मानुसार उत्तम-नीच हुए। इन चारों वर्णों के निर्णय से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का हो जाता है।

जैसे पृथ्वी से अनेक घट, मठ आदि उत्पन्न होते हैं, सो सब के सब मृत्तिका रूप हैं। उसी प्रकार आत्मारूप पृथ्वी से मृतपिण्ड रूप अग्नि-ब्राह्मण द्वारा घट-मठ स्थानीय ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र उत्पन्न हुए। सो सब ब्रह्म ही है। आत्मारूप ब्रह्म से भिन्न नहीं। आना-जाना भेद भाव मनुष्यों के निश्चय में है। ब्राह्मण और अग्नि दो के द्वारा यह मनुष्य देवलोक को प्राप्त होते हैं। अग्निहोत्र आदि करके अग्निदेव को प्रसन्न करने से और यज्ञों द्वारा ब्राह्मणों को दक्षिणा आदि देकर प्रसन्न करने से ही मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, दूसरे प्रकार से नहीं होते। देवताओं में अग्नि श्रेष्ठ है, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। इन चौदह लोकों में यह दोनों साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं और सब ब्रह्माण्ड इनके द्वारा ही उत्पत्ति और प्रलय को प्राप्त होते हैं। कर्मी उपासक इन दोनों का सेवन करके देवताओं के लोकों को अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त होते हैं।

शिष्य—हे गुरु! जैसे यह मनुष्य अग्नि-ब्राह्मण का सेवन करके इनके द्वारा स्वर्ग को जाते हैं वैसे ही उपासक भी इन्हीं के द्वारा ब्रह्मलोक को जाते होंगे क्योंकि आपने इन दोनों को ही सब का कारण कहा है।

गुरु—हे शिष्य! यह मनुष्य ब्रह्मज्ञान बिना मोक्ष नहीं हो सकते, जैसे दरिद्री को जाने बिना कोई उसका प्रतिपाल नहीं करता अथवा जैसे किसी पुरुष को एक मणि मिल जाय और वह उसके गुण को न जानकर उसे थोड़े से मूल्य में बेच डाले तो वह मणि उस मूर्ख पुरुष का प्रतिपादन नहीं करती। उसी प्रकार यह पुरुष ब्रह्मज्ञान बिना मुक्त नहीं होता। जैसे वेद वाक्यों का अर्थ जाने बिना वेद पुरुष का प्रतिपादन नहीं करता, वैसे ही ब्रह्म के जाने बिना यह पुरुष ब्रह्म पद को नहीं प्राप्त होते। जब कोई पुरुष कर्म-उपासना का त्याग करके ब्रह्मवेत्ता गुरु के समीप जाकर उनके मुख से ब्रह्मज्ञान का महत्व सुनकर तथा उनके वाक्यों को विचार कर ब्रह्म को नामरूप उपाधियों से पृथक् जानता है, फिर अपने प्रत्यग् आत्मा को पंचकोशों से पृथक् करके स्वयं को ब्रह्म से अभिन्न जानकर ऐसा कहे कि "सोऽहमस्मि" तब ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। मोक्ष का यही साधन है।

शिष्य—हे गुरु! कोई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि अश्वमेध यज्ञ करने से ही मोक्ष होती है क्योंकि यह सब यज्ञों से श्रेष्ठ है।

गुरु—हे शिष्य! अश्वमेध यज्ञ का फल तुच्छ विषयानन्द ही है और विषयानन्द ब्रह्मानन्द का एक कण है। इस यज्ञ के करने से उपासना के अनुसार मनुष्य विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, पितर आदि लोकों को प्राप्त होता है। वहाँ जाकर बड़े दिव्य भोगों को भोगता है और जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वहाँ से गिरा दिया जाता है। जैसे गङ्गा जल की एक बूँद से कुछ कार्य नहीं सिद्ध होता, गङ्गा से सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार विषयानन्द के एक कण से कामना नष्ट नहीं होती, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से ही पूर्ण काम होता है। जब यह पुरुष ब्रह्मज्ञानी गुरु से महावाक्य सुनता है तब अपने आप परब्रह्म प्रत्यग् को जान कर इस ज्ञानद्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। जब तक साधक काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि मोक्ष के विरोधियों से अपनी रक्षा नहीं करेगा तब तक ज्ञान का होना असम्भव ही है। प्रथम तो इन परपन्थियों से अपनी रक्षा करे।

हे शिष्य! कर्मी उपासक को अन्तकाल में लोक-परलोक के भोगों की इच्छा रूप काम और नरकादिकों की अनिच्छा रूप द्वेष खा जाते हैं। विषयानन्द की इच्छा वाला उपासक परतन्त्र है और

विचार मार्गी ब्रह्मबोधी स्वतन्त्र है, क्योंकि गृहस्थ आश्रम सब ब्रह्माण्ड का आधार प्रतिपालक और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी के आश्रय चलता है। जैसे कोई पुरुष किसी से कहे कि भाई मेरा जीवन पशु के आश्रय है। यदि यह पशु न हो तो हमारा जीवन कठिन हो जाय। उसी प्रकार यह गृहस्थ आश्रम न हो तो इस ब्रह्माण्ड का जीना कठिन हो जाय। इस प्रकार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गृहस्थ के आश्रय जीता है। यह गृहस्थ अग्निहोत्र करके देवताओं का पालन करता है, अतः देवलोक आधार है। द्रव्य खर्च करके यज्ञादिक द्वारा ब्राह्मणों का पालन करता है, इस कारण से पशु भूलोक का आधार है।

जो पुरुष ज्ञानी गुरु की सेवा के द्वारा उनको प्रसन्न करके ब्रह्मविद्या का मनन करता है ब्रह्मचारियों को विद्या अध्ययन कराता है सो ऋषिलोक का आधार है। जो पुरुष गृहस्थ आश्रम अङ्गीकार करके प्रजा की उत्पत्ति करता है वह पितर लोक का आधार है। पंच अग्नि तपे हुए जो उसके द्वार पर आते हैं उनकी कामनारूपी अग्नि को, जैसे जल से अग्नि को शान्त करते हैं, शान्त करता है। तैसे ही वह गृहस्थी-वाणीरूपी जल से अतिथि की वाणीरूप अग्नि को शान्त करे। जल के द्वारा अभ्यागत के चरणरूप अग्नि को शान्त करे। भोजन देकर पेट की अग्नि को शान्त करे। विश्राम देकर मानसिक विक्षेपरूप अग्नि को शान्त करे। पश्चात् अनेक दृष्टान्तों तथा युक्तियों से अपनी शान्तिरूपी अग्नि को प्रगट करने के लिए प्रश्न करे। जो गृहस्थी आए हुए अभ्यागत की अग्नि को न शान्त करे अर्थात् उनकी आशाओं को पूरा न करे तो वह अतिथि पाँच अग्नियों से उस गृहस्थी को जलाकर चला जाता है। अर्थात् उसने जो पूर्व में पुण्य इकट्ठे कर रक्खे थे, उनको नष्ट कर जाता है। उनके निरादर तथा अपमान से गृहस्थी पापी हो जाता है।

जो गृहस्थी माँगने वाले का पूजन करता है तो वह उसको अपने पुण्य दे जाता है। सद्गृहस्थ अतिथि का तथा ब्राह्मण का पूजन अपना मुख्य कर्तव्य जानकर करे। जिस गृहस्थी को अपना अकल्याण करना हो तो वह चाहे अनादर करे चाहे धिक्कार करे। अतः सच्चे गृहस्थी को चाहिये कि मांगने वाले को थोड़ा बहुत अवश्य दे। मना न करे। वह अतिथि चाहे अपना सम्बन्धी हो, मित्रादि हो, विजातीय हो, परदेशी अकस्मात् आ गया हो। ये सब अतिथि ही कहे जाते हैं। जो गृहस्थ इनका यथायोग्य आदर सत्कार के द्वारा पूजन करता है, वह मनुष्य-लोक का आधार है। जो पुरुष घास देकर अभ्यागत पशु का पालन करता है, सो पशु लोक का आधार है। जो पुरुष चींटी, कुत्ता, बिल्ली, चील, चिड़िया आदि की रक्षा करता है वह पृथ्वी लोक का आधार है। इस प्रकार गृहस्थ सब का आधार तथा आश्रय होने से पशु की नाईं पशु कहा जाता है।

शिष्य—हे गुरु! यह गृहस्थ मनुष्य पशु तो इनकी रक्षा करता ही है, पर वह भी इसकी रक्षा करते हैं अथवा वैसे ही सेवा लेते हैं।

गुरु—हे शिष्य! वह भी इसकी रक्षा करते हैं। देवता तो तुच्छ पापों द्वारा उसकी देह को नहीं देते। सब प्रकार से उसके शरीर की रक्षा करते रहते हैं। जैसे मनुष्य जिस पशु के आश्रय रहते हैं, उसकी घास-जल आदि से रक्षा करते रहते हैं और मनाते हैं कि यह हमारा पशु अधिक जीवे क्योंकि हमको इससे बड़ा सुख है। उसी प्रकार देवता भी भोग आदि देकर इसकी रक्षा करते हैं और सदा ब्रह्मज्ञानी चोरों से बचाते रहते हैं तथा उसकी जय मनाते हैं।

शिष्य—हे गुरु ! पूर्व वेद ने जीव को स्वतंत्र कहा है और दो प्रकार के पुरुषार्थ कहे हैं। एक सन्ध्यादिक नित्यकर्म सब को करना चाहिए अर्थात्—स्नान, दान, तर्पण, देव-पूजन, गौ-पूजन, माता-पिता, ब्राह्मण, गुरुजनों का पूजन यह नित्यकर्म है। इनके न करने से अनिष्ट की प्राप्ति होती है, अतः नित्य ही करने चाहिएँ। दूसरे यज्ञ, अग्निहोत्र आदि जो कर्म हैं, वह तब करे जब फल की इच्छा हो। नहीं करने से फल की प्राप्ति भी नहीं होती। जैसे वृक्ष लगा कर जब जल दिया जाता है तब फल की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार यह पुरुष विषय की प्राप्ति के लिए दिन-रात्रि प्रयत्न करते हैं जिससे उनको महान विक्षेप होता है। अन्त में तुच्छ विषयसुख की प्राप्ति होती है। हे भगवन् ! यह पुरुष निवृत्ति का साधन क्यों नहीं करते जो कि परमानन्द की प्राप्ति का कारण है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रवृत्ति में ही लगा हुआ देखा जाता है।

गुरु—हे शिष्य ! यह पुरुष अपने आप कुछ नहीं कर सकता। जिन कर्मों ने इसको उत्पन्न किया है वही कर्म इसको प्रेरते हैं। वेद में ऐसा भी कहा है कि इस गृहस्थ मनुष्य को पंचयज्ञ अवश्य करने चाहिएँ। एक देव यज्ञ, दूसरा पितृ यज्ञ, तीसरा भूत यज्ञ, चौथा मनुष्य यज्ञ, पांचवाँ ब्रह्म यज्ञ। मीमांसा शास्त्र में भी कहा है कि जिन कर्मों ने इसको उत्पन्न किया है, वह कर्म ही इसको अवश्य प्रेरित करेंगे। यह पुरुष अनेक कामनाओं का पुतला है जो इसको अपनी तरफ खींचा करती हैं। यह कामनायें अपनी प्राप्ति के अनुकूल ही इसको शास्त्र का श्रवण कराती हैं ताकि और अनेक कामनायें हृदय में प्रगट हों। फिर उसके अनुसार ही पुरुषार्थ भी कराती हैं।

हे शिष्य ! इसका अनुभव तुम इस प्रकार करो। पूर्वकाल में एक ब्रह्मचारी था। उसके पास धन, स्त्री, पुत्र आदि कुछ भी न था। कुछ काल के पश्चात् उसके मन में उन कर्मों ने प्रगट होने की इच्छा की और उस ब्रह्मचारी को घेर कर स्त्री की इच्छा करा दी। तब वह ब्रह्मचारी विवाह करके स्त्री वाला हो गया, फिर वही ब्रह्मचारी पुत्र की कामना करके पुत्रवान हो गया, धन की कामना करके धनवान हुआ और स्वयं को कुटम्बी मानने तथा जानने लगेगा। देख, प्रथम एक ब्रह्मचारी था। अन्त में वासनाओं ने प्रेर कर अनेक ब्रह्मचारी कर दिये। जो स्वयं को बुद्धिमान और बोधवान जानकर कहते फिरते हैं कि हम जो कर्म करते हैं, केवल लोकसंग्रह के लिए करते हैं। हम को तो कुछ कर्तव्य नहीं है। हे शिष्य ! ऐसा कहने वालों को तुम झूठा जानो। वह अपने मन में अपनी अभिलाषाओं को छिपा कर ऊपर से लोगों के सामने ऐसा कहते हैं। वास्तव में वह नाना कामनाओं में बन्धे हुए पड़े हैं।

कामना का स्वरूप है स्त्री, धन, पुत्र, मकान, दुकान, संसार। यही पुरुषार्थ है। मोक्ष की कामना नहीं क्योंकि वहाँ कुछ कर्तव्य तो है नहीं। केवल अपना आप प्रत्यग् है। मोक्ष के लिए तो केवल एक विचार ही कर्तव्य है। जब यह पुरुष पुरुषार्थ करके धन, स्त्री, पुत्र आदि को प्राप्त होता है, उस काल में इसको स्वर्ग की भी इच्छा होती है स्वर्ग के भोगों को भी भोगना चाहिए। उस काल में शास्त्र आज्ञा देते हैं कि यदि तुझको स्वर्ग की इच्छा है तो यज्ञ, अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान कर। स्वर्ग मिल जायेगा। जब वह अग्निहोत्र आदि करने लगा, तब उसको दूसरी कामना उत्पन्न हो गई कि हे ईश्वर ! हमारी स्त्री को कोई कष्ट न हो। यह हमारा पुत्र जीता जागता रहे, इसको कोई रोग आदिक भी न हों। हमको धन का अभाव भी न हो। कोई देवता हमारे काम में विघ्न न करे। सब प्रकार से मेरी रक्षा करते रहें।

हे शिष्य ! तू देख ले कि वह ब्रह्मचारी एक स्त्री की कामना के पीछे अनेक कामनाओं में गया जैसे राजा सेना से घिर जाता है। प्रथम स्त्री मात्र की कामना थी, फिर धन-पुत्र की हुई। यह हुआ कि उस ब्रह्मचारी को कामनाओं ने अपना पशु बना लिया और यहाँ तक कि वह अपने का अभाव करके कामना स्वरूप ही हो गया।

शिष्य—हे प्रभो ! क्या उस ब्रह्मचारी को हम देख सकते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! अवश्य देख सकते हो। जैसे आजकल के ब्रह्मचारी कामना करते हैं कि पढ़कर गृहस्थी बनेंगे, उसी प्रकार उसको भी एक ब्रह्मचारी समझ अथवा उसको तू ब्रह्मा की तरह समझ जैसे ब्रह्मा प्रथम एक था और फिर कामना करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सृष्टि से भर दिया। उसी ब्रह्मचारी ने एक होकर ब्रह्माण्ड को खड़ा कर दिया।

शिष्य—हे प्रभो ! जिसके पास स्त्री, धन, पुत्र आदि हैं उसको अग्निहोत्र आदि करने का है, परन्तु जिसके पास स्त्री, धन, पुत्र आदि का अभाव है और स्वर्ग की इच्छा है ऐसा मनुष्य क्या उसको भी वेद ने स्वर्ग की प्राप्ति का कोई साधन कहा है या नहीं ?

गुरु—हे शिष्य ! उस पुरुष का वेद ने इस प्रकार निर्वाह किया है कि वह यज्ञ की सब सामग्री अपने मन में ही इकट्ठा करके मन से ही यज्ञ का अनुष्ठान करे और फिर इसी प्रकार हिरण्यगर्भ की अहंग्रह उपासना करे। प्रथम तो यज्ञ में यजमान होता है, सो आत्मारूपी मन को तो यजमान बनावे और वाणी को यजमान की स्त्री बनावे—जो अपने पति के समीप में सदा आज्ञा का पालन करती रहे। वाणी भी स्त्री के समान सदा मन की आज्ञा में रहती है। प्रथम मन में संकल्प होता है, पश्चात् वाणी उसके अनुसार शब्द का उच्चारण करती है। यदि मन सात्विक होता है तो वाणी सात्विक शब्द उच्चारण करती है और यदि राजसी या तामसी मन होता है तो वाणी राजसी या तामसी उच्चारण करती है।

यज्ञ में यजमान का पुत्र दोनों के बीच में बैठकर क्रिया करता है सो प्राण को पुत्र बनावे। प्राण भी मन वाणी दोनों के मध्य में बैठकर क्रिया करता है। दोनों में आना-जाना यही उसकी क्रिया है। यजमान के पास धन आदि होता है तब कहीं जाकर यज्ञ हुआ करता है। इस चक्षु को धन जाने क्योंकि धनरूपी चक्षु से देखता है। इसी से तो चक्षुरूपी धन सब का धन है। यज्ञ में यज्ञ का करने वाला ब्रह्मा होता है। इस अध्यात्म यज्ञ में श्रोत्र को ब्रह्मा बनावे। यजमान पहले ब्रह्मा की वाणी को कर्णों से सुनकर पीछे क्रिया करता है। क्योंकि शब्द का स्थान है, इस कारण से श्रोत्र को ब्रह्मा समझे। यज्ञ में पशु होता है सो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गँध—इन पांच विषयों को पशु स्थानीय ध्यान करे। पशु पांच तत्वों से बनता है सो यहां भी यजमान, सामग्री और पशु सब के सब पांच तत्वों से ही बने हैं। जब यज्ञ समाप्त होता है, उस काल में यजमान को शरीर त्याग के पश्चात् स्वर्गलोक प्राप्त होता है। उसी प्रकार इस यजमान को भी यज्ञ रूप हिरण्यगर्भ के ध्यान द्वारा विराट् के स्वरूप की प्राप्ति होती है।

उस यज्ञ में शरीर द्वारा क्रिया होती है और इस अध्यात्म यज्ञ में मन रूपी शरीर द्वारा यज्ञ होता है। सब सामग्री मन से इकट्ठी करके क्रिया करनी पड़ती है। उसमें भी पांच तत्व होते हैं। गृहस्थी से यह ब्रह्मचारी श्रेष्ठ होता है। इस अध्यात्म यज्ञ में कोई पाप नहीं करना पड़ता और धन आदि की किसी से याचना करनी पड़ती है। दूसरों के पास मांगने की वृत्ति लेकर जाने से मनुष्य

को प्राप्त होता है क्योंकि मांगना सब से निकृष्ट काम है। हे शिष्य! कलिकाल में प्रायः सब ही याचना वाले होते हैं, इसलिए तुम कदापि कोई ऐसा आरम्भ न करना कि जिस से दीनता उठानी पड़े।

हे शिष्य! यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड पांच सामग्रियों से उत्पन्न हुआ है इस कारण से इन पांचों तत्वों से दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। यज्ञ भी पांच तत्वों का, यजमान भी पांच तत्व का, फल की प्राप्ति भी पांच तत्वों की। यह पांच तत्व ही सब ब्रह्मांड रूप हैं। अर्थात् तमाम पसारा पांच तत्वों का खेल है। हे शिष्य! इस प्रकार जो पुरुष मानसी सामग्री हृदय में इकट्ठी करके हिरण्यगर्भ की अहंग्रह उपासना करता है और ऐसा विचार करता है कि यह ब्रह्मांड और मैं पांच तत्वों से बना होने से एक ही हैं, मैं ब्रह्मांड से भिन्न नहीं और ब्रह्मांड मुझ से भिन्न नहीं है,—वह यजमान अन्तकाल में शरीर को त्याग कर सर्वात्मा अथवा विराट हो जाता है।

हे शिष्य! अब उपासना का दूसरा प्रकार भी सुनो। अब मैं अन्न का निर्णय करता हूं। यह सब प्रपंच एक-दूसरे का मधु है और इस अन्न के भोक्ता प्राणधारी जीव हैं इन सबका मुख अग्नि रूप है। यह पुरुष नाना कल्पना करके देवताओं को भोग लगाते हैं, उसका कारण कामना है। मुख्य तो यह है कि जिस समय कोई अभ्यागत अतिथि घर पर आ जाय, भूख, प्यास आदि से व्याकुल हो, तो गृहस्थ शीघ्र उसको अग्नि के समान जानकर श्रद्धा-प्रीति सहित अन्न-जल आदि से उसका अच्छे प्रकार सत्कार करे। यही मानव-सेवा कही है। इसी कारण से पूर्व बुद्धिमानों ने कलियुग में अन्नदान सबसे श्रेष्ठ कहा है। जो पुरुष अतिथि की यथायोग्य अन्न-जल आदि से सेवा-सत्कार न करके केवल बाहर की माला आदि घुमाने का ढोंग करते हैं, प्रेम और श्रद्धा से अन्न-जल आदि का दान न करके नाममात्र का आश्रय लेते हैं, जो बहुत-से मूर्ख लोगों ने अपनी कल्पना द्वारा मालामात्र घुमाना कर्तव्य सिद्ध किया है, उन्हें कलि-युग की मूर्ति जानो।

हे शिष्य! अब यहाँ से ब्रह्म विद्या का प्रसंग प्रारम्भ होता है, ध्यान पूर्वक सुनना चाहिए। जिस ब्रह्म को अमृत, अभय, अक्रिय कहते हैं सो जीव से भिन्न नहीं है। जैसे अग्नि, दीपक आदि उपाधि के संयोग से अनेक प्रकार की भान होने लगती है। उपाधि के त्यागने से समान अग्नि ही दीखती है। उसी प्रकार ब्रह्म भी बुद्धिरूपी उपाधि से मिलकर नाना जीव कहलाता है। बुद्धि रूप उपाधि को त्याग कर एक ब्रह्म मात्र ही होता है। वह ब्रह्म न कहीं से आया और न गया। अग्नि के समान एक रस है।

शिष्य—हे प्रभो! तैत्तरीय उपनिषद् में वरुण ऋषि ने अपने पुत्र भृगु को जिस प्रकार ब्रह्मरूप सिद्ध किया है, वह आप कृपा करके हमको भी कहिये।

गुरु—हे शिष्य! चित्त को समाहित करके सुन। वरुण के पुत्र भृगु के मन में एक समय यह स्फुरणा हुई कि वेद में अपने आत्मा को ब्रह्म स्वरूप कहा है। इस कारण मुझे चाहिए कि मैं अपने पिता के पास जाऊँ। कहाँ-कहाँ मारा फिरूँ? हमारे पिता तत्ववेत्ता भी हैं, उन्हीं से चल कर जानूँ। वे अनुग्रह करके सब प्रकार से समझा देंगे क्योंकि जैसी कृपा पुत्र के ऊपर पिता की होती है, वैसी दूसरे किसी की नहीं होती। भृगु यह विचार कर पिता के पास आया और श्रद्धा के साथ नमस्कार करके कहा कि हे पिता जी! आप ब्रह्मज्ञानी तथा ब्रह्मस्वरूप हैं। उस ब्रह्म का मुझको अज्ञान है। सो आप मेरी इस अविद्या अर्थात् विपरीत भावना को दूर करके परमानन्द स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कराइये जिससे कि मैं भी

अपने यथार्थ स्वरूप को जानकर शान्तात्मा हो जाऊँगा। यह सब विभूति और भोग मुझको वि[illegible] समान जान पड़ते हैं क्योंकि वेद ने इनको मिथ्या कहा है। मिथ्या पदार्थ अशान्ति को उत्पन्न कर[illegible] प्रत्यग् आत्मा को वेद ने शान्त कहा है।

वरुण ने भृगु के ऐसे उदार वचन सुनकर प्रसन्न होकर कहा कि हे पुत्र तू धन्य है! वैराग्य [illegible] हुई वाणी सुनाने वाला पुत्र सबको प्यारा लगता है। पुत्र यदि पिता से कुछ वस्तु मांगता है तो [illegible] उसको शीघ्र देता है। यदि उसके पास नहीं भी होती तो और कहीं से लाकर भी देता है। पुत्र के अति[illegible] और किसी को चाहे दे या न दे। हे पुत्र! तू तो हमको बहुत ही प्यारा लगता है। जो वस्तु देने [illegible] नहीं थी, सो भी हम तुझको देते हैं क्योंकि तू श्रद्धा से मांगने आया है। यह आत्म-ज्ञान अधिकारी [illegible] हर किसी को देने योग्य नहीं है। जिसको तीव्र इच्छा हो, जो ब्रह्मज्ञानी गुरु की खोज करे, वही पात्र [illegible] जाता है। उसी को यह ब्रह्मविद्या देनी योग्य है। तुझको यह आत्म-ज्ञान सबसे श्रेष्ठ प्रतीत हुआ [illegible] इसलिए तू अधिकारी है। जब तू इन द्वारपालों द्वारा अपने स्वरूप को जानेगा तो शान्त आत्[illegible] जायगा। जैसे यह पुरुष द्वारपालों द्वारा निर्भय होकर वेरोक-टोक बड़े सुभीता से राजा की स[illegible] पहुँच जाता है, उसी प्रकार तू भी आत्मा को प्राप्त हो जायगा।

भृगु—हे पिता जी! जिन के मिलने से अपना प्रत्यग् स्वरूप आत्मा प्राप्त होता है, [illegible] द्वारपाल कौन हैं?

वरुण—हे पुत्र! एक अन्नमय आत्मा है, दूसरा प्राणमय आत्मा है, तीसरा मनोमय आत्[illegible] चौथा चक्षुमय आत्मा है और पांचवां वाणीमय आत्मा है। यह पांच द्वारपाल हैं। इनके ही [illegible] अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है। प्रथम तुम "त्वम्" पद आत्मा को जानो। फिर "तत्पद" आत्मा [illegible] जानोगे। विना अपने जाने परमात्मा को नहीं जान सकते। वह "तत्" पद आत्मा कैसा है कि [illegible] से यह सर्व भूत उत्पन्न होकर फिर उसी में लय भाव को प्राप्त होते हैं। हे पुत्र! इन दोनों वाक्यों [illegible] ब्रह्म कहा है उसको एकान्त स्थान में बैठ कर विचार द्वारा प्राप्त करो।

जैसे कोई पुरुष द्वारपालों से छुप कर राजसभा में जाना चाहे तो उस को देखकर द्वारपाल [illegible] पकड़ कर बाहर निकाल देते हैं। उसी प्रकार यह पुरुष द्वारपालों से छुपकर नित्य परब्रह्म की [illegible] पहुँचते हैं, पर वृत्तिरूप द्वारपाल उसको वहाँ से निकाल देते हैं क्योंकि वे द्वारपालों से मिलकर नहीं [illegible] इसी कारण वे शान्त आत्मा भी नहीं होते। हे पुत्र! इन द्वारपालों का विचार करना ही [illegible] मिलना है। जो इनका विचार किये विना ही जाते हैं, वे निरादर पूर्वक जाग्रत अवस्था में फेंक [illegible] और फिर मैं-मैं, तू-तू के झगड़े में फंस जाते हैं। इस कारण से तू पहले इन द्वारपालों से मे[illegible] कर। पीछे आगे बढ़ना।

अन्नमय कोष जड़ है। जिसकी सत्ता पाकर यह चेष्टा करता है और चैतन्य की तरह दृष्ट [illegible] है, वही इसका आत्मा है। जिसकी सत्ता पाकर यह प्राण रूप श्वास आता-जाता है और तीनों [illegible] रक्षा करता है, सोई इसका आत्मा है। जिसकी सत्ता पाकर यह मनोमय कोश रूपी लिंग शरीर [illegible] परलोक आदि में भ्रमण करता है, सोई इसका आत्मा है। जिसकी सत्ता पाकर यह बुद्धि रूपी विज्ञा[illegible] कोश सबका अनुभव करता है, सोई इसका आत्मा है। जिसकी सत्ता पाकर यह अज्ञान रूपी [illegible]

अपने आधार को ही सत्ता शून्य और दूर, परोक्ष की नाईं कर दिखाती है सोई इसका आत्मा है और जिसकी सत्ता पाकर यह वाणी गर्जती है, सोई इसका आत्मा है।

हे सौम्य! इस प्रकार विचार द्वारा जब तुम "त्वं" पद को जानोगे तब 'तत्' पद को भी जानोगे। जिस चेतन की सत्ता पाकर यह सब चैतन्य दृष्ट आते हैं, जिसकी सत्ता के आश्रय यह सब ब्रह्माण्ड चेष्टा कर रहा है और जिसकी सत्ता में लीन हो जाता है, सोई सर्व आत्मा है। वही परब्रह्म है। हे पुत्र! इस प्रकार 'तत्' पद से अभिन्न 'त्वं' पद आत्मा को विचार करके अनुभव करो। पूर्वकाल में जो विद्वान् हुए हैं सो भी 'तत् त्वं' पद को विचार करके ही अपने प्रत्यग् ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं।

भृगु पिता के वचन सुन कर एकान्त पर्वत की कन्दरा में चला गया और तप करने लगा।

शिष्य—हे गुरु! पिता ने तो भृगु को यह कहा था कि तुम इन द्वारपालों द्वारा ब्रह्मात्मा को जानो। तप करने की आज्ञा तो नहीं दी थी।

गुरु—हे शिष्य! भृगु ने अपने पिता के अभिप्राय को जान कर कि तप करने अर्थात् 'तत्-त्वं' पद के विचारने से ब्रह्म प्रत्यक्ष सिद्ध होगा, कथन मात्र से प्रत्यक्ष नहीं होगा, तप करना प्रारम्भ किया।

शिष्य—हे गुरु! भृगु ने क्या तप किया? योग करने लगा अथवा कर्म उपासना रूप तप किया किंवा पंचाग्नि अग्नि आदि तप तपने लगा।

गुरु—हे शिष्य भृगु विचार रूपी तप करने लगा। सत्-असत् के विचार का नाम ही तप है। और कोई तप नहीं। भृगु ने विचारा कि पिता ने तो अन्नमय कोष को आत्मा कहा है कि तुम इसको विचार कर जो आत्मा सिद्ध हो सो हमको फिर आकर कहना। अन्नमय आत्मा का स्वरूप तो विराट् है। उसी से सब अन्न उत्पन्न होते और उसी में लीन होते हैं। इस कारण से सब अन्नमय का आत्मा विराट् है। जैसे समुद्र से तरङ्ग उत्पन्न होती है और फिर उसी में लीन हो जाती हैं। उसी प्रकार विराट रूपी समुद्र है। नाना जीव-ईश्वर रूपी तरङ्ग हैं। यह तरङ्गें विराट् से उठकर उसी में लीन हो जाती हैं, इस कारण से इन सब का आत्मा विराट् है।

फिर भृगु ने विचार किया कि यह विराट् भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि जब यह शरीर सो जाता है तब इस में कोई क्रिया नहीं होती। जड़ की तरह जहां-का-तहां पड़ा रहता है। पर वेद ने आत्मा को चैतन्य कहा है, इस कारण से यह अन्नमय कोष रूप शरीर आत्मा नहीं है। चलो, पिता से फिर पूछूं।

यह विचार कर भृगु फिर पिता के पास आया और कहने लगा कि हे भगवन्! यह अन्नमय कोष तो आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि जड़ और पराधीन है। आप ने आत्मा को चैतन्य और स्वतंत्र कहा था। तब पिता ने कहा कि हे सौम्य! तू धन्य है जो इस प्रज्ञा से आगे निकल गया। इसी में अटका न रह गया। अब तू फिर जाकर तप कर। इसी बुद्धि से ब्रह्माण्ड चैतन्य आत्मा की प्राप्ति तुझको होगी। घबराना नहीं, जा।

भृगु ने फिर आकर विचार किया कि यह विराट् प्राणरूप सूत्र के आश्रय है। यह प्राण ही आत्मा मालूम होता है क्योंकि शरीर इसी के आश्रय क्रिया करता और जीता है। प्राण के होते हुए ही कुत्ता, सर्प, पशु, पक्षी आदि भी भय के मारे इसके पास में नहीं आते अर्थात् प्राण के होते हुए इसको कोई कष्ट नहीं दे सकता। इस कारण से प्राण ही आत्मा है।

थोड़ी देर के पश्चात् ही उसकी प्रज्ञा आगे बढ़ी। वह विचार करने लगा कि अरे! मुझको

तो वह प्राण जड़ मालूम पड़ता है क्योंकि यदि यह चैतन्य होता तो सुषुप्ति अवस्था में चोर होते हुए भी घर में से वस्त्र, भूषण आदि ले जाते हैं और यह उनसे कुछ भी नहीं कहता। यदि चैतन्य होता तो चोर को चोरी नहीं करने देता। इस कारण से यह भी जड़ और पराधीन जान है। इसका आत्मा भी कोई दूसरा ही होगा। जिसके आश्रय इसका व्यापार सिद्ध होता है, वही का आत्मा है। चलो, फिर पिता से पूछें।

भृगु फिर पिता के पास पहुँचा। नमस्कार करके कहने लगा कि हे भगवन ! यह प्राण भी आत्मा हैं क्योंकि जड़ और पराधीन है। जैसे चुम्बक की सत्ता पाकर लोहा चेष्टा करता है। उस के अभाव लोहे की चेष्टा सिद्ध नहीं होती। लोहा और चुम्बक दोनों जड़ हैं, उसी प्रकार प्राण के आश्रय चेष्टा करता है। सुषुप्ति की दशा में इस से कुछ चेष्टा नहीं होती। इस कारण से शरीर और प्राण जड़ हैं।

पिता ने कहा—हे पुत्र ! तुझको धन्य है जो तू प्राणमय कोष में भी न अटका और आगे बढ़ा। अब तू फिर जाकर तप कर, घबराना मत, धैर्य रखना।

भृगु ने फिर आकर विचार प्रारम्भ किया कि अरे, इस शरीर की चेष्टा तो मन से होती है। के आश्रय ही प्राण का आना-जाना प्रतीत होता है। इस कारण से यह मन ही आत्मा जान पड़ता प्राण द्वारा यह मन ही शरीर से चेष्टा कराता है। बस ठीक है, यह मन ही आत्मा है।

थोड़ी देर के पश्चात् भृगु का विचार घूम गया और कहने लगा कि यह मन भी आत्मा नहीं यह भी किसी को तो जानता है, किसी को नहीं जानता और बुद्धि में लीन भी हो जाता है। अतः मन भी आत्मा नहीं हो सकता। यह तो पराधीन जड़ है। वह फिर पिता के पास आया।

शिष्य—हे गुरु ! भृगु पिता के पास फिर क्यों आया ? आप ही पर्वत की गुफा में बैठे-बैठे आत्मा-अनात्मा का विचार क्यों न कर लिया ?

गुरु—हे शिष्य ! उसके आने का यह कारण था यदि कदाचित् अपनी युक्ति से वह अनात्म पदार्थ को ही आत्मा मान बैठता तो उससे भी जन्म-मरण से रहित परमानन्द की प्राप्ति होती। बार-बार पूछने से ब्रह्म की दुर्विज्ञता भी जानी जाती है क्योंकि वह ब्रह्म सब से परे है, जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। भृगु की ब्रह्मज्ञान में प्रीतिपूर्वक उत्कृष्ट जिज्ञासा थी। हे शिष्य ! भृगु ने पिता से कहा कि हे भगवन् ! मन भी आत्मा जान पड़ता यह भी जड़ है, क्योंकि इस में अनेक वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इस कारण से यह परिवर्तनशील है। क्षण-क्षण में रङ्ग बदलता है। आत्मा को तो सुना है कि वह एक रस, चैतन्य है।

पिता ने कहा—हे पुत्र ! तुझको धन्य है जो तू यहाँ तक आ गया। अभी फिर जाकर कुछ तप कर, इसी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि से परमानन्द को प्राप्त होगा।

तब भृगु ने आकर फिर विचार किया कि यह बुद्धि ही आत्मा होगी क्योंकि यह सबके अन्दर स्थित होकर निश्चय करती-कराती रहती है। जिस पदार्थ को बुद्धि निश्चय करती है, वही पदार्थ होता है और जिसको यह नहीं जानती, वह पदार्थ सिद्ध नहीं होता। इस कारण से यह विज्ञानरूप चक्षु ही आत्मा है। हिरण्यगर्भ आदिक सब पदार्थों को यही जानती है।

भृगु ने फिर विचार किया कि यह बुद्धि भी आत्मा नहीं है क्योंकि जड़, परिछिन्न है। यह भी अन्तकाल में हिरण्यगर्भ में लीन हो जाती है और चैतन्य की सत्ता पाकर निश्चय करने में समर्थ होती है, इसलिए यह भी आत्मा नहीं है, जड़ विनाशी पराधीन। चैतन्य आत्मा दूसरा ही है। भृगु ने पिता के पास आकर फिर कहा—हे भगवन्! यह बुद्धि भी जड़ परिछिन्न, विनाशी तथा पराधीन है, इस कारण यह भी आत्मा नहीं हो सकती।

वरुण—हे पुत्र ! तुमको धन्य है और तुम्हारे विचार को भी धन्य है। तुमने यथार्थ कहा है। ऐसा ही है जैसा तुमने विचारा है। इसी प्रज्ञा से तुम आत्मा को प्राप्त होगे। फिर जाकर तप करो।

तब भृगु पिता को प्रणाम करके फिर उस कन्दरा में बैठकर तप करने लगा। भृगु ने वहाँ बैठ कर विचार किया कि बुद्धि का आत्मा आनन्दमय कोष है क्योंकि इसी से उसकी उत्पत्ति और इसी में इसका लय होता है। इस कारण से आत्मा आनन्दमय कोष है। आनन्द ही सब का कारण है, आनन्द की सत्ता पाकर यह सब प्रगट होते हैं और फिर इस आनन्द में ही लीन हो जाते हैं। इस कारण से आनन्दमय कोष ही आत्मा है, भला अब पिता के पास जाने से क्या प्रयोजन है ? निस्सन्देह आनन्द ही सब का कारण है। सब आनन्द की ही इच्छा करते हैं। इस कारण से यही आत्मा है और वह मैं हूँ। पिता भी समझ जायेंगे कि सब से परे आनन्दमय कोष आत्मा को प्राप्त हुआ है, इसलिये वह फिर हमारे पास नहीं आया, चलो, छुट्टी पाई। यही जानना था सो जान लिया।

परन्तु फिर कुछ दिनों के पश्चात् भृगु ने विचार किया कि अरे ! मैंने इस विशिष्ट शबल (अर्थात् अविद्या विशिष्ट) को आत्माजाना है। परन्तु यह आत्मा नहीं प्रतीत होता क्योंकि जब माया और चैतन्य दोनों का संयोग हो तब शबल को सब का ज्ञान होता है। उससे फिर आनन्द प्रगट होता है, इस कारण से यह आनन्द भी परिछिन्न, पराधीन, जड़ होने से आत्मा नहीं हो सकता। चैतन्य जब अपनी सत्ता दे, तब यह सिद्ध हो। सब का आत्मा वह होना चाहिये जिसके आश्रय आनन्द, बुद्धि, मन, प्राण, तथा शरीर सिद्ध होते हैं। वही इन सर्व चैतन्यों का चैतन्य आत्मा होना चाहिए, जिसके आश्रय शबल, हिरण्यगर्भ, विराट् रहते हैं और फिर इसी चैतन्य में लय होते हैं। यह सब से परे ज्ञान स्वरूप चैतन्य ही आत्मा है। वह आत्मा कौन है ? इन सबका ज्ञान तो मुझको ही है। इस कारण सब से परे चैतन्य आत्मा मैं ही हूं। मैं ही सब को सिद्ध कर रहा हूं, यह सब जड़ हैं। बस, अब पिता के पास जाकर क्या करेंगे ? सब का आत्मा अद्वैत ब्रह्मानन्द स्वरूप मैं ही हूं। मुझ से इतर कुछ नहीं, सब में मैं अपने आपको देखता हूँ। इस कारण से मैं ही सर्व आत्मा हूँ। एक हूँ, न दो हूँ, मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ। एक रस अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप हूं। कूटस्थ-साक्षी-अनन्त-अक्रिय सत् हूं।

हे शिष्य ! इस प्रकार भृगु विचारणीय तप को तप कर परं ब्रह्मानन्दरूप अपने आप स्वरूप को प्राप्त हुआ। तू भी विचारूपी तप करके पर ब्रह्म प्रत्यग् स्वरूप को प्राप्त हो क्योंकि यह विचाररूपी तप और सब तपों से श्रेष्ठ है।

शिष्य—हे गुरु ! भृगु परमानन्द प्रत्यग् स्वरूप को प्राप्त हुआ। हमको इस से क्या लाभ हुआ ? जब हम भी उस आनन्द को प्राप्त होवें तब जानें कि ब्रह्मवेत्ता गुरु ऐसे दयालु तथा उदार होते हैं।

गुरु—हे शिष्य ! ऐसा मत कहो। जो पुरुष इन पाँच कोषों का विचार करके अपने आत्मा को सब से पृथक् जानता है अथवा जानने की इच्छा करता है, सोई भृगु है। जो गुरु इन पाँच कोषों से

पृथक अपने आप ज्ञान स्वरूप आत्मा में शिष्य को पहुंचा दे, सोई वरुण है। हे शिष्य! पूर्वकाल में गुरु हुए हैं वह अमर पद को प्राप्त हुए हैं। वे विचार द्वारा ही अपने आप महत्व को प्राप्त हुए हैं। मी इसी पद को जताकर इसी पद में पहुँचा देता है। यह सब जो कुछ हमने तुम से कहा है, वेद के हैं, लौकिक वाक्य नहीं हैं। अब इसके आगे वेद भगवान राजा जनक की गाथा वर्णन करता है। काल में इसी प्रकार जीवन्मुक्त हो गए हैं।

॥ इति भृगु वल्ली समाप्तः ॥

शिष्य—हे गुरु! एक समय याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा था कि हम फिर आयेंगे, तब कुछ तुम पूछोगे हम कहेंगे, इस समय तो हम जाते हैं। सो याज्ञवल्य ने फिर आकर क्या कहा? जनक ने क्या प्रश्न किया?

गुरु—हे शिष्य! यजुर्वेद की शाखा बृहदारण्यक के छठे अध्याय में जिस प्रकार जनक और याज्ञवल्क्य के प्रश्न और उत्तर हुए हैं सो सावधान हो कर सुन! सातवें अध्याय में यह निर्णय हुआ था कि यह प्रज्ञान घन ही ब्रह्म है, यही सच्चिदानन्द है और यही अन्तर्यामी अक्षर है। यही सब प्रकाशों का प्रकाश है, यही सब आधारों का आधार है, यही सब ज्ञानों का ज्ञान है, यही सब दृश्यों का द्रष्टा है, यही सबका मूल है और यही वास्तव में निर्मूल है। न जीव है, न ईश्वर है, न यह है, न वह है, ऐसा है, न वैसा है, न मैं हूं, न तू है। हे शिष्य! वेद भगवान ने आरोप की अपेक्षा से अज्ञानियों के बोध के अर्थ इस कल्पित प्रपंच का मूल कहा है। वास्तव में यह निर्मूल है, न सत् है, न चित है, न आनन्द है और न यह परब्रह्म साक्षी कूटस्थ द्रष्टा है। यह विष्णु, शिव, ब्रह्मा भी नहीं है। क्योंकि ये सब नाम अपेक्षा वाले हैं, निरपेक्ष नहीं। वह परमात्मा सत्, असत् आदि किसी पद का वाच्य नहीं है।

हे शिष्य, इस प्रकार सातवें अध्याय में ज्ञानी का अपना आप प्रत्यग् ब्रह्मस्वरूप सिद्ध किया है। आठवें अध्याय में भी ब्रह्मज्ञानी का स्वरूप ब्रह्मरूप करके निरूपण किया। राजा जनक ने एक समय विचार किया कि अब हम को प्रजा की देखभाल करना जरूरी है। बहुत दिन हो गए हैं, पता नहीं कि हमारी प्रजा सुखी है अथवा मंत्रियों-तंत्रियों के मारे दुखी हो रही है? राजा को आलस्य नहीं करना चाहिये। फिर अपने सभासदों को आज्ञा दी कि जो हमारे बड़े आराम का स्थान है, जिसमें बहुत द्वार हैं और अनेक प्रकार के वृक्षों से संयुक्त है, जिसमें नाना प्रकार के पक्षी रहते हैं और जिसमें बहुत से कूप, तड़ाग, बावड़ी आदि हैं और अनेक प्रकार के सुन्दर-सुन्दर विश्राम करने के स्थान बने हुए हैं,—तुम सब वहाँ चलकर सभा करो और आप भी वहाँ जाकर सिंहासन पर बैठ गया और बोला, हे सभासदो! हमने जो यहाँ आकर दरबार किया है उसका आशय तुम लोग जानते हो या नहीं? बतलाओ, हम लोग यहाँ क्यों एकत्र हुए हैं?

सभासदों ने कहा कि हे राजन्! आप का आशय हम लोग जानते हैं? यहाँ आपके दरबार करने का अभिप्राय प्रजा का योगक्षेम देखने के अर्थ है। यह खबर सुनकर राजा की मुख्य-मुख्य प्रजा आई। राजा ने सब के दुःख-सुख का हाल-चाल पूछा। जो प्रजा के कंटक थे, उनको तो राजा ने अपनी सभा से निकाल दिया और जो प्रजा की रक्षा करने वाले थे, उनका पद ऊँचा करके उनका

अधिक कर दिया। इस प्रकार राजा जनक की प्रजा में कोई उपद्रव नहीं होता था, प्रजा में शान्ति रहती थी।

शिष्य—हे गुरु ! अब पूर्व का प्रसंग राजा जनक का और याज्ञवल्क्य का वर्णन सुनाइये।

गुरु—हे शिष्य ! जिस समय राजा को उपदेश करके याज्ञवल्क्य अपने आश्रम में गए थे, उस समय यह कह गए थे कि हे राजन ! तेरा संदेह हम फिर दूर करेंगे। अपनी इस प्रतिज्ञा का याज्ञवल्क्य मुनि ने स्मरण किया और विचारा कि अब इसका संदेह दूर करना चाहिये। उसने बहुत से गुरु बना रक्खे हैं और उनसे उपासना के अंगों का उपदेश भी लिया है। परब्रह्म का स्वरूप राजा ने उनसे अभी तक नहीं पूछा है और न उन्होंने ही उपदेश किया है। अब हम उसको ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार करा दें क्योंकि यह राजा उत्तम जिज्ञासु है। फिर मुनि उस सभा में आये। राजा जनक याज्ञवल्क्य को दूर से देखते ही सिंहासन से उठ खड़ा हुआ। फिर नमस्कार, पूजन करके सिंहासन पर बिठाया और स्वयं दूसरे सिंहासन पर बैठ गया। फिर हाथ जोड़ कर नम्रता पूर्वक विनती की कि हे मुनि ! आपने बड़ा अनुग्रह किया। हमारे बड़े भाग उदय हुए हैं। आपके चरण-कमलों से हमारा नगर और गृह पवित्र हुआ है। फिर राजा ने मुनि से पूछा।

राजा—हे मुनि ! आपका आगमन सूक्ष्म प्रश्न के निर्णय के लिए हुआ है अथवा धन और गौओं के लिए ? जैसी आपकी आज्ञा हो सो कहिए, हम वैसा ही करेंगे।

मुनि—हे राजन् ! हमारा आना प्रथम तो तेरे सन्देह दूर करने के लिए हुआ है। पीछे धन के लिए भी है। ब्राह्मण को यजमान जो देवे सो ही लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शिष्य का सन्देह दूर किये बिना हम उसका धन अङ्गीकार नहीं करते। जो ब्राह्मण गुरु शिष्य का सन्देह दूर किये बिना धन को ग्रहण करता है, वह ब्राह्मण पतित कहा जाता है।

फिर मुनि ने विचार किया कि प्रथम राजा की शङ्का को मालूम करना चाहिए कि इसकी शङ्का क्या है और तब उसका उत्तर देना योग्य है। अपने आप सिद्ध पद का कथन करना उचित नहीं है। तब याज्ञवल्क्य जनक से संशय की उत्पत्ति के निमित्त पूछने लगे।

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! हमने सुना है कि तुम्हारे बहुत से गुरु हैं। उन गुरु आचार्यों ने तुमको क्या-क्या कहा है और क्या-क्या दिया है ? जो कुछ उन्होंने तुम से कहा है सो सब हमको सुनाओ।

राजा—हे मुने ! जो कुछ उन गुरु आचार्यों ने हमको कहा है और जिस-जिस ने जो-जो कुछ कहा है सो सब आप को सुनाता हूं। हे मुने ! एक आचार्य ने हमको यह कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है, उसकी उपासना तुम किया करो। मैं भी इस प्राण को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! प्रथम बालक को माता शुभ क्रिया में जोड़ती है। पश्चात् पिता शुभ गुणों में लगाता है। इसके पश्चात् गुरु शुभ क्रिया, वाणीरूपी विद्या में जोड़ता है, तब वह बालक अर्थ-परमार्थ दोनों को यथार्थरूप से जानता है। हे राजन् ! यह सब गुण उस आचार्य में थे। इसी कारण से उसने तुमको उपदेश किया। यदि उसमें यह गुण न होते तो वह उपदेश नहीं कर सकता था। उस का यह अभिप्राय था कि प्राण के आश्रय ही सब कुछ है। प्राणशून्य में कुछ नहीं क्योंकि प्राण बिना कुछ

व्यवहार सिद्ध नहीं होता। हे राजन्! उसने प्राणरूपब्रह्म का आयतन, प्रतिष्ठा और गुण भी तुमसे कहे हैं या नहीं?

राजा—हे मुनि! यह तो हमसे उसने कुछ नहीं कहा। आप कृपा करके उस प्राणरूप का आयतन, प्रतिष्ठा और गुण कहिये।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! उदङ्काचार्य ने तुमको प्राण के एक पाद का उपदेश किया है, पाद और हैं।

राजा—हे मुने! वे कौन-कौन हैं?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! चिदाकाश आयतन है, वाणी उस प्राणरूपब्रह्म की प्रतिष्ठा है, प्रत्यय उसका गुण है। अर्थ यह है कि समष्टि वायु प्राण का आयतन है। नासिका उसके रहने का है। उसका देवता अव्याकृत ईश्वर है। इसी से सब को प्राण में अधिक प्रीति है क्योंकि प्राण बिना नहीं। जहाँ प्राण है, वहाँ सब कुछ है। जहाँ प्राण नहीं वहाँ न लोक है, न परलोक है, न धर्म है, अधर्म है। इस प्राण के लिए ही जहाँ कुछ करना चाहिए वहाँ सब कुछ करना पड़ता है।

राजा—हे मुने! उस प्राण का प्रत्यय क्या है।?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! यही प्रत्यय है कि अयाजी से यजन कराता है। अवाच्य से बुलवाता, अयाचक से याचना कराता है। जिस पुरुष का इस शरीर में हित है अर्थात् प्यारा लगता है उसको ऐसे देश में पहुंचाता है कि जहाँ मृत्यु का सदा भय बना रहे। जिस पुरुष ने इस प्राण की चार सहित अहंग्रह उपासना की है, उस विद्वान को वह प्राण शरीर त्यागने के अनन्तर समष्टि प्राण से देता है। फिर वह देवता होकर विचरता है। जैसे दूर से बहुत से मनुष्यों में छत्र द्वारा राजा पहिचाना जाता है, उसी प्रकार प्राण रूपी ब्रह्म का वाणी रूपी छत्र है। इसी के द्वारा यह प्राणरूपब्रह्म दूर से जाना जाता है। हे राजन्! इस प्रकार प्राण की अहंग्रह उपासना करके वे उस प्राण को प्राप्त होते हैं।

राजा जनक ने इस प्रकार प्राण की सम्यग् उपासना सुनकर एक सहस्र गौ, वृषभ और सहित याज्ञवल्क्य मुनि को दान कीं। मुनि ने राजा से कहा कि हे राजन्! हमारे पिता का यह कि शिष्य को कृतार्थ किये बिना उससे कानी कौड़ी भी लेना अनुचित है अर्थात् महान् पाप है। का सन्देह निवृत्त किये बिना जो कोई उसका धन वर्तता है, वह सौ ठगों का एक ठग कहा जाता है। इस से उसको बड़ा दोष होता है। हमारा भी यही व्रत चला आता है। तुम को कृतार्थ किये बिना गौओं को अङ्गीकार नहीं करेंगे। हे राजन्! और किसी आचार्य ने तुमको क्या उपदेश किया है भी सुनाओ।

॥ इति प्रथम उपासना समाप्त ॥

राजा—हे मुनि! जित्व आचार्य ने हमको वाक्य ही ब्रह्म कहा है। मैं भी वैसा ही और वाक्यरूपब्रह्म की उपासना करता हूँ।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जैसे बालक को प्रथम माता शिक्षा करती है, पश्चात् पिता तदन्तर गुरु शिक्षा करता है। उसी प्रकार तुमको भी जित्वा आचार्य ने यह उपदेश किया है कि वाणी ब्रह्म है। इस कहने से उसने यह बताया कि बोलने वाले को सब कुछ प्राप्त होता है और न बोलने

को कुछ नहीं मिलता। इस कारण से वाक्य ही ब्रह्म है। हे राजन्! उस आचार्य ने तुमको वाक्य ब्रह्म के आयतन, प्रतिष्ठा और गुण भी कहे हैं अथवा नहीं?

राजा—हे मुने! वह तो उसने कुछ नहीं कहे। अब आप कृपा करके उपदेश करिये।

मुनि—हे राजन्! जित्वा आचार्य ने तुमको वाक्यरूपब्रह्म का एक पाद कहा है। तीन पाद और हैं, उनका वर्णन नहीं किया। हे राजन्! वेद वाणी का आयतन है, चिदाकाश प्रतिष्ठा है, प्रज्ञा वाणी का गुण है। तात्पर्य यह है कि वाणीरूप ब्रह्म का समष्टि अग्नि रूप गृह है। अव्याकृत ईश्वररूप आकाश उसका देवता है। रहना इस अग्नि का प्रज्ञा विषय है। अनेक प्रकार के शब्द बोलना वही इस वाणी की प्रज्ञा है अर्थात् वाणी से सब कुछ जाना जाता है। वाणी से चार वेद, षट् शास्त्र, सत्ताईस स्मृति और अष्टादश पुराण जाने जाते हैं। वाणी से ही कर्म उपासना और ज्ञान का बोध होता है। लोक, परलोक स्वर्ग, नर्क, पाप, पुण्य, सब वाणी से जाने जाते हैं। पंचभूत, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, देवता, ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट् आदि का नामरूपमय सब ब्रह्माण्ड वाणी से ही जाने जाते हैं। वाणी से ही अर्थ परमार्थ का बोध होता है। सुख-दुख, ज्ञान-अज्ञान, सब व्यवहार वाणी से ही सिद्ध होते हैं! जिसको वाणी कह दे, वही सिद्ध होता है। वाणी के अभाव से कुछ सिद्ध नहीं होता। इसलिए जिसकी वाणी है, उसको सब कुछ है और जिस के वाणी नहीं, उसको कुछ नहीं। वह पुरुष पशु के समान है। जैसे पशु से कुछ काम नहीं निकलता उसी प्रकार वाणी रहित पुरुष से कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता। हे राजन्! जिस पुरुष ने इन चार पादों सहित वाणी की अहंग्रह उपासना की है, वह पुरुष शरीर-त्याग के अनन्तर अग्निरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है। यही इस वाणी की प्रज्ञा है। इस प्रकार के उपासकों को वाणी नहीं त्यागती। प्राण भी उसकी वाणी की रक्षा करता है। वह उपासक देवभाव को प्राप्त होते हैं।

राजा जनक याज्ञवल्क्य की वाणी सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और एक सहस्र गौ, भूषण, वस्त्र सहित फिर याज्ञवल्क्य को दीं। तब फिर उन्होंने ने पूर्व की तरह लेने से इनकार किया और कहा कि हे राजन्! और किसी आचार्य ने तुमको क्या उपदेश किया है, वह सुनाओ।

॥ इति द्वितीय उपासना समाप्त ॥

राजा—हे मुनि! वृकोदर (अर्थात् बड़ा पेट है जिनका) आचार्य ने हमको यह उपदेश दिया कि देख यह चक्षु ही ब्रह्म है। इसको ब्रह्म जान कर उपासना कर। अतः मैं भी चक्षु को ब्रह्मरूप करके उपासता हूँ।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जैसे कोई मातृवान्, पितृवान्, आचार्यवान पुरुष से शिक्षित होता है वैसे ही तुमको वृकोदर आचार्य ने उपदेश किया है। चक्षुवान् को सब कुछ मिलता है। चक्षुरहित पुरुष को कुछ नहीं। परन्तु उसने भी तुमको एक पाद का ही उपदेश किया है। तीन पाद इस ब्रह्म के और हैं।

राजा—हे मुनि! उस आचार्य ने पूरे चार पाद का उपदेश क्यों नहीं किया? एक पाद का ही क्यों किया?

मुनि—हे राजन्! उपदेश शिष्य की योग्यता पर किया जाता है। तुम में चारों पादों के ग्रहण करने की शक्ति नहीं देखी होगी। हे राजन्! सूर्य जिस चक्षु का आयतन है, चिदाकाश प्रतिष्ठा है, सत चक्षु का गुण है। अर्थ यह कि इस चक्षुरूपब्रह्म का गृह सूर्य है और सूर्यरूपीब्रह्म चक्षु में रहता है। इस कारण से चक्षु ही सत् है। देवता इसका अव्याकृत ईश्वररूप आकाश है। सत् इस चक्षु का गुण है

क्योंकि यह बात संसार में भी प्रसिद्ध है कि आंख का देखा हुआ सत् माना जाता है और कान का सु सत् नहीं माना जाता,—जैसे साची देखे हुए पदार्थ की साची देता है, सुने हुए की नहीं देता। जो मैंने सुना है, देखा नहीं; तो लोग उसका प्रमाण नहीं करते। इसलिए चक्षु में सत् रहता है। जिस पुरु इस प्रकार विचार करके इस चक्षुरूपीब्रह्म की इन चार पादों सहित अहंग्रह उपासना की है, वह शरीर के अनन्तर सूर्यरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है। हे राजन्! सत् ही इसका वास्तविकरूप है। चक्षु से देखी बात को जब यह पुरुष किसी राजा आदि से पूछे जाने पर जैसा देखा है वैसा ही सत् कहता है, उस उपासक को चक्षु नहीं त्यागते, सब प्राणी भी इसकी रक्षा करते हैं और संसार में इसकी कीर्ति होती है अमुक पुरुष सतवादी है। अन्तकाल में वह देवभाव को प्राप्त होता है।

जनक ने याज्ञवल्क्य के मुख से यह वचन सुनकर और प्रसन्न होकर सहस्र गौ, वस्त्र, भूषण दीं। याज्ञवल्क्य ने पूर्व की तरह ही मना कर दिया और फिर पूछा कि हे राजन्! तुमने और किस से क्या उपदेश लिया है?

॥ इति तृतीय उपासना समाप्त ॥

जनक—हे मुनि! भारद्वाज आचार्य ने हमको श्रोत्र को ही ब्रह्म कहा है और मैं भी उसको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ।

मुनि—हे राजन्! जैसे कोई मातृवान्, पितृवान् और आचार्यवान् पुरुष उनसे शिक्षित होता वैसे ही तुमको भी भारद्वाज ने कहा है कि यह श्रोत्ररूप आत्मा ही ब्रह्म है। क्योंकि श्रोत्रवान् को सब कुछ है, श्रोत्र रहित बहरे को कुछ नहीं। परन्तु भारद्वाज ने तुम को श्रोत्ररूपब्रह्म का एक पाद कहा है। तीन पाद इस के और हैं। वह भी तुमको कहे हैं अथवा नहीं?

राजा—हे मुनि! यह तो उसने नहीं कहे। आप कृपा करके कहिए।

मुनि—हे राजन्! इस श्रोत्ररूपब्रह्म का आयतन अवकाश है, चिदाकाश इसकी प्रतिष्ठा और अनन्तता श्रोत्ररूपब्रह्म का गुण है। तात्पर्य यह है कि इस श्रोत्ररूपब्रह्म का दिशा घर है क्योंकि अनन्त दिशा रहती हैं और दिशा का देवता अव्याकृत आकाश रूप ईश्वर है। अनन्त दिशाओं का इसी श्रोतरूपब्रह्म का गुण है। जो पुरुष इन चारों पादों सहित इस श्रोतरूपब्रह्म की उपासना करता है शरीर त्याग के पश्चात् अनन्त दशा को प्राप्त होता है।

राजा—हे मुनि! वह अनन्तता क्या वस्तु है?

मुनि—यही अनन्तता है कि जो कोई पूर्व आदिक दिशा को जाता है उसको इन दिशाओं का अन्त नहीं पाता। इस कारण से श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो पुरुष इस श्रोत्ररूपब्रह्म की अहंग्रह उपासना करता है उसको यह श्रोत्र नहीं त्यागते और सब प्राणी भी उसकी रक्षा करते हैं। वह पुरुष देवता होकर विचरता है।

मुनि से इस उपदेश को सुनकर राजा जनक बहुत प्रसन्न हुआ और एक सहस्र गौएं को दक्षिणा में दीं, सो भी पूर्व की नाईं याज्ञवल्क्य ने न लीं और पूछा कि हे राजन्! और किस आचार्य ने तुमको क्या उपदेश किया है?

॥ इति चतुर्थ उपासना समाप्त ॥

राजा—हे मुनि ! जाबाल ऋषि ने हमसे मन को ही ब्रह्म कहा है। मैं भी उसको ब्रह्मरूप से उपासता हूँ।

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! जैसे यह साधारण पुरुष माता, पिता, गुरु से शिक्षित होते हैं वैसे ही जाबाल ऋषि ने तुमको मन ही ब्रह्म कहा है क्योंकि मन सहित को ही सब कुछ है। मन शून्य को कुछ नहीं। परन्तु उसने तुमको मनरूपब्रह्म का एक पाद उपदेश किया है। तीन पाद उस मनरूपब्रह्म के और हैं। हे राजन्! इस मन शब्द से जाबाल ऋषि ने यह चन्द्रमा कहा है क्योंकि चन्द्रमा मन का आयतन है। चिदाकाश ईश्वर मन की प्रतिष्ठा है। आनन्द मन का गुण है। तात्पर्य यह है कि इस मन का गृह चन्द्रमा है। अव्याकृत ईश्वर इसका देवता है और आनन्द इस मन रूप चन्द्रमा का गुण है।

राजा—हे मुनि ! यह आनन्द क्या वस्तु है ?

मुनि—हे राजन ! मनन (अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प) करना ही मन का स्वरूप है और यही आनन्दता इस मन का गुण है। जो इन चार पादों सहित मनरूपीब्रह्म की उपासना करता है वह शरीर त्यागने के पश्चात् चन्द्रमारूपीब्रह्म को प्राप्त होता है।

राजा—हे मुनि ! इस मन की प्रत्यय अर्थात् प्रीति क्या है ?

मुनि—हे राजन् ! जब यह पुरुष मन कर के स्त्री को स्वीकार करता है, उस काल में उससे प्रजा उत्पन्न होती है। फिर वह प्रजा आनन्द रूप प्रतीत होती है। जो पुरुष इस मन को परब्रह्म जानकर उक्त चार पादों सहित अहंग्रह उपासना करता है उसको मन नहीं त्यागता। सब प्राणी उसकी सब प्रकार से रक्षा करते हैं और इस शरीर त्याग के पीछे वह उपासक देवता हो जाता है।

जनक ने मुनि से यह सुनकर प्रसन्नता पूर्वक पुनः एक सहस्र गौ अर्पण की, परन्तु मुनि ने पूर्व की तरह न लीं और पूछा कि हे राजन् ! और किसी आचार्य ने तुमको क्या कहा है, वह भी सुनाओ।

॥ इति पञ्चम उपासना समाप्त ॥

जनक—हे मुनि ! शाकल्य आचार्य ने हमको हृदय ही ब्रह्म कहा है। मैं भी उस हृदय को ब्रह्म-रूप से उपासता हूँ।

मुनि—हे राजन् ! जैसे साधारण लोग माता, पिता, गुरु से शिक्षित होते हैं, उसी प्रकार शाकल्य आचार्य ने हृदय को ब्रह्मरूप से उपदेश किया है। उसका अभिप्राय यह है कि हृदयवान को सब कुछ है और हृदय रहित को कुछ नहीं। परन्तु यह उसने तुमको हृदयरूप ब्रह्म का एक पाद ही उपदेश किया। तीन पाद इस हृदय ब्रह्म के और हैं, वह भी बताये या नहीं ?

राजा—हे मुनि ! वह तो नहीं बतलाये। आप कृपा करके कहिये।

मुनि—हे राजन् ! शाकल्य ने पूर्व तुमको हृदय को ही शब्द मात्र कहा है क्योंकि हृदय का अभिमानी देवता प्रजापति है। प्रजापति ही हृदयरूपब्रह्म का आयतन है। चिदाकाश उसकी प्रतिष्ठा है। निश्चय करना उसका गुण है। हृदयरूपब्रह्म का अव्याकृत ईश्वर उसका देवता है। तात्पर्य यह है कि हे राजन् ! यह समष्टि-व्यष्टि सब ब्रह्मांड प्रजापति के हृदय में रहता है। अर्थात् "मैं शरीर हूं" इस व्यष्टि शरीर का अभिमानी जीव के हृदय में रहता है।

राजा—हे मुनि ! यह सब समष्टि देवता व्यष्टि में कैसे समा सकते हैं ? जरा इसको भी स्प[ष्ट कर] दीजिये ।

मुनि—हे राजन् ! जैसे पुरुष पूर्व दिशा में रहता हो और पश्चिम दिशा में उसकी नौकरी [हो] । वहाँ से उस धन को लेकर पूर्व देश में अपने घर भ्राताओं के साथ भोगता है । उसी प्रकार यह [समष्टि] देवता व्यष्टि जीवों की नौकरी करके इनसे पुण्य रूपी धन लेकर समष्टि देवों के साथ मिलकर उस[का] सुख भोग करते हैं । जो पुरुष इन चार पादों सहित हृदयरूपब्रह्म की उपासना करता है, वह अन्त[में] प्रजापति होता है ।

राजा—हे मुनि ! उस प्रजापति की क्या स्थिति है ?

मुनि—हे राजन् ! यही उसकी स्थिति है कि जिस प्राणी के हृदय है, वसे वहीं स्थित है । [इ]सके विना किसी की भी स्थिति नहीं । विना हृदय का मनुष्य एक कौड़ी का नहीं । जो पुरुष इस प्रकार ह[ृदय] को ही परब्रह्म जानकर अहंग्रह उपासना करता है कि "वह हृदयरूपब्रह्म मैं हूं" उस का हृदय[रूप] त्याग नहीं करता और सब प्राणी उसकी रक्षा करते हैं । अन्त में वह देवभाव को प्राप्त होता है ।

याज्ञवल्क्य से यह सुनकर जनक बहुत प्रसन्न हुआ और एक सहस्र गौवें, वस्त्र, भूषण सहि[त] दीं । तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे राजन् ! हमारे पिता का व्रत है कि शिष्य के कृतार्थ हुए विना उसके [द्वारा] कानी कौड़ी को भी स्वीकार नहीं करना और हमारा भी यही व्रत चला आता है । हे राजन् ! ब्राह्मण लोभ से मारा जाता है अर्थात् पतित हो जाता है । तब राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को सिंहासन से [उतर]कर होकर नमस्कार की और याज्ञवल्क्य जनक को आशीर्वाद देकर अपने आश्रम को चले गए ।

॥ इति षट् आचार्य ब्राह्मण समाप्त ॥

गुरु—हे शिष्य ! याज्ञवल्क्य इतना कहकर अपने आश्रम पर जाकर विचार करने लगे कि रा[जा] जनक कर्म-उपासना का मर्म तो अच्छी प्रकार से जान चुका है । इस विषय में उसको किंचित् भी सन्[देह] नहीं है । अब ऐसा जान पड़ता है कि वह ज्ञान का अधिकारी हुआ है । अब उसको ब्रह्मज्ञान का उ[पदेश] करना चाहिए । यह विचार कर कुछ काल के पश्चात् याज्ञवल्क्य मुनि फिर जनक के बाग पर आये औ[र] और राजा भी प्रजा की खबर लेने के लिए अपने राज महल से उसी बाग में पहुँचा । उस काल में कि[सी] कर्मचारी ने जाकर राजा को खबर सुनाई कि श्री महाराज ! पूर्व के वही याज्ञवल्क्य मुनि यहाँ आये हैं । तब राजा यह खबर सुनकर शीघ्रता से आगे गया और नमस्कार करके पूजन किया । एक कुर्सी [पर] मुनि को विठाया और एक साधारण-सी कुर्सी पर आप बैठ गया ।

जनक—हे मुनि ! आपने बड़ी कृपा की जो आप यहाँ आये । मेरे कोई शुद्ध पुण्य तथा [सौ]भाग्य ही यहाँ आपको प्रेरकर ले आये हैं । अब आप हमको कोई ऐसा अमूल्य पदार्थ दीजिए कि जि[सकी] सहायता से मैं संसार-समुद्र से पार हो जाऊँ और परमार्थ का बोध हो जाय ।

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! एक दृष्टान्त तेरे बोध के निमित्त कहते हैं, सो चित्त को समाहित [करके] सुन । जैसे कोई पुरुष देशान्तर को जाता है तब वह खुश्की और तरी के मार्ग का साधन अपने [पास] रखकर चलता है । उसी प्रकार तुम उपनिषदों के रहस्य-ज्ञान से संयुक्त हो । यही तुम्हारे पास एक [धन] है और कर्म उपासनारूपी अनेक किश्ती भी तुमने एकत्र करली हैं । सबका बोध जो धन है, [व]ह तुम्हारे पास बहुत है । इतना ही नहीं, तुम वेद पाठी पण्डित भी हो । इतनी जो सामग्री तुमने इक[ट्ठी]

है, यह कहाँ जाने की तय्यारियाँ की हैं ? अर्थात् शरीर त्याग कर कहाँ जाओगे ? प्रथम हमको यह तो बतादो कि इतना ठाट-बाट कहाँ ले जाओगे ?

राजा—हे मुनि ! बात तो आपकी सोलह आना पाव रत्ती ठीक है। तय्यारी तो हमने बड़ी भारी की है, पर जाना कहाँ है उसकी मुझको कुछ भी खबर नहीं है कि कहाँ जाऊँगा ? यह जो शास्त्रों में पितर लोक, स्वर्ग लोक, ब्रह्मलोक आदि कहे हैं इनकी तो हमको इच्छा है नहीं और इनसे भिन्न जिन स्थानों में हमें जाना है, उनकी भी मुझको कुछ खबर नहीं। आप ही कृपा करके कहिये कि मैं कहाँ जाऊँगा ? वह कौन स्थान है जहां चला जाऊँ ? हे भगवन् ! आप परब्रह्म सूर्य के समान हैं।

गुरु—हे शिष्य ! राजा के कथन से ज्ञात होता है कि राजा ने अपने राज्य आदि तथा अहंकार से लेकर कर्म उपासना के फल तक लोक परलोक की सब अहंकार रूपी तमाम वासनाओं के परदों को तोड़-फोड़ कर अध्यात्म पद की प्राप्ति की इच्छा की है क्योंकि ऐसा समय और ऐसे मुनियों का संयोग बड़े भाग से ही प्राप्त हुआ करता है। यह बारम्बार नहीं मिलता।

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! सावधान होकर सुन, जहां तुमको जाना है सो कहते हैं। कहते ही नहीं, किन्तु दिखाये देते हैं। और लोग तो बाहर की तरफ जाते हैं। पर तुम अन्दर को जाना चाहते हो। यह जो दक्षिण चक्षु में पुरुष है, यह प्रकाश रूप है। इस कारण से इसको ओन्द्र कहते हैं। इस ओन्द्र को ही परोक्ष करके इन्द्र कहते हैं क्योंकि परोक्ष नाम देवताओं को प्यारा लगता है। जैसे बड़ों का नाम उपमा देकर न लिया जाय तो बड़े पुरुष अप्रसन्न होते हैं। अतः बड़ों का नाम उपमा देकर ही लेना चाहिए। उसी प्रकार ओन्द्र को इन्द्र कहते हैं। इस नाम द्वारा तुर्या का निर्णय होता है और किसी का नहीं समझना। यही तुर्या नाम द्वाराप्राज्ञ में कहा जाता है। यही तैजस्व में कहा जाता है, यही विश्व में कहा जाता है। इन्द्र-इन्द्राणी नाम द्वारा भोक्ता और भोग्य कहे जाते हैं। इन्द्र भोक्ता है और इन्द्राणी भोग्य है। समष्टि में इन्द्र सूर्य है और व्यष्टि में इन्द्र चक्षु को कहते हैं। इन दोनों के मिलने से जाग्रत का व्यवहार सिद्ध होता है।

यह जो बायें चक्षु में चैतन्य है, इसी का नाम विराट है। यही महाराजा इन्द्र की पत्नी है अथवा इन्द्र का भोग है। जो यह कार्य रूपी स्थान है। यह इन दोनों इन्द्र और इन्द्राणी के मिलने की जगह हैं। हृदय कमल में जो आकाश है, इसमें एक लोहित पिण्ड है। उससे सदा अमृत टपकता रहता है। यह इन्द्र और इन्द्राणी का भोजन है। यह पुरुष जो अन्न खाता है उसको जठरा अग्नि प्राण, अपान रूपी लकड़ी से फिर पकाती है। समान नामक प्राण सब भोजन को एकत्र करता है और व्यान नामक प्राण यथा अधिकार जिसका भाग होता है उसको पहुंचा देता है। सूक्ष्म भाग हृदय की नाड़ी (मन) को दे देता है। मध्यम भाग तैजस नामा नाड़ी को देता है। स्थूल अर्थात् मोटा भाग पुरीष विष्ठा की नाड़ी को देता है।

जहां सहस्रों नाड़ियाँ इकट्ठी होती हैं उसको हृदय कहते हैं। बहत्तर सहस्र नाड़ियों के इकट्ठे होने के स्थान को विश्व कहते हैं। प्राण आदिक के स्थान को तैजस कहते हैं। पन्द्रह नाड़ियों के इकट्ठा होने के स्थान को विश्व कहते हैं। तुर्या में भोग और भोक्ता दोनों का जो यह सब नाड़ियों का समूह है वह भोग और भोक्ता रूप हैं। जो आदि में चैतन्य था, वही अन्त में शेष रहता है। इन अभाव है [illegible] है। जो आदि में चैतन्य था, वही अन्त में शेष रहता है। इन

नाड़ियों का समुदाय ही इन्द्र-इन्द्राणी के पहिनने का दुपट्टा और स्वप्न से जाग्रत में आने का मार्ग है। इस हृदय से नाड़ियों द्वारा वह दूसरे लोकों को जाते हैं। यह जीव का अन्न है।

अब और सूक्ष्म रूप से नाड़ियों का वर्णन करते हैं। जैसे एक बाल के सहस्र भाग करें। फिर जो एक भाग हो उसके भी सहस्र भाग करें। जैसा वह सूक्ष्म होता है उसी प्रकार सूक्ष्म तन्तुरूप नाड़ियाँ हैं। वह गिनती में बहत्तर क्रोड़, बहत्तर लाख, दश हजार, दो सौ एक हैं। पूर्व जो हृदय कहा है, वह इन नाड़ियों द्वारा सब शरीर में व्यापक है। इन नाड़ियों द्वारा ही तैजस सूक्ष्म अन्न के भाग को भोगता है। यह अन्न ही लिंग शरीर की स्थिति का कारण है। इस स्थूल अन्न को ही विश्व का भोग कहते हैं।

अब प्राज्ञ द्वारा विश्व और तैजस का तुर्या में लय कहते हैं। तैजस की सूक्ष्म उपाधि जो कही है वह तो बोधवान के मरण समय तुर्या में लय हो जाती है। वह तुर्या नेति-नेति श्रुति द्वारा सिद्ध होती है। विश्व तैजस में लय हो जाता है। तैजस प्राज्ञ में लय हो जाता है और प्राज्ञ तुर्या में लय हो जाता है। वही तुर्या प्राज्ञ, तैजस और विश्व रूप हुआ था। समष्टि में विराट हिरण्यगर्भ में लय होता है, हिरण्यगर्भ ईश्वर में लय होता है और ईश्वर ब्रह्म में लय होता है। यह ब्रह्म पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, सम्पूर्ण, ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण है। इसी को प्राण नाम से पुकारते हैं। सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान यह ब्रह्म ही है अथवा सब यही है। यह चैतन्य ही प्राण है। यही प्राज्ञ, तैजस और विश्व रूप है। इससे इतर और कुछ नहीं है। अतः इसको वेद भगवान् ने नेति-नेति करके कहा है।

हे राजन्! यह किसी प्रमाण का विषय नहीं है। स्वयं सबको जानता है। इसको कोई नहीं जानता। यह कलादिकों के वशवर्ती नहीं होता है। इसी कारण से यह असङ्ग है। इसके साथ कोई दूसरी वस्तु नहीं है। यही परमधाम है। मुमुक्षु इसको प्राप्त होते हैं। तुम भी इसी को प्राप्त हो। पूर्व में भी अनन्त विद्वान् इसी ब्रह्मात्मा में लीन हो गए हैं और फिर लौट कर नहीं आये। हे राजन्! तू भी इसमें गया हुआ फिर न लौटेगा। निःशंक होकर इसमें प्रवेश कर।

गुरु—हे शिष्य! यह विद्वान का निर्णय हुआ है। विद्वान इस प्रकार अपने में सबको लय करके आपको तुर्यारूप जानता है। विश्व को बुद्धि में लय करता है। बुद्धि को प्राज्ञ में लय करता है। समष्टि विश्व को विराट् में लय करता है। विराट् को हिरण्यगर्भ में लय करता है और हिरण्यगर्भ को माया विशिष्ट शबल ईश्वर में लय करता है। फिर समष्टि प्राज्ञ रूप शबल को तुर्या में लय करता है। उस तुर्या को विद्वान अपने आप नेति-नेति श्रुति द्वारा जानता है। इस तुर्या रूप अपने आप से इतर और कुछ नहीं देखता है। इसी कारण से वेद भगवान् ने विद्वान को नेति-नेति करके सिद्ध किया है। हे शिष्य! सोई तुर्या का याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को उसका आत्मारूप कर के उपदेश किया है।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जो चक्षु द्वारा रूप को जानता है, जो श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण करता है, जो वाणी द्वारा प्रश्न-उत्तर करता-कराता है, जो नासिका द्वारा गंध को ग्रहण करता है, वह परब्रह्मात्मा है। इन सब द्वारों में विद्वान अपने स्वरूप को देखता है। यह सब द्वारे विद्वान के हृदय को गनाते हैं और यही शुद्ध परमात्मा की प्राप्ति का साधन हैं। हे राजन्! तू भी इनके द्वारा अपने आप चैतन्य को जान?

राजा—हे प्रभो ! आपने मुझको अभय कर दिया है। अब मैं इसके बदले में आपको क्या दूँ? क्योंकि आपके दान के बराबर तो मेरे पास कुछ भी नहीं है। हे भगवन्! आप सर्वरूप हो। आप भी अभय हो, सिवाय इसके और कुछ मैं बदला नहीं चुका सकता। इसलिए, हे मुनि ! यह सब विदेह-देश, मैं और सम्पूर्ण मेरा परिवार सब-का-सब आपका है। जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा हम लोग करेंगे।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! अच्छा, आज से तुम और तुम्हारा राज्य आदिक सब सामग्री हमारी हुई। अब तुम हमारी तरफ से इसी राज का प्रतिपालन करो और अपने शरीर का निर्वाह भी करते रहो। सादा, सरल और सस्ता जीवन बनाते रहो। हे राजन्! एक बात तो और बतलाओ कि यह ब्रह्मविद्या उपनिषद् ज्ञान तुमको अच्छा भी लगा है ?

जनक—हे मुनि ! आपकी कृपा से मुझको यह ब्रह्मज्ञान बहुत ही अच्छा लगा है।

मुनि—हे राजन्! देख, गुप्त भण्डार प्राप्त करने के लिए भाग्य के अलौकिक बल की आवश्यकता होती है। परन्तु भाग्य से एकत्र की हुई सम्पत्ति का उपभोग करने के लिए बड़ा भाग्य किसी तेरे जैसे को ही प्राप्त होता है, सबको नहीं। बिना जमाये हुए दूध के सागर रूपी मटके को मथने में कितना अधिक कष्ट हुआ होगा। सारा परिश्रम भी अन्त में सफल ही हुआ। परन्तु फिर भी अन्त में उसी अमृत का उचित रीति से उन लोगों से उपयोग न हो सका। वही मरण का कारण बन गया।

यदि बिना इस बात का ज्ञान प्राप्त किये कि सम्पत्ति का भोग किस प्रकार करना चाहिए, सम्पत्ति का संग्रह तथा भोग किया जायगा तो उसी प्रकार अनर्थ होवेगा। जैसे राजा नहुष स्वर्ग के स्वामी तो हो गए, परन्तु उनका आचरण ठीक-ठीक नहीं हुआ। उनको सर्प की योनि में जाना पड़ा। अतः हे राजन्! तुम्हारे संग्रह में पुण्य तो बहुत हैं। अब तुम हमारे उपदेश के अनुसार पूरा-पूरा ठीक-ठीक रीति से आचरण करना और अटल निष्ठा से हमारे उपदेश का पालन करना। यदि तुम सम्प्रदाय का उचित ध्यान न रक्खोगे तो तुम्हारी भी वही दशा होगी जो अमृत निकालने के समय हुई थी।

मानलो खूब अच्छी, मोटी-ताजी, देखने में सुन्दर गौ मिल गई है। परन्तु संध्या समय उसका दूध पीने को हमें उसी दशा में मिलेगा, जबकि हम उसका दूध निकालने की कला भी तो जानते हों ? ठीक इसी प्रकार मानलो कि गुरु भी प्रसन्न हो गए और शिष्य भी विद्या से सम्पन्न हो गया। परन्तु ब्रह्मविद्या का सम्प्रदाय उचित रूप से पालन न किया जायगा तो वह ब्रह्मविद्या शाप दे देगी। तुम मेरे इस उपदेश को ऐसे अनधिकारियों को न देना कि साधु-ब्राह्मणों की निन्दा करता हो, गुरु में दृढ़ भक्ति न रखता हो, अपने वर्ण आश्रम का ठीक-ठीक पालन न करता हो, जिसका तपस्वी-जीवन न हो तथा देव-पूजन, गंगा आदि की निन्दा करता हो। भगवान् के अवतारों का अपमान करता हो या भगवान् के भक्तों का निरादर करता हो। चाहे वह बुद्धिमान पण्डित और तपस्वी व्रत धारी ही क्यों न हो, तो भी उनसे कभी भूल कर भी इस उपनिषद् विद्या का स्पर्श तक मत होने देना। अधिक क्या कहूं, विद्या में चाहे ब्रह्मा के समान प्रज्ञा वाला ही क्यों न हो, तो भी तुम उसको हँसी में भी न सुनाना। इतना कह कर याज्ञवल्क्य अपने आश्रम को चले गए।

॥ इति याज्ञवल्क्य ब्राह्मण संवाद नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

दशवाँ अध्याय

[ज्योति ब्राह्मण, याज्ञवल्क्य और राजा जनक संवाद]

शिष्य—हे गुरु ! राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से और भी कोई काममय प्रश्न किये थे ?

गुरु—हे शिष्य ! जैसे जनक ने प्रश्न किए थे और मुनि ने जिस प्रकार का उत्तर दिया था सो एकाग्र मन होकर सुन। एक समय याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि हम राजा जनक के ऋणी हैं। अतः राजा के ऋण से उऋण होकर संन्यास लेना चाहिए। इस संसार में जनक के समान कोई कर्मी ज्ञानी अथवा अग्निहोत्री नहीं है। यह महापात्र है। ब्रह्मविद्या के अधिकारी ऐसे ही होने चाहियें और इसने हमसे पहले ही ब्रह्मविद्या का वर मांग लिया है। इस राजा को ब्रह्म की अपेक्षा से फल सहित उपासना तुच्छ प्रतीत होने लगी है। इस कारण से भी ब्रह्मविद्या का उपदेश पाने के योग्य है। इस प्रकार विचार करके वे राजा जनक के देश में आये।

उस समय राजा जनक अपनी सभा में बैठा हुआ था। मुनि के आने की खबर सुनकर सभा से बाहर आया और नम्रता पूर्वक यथा बुद्धि नमस्कार करके सभा में ले गया और उन्हें सब से ऊँचे सिंहासन पर बिठाया। मुनि ने अपने मन में विचार किया कि हम चुप बैठे रहें। हमको अपनी तरफ से कुछ नहीं कहना चाहिए। जब राजा कुछ प्रश्न करेगा तब उसका उत्तर देना चाहिए। क्योंकि वेदों में ऐसा विधान है कि जिज्ञासु प्रश्न करे, तब उसका उत्तर देना चाहिए। प्रश्न किए बिना अपनी तरफ से ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं करना चाहिए।

शिष्य—हे गुरु ! याज्ञवल्क्य के मौन रहने का क्या अभिप्राय था ?

गुरु—हे शिष्य ! किसी समय इस से पहले याज्ञवल्क्य जनक के घर आए थे। उस समय अग्निहोत्र हो रहा था। वहाँ पर जो ब्राह्मण उपस्थित थे, उनसे याज्ञवल्क्य ने यह प्रश्न किया था कि ब्राह्मणों ! अग्निहोत्र की दो आहुतियाँ जिस प्रकार जगताकार होती हैं, सो तुम जानते हो या नहीं। यदि नहीं जानते तो तुमको अग्निहोत्र कराने का कोई अधिकार नहीं है। इस बात को सुनकर ब्राह्मण चुप लगा गए। बस, इतना तो कहा कि हे मुनि ! हम नहीं जानते। पर राजा जनक ने कहा कि हे मुनि ! आपकी कृपा से इस प्रकार को मैं जानता हूँ। यदि आपकी आज्ञा होवे तो मैं कहूँ। मुनि ने कहा कि अच्छा कहो।

राजा—हे याज्ञवल्क्य ! यह दोनों आहुतियाँ ऊपर जाकर वर्षारूप होकर पृथ्वी पर आती हैं और जगताकार हो जाती हैं। वही आहुतियाँ इकट्ठी होकर ईश्वर भाव को प्राप्त होती हैं। तब जगत की उत्पत्ति रक्षा और संहार करती हैं। इन दोनों आहुतियों का नाना आकारों को धारण करने का स्वभाव है।

याज्ञवल्क्य जनक के मुख से यह वचन सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए और यह वर दिया कि राजन् ! तूने बहुत अच्छी प्रकार से उत्तर दिया। हम तुमसे बहुत ही प्रसन्न हुए। अब तुमको जो इच्छा होवे सो वर मांग लो। तब राजा ने बहुत-से प्रश्न करने का वर मांग लिया।

हे शिष्य ! यह वर देने के लिए ही याज्ञवल्क्य मौन हो बैठे थे और कोई कारण न था। अर्थात् जब राजा प्रश्न करेगा तब हम उत्तर देंगे। राजा ने भी जान लिया था कि मुनि मनुष्यों के संग से उपराम होकर मृगों के साथ विचरना चाहते हैं, क्योंकि उन्होंने नाना प्रकार के भोग भोगे हैं और तरह-तरह के वस्त्र भी पहने हैं संसार की कोई भी लालसा नहीं रही है। अब तो बस इनकी यही इच्छा है कि कन्द, मूल, फल का तो भोजन हो, नदियों का जल पीने को मिले और वृक्षों की छाल के ही वस्त्र धारण करें। पत्तों के बिछौने का गद्दा हो। रथों के स्थान में पैर से काम लिया करें और कर्मचारियों की जगह यह हाथ काम काज करें। सो अब हम को उपदेश करके वन को जावेंगे। इसलिए मैं ही पहले प्रश्न करूँ। यह मुनि मेरे सब संशयों का नाश करने में समर्थ हैं, ऐसा समागम फिर नहीं मिलेगा। अब तो यह मुनि अपने वर के बँधे हुए आये हैं। अब सब-के-सब संशय मिटा लेने चाहियें। ऐसा विचार करके राजा बोला कि हे मुनि ! आपकी आज्ञा हो तो मैं कुछ प्रश्न करूँ। मुनि बोले कि हे राजन् ! पूँछो।

राजा—हे मुनि ! यह पुरुष किम् ज्योति है अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियों के समूह में इस पुरुष का क्या स्वरूप है ? इन सब का तो अभाव हो जाता है। वह परमात्मा इन में है अथवा इन से भिन्न है ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! वह पुरुष आदित्य ज्योति है क्योंकि सब मनुष्यों का व्यापार—आना, जाना, उठना, बैठना सूर्य के प्रकाश के आश्रय सिद्ध होता है। सूर्य बिना कोई भी व्यापार नहीं हो सकता।

राजा—हे मुनि ! सूर्य के छिप जाने पर इस पुरुष की कौन ज्योति है अर्थात् किस प्रकाश वाला है ?

मुनि—हे राजन् ! चन्द्रमा ज्योति है। सूर्य के छिप जाने के पीछे चन्द्रमा की ज्योति के आश्रय सब व्यापार होते हैं।

राजा—हे मुनि ! चन्द्रमा के छिप जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला है ?

मुनि—हे राजन् ! नक्षत्र ज्योति वाला है। जब चन्द्रमा नहीं होता है तब नक्षत्रों के प्रकाश से पुरुषों का व्यापार चला करता है। जब सब नक्षत्र भी न हों तो अग्नि के द्वारा काम निकाल लेते हैं। इसलिए तब इस पुरुष की अग्नि ही ज्योति है। जब गहरा अन्धकार होता है उस काल में दीपक आदि के आश्रय पुरुष व्यपार करता है। अग्नि का भी अभाव होने पर यह पुरुष वाक्य ज्योति वाला है। जैसे रात्रि में चलने वाले यात्री जब अन्धेरी रात्रि में मार्ग भूल जाते हैं तब कुत्ता, गधा, आदि के शब्दों के आश्रय से ग्राम में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार वाणी के आश्रय अन्धकार में व्यापार होता रहता है ?

राजा—हे मुनि ! जब पुरुष जाग्रत से उपराम होकर स्वप्न में जाता है, वहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाणी आदिक का अभाव होता है। वहाँ वह पुरुष किस ज्योति से अपना काम चलाता है ?

मुनि—हे राजन् ! सुन, जैसे पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का अनुमिति ज्ञान होता है, उसी प्रकार शरीररूपी पर्वत है। सूक्ष्म शरीररूपी धूम है। अग्निरूपी ज्योति है। यह सूक्ष्म शरीररूपी धूम स्वप्न में अग्निरूपी ज्योति का अनुमान कराता है क्योंकि स्वप्न में मन तो सृष्टि का स्वरूप भूत हो जाता है। यदि वहाँ ज्योति न होवे तो स्वप्न के पदार्थों का अनुभव कौन करे ? जैसे यह पुरुष जाग्रत में सूर्य और अग्नि की सहायता से पाप-पुण्य आदि व्यापार करते हैं सो पुण्य-पाप आदिक सूर्य और अग्नि को नहीं

स्पर्श करते। उसी प्रकार स्वप्न में मन, बुद्धि आदिक जिस प्रकाश के आश्रय नाना प्रकार की रचते हैं सो इनकी क्रिया इन ही में रहती है। उस ज्योति को नहीं स्पर्श करती है। चक्षु, कान, नाक, आदि जो क्रिया करते हैं सो इनकी क्रिया इन ही में रहती है, साक्षी आत्मा को नहीं करती क्योंकि वह ज्योति इन से पृथक और निर्विकार है। यह असंग हुई सबको प्रकाश रही है और को अपने समान चैतन्य कर रही है।

राजा—हे मुनि! यह ज्योति औरों को ज्योति स्वरूप कैसे कर रहा है?

मुनि—हे राजन! जैसे जङ्गल में मृग आदि को शेर की गंध मालूम होती है तब ही भाग जाते हैं। देखो, यहां गंध रूप ज्योति ने व्यापार सिद्ध किया है। जल भी ज्योति है, यह त्वचा ज्योति है, क्योंकि ठण्डी, गर्म वायु को प्रकाश करती है। इसी प्रकार, कान आदिक सब इन्द्रियाँ आदिकों का प्रकाश करती हैं। इस कारण से यह भी ज्योति हैं। कान शब्द को सुनकर मन को कराता है। मन बुद्धि को निश्चय करा देता है। तब अहंकार सब इन्द्रियों को प्रेरणा देकर अपना कराता है और इन्द्रियाँ विचार द्वारा जैसा समय देखती है, वैसा काम करती हैं। कहीं किसी से हैं, कहीं किसी की रक्षा करती हैं। यह आकाश भी ज्योति है, क्योंकि यह अवकाश द्वारा जगह दे देता है। तब यह पुरुष पृथ्वी पर बैठता है, यह संदेह दूर करके कि इस में कहीं सर्प आदिक तो नहीं बैठा है। इस कारण से सब इन्द्रियाँ ज्योति हैं, क्योंकि एक दूसरे को प्रकाशित करती हैं। एक-दूसरे आस में सहायता करती रहती हैं। इस प्रकार सच्चिदानन्द ज्योति सबको अपने समान कर रहा है।

राजा—हे मुनि! समाधि, मनोराज और मूर्छा में बाहर के चन्द्रमा, सूर्य आदिकों का प्रकाश जब नहीं होता, वहां यह पुरुष किसकी ज्योति से काम काज करता है?

मुनि—हे राजन्! इस ज्योति के विषय में चारवाक आदिक अनेक मतों वाले अनेक प्रकार झगड़े करते हैं और उन झगड़ों में ही लटके हुए हैं। जैसे बाहर के भूत-भौतिक व्यवहार सिद्ध होते हैं उसी प्रकार इस ज्योति से स्वप्न, समाधि, मूर्छा आदिक में भी सब ही व्यवहार सिद्ध होते हैं। उनकी स्थिति भोग तक रहती है। साक्षी की जरूरत नहीं है। यह इन्द्रियाँ आप ही सब काम चला लेती हैं। हे राजन्! अनेक मतों वाले सिद्धान्ती के साथ कुतर्क करते हैं। बहुत-से कुतर्कियों में से एक शून्यवादी कहता है कि शून्य ही शून्य है। शून्य से ही सब संसार प्रगट हुआ है और उसी में लय होता है। इस शून्यवादी का वेदान्ती खण्डन करता है और कहता है कि शून्य का ज्ञाता विज्ञानघन आत्मा है। तो शून्य कुछ वस्तु नहीं, क्योंकि शून्य की सिद्धि आत्मा के आश्रय होती है। वेदान्ती शून्य वादी से पूछता है कि हे शून्यवादी! तुमने शून्य का अनुभव किया है या नहीं? जो तू कहे कि 'हां किया है' तो बता यह शून्य कैसे हुआ? और जो कहे कि शून्य तो है, परन्तु मैंने अनुभव नहीं किया, तो तेरा कहना मिथ्या है, क्योंकि जिसका अनुभव नहीं किया उसके प्रतिपादन में वृथा क्यों हठ करता है? इस कारण से शून्य, अशून्य, भाव, अभाव रूप सब प्रपंचका अनुभवी विज्ञानघन एक अद्वैत सच्चिदानन्द रूप आत्मा है।

राजा—हे मुनि! इस संघात में विज्ञानघन आत्मा कौन-सा है, क्योंकि मैं भी नाना मतवालों के नाना प्रकार के झगड़ों को सुन कर भ्रान्त हो गया हूँ।

मुनि—हे राजन्! बुद्धि का जो साक्षी है सोई विज्ञानघन आत्मा है। ब्रह्माण्ड के तन्त्र

व्यवहारों को जानने वाली बुद्धि है। जैसे दर्पण सब पदार्थों के आकारों को अपने में ग्रहण करता है, परन्तु किसी के साथ आप लिपायमान नहीं होता है। उसी प्रकार परमात्मा ने अपनी लीला देखने के लिए शरीर रूपी मकान और बुद्धि रूपी शीशा बनाया। फिर बुद्धि से कहा कि हमको कुछ तमाशा दिखा। तब बुद्धि ने नाना प्रकार के व्यवहार अपने में ग्रहण करके आत्मदेव को लीला दिखाई और आप दर्पण की नाई सब व्यवहारों से निर्लेप रही। इस कारण से बुद्धि को विज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रतिबिम्ब को बुद्धि ही धारण करती है।

हे राजन्! बहुत-से मनुष्य इस विदेह प्रतिबिम्ब को देखकर कोई कहीं, कोई कहीं अटक रहे हैं। अर्थात् प्रतिबिम्ब के समान जगत् के किसी एक-एक पदार्थ को आत्मा मान रहे हैं! कोई शरीर को, कोई मन बुद्धि को, कोई प्राण आदि को आत्मा जान रहे हैं। परन्तु जो बुद्धि आदि का प्रकाशक चैतन्यघन आत्मा है, उस तक बुद्धि आदि को उल्लङ्घन करके नहीं पहुंच सकते हैं। जैसे पुरुष की वृत्ति दर्पण की ओर जाकर प्रतिबिम्ब में अटक जाती है। उसी प्रकार यह नाना मतों वाले बुद्धिरूपी दर्पण की तरफ देखकर नाना कुतुकों का अनुभव करके उनमें फँसे रहते हैं।

हे राजन्! जब यह पुरुष गुरु का सत्संग करे तब दर्पण की तरफ देखकर अपनी तरफ दृष्टि को करे अर्थात् दर्पण के द्रष्टा पुरुष की तरह आपको पृथक देखे। तब विज्ञानघन ज्योति का अनुभव हो। जैसे राहु ग्रहण काल में चन्द्रमा द्वारा दिखाई देता है उसी प्रकार बुद्धिरूपी चन्द्रमा है, राहुरूपी आत्मा है। बुद्धि द्वारा आत्मा दिखाई देता है, तब इस ज्योति स्वरूप आत्मा को अधिकारी पुरुष अद्वैत आनन्द रूप देखता है।

राजा—हे मुनि! वह आनन्द रूप ज्योति कौन है?

मुनि—हे राजन्! जो तेरा अपना आप है, सोई ज्योति है, सोई ब्रह्म है। यह आत्मा सबको जानता है और उसको कोई नहीं जानता।

जनक—हे मुनि! जैसे पुरुष और वृक्ष भिन्न-भिन्न होते हैं वैसे ही मुझको मालूम होता है कि बुद्धि और ज्योति भिन्न-भिन्न हैं।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! पुरुष और वृक्ष दोनों स्थूल हैं, बुद्धि और ज्योति स्वरूप आत्मा दोनों सूक्ष्म हैं। आत्मा बुद्धि का आधार है तथा बुद्धि और बुद्धि की वृत्तियों का साक्षी है। यही ज्योति हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, जीव, देवता, पशु, पक्षी चींटी आदि सबकी बुद्धि में स्थित हुआ सबको प्रकाश रहा है और सब ब्रह्मांड का आधार है। वह ज्योति जैसा जिसका अधिकार देखती है, वैसा ही उसको प्रेरती है। इस ज्योतिस्वरूप आत्मा ने प्रथम प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि में प्रवेश किया और फिर बुद्धि द्वारा प्राण में, प्राण द्वारा मन में, मन द्वारा इन्द्रियों में, इन्द्रियों द्वारा शरीर में और शरीर के गोलकों द्वारा बाहर के पदार्थों में आया। हे राजन्! इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण व्यवहारों को सिद्ध करने लगा। इस प्रकार वह सूक्ष्म ज्योति कर्म करके स्थूल हो गया।

यह स्थूल ज्योति घट की अपेक्षा से शरीर में सूक्ष्म है और शरीर की अपेक्षा से इन्द्रियों में सूक्ष्म है। इन्द्रियों की अपेक्षा से मन में सूक्ष्म है, मन से प्राण में सूक्ष्म है। प्राण से बुद्धि में सूक्ष्म है और स्वरूप से वह ज्योति बुद्धि से भी महान् सूक्ष्म है। इसी कारण से बुद्धि आदिक किसी का भी विषय नहीं है। आप सबको जानता है और उसको कोई नहीं जान सकता है। इन्द्रिय आदिक पदार्थों के सम्बन्ध से

यह ज्योति स्थूल-सूक्ष्म कही जाती है और स्वरूप से एक-रस चैतन्य घन है। जैसे दूध में रक्खी हुई मणि दूध को छिपा कर अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाती है, उसी प्रकार चैतन्यरूपी मणि है, बुद्धि दूध है। जब चैतन्य का बुद्धि में प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब बुद्धि को छिपाकर अपनी चैतन्यता को दिखाता है। चिदाभास सहित बुद्धि व्यवहारों को दिखाती है। अन्यथा करके दिखाती है, अर्थात् आत्मा को अनात्मा, अनात्मा जो शरीर आदि हैं उनको आत्मारूप से दिखाती है। इसी कारण से मनुष्य हो रहे हैं। स्वरूप से ज्योति सब में समान है। दूध में रक्खी हुई मणि की नाईं ब्रह्मा, विष्णु, शिव, चन्द्रमा, देवता, मनुष्य, दैत्य, पशु, पक्षी सबको अपने समान कर रहा है।

बुद्धि स्वरूप से तो वह मिथ्या जड़ है खरगोश के सींग की तरह कथन मात्र है, मनुष्य की छाया की तरह है। जैसे छाया पुरुष बिना नहीं होती, उसी प्रकार चैतन्य बिना यह सम्पूर्ण जगत कुछ नहीं है। इस कारण से यह ज्योति ही सत् है। यह ज्योति आप ही हिरण्यगर्भ से लेकर पशु पर्यन्त हुआ है। इस विज्ञानघन आत्मा से इतर और कुछ नहीं है। हे राजन्! जो तेरा अपना आप प्रत्यगात्मा वही ज्योति स्वरूप है। सो कहाँ से आया है? जैसे कोई राजा शीशे का मकान बनाकर और उसमें बैठ किसी मेले की सैर करने को जाता है, वहाँ शीशे द्वारा मेले के सब खेलों को देखता है। मेले की जो धूल उड़ती है, वह केवल शीशों पर ही पड़ती है, देखने वाला शुद्ध निर्लेप रहता है। इसी प्रकार संसाररूपी मेला है और बुद्धिरूपी शीशे का बना हुआ मकान है। बैठने वाला पुरुष है जो संसार का तमाशा देखता है। उसके पाप, पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, जन्म-मरण, ज्ञान-अज्ञान, आदिक रूप धूल सब बुद्धिरूपी शीशे पर ही पड़ती है। स्वयं ज्योति पुरुष तो असंग हुआ देखता रहता है। इसीलिए स्वयंज्योति को निर्विकार कहते हैं। हे राजन्! तेरा अपना प्रत्यग् इस संसार का तमाशा देखने को आया है।

राजा—हे मुनि! यह ज्ञान स्वरूप आत्मा जान-बूझ कर संसार के दुःखों में क्यों आया?

मुनि—हे राजन्! बुद्धिरूपी उपाधि के कारण से इस ज्योति में लोग आना-जाना आरोप करते हैं। यथार्थ में तो सबसे पृथक-अक्रिय अचल रूप है। जैसे कोई हलवाई होता है, और वह अनेक प्रकार की मिठाई औरों के खाने के लिए बनाता है, मिठाई के लिए मिठाई नहीं बनाता। उसी प्रकार मायारूपी हलवाई है, मन, बुद्धि, इन्द्रियां, शरीर, लोक, परलोक, पाँच प्रकार के भोग और अनेक प्रकार की मिठाइयां किसी दूसरे के भोगने के लिए बनाई हैं। माया और माया के कार्य दोनों जड़ हैं। जड़ तो भोगता है नहीं। इनका भोक्ता कोई चैतन्य होना चाहिये। जैसे हलवाई आप मिठाई नहीं खाता, मिठाई का भोक्ता दूसरा ही होता है। उसी प्रकार, माया प्रपंच को आप नहीं भोगती, इसका भोगने वाला दूसरा है। सो भोक्ता जीवात्मा है।

राजा—हे मुनि! इस ज्योति को शरीर व इन्द्रियों से पृथक मैं कैसे जानूँ?

मुनि—हे राजन्! वह स्वयं ज्योति आत्मा जाग्रत अवस्था में नहीं जाना जा सकता, क्योंकि बहुत ज्योति इकट्ठी हो रही है। यदि तुम देखना चाहते हो, तो तुम स्वप्न में देखो। क्योंकि स्वप्न में मन, बुद्धि अनेक प्रकार की सृष्टि रचती हैं उस काल में वे सृष्टि के स्वरूप भूत हो जाते हैं। जब ज्योति सबका प्रकाश करता है, उस काल में पदार्थों का व्यवहार सिद्ध होता है। जब चैतन्य बुद्धि को चिदाभासरूपी अपनी चैतन्यता प्रदान करता है, तब बुद्धि उस चिदाभास द्वारा मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को चैतन्यता का उपकार करती है। जैसे हरी मणि की हरियाली दूध में जाती है, परन्तु दूध की सफेदी

में नहीं जाती, वैसे ही चैतन्य की चैतन्यता बुद्धि में जाती है और मन, बुद्धि, इन्द्रियों की क्रिया चैतन्य आत्मा में नहीं जाती।

हे राजन्! एक समय देवताओं ने दैत्यों पर कोई उपकार किया। तब दैत्यों ने भी विचारा कि हमको भी देवताओं पर कुछ उपकार करना चाहिए। तब दैत्यों ने अच्छा-अच्छा माल-टाल इकट्ठा करके देवताओं को दिया, परन्तु देवताओं ने न लिया। उसी प्रकार यह ज्योति देवताओं की तरह है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ दैत्यों की तरह हैं। मन, बुद्धि आदि ने विचार किया कि इस ज्योति स्वरूप आत्मा ने हम पर बड़ा उपकार किया है। हम जड़ थीं, इसने हमें चैतन्य कर दिया। इस कारण से हमको भी चाहिए कि इस ज्योति के ऊपर कुछ उपकार करें। तब सब इन्द्रियों ने मिल कर काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, जन्म, मरण, बँध मोक्ष आदिक पदार्थ थाल में रख कर आत्म ज्योति को भेंट किए और कहा—'हे प्रभु! यह भेंट स्वीकार कीजिये।' तब ज्योति अपनी सहज गम्भीरता से हँस दिया और बोला—'हम नहीं लेते, यह पदार्थ तुम अपने पास ही रक्खो।'

हे राजन्! इस प्रकार इन्द्रियों का भेंट देना और ज्योति का न लेना अज्ञानियों के समझाने के लिए कहा है। जिसका जैसा धर्म होता है सो अपने धर्म में ही शोभा पाता है। इनका परस्पर स्वभाव तो भिन्न-भिन्न है। फिर यह दोनों कैसे मिल सकते हैं? जैसे दूध और मणि का मिलाप होता है, उसी प्रकार बुद्धि, मन, इन्द्रियों और चैतन्य का मिलाप है। जैसे कमल के पत्ते और जल का मिलाप होता है उसी प्रकार जड़-चैतन्य का मिलाप होता है। इस कारण से अविवेकी पुरुषों को बुद्धि, मन, इन्द्रियों से चैतन्य प्रथम नहीं भान होता।

अनेक शास्त्रों के मतों वाले नाना प्रकार की कल्पना करते हैं। कोई इस ज्योति को कूटस्थ कहते हैं कोई ईश्वर कहते हैं, कोई जीव कहते हैं, कोई मन कहते हैं, कोई बुद्धि कहते हैं, कोई शून्य, कोई इन सब से प्रथक कहते हैं। यह सब बुद्धि के सम्बन्ध से चैतन्य में नाना कल्पना करते हैं। वास्तव में यह सब कल्पना बुद्धि में ही हैं। स्वयं ज्योति आत्मा सर्व कल्पना से अतीत है। बुद्धि उपहित चैतन्य में शास्त्रकारों की सब कल्पना बन सकती हैं। इन बुद्धि और चैतन्य के मिलाप बिना शास्त्र, आचार्य, वेद, स्मृति, बँध, मोक्ष, कहना, सुनना, स्वर्ग, नरक, जीव, ईश्वर, पाप, पुण्य, कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता है। बुद्धि उपहित चैतन्य में सब कुछ बन सकता है। जैसे प्रकाश का और शीशे आदि पदार्थों का मिलाप होता है, वैसे ही चैतन्य और बुद्धि का मिलाप होता है। प्रकाश और शीशे की तरह यह भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते। यह बड़ा आश्चर्य है।

जैसे सूर्य का प्रकाश शीशे आदि पदार्थों पर पड़ता है, पदार्थों का प्रकाश सूर्य पर नहीं पड़ता, उसी प्रकार चैतन्य का प्रकाश बुद्धि, मन, इन्द्रियों पर पड़ता है, मन, बुद्धि, इन्द्रियों का प्रकाश ज्योति पर नहीं पड़ता क्योंकि ये जड़ हैं। इस कारण से इनको लोक, परलोक, जाग्रत, स्वप्न, पाप, पुण्य आना, जाना सब कुछ बनता है। ज्योति के प्रकाश के आश्रम इन जड़ों का व्यवहार होता है और ज्योति जहां की तहाँ सदा अपनी महिमा में स्थित है। हे राजन्! इस बुद्धि की मृत्यु कर्म है और कुछ नहीं। कर्म की समाप्ति होने पर इसका अभाव हो जाता है। जब तक कर्म रहते हैं तब तक जन्म-मरण होता रहता है। कर्म ही बुद्धि के जीने का कारण है। स्वयं ज्योति आत्मा आप न आता है, न जाता है, न जन्मता है, न मरता है, आत्मा ही सर्व एक रस है।

राजा—हे मुनि ! वह ज्योति कहाँ रहता है ?

मुनि—हे राजान् ! जहाँ बुद्धि है वहीं यह ज्योति रहता है। बुद्धि द्वारा स्वयं ज्योति आत्मा स्थूल-सूक्ष्म सर्व प्रपंच को सिद्ध करता है। जैसे कांटे के बीज को जल दिया जाय तो वह बीज जल की सहायता से कांटेदार वृक्ष हो जाता है और फल से रहित कांटे सबको प्रत्यक्ष दीखते हैं। उसी प्रकार कांटे के बीज स्थानीय देहाभिमानी नास्तिक पापियों की बुद्धि होती है। वह चैतन्य आत्म के आश्रय अनेक पापमय देह रूपी वृक्ष के आकार का हो जाता है। उस वृक्ष से अनेक कामना, राग, द्वेष, सुख, दुख, पाप, पुण्यरूपी कांटे उत्पन्न होते हैं और वह शरीररूपी वृक्ष परमानन्द रूपी फल से रहित होता है।

जाग्रत का त्याग करके स्वप्न में जाते हैं, तब जाग्रत के पाप-पुण्यों का अभाव हो जाता है और नवीन पाप-पुण्य प्रगट हो जाते हैं और फिर जब जाग पड़ता है तब जाग्रत के पाप-पुण्य प्रगट हो आते हैं। उसी प्रकार जब यह पुरुष शरीर का त्याग करता है, तब संसारी मनुष्य उसका नाम मरण कहते हैं अर्थात् पापरूपी शरीर से छुटकारा पा गया। फिर परलोक में अनेक पापों का फल दूसरी देह मिल जाती है। उसको लोक-जन्म कहते हैं। माता-पिता की दृष्टि में तो उनके घर पुत्र उत्पन्न होता है और बड़ा आनन्द उत्साह मनाया जाता है, परन्तु इस जीव की दृष्टि में अनेक पापों की देह दुख देने वाली उत्पन्न हुई है अथवा अनेक पापों का बोझा प्राप्त हुआ है।

ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पंचभूत आदिक उत्तम देह हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र आदि मध्यम देह हैं। पशु, सर्प, चींटी, पर्वत आदि अधम शरीर हैं। परन्तु सभी शरीर पापरूपी काँटों से युक्त हैं और दुखदाई हैं। ब्रह्मलोक वासियों के शरीर गुलाब के फूल के समान हैं। मृतलोक वासियों के शरीर वृक्ष के समान हैं और पशु पक्षी आदिकों के शरीर कटेहरी वृक्ष के समान हैं। जैसा-जैसा पूर्व कर्म रूप बीज होता है, वैसा-वैसा उत्तर वृक्ष रूप शरीर मिलता है। हे राजन् ! इस प्रकार यह बुद्धि जन्म-मरण को बार-बार प्राप्त होती है और आप स्वयं ज्योति आत्मा अजर-अमर हैं। यह जीव इस पापरूपी शरीर से, जोकि महादुःखदाई है, ब्रह्मज्ञान बिना नहीं बच सकते हैं।

ब्रह्मलोक से लेकर चींटी पर्यन्त जितने भी शरीर हैं, सब पापरूपी कांटों के गुच्छे हैं। इन जीवों के राग-द्वेष, काम-क्रोधरूपी कांटे दिन-रात चुभते रहते हैं, किंचित मात्र भी आराम नहीं मिलता है। जैसे कांटे वाले मार्ग पर जो कोई चलता है उसको कांटे लगते हैं। उसी प्रकार शरीर धारी मनुष्य पाप-पुण्य और उनके नल रूप सुख-दुःखमय कांटों से दिन-रात दुखी होते रहते हैं। जैसे कांटे अपने आपको नहीं चुभते, दूसरे पुरुष को चुभते हैं उसी प्रकार पापियों को अपने पाप नहीं मालूम होते हैं। औरों को उनके पाप दीख जाते हैं। जब इस पुरुष का काम किसी के साथ पड़ता है, तब उसको भी दिखाई देने लग जाते हैं। अपने पाप उनको नहीं दिखाई देते, किन्तु उलटे वह पाप उसको सुखरूप से भान होने लगते हैं। जब इस पुरुष के पाप दुखरूप प्रतीत हों तब कहीं पापों से छुटकारा मिले।

राजा—हे मुनि ! आपने लोक-परलोक दो कहे, परन्तु मुझको तो एक ही लोक जान पड़ता है। परलोक तो कहीं भी दिखाई नहीं देता। हे मुनि ! स्वप्न तो मैं भी देखा करता हूँ। क्या स्वप्न को ही आप परलोक कहते हैं ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! लोक-परलोक दो हैं, एक नहीं। जैसे नदी के दो किनारे होते हैं, एक नहीं। स्वप्न तो उनका मध्य का स्थान हैं।

राजा—हे मुनि! लोक-परलोक दोनों को कैसे अनुभव करूँ?

मुनि—हे राजन्! अब हम तुमको लोक परलोक और तुम्हारा अपना आप प्रत्यग तीनों प्रत्यक्ष दिखाये देते हैं।

हे राजन्! स्वप्न तो बीच का स्थल है। जैसे देवताओं के मन्दिर में लोग आते जाते हैं वहाँ पर भीड़ का जोर और धक्का-मुक्की मन्दिर के दर्वाजे पर होती है और बाहर-भीतर दोनों तरफ अवकाश रहता है। वैसे ही जन्म-मरण रूपी बीच का दर्वाजा है, सो जीवों के महान क्लेशों का स्थान है। इसी जगह सब जीव बहुत कष्ट पाते हैं। जैसे किसी पुरुष को एकदम सौ बिच्छूओं के काटे जैसा कष्ट होता है, वैसा ही कष्ट मरण काल में होता है और जन्मकाल में जैसे सुनार तार को खींचता है, वैसा कष्ट मनुष्य को होता है।

राजा—हे मुनि! जब स्वयं ज्योति परमानन्द निर्विकार था तो वह इन कष्टों में क्यों आया?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! वह परमानन्द अपने स्वरूपानन्द का स्वाद लेने के लिए इस संसार रूपी कष्ट में आया। जैसे किसी क्षुधा पीड़ित पुरुष को थोड़ा सा भुना हुआ अन्न दिया जाय तो वह उसको मिठाई से भी अधिक प्रिय लगता है, उसी प्रकार परमात्मा ने अपने स्वरूपानन्द का रसपान करने के लिए दुःख रूपी स्थल में प्रवेश किया है क्योंकि दुःख देखे बिना सुख का अनुभव नहीं होता। जब आत्मदेव ने इस संसार में आकर अनेक प्रकार के कष्ट उठाये, तब दुःख की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार के उपाय करने लगा। कहीं कर्म, कहीं उपासना, कहीं तप, कहीं दान, कहीं संध्या करने लगा, कहीं योग साधने लगा, कहीं अग्नि होत्र, कहीं चान्द्रायण व्रत, कहीं समाधि करने लगा। अनेक साधन दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति के अर्थ करने लगा। उन साधनों में भी उसने बड़े-बड़े कष्ट अनुभव किये, परमानन्द का लेश भी कहीं नहीं मिला। तब हार झखमार कर गुरु द्वारा महावाक्य का श्रवण करके परमानन्द को प्राप्त हुआ।

हे राजन्! अब हम उन लोकों को प्रत्यक्ष दिखाते हैं। जब यह पुरुष स्वप्न में जाता है, उस काल में इसके साथ काम्य, कर्म और आकृति भी जाती हैं। उसी प्रकार इन जीवों के मरण काल में भी काम्य, कर्म और आकृति इनके साथ जाती हैं। जैसे स्वप्न में कहीं पक्षी होकर उड़ता फिरता है और कहीं बन्दर, सर्प या कुत्ता होकर दौड़ता है और अनेक प्रकार के पर्वत, वृक्ष, नदी आदि आकारों को धारता है, उसी प्रकार परलोक में भी नाना रूपों को धारता है। पूर्वयोनि के अभ्यास इसके साथ जाते हैं। जिन-जिन योनियों का यह पहले अनुभव कर आया है वह सब इसको दीखने लगती हैं। जब तक बालक को इस संसार के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदिकों की खबर नहीं हुई, तब ही तक स्वप्न में कभी रो पड़ता है, कभी हँस देता है, कभी चुप हो जाता है। उस बालक के हँसने से पूर्व जन्म का पुण्य और रोने से पूर्व जन्म का पाप जाना जाता है। अब मर कर जिस प्रकार यह जीव परलोक को गमन करता है सो भी दिखाते हैं।

जब इस पुरुष के मरने का समय निकट आता है, तब इसको अपनी उपासना के अनुसार स्वप्न आने लगते हैं। जिस पुरुष को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्र आदिक देवता स्वप्न में बारम्बार दिखाई देते हैं वह पुरुष शरीर का त्याग करके देवलोक को प्राप्त होता है। जिस पुरुष को ब्राह्मण,

वैश्य, शूद्र, दैत्य चांडाल, पशु, पक्षी, चींटी, वृक्ष, पापाण आदिक स्वप्न में दिखाई देते हैं सो उन्हीं-उन्हीं योनियों को प्राप्त होते हैं। जिसको मरने से कुछ दिन पहले भूत-प्रेत, राक्षस आदिक स्वप्न में दिखाई देते हैं उनको समझना चाहिए कि वे भूत-प्रेत आदि योनियों को प्राप्त होंगे। हे राजन्, इस प्रकार अपने-अपने अध्यास के अनुसार स्वप्न दिखाई देते हैं और उन स्वप्नों से इस पुरुष के परलोक गमन का अनुमान होता है।

यह सब जीव तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं तो ऐसा नहीं मानना चाहिए कि लोक-परलोक कुछ नहीं हैं, जो कुछ है सो यही लोक है। हे राजन्! व्यास मुनि ने ब्रह्म सूत्रों में कहा है कि यह पुरुष जिस वासना तथा संस्कारों को लेकर सुपुप्ति में जाते हैं, उसी प्रकार सुपुप्ति के बाद जाग्रत में आया करते हैं। उसी प्रकार यह मनुष्य महाप्रलय में जिस अध्यास को लिए हुए लीन होते हैं, उसी अध्यास के द्वारा दूसरे कल्प में वैसे ही स्वरूप को धार कर प्रगट होते हैं, अन्यथा नहीं। नवीन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। वे अनादि हैं। वेद साक्षात कहता है कि प्रजापति ने पूर्व कल्प के अनुसार इस कल्प की रचना की है।

जनक—हे मुनि! प्रायः आचार्य और शास्त्र स्वप्न को मिथ्या कहते हैं और मैं भी स्वप्न को मिथ्या ही जानता हूं। आप स्वप्न में देखे हुए लोक-परलोक को सत कहते हैं। स्वप्न में राजा कंगाल हो जाता है, कंगाल राजा हो जाता है और जागने पर जैसे का तैसा अपने आप को देखता है। फिर हम इस असत् स्वप्न को सत कैसे जानें?

मुनि—हे राजन्! परमार्थ में तो एक अद्वैत सत्ता से भिन्न सब असत है। हमने स्वप्न आदि की व्यावहारिक सत्ता कही है। जैसे पुरुषों को स्वप्न में जो सृष्टि दिखाई देती है, वह उस काल में सत् ही है। यह स्वप्न का व्यापार जाग्रत कर्मों के अनुसार होता है। जैसे जाग्रत में अध्यास होता है, वैसा ही स्वप्न में और मरण के समय सुख-दुःख तथा शरीर आदि पाता है। इसका जैसा पूर्व का अध्यास प्रबल होता है, उसी के अनुसार योनि और व्यापार की प्राप्ति करता है। यह जीव पूर्व योनि में जैसे शरीर और जैसे व्यापार का त्याग करके आया है, वैसा ही इसको स्वप्न में दिखाई देता है। इस कारण से स्वप्न का व्यापार सत् है। स्वप्न के द्वारा लोक-परलोक दोनों का अनुमान होता है। जाग्रत में पुण्य के अध्यास वाला पुरुष पुण्य करता है और पाप के अध्यास वाला पुरुष यहाँ पर पाप करने लगता है। राग-द्वेष वाला राग-द्वेष और ज्ञान वाला ज्ञान करने लगता है। इस कारण से यह लोक, परलोक और स्वप्न तीनों व्यावहारिक सत्ता वाले हैं और परमार्थ में रज्जू-सर्प की नाईं असत्य हैं।

जनक—हे मुनि! आपने स्वप्न में स्वयं ज्योति को सत कहा है और स्वप्न द्वारा ज्योति का अनुभव भी करा दिया, परन्तु फिर भी मेरे मन में शंका है कि जाग्रत-स्वप्न का व्यवहार सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाणी द्वारा करते हैं। स्वयं ज्योति का अनुभव हमको कुछ नहीं हुआ।

मुनि—हे राजन्! स्वप्न में जो सब पदार्थों के भाव-अभाव को देखता है और फिर उन पदार्थों को वहीं छोड़कर जाग्रत में चला आता है, अपने साथ किसी को नहीं लाता, वही तो स्वयं ज्योति आत्मा है। वह आंख, कान, त्वचा आदिक इन्द्रियों से रहित है तो भी सबका तमाशा देखता है। चक्षु आदिक करण सब बुद्धि में हैं। यह बुद्धि जाग्रत, स्वप्न अनेक प्रकार के देश, काल, पदार्थ रचती रहती है और विज्ञानघन तेरा आत्मा देखता रहता है। वह विज्ञानघन आत्मा इन बुद्धि रचित सब पदार्थों में मियान में

तलवार की तरह रहता है। इस विज्ञानघन आत्मा के आच्छादन करने वाले शरीर, प्राण तथा मन हैं। इन तीनों को त्याग करके गुरु लोग जिज्ञासु को स्वप्न में स्वयं ज्योति को दिखाते हैं।

राजा—हे मुनि ! स्वप्न में सबको स्वयं ज्योति की प्राप्ति होती है। फिर ज्ञानी-अज्ञानी में क्या भेद रहा ? ज्ञान के लिए नाना प्रकार के कष्ट उठाने वृथा हैं।

मुनि—हे राजन् ! जिस पुरुष ने जाग्रत अवस्था में विवेक द्वारा स्वयं ज्योति को सब दृश्य पदार्थों (अर्थात् पंचकोषों) से पृथक करके अन्वय-व्यतिरेक द्वारा जान लिया है, वही पुरुष स्वप्न में स्वयं ज्योति आत्मा को देख सकता है, दूसरा नहीं। अर्थात् जिसने जाग्रत अवस्था में दृष्टा-दृश्य का विवेक नहीं किया, उसको स्वप्न में स्वयं ज्योति का भान नहीं होता। यह स्वयं ज्योति जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबसे भिन्न होकर सबकी लीला देखता है। हम स्वयं ज्योति स्वरूप हैं और अपने प्रत्यग् आत्मा से सब दृश्य पदार्थों को पृथक देखते हैं।

जनक—हे मुनि ! जैसे कुम्हार जब प्रथम मृत्तिका, चाक, दण्डे आदिक सामग्री तय्यार कर लेता है, तब घड़ा बनाता है। वैसे ही बुद्धिरूपी कुम्हार स्वप्न में किस सामग्री से सृष्टि की रचना करती है ? क्योंकि वहाँ कोई भी वस्तु नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे राजन ! जैसे कुम्हार प्रथम तो सब सामग्री का अनुभव कर लेता है, फिर बाहर की सामग्री को हाथ लगाता है। उसी प्रकार बुद्धि जाग्रत अवस्था में नाना पदार्थों के अनुभव द्वारा उनके संस्कार को स्वप्न में ले जाती है। फिर वहाँ जैसी इच्छा करती है वैसी लीला रच लेती है। जाग्रत अवस्था में बुद्धि, सूर्य, चन्द्रमा, दीपक आदिक प्रकाशों के सहारे से काम करती है और स्वप्न में स्वयं ज्योति के सहारे से लीला रचती है। जैसे सूर्य आदिक प्रकाशमात्र करते हैं, कुछ क्रिया नहीं करते। उसी प्रकार स्वप्नावस्था में स्वयं ज्योति बुद्धि आदिक पदार्थों को प्रकाशित करता है, कुछ क्रिया आदिक नहीं करता। यह स्वयं ज्योति आत्मा इन मन आदिक पदार्थों का प्रेरक और सबसे भिन्न है। इसी के आसरे लोक-परलोक सिद्ध होते हैं। इसी के अभाव से लोक-परलोक दोनों का अभाव हो जाता है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य के मुख से सुनकर जनक ने उन्हें नमस्कार किया और कहा—हे मुनि, ऐसा ही है जैसा आप कहते हैं। आपने जाग्रत और स्वप्न दोनों से स्वयंज्योति को पृथक करके मुझको दिखा दिया। इस कारण से मैं जनक आपको वस्त्राभूषण सहित एक सहस्र गौ दक्षिणा में देता हूँ, इन्हें स्वीकार कीजिए।

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! हमारे कुल में शिष्य के कृतार्थ हुए बिना एक कानी कौड़ी भी नहीं लेते हैं।

इस पर जनक ने विचार किया कि मुनि ने जाग्रत तथा स्वप्न में लोकों और पदार्थों से तथा इन्द्रिय-मन आदि को और देवताओं से स्वयंज्योति को पृथक दिखाया; परन्तु इन सब का मृत्यु जो कर्म है, उससे स्वयंज्योति को पृथक करके नहीं दिखाया। उस मृत्यु रूप कर्म से स्वयंज्योति को पृथक जानने के लिए जनक ने फिर इच्छा की क्योंकि यह स्वयंज्योति अपना आप प्रत्यग् है, इसको अच्छी तरह विचार करके निस्सन्देह जानना चाहिये। इसका जानना ही मोक्ष का कारण है। वेद में भी कहा है कि सिवाय स्वयंज्योति आत्मा के ज्ञान बिना किसी कर्म, उपासना, जप, तप, मन्त्र, तन्त्र, योग, यज्ञ आदि द्वारा अथवा धन, पुत्र, राज्य आदि द्वारा मोक्ष नहीं होती।

हे मुनि ! आपने स्वयंज्योति को शरीर मन, बुद्धि आदि से प्रथक करके दिखा दिया है परन्तु कर्म से भिन्न नहीं दिखाया ! स्वप्न अवस्था में भी सिंह आदिकों का कष्ट होता है इस कारण स्वप्न में भी कर्म है। कर्म ही मृत्यु रूप हैं। जब मनुष्य पाप-पुण्य आदि कर्मों के बन्धन से छूटे, तब कहीं जाकर मोक्ष को प्राप्त होवे।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्, रागद्वेश सहित जो कर्म किया जाता है वह बुद्धि का धर्म है और जो सहज स्वभाव से किया जाता है वह स्वयंज्योति का धर्म है। एक दुःख का केन्द्र है, दूसरा स्वयंज्योति आनन्द का केन्द्र है। जाग्रत में स्त्री, पुत्र, धन आदि का वियोग होना और शरीर में अंध, कुष्ट आदिक दुःखों का होना क्षुधा पिपासा आदिक से व्याकुल होना, यह दुःख का स्थान है। स्वप्न में अधिक दुःख नहीं होता है। कुछ थोड़ा-सा दुःख होता है। इस कारण से स्वप्न प्रलय का स्थान है और सुषुप्ति में सब कष्टों का अभाव होता है। एक आनन्दस्वरूप स्वयंज्योति का स्थान है इसी कारण से पुसुप्ति सम्प्रसाद कहलाती है। जाग्रत में और स्वप्न में राग द्वेप सहित बुद्धि पुण्य-पाप करती है सो इसकी क्रिया ही सुख-दुःख, जन्म-मरण आदिक का कारण होती है। यही सब का मृत्यु है। स्वयंज्योति का प्रकाश स्वभाव है। तीनों अवस्थाओं में किसी से भी स्पर्श नहीं करता और न किसी से रागद्वेप ही करता है। सदा एक रस रहता है, इस कारण से स्वयंज्योति जन्म मरण रूपी मृत्यु से रहित है।

जैसे जिसकी दृष्टि स्त्री के अंगों पर राग सहित पड़ती है, उसको सूर्य के सन्मुख होकर प्रार्थना करनी पड़ती है, तब उसका पाप दूर होता है और जिसकी दृष्टि स्वभाविक पड़ती है, उसको पाप नहीं लगता है। इसी प्रकार यह बुद्धि राग-द्वेप सहित पाप-पुण्य करती है और इसी कारण से बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होती है। स्वयंज्योति आत्मा उदासीन की तरह सब पतार्थों को प्रकाशित करता है और मृत्यु से रहित अजर अमर है। जैसे सूर्य का प्रकाश पुरुप के मुख के हँसने और रोने दोनों को दिखाता है और स्वयं सूर्य हँसने और रोने से भिन्न है। उसी प्रकार स्वयंज्योति आत्मा बुद्धिवृत्ति में आरूढ़ होकर पुरुषों को जन्म-मरण, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, राग-द्वेप आदिक क्रिया चिदाभास को दिखाता है अथवा आप ही सब का तमाशा देखता है। इस कारण से सूर्य की तरह स्वयंज्योति निर्विकार है।

हे राजा ! सुपुप्ति में स्वयंज्योति आत्मा स्पष्ट रूप से भान होता है। यही स्वयंज्योति जाग्रत और स्वप्न रूपी नदियों में विहार करके सुपुप्ति में उन दोनों अवस्थाओं का अभाव देखता है। यह ज्योति पुरुप मच्छ की तरह जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति रूपी नदी में सैर करता है और सब से पृथक भी रहता है। तीनों स्थानों में घूसता हुआ जो कुछ वहाँ देखता है उसमें लिप्त नहीं होता, वरन् ज्यों-का-त्यों शुद्ध पवित्र निकलता है। इसी कारण से इसको असंग कहते हैं।

राजा—हे मुनि ! सुपुप्ति में स्वयं ज्योति पुरुप अपने को क्या मानता है ?

मुनि—हे राजन् ! यह ज्योति पुरुप सुपुप्ति से जाग्रत होकर ऐसा कहता है कि मैं वहाँ सुखी था और एक अद्वैत था कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती थी और जाग्रत-स्वप्न में भी सुपुप्ति का साक्षी हूँ। पुसुप्ति में जाग्रत अवस्था का अभाव था और वहाँ मेरा भाव था, इस कारण से मैं जाग्रत से भिन्न हूँ। वहाँ स्वप्न भी न था, इस कारण मैं स्वप्न से भी भिन्न हूं। जाग्रत में स्वप्न और सुपुप्ति दोनों नहीं और मैं हूँ, इस कारण से मैं सुपुप्ति और स्वप्न से भिन्न हूँ। स्वप्नावस्था में जाग्रत और सुपुप्ति नहीं होते हैं और मैं होता हूं। इस कारण से मैं जाग्रत और सुपुप्ति से भी भिन्न हूं और अपने आप प्रकाशमान स्वयं

ज्योति हूं। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था यह पुरुष अपने में मानता है। जैसे सब मनुष्य स्वप्न में जाग्रत का अभाव देखते हैं वैसे ही मैं अपने स्वरूप में सब प्रपंच का अभाव देखता हूँ। हे राजन्! जिस पुरुष ने इस प्रकार विचार करके स्वयंज्योति को जाना है वही स्वयं ज्योति है, वही अपने आप को जिज्ञासुओं के प्रति कथन करता है और अपने आपको आप ही प्राप्त होता है। हे राजन्! मनु भगवान् ने भी ऐसा ही कहा है कि जो पुरुष इस प्रकार अपने आपको स्वयंज्योति जानता है, वह अपना निरादर नहीं करता।

जनक—हे मुनि! निरादर क्या नहीं करता है?

मुनि—हे शिष्य! आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर फिर यह पुरुषर यह नहीं कहता कि मैं ईश्वर का दास पापी या अपराधी हूं। जब ईश्वर कृपा करेगा उस काल में मुझ अपराधी का कल्याण होगा। आत्मा को दास, पापी, दुखी, दीन जानना तथा मानना यही निरादर है। अतः बोधवान् आत्मा का निरादर कदापि नहीं करते हैं।

हे राजन्, तीनों अवस्थाओं का अभाव हो जाता है, परन्तु आत्मा का अभाव नहीं होता। इस सम्पूर्ण संसार का विराट् में अभाव हो जाता है, विराट् हिरण्यगर्भ में लय हो जाता है, हिरण्यगर्भ ईश्वर में लय हो जाता है। ईश्वर स्वयंज्योति आत्मा में समा जाता है। जाग्रत स्वप्न में लय हो जाता है—स्वप्न सुपुप्ति में लय हो जाता है। सुपुप्ति तुर्या में लय हो जाती है। तुर्या स्वयंज्योति अजर, अमर, अभय, शान्त, परम अद्वैत, आनन्द स्वरूप है।

जनक—हे मुनि! ऐसा ही है। स्वयं ज्योति आत्मा तीनों अवस्थाओं के जो भोग पदार्थ हैं और भोक्ता इन्द्रिय आदिक हैं, इन सब से पृथक है। हे मुनि! आपने बड़ी कृपा की कि जो स्वयं ज्योति आत्मा को सब से पृथक प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। परन्तु हे मुनि, आपने स्वयं ज्योति में कर्म का अभाव कहा है, वासना से पृथक नहीं कहा। इस कारण से आप कृपा करके आत्मा को वासना से भिन्न करके दिखा दीजिये।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! देख, कर्म के अभाव होने से कामना नहीं रहा करती। कर्म—हाथ, वाणी और आँख आदिक करणों से होता है और स्वयंज्योति में मन, वाणी, शरीर, आँख आदिक करण नहीं हैं। फिर स्वयं ज्योति में वासना कैसे होवेगी? हे राजन्, वासना और कर्म दोनों मिथ्या हैं। आदि अन्त में शून्य होने से मध्य में भी शून्य हैं। स्वयं ज्योति सत् त्रिकाल अबाध्य है। भला कहीं सत् और असत् का मिलाप हुआ है?

राजा—हे मुनि, जाग्रतावस्था में यह पुरुष जैसे पुण्य-पाप करता है, परलोक में उनका फल सुख-दुख का लाभ करता है। स्वप्न की कामना कर्म सत् न हों, परन्तु जाग्रत की कामना और कर्म असत् नहीं हो सकते हैं।

मुनि—हे राजन्! जैसे किसी पुरुष ने स्वप्न में अश्वमेघ यज्ञ को किया है, किंवा ब्रह्म हत्या की है तो इन वासनाओं का फल जाग्रत में होना चाहिये। अथवा जो स्वप्न में यज्ञ करने लगा था सो यज्ञ करते-करते जाग्रत हो जाय तो उसको जाग्रत काल में यज्ञ पूरा करना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता है। स्वप्न को असत् जानकर मनुष्य इसकी बात पर ध्यान भी नहीं देता है। उसी प्रकार परलोक की

अपेक्षा से यह जाग्रत जगत स्वप्न है और असत् है। इसी पुरुष की वासना के अनुसार बड़ा प्रतीत होता है। जब यह अधिकारी विवेक-विचार द्वारा देखता है तब कर्म कामना जाग्रत जगत् स्वप्न की तरह सब असत् प्रतीत होते हैं।

जिस पुरुष ने स्वप्न में यज्ञ और ब्रह्म हत्या की है, सो जाग्रत में ब्रह्महत्या की निवृत्ति का उपाय करे अथवा यज्ञ का फल भोगने की आशा करे। ऐसे पुरुष को लोग मूर्ख कहते हैं, क्योंकि स्वप्न का शुभ-अशुभ कर्म जाग्रत में नहीं लगता है, परन्तु अज्ञानी जीव भ्रम के मारे स्वप्न में बुरा-भला पदार्थ देख कर जाग्रत में सुखी-दुखी होते हैं। उसी प्रकार जिस पुरुष ने संसार को सत् जाना है, उसको अनेक प्रकार के कर्म, उपासना और कामना बढ़ती जाती है और जिस पुरुष ने कर्म, वासना और कामना को असत् जाना है और अपने स्वरूप की ओर जाग्रत होकर आपको स्वयं ज्योति देखता है सो पुरुष किसका ग्रहण और किसका त्याग करेगा ?

जैसे काजल की कोठरी में स्थित आकाश काजल से नहीं रंगा जाता। उसी प्रकार बुद्धि रूपी काजल की कोठरी में स्थित स्वयं ज्योति भी आकाश की नाईं निर्लेप रहता है। बुद्धि काम कर्म रूपी काजल से भरी हुई है। जैसे प्रकाश के आश्रय सब लोग शुभ-अशुभ कार्य करते हैं, परन्तु उनकी क्रिया प्रकाश को स्पर्श नहीं करती है। उसी प्रकार बुद्धि भी स्वयं ज्योति चैतन्य प्रकाश के आश्रय अनेक कामना और कर्म करती है, परन्तु वह कर्म स्वयं ज्योति को नहीं छू सकते हैं। उसका धर्म उसी में रहता है।

जिस पुरुष को स्वयंज्योति का आत्म रूप से साक्षात्कार हुआ है उसको कर्म, उपासना, तीर्थ, देव पूजन आदिक कोई कर्तव्य नहीं रहा है और जिसको स्वयंज्योति आत्मा का बोध नहीं हुआ और अनेक प्रकार के वाद-विवाद करता है उसको सब कुछ कर्तव्य है। जिसने स्वयंज्योति आत्मा को स्वजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित असंग जाना है सो ही स्वयंज्योति है। हे राजन, यही परम पद है। वह पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, चार अन्तःकरणों और तमरूप अविद्या से परे है। हे राजन, यह विद्वान का निश्चय किया हुआ होता है। जाग्रत आदि तीनों अवस्थाएँ सूक्ष्म शरीर को प्राप्त होती हैं। स्वयंज्योति आकाश की नाईं सबसे प्रथक है।

जनक—हे मुनि! जैसे आप कहते हैं उसी प्रकार स्वयं ज्योति सब से पृथक् है। आप की कृपा से स्वयं ज्योति आत्मा को मैंने सब से भिन्न जाना है, अब इसके बदले में आपको एक सहस्र गौएँ दीं। हे मुनि! एक शङ्का और है। वह यह है कि स्वयंज्योति मुझको तो विकारी दिखाई देता है। जैसे कोई पुरुष मांस-शराब खावे-पीवे और वैश्यागमन करे और फिर कहे कि मैं निर्विकार हूँ, शुद्ध हूँ, उसी प्रकार साक्षात् स्वयंज्योति जाग्रत अवस्था में विषयरूपी भोगों को भोगता दिखाई देता है, और स्वप्न में भी जाग्रत के संस्कारों से मेघों की नाँईं अनेक चेष्टा भी करता है। सुषुप्ति में जाकर आनन्दरूपी माँस भक्षण करता है। ऐसे विकारी को आप निर्विकार कैसे कहते हैं ?

हे मुनि! इस स्वयंज्योति ने कैसे घर में निवास किया है? जैसे घर काष्ठ; मिट्टी से बनाया जाता है उसी प्रकार इस शरीररूपी घर में पसलीरूपी काष्ठ लगे हुए हैं, अस्थियाँरूपी दीवाल हैं, अङ्गरूपी खम्भे हैं, मांसरूपी गारे में जुड़े हुए हैं, जिसके ऊपर चमड़ारूपी एक वस्त्र डाल दिया है। जैसे वर्षा काल में घर के पतनाले चलते रहते हैं, उसी प्रकार जब इस शरीररूपी घर पर अन्न-जल आदिक की वर्षा

होती है, तब नौ द्वारों रूपी गोलकों से अनेक प्रकार का मलमूत्र निकलता है। जैसे घर की अलमारियों में अनेक प्रकार के पदार्थ रक्खे जाते हैं, उसी प्रकार इस शरीररूपी घर के अङ्गों में अन्ध, कुष्ठ आदिक अनेक क्लेश भरे हुए हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष आदिक अनन्त पदार्थ रक्खे हैं। ऐसे मलिन पदार्थों से यह घर नख से लेकर चोटी तक पूर्ण हो रहा है। कहीं भी तो उत्तम वस्तु इस में नहीं दिखाई देती। उसमें स्वयंज्योति ने निवास किया है, फिर स्वयंज्योति निर्विकार शुद्ध कैसे रह सकता है ?

मुनि—हे राजन् ! स्वयंज्योति महा मच्छ की तरह निर्विकारी है। जाग्रत स्वप्नरूपी दो किनारे हैं, सुषुप्तिरूपी गम्भीर जल भरा हुआ है, ऐसा यह संसाररूपी महानद है। उसमें स्वयंज्योतिरूपी मगर-मच्छ क्रीड़ा करता है, तो भी असंग निर्विकारी रहता है। जैसे मच्छ को मछेरे जाल में फांसने के लिए जाल डालते हैं। वैसे ही इस स्वयंज्योति रूपी मच्छ के पकड़ने के लिए भी भोगरूपी (अर्थात् स्त्री-पुत्र आदिक) मछेरे जाल डाले रहते हैं, परन्तु यह स्वयंज्योति इनके जालों को नित्य तोड़ फोड़ जाता है और किसी से नहीं पकड़ा जाता क्योंकि सब से अधिक बलवान है।

जब वह जाग्रतरूपी किनारे पर आता है तब अनेक प्रकार के राग-रागिनियों द्वारा भोग इसको फँसाना चाहते हैं। परन्तु यह मच्छ उन राग रागिनियों को फेंककर दूसरे शरीर में चला जाता है। जब वह स्वप्नरूपी किनारे पर जाता है, तब स्वप्न के विषय नाना प्रकार के स्वाँग धारकर इस स्वयंज्योति मच्छ को पकड़ना चाहते हैं। उस काल में भी यह स्वयंज्योति उनको भी फेंक-फांक कर जाग्रत के शरीर में चला जाता है। यह स्वयंज्योति बड़ा ही बुद्धिमान है। किसी के फन्दे में नहीं आता है। इसी कारण से तो निर्विकार है। जब जाग्रत-स्वप्न की दशा में आता है तब उपाधि द्वारा विकारी तथा व्यवहारी होता है। यथार्थ में यह विकारी नहीं है, यदि विकारी हो जाता तो जाग्रत से स्वप्न में नहीं आ सकता था, या स्वप्न से जाग्रत, सुषुप्ति में नहीं आ सकता था।

किसी पुरुष ने किसी से प्रश्न किया कि कोई ऐसा पुरुष भी संसार में है जिसकी आंखों के पलक न लगते हों, जो गर्भ में भी न आता हो, संसार का तमाम व्यापार भी करता हो, फिर विकल्प भी करता हो और नदी की तरह घट-बढ़ भी जाता हो। उस काल में किसी ने उत्तर दिया—हे भाई, ऐसा पुरुष महामच्छ के समान स्वयं ज्योति आत्मा है। जैसे मच्छ के पलक नहीं लगते, उसी प्रकार स्वयं ज्योति आत्मा तीनों अवस्थाओं में जागता है, उसकी पलक कभी नहीं झपकती। जैसे पाषाण का जन्म नहीं होता है, तो भी सब व्यापार करता है, उसी प्रकार स्वयंज्योति आत्मा गर्भ में नहीं आता है और आकाश की नाईं व्यापार सब करता है। जैसे पत्थर में हृदय नहीं है, उसी प्रकार स्वयं ज्योति आत्मा में भी हृदय नहीं है और वह अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है।

जैसे मृग-तृष्णा का जल कभी घटता है, कभी बढ़ता है, वैसे ही स्वयं ज्योति आत्मा में यद्यपि संसार नहीं है, तो भी मायारूपी संकल्प द्वारा अनन्त संसार रूपी समुद्र भरा रहता है और खाली भी कर देता है। जाग्रत-स्वप्न में अनन्त संसार का विस्तार करता है और सुषुप्ति में लय कर देता है। जब यह स्वयं ज्योति दूसरी तरफ दृष्टि करता है तब संसार नहीं रहता, इस कारण से यह स्वयं ज्योति आत्मा निर्विकार और स्वतन्त्र है। हे राजन् ! जो स्वयं ज्योति में विकार प्रतीत होते हैं सो उपाधि के कारण से हैं।

जनक—हे मुनि ! ऐसा ही है, यह स्वयं ज्योति तीनों अवस्थाओं में निर्विकार है। हे मुनि ! यह आपने बहुत अच्छा कहा जो तीनों अवस्थाओं में स्वयं ज्योति को निर्विकार कर दिखाया। अब एक में निर्विकारिता दिखाइये।

मुनि—हे राजन् ! यह जो कुछ हमने तुम से कहा है सो सब स्वप्न मात्र है। जो भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल हैं और जो तीन लोक हैं, ये सब स्वप्न मात्र हैं। पिता का शुक्र, माता का रज दोनों के मिलने से शरीर की उत्पत्ति हुई है। जाग्रत अवस्था में चक्षु में, स्वप्न में कंठ में, सुषुप्ति में हृदय में बैठकर स्वयं ज्योति तीनों स्वप्नों को देखता है। इन सब के सङ्घात को अविद्या कहते हैं। वही अविद्या ही बुद्धि स्वरूप है। यह बुद्धि कभी मन्द वेग से स्वप्न को देखती हुई जाग्रत में आती है और कभी तीव्र वेग से स्वप्न को देखती हुई जाग्रत में आती है और कभी तीव्र वेग से सुषुप्ति में चली जाती है। सब व्यापार बुद्धि के आश्रय होते हैं।

राजा—हे मुनि ! बुद्धि तो जड़ है और अविद्या के आश्रय है। जड़ में व्यापार किस प्रकार हो सकता है ? व्यापार तो चैतन्य में होना चाहिए।

मुनि—हे राजन् ! साभास अविद्या में यह सब ब्रह्मांड उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है। स्वयं ज्योति इस अविद्या को आकाश की नाईं व्याप्त करके स्थित है। जैसे बीज वृक्ष द्वारा आप को फल में प्रगट करता है, उसी प्रकार अविद्या रूपी बीज है, बुद्धि रूपी वृक्ष है। नाम रूपमय प्रपंच फल है। उनमें अविद्या अपने स्वरूप को प्रगट दिखाती है। जैसे फल बीज रूप है, बीज वृक्ष रूप है। उसी प्रकार नाम रूप अविद्या का स्वरूप है। अविद्या अनेक नाम रूप होकर संसरती है। यह संसार सात्विक, राजसी, तामसी है। 'मैं आत्मा को नहीं जानता हूँ'—यह अविद्या का स्वरूप है। जैसे आकाश वृक्ष से नहीं छूता है, वैसे ही स्वयं ज्योति आत्मा अविद्या रूपी वृक्ष से नहीं छूता है। आना-जाना, जन्म-मरण, लोक-परलोक, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदिक बुद्धि के धर्म हैं। बुद्धि का धर्म ही संसार है।

यह पुरुष जैसा अन्न खाता है, उसी अन्न के अनुसार काम-काज भी करता है। उसी प्रकार के उसको स्वप्न भी आते हैं और मर कर अन्न के अनुसार ही जन्म को प्राप्त होता है। सात्विक अन्न खाने वाला हिरण्यगर्भ, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्रमा आदिक लोकों को प्राप्त होता है। राजसी अन्न खाने वाला देवता, मनुष्य, पशु आदिक लोकों को प्राप्त होता है। तामसी अन्न खाने वाला पुरुष भूत, प्रेत, बकरा, मेंढ़ा, मछली, चींटी, पक्षी आदिक लोकों को प्राप्त होता है। लोक नाम शरीर का है। अनन्त योनियों के संस्कार सब जीवों की बुद्धि में भरे रहते हैं। जिस योनि में बुद्धि जाती है, संस्कारों के आश्रय वैसा ही भोग करने लगती है। सब शरीरों के धर्म, अविद्या के परिणाम, बुद्धि में रहते हैं। जो कुछ कहना सुनना होता है वह सब अविद्या में ही होता है। अद्वैत आनन्द, स्वयं ज्योति में कुछ भी कहना सुनना नहीं है। अनेक संस्कारों के आश्रय कण्ठ की नाड़ियों में जीवों को स्वप्न आते हैं।

लोक-परलोक, जीव-ईश्वर सब अविद्या है। यह अविद्या बुद्धि के आश्रय रहती है और विद्या भी बुद्धि के आश्रय रहती है। जब विद्या प्रगट होती है, उस काल में अविद्या नष्ट हो जाती है। जिस पुरुष को ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हुई है उसको स्वप्न में भी ब्रह्म ही दिखाई देता है। ब्रह्मज्ञानी जैसे जाग्रत अवस्था में आत्मा को परिपूर्ण देखता है, उसी प्रकार स्वप्न में भी परिपूर्ण देखता है। ब्रह्मज्ञानी का जब तक शरीर का प्रारब्ध शेष रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। प्रारब्ध के नाश होने पर वह विदेह मुक्त कहलाता

है। जिस पुरुष को अविद्या का आभास होता है उसको बारम्बार जन्म-मरण की प्राप्ति होती है। जब जीव को ब्रह्मज्ञान होता है, तब वह मुक्त होता अर्थात् त्रिगुणातीत होकर मोक्ष को प्राप्त होता है। हे राजन्! यह जो कुछ तुमको दिखाई देता है। सो सब अविद्या मात्र स्वप्नावस्था है। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होते ही वह पुरुष स्वयंज्योति स्वरूप हो जाता है। जब वह सुषुप्ति में जाता है, तब सर्वात्म भाव को प्राप्त होता है।

जनक—हे मुनि! सुषुप्ति में ज्ञानी-अज्ञानी सब समान भाव को प्राप्त होते हैं। फिर ज्ञानी में विशेषता क्या हुई?

मुनि—हे राजन्! अज्ञानी को अविद्या के कार्य नाम-रूप में सत बुद्धि द्वारा आसक्ति होती है। इस कारण से सुषुप्ति में गया हुआ भी वहाँ से फेंका जाता है। उसको अपनी कामना ही वहां से अविद्या रूप संसार में खींच लाती है। बोधमान जाग्रत अवस्था में विवेक करके नाम रूप मय प्रपंच को त्याग करके ब्रह्मज्ञान द्वारा अपने आपको सच्चिदानन्द स्वरूप जानकर सुषुप्ति में जाता है। ऐसा गया हुआ फिर नहीं लौटता। साक्षात् परब्रह्म अद्वैत रूप से स्थित होता है।

जनक—हे मुनि! अज्ञानी सुषुप्ति में क्या जड़की तरह हो जाता है अथवा जाग्रतावस्था में जो चैतन्य इन्द्रियों का सम्बन्ध था उसके छिप जाने से जड़वत हो जाता है, क्योंकि सुषुप्ति में तो ज्ञान-अज्ञान दोनों का ही अभाव होता है।

मुनि—हे राजन्! जैसे स्त्री और पुरुष जब दोनों यौवनावस्था में होते हैं, तब उनका परस्पर मिलाप होता है। शरीर के सुख-दुःख उस काल में सब भूल जाते हैं। दोनों एक आनन्द स्वरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में चिदाभास, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, कर्म, कामना, लोक, परलोक, जीव, ईश्वर सबका अभाव स्वयं ज्योति के साथ अभेद हो जाता है। जैसे समुद्र में गई हुई नदी समुद्र का स्वरूप हो जाती है और जैसे अनेक वृक्षों का रस मक्खी के मुख में जाते ही मधु हो जाता है, उसी प्रकार सुषुप्ति में यह पुरुष सर्व आत्मा हो जाता है। जो पुरुष ब्रह्मविद्या द्वारा परिच्छिन्न अहङ्कार का त्याग करके मरण, मूर्छा को प्राप्त होता है वह फिर नहीं लौटता है क्योंकि उसके साथ कोई कर्म कामना नहीं गई है। जो पुरुष अविद्यामय शरीर के धर्म, पाप-पुण्य आदिक अपने साथ ले जाता है सो ही इस जीव को फिर जन्म-मरण के चक्कर में डाल देते हैं। इसी कारण से अज्ञानी, कामी, शरीर अभिमानी, सर्वात्म भाव को नहीं प्राप्त होता है।

हे राजन्! जाग्रतावस्था पन्द्रह नाड़ियों में होती है। उन पन्द्रह नाड़ियों में तीन नाड़ियाँ श्रेष्ठ हैं, इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा उनके नाम हैं। स्वप्नावस्था बहत्तर नाड़ियों में होती है और सुषुप्ति सहस्त्र नाड़ियों में होती है। वहाँ सब नाड़ियों में पुरुष फैल जाता है इस कारण से ही सुषुप्ति में ही यह पुरुष सर्वात्मा होता है। फिर वहाँ से जाग्रत में इस प्रकार आता है जैसे सामान्य अग्नि लकड़ियों पर आरूढ़ होकर विशेष रूप दिखा कर अनेक कार्य करके और नाना नाम रूप कहला कर फिर सामान्य अग्नि भाव को प्राप्त हो जाती है। उसी प्रकार सामान्य सत्ता बुद्धिरूपी लकड़ी पर आरूढ़ होकर नाना विशेष रूप धार कर जाग्रत, स्वप्न में अनेक प्रकार के पुण्य-पाप आदिक करके और अनेक नाम-रूप वाला कहला कर फिर सुषुप्ति में सर्वात्मा भाव को प्राप्त होती है।

जैसे घट के फूटने से घट का आकाश नाश नहीं होता है, किंतु महाकाश रूप हो जाता है, उसी प्रकार चिदाभास जाग्रत स्वप्न के अभाव हुए सामान्य चैतन्यरूप हो जाता है। जैसे सामान्य अग्नि के

व्यापार सब बाहर ही रह जाते हैं सामान्य अग्नि के साथ नहीं जाते। उसी प्रकार साभास बुद्धि के व्यापार पुण्य-पाप आदिक बुद्धि में ही रह जाते हैं, सामान्य चैतन्य में नहीं जाते। सामान्य चैतन्य स्वच्छन्द, स्वतन्त्र और सत्यकाम है, सिवाय उत्तम कामना के उसको दूसरी कामना नहीं है। इसी कारण से उसको आप्त काम भी कहते हैं, अर्थात् इसको अपना आपा ही प्यारा होता है।

जनक—हे मुनि! सुषुप्ति में तो अज्ञान है, वहाँ भला आत्मा की कामना किस प्रकार हो सकती है?

मुनि—हे राजन्! यद्यपि सुषुप्ति में विशेष ज्ञान का अभाव है तथापि सामान्य ज्ञान है। तू अनुभव करके देख ले। इस आत्मा को अपना आपा ही प्यारा है। जाग्रत में भी इसको अपने से दूसरी वस्तु प्यारी नहीं होती है। जब सुषुप्ति में जाता है, तब माता-अमाता हो जाता है, पिता-अपिता हो जाता है। लोक-अलोक हो जाता है। देवता-अदेवता हो जाता है। वेद-अवेद हो जाता है। ईश्वर-अईश्वर और जीव-अजीव हो जाता है। पशु-अपशु, सिंह-असिंह, सुख-असुख और दुःख-अदुःख हो जाता है। ईश्वर से लेकर चींटी पर्यन्त सुषुप्ति में जाकर सब-के-सब स्वयं ज्योति ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। उस अवस्था में दूसरे का अभाव हो जाता है। एक अपना आप स्वयं ज्योति रहता है। इस कारण से यह ज्योति आप्त काम है। जितनी विशेष कामनायें हैं वह सब बुद्धि में रहती हैं। यह विद्वानों का अनुभव है कि बुद्धि इन्द्रियों के धर्म जैसे भी हों वैसे ही उनमें रहें। हमको दूसरों के धर्म से क्या प्रयोजन है?

जनक—हे मुनि! जो चोर धन के लिए ब्राह्मण को मार डालता है, अथवा शूद्र ब्राह्मण को मार डालता है, अथवा शूद्र ब्राह्मणी से सन्तान उत्पन्न करता है तथा बड़े-बड़े पुण्य अश्वमेध यज्ञ अग्निहोत्र आदिक करता है, इस प्रकार के पाप-पुण्य तो पुरुष के साथ अवश्य जाते होंगे। साधारण पाप पुण्य न जाते हों।

मुनि—हे राजन! सुषुप्ति में स्वयं ज्योति आत्मा के साथ कोई भी कर्म नहीं जाता है। सब के सब बाहर ही रह जाते हैं। प्रथम वासना होती है, पश्चात् उसके अनुसार कर्म होते हैं। स्वयं ज्योति में न तो वासना है, न कर्म ही है। फिर उसके साथ किस प्रकार जावें? सुषुप्ति में चोर-अचोर, चांडाल-अचांडाल, पाप-अपाप, पुण्य-अपुण्य हो जाता है। आचार्य-अनाचार्य, शिष्य-अशिष्य हो जाता है। क्षत्री-अक्षत्री, शूद्र-अशूद्र, संन्यासी-असंन्यासी, ग्रहस्थी-अग्रहस्थी हो जाता है। एक स्वयं ज्योति ही शेष रहती है।

जनक—हे मुनि! कोई आचार्य तो ऐसा कहते हैं कि जैसे पुष्प की सुगन्ध तैल में हो जाती है, जैसे गुलाब के पुष्प की सुगन्ध गुलाब के पेड़ में रहती है, वृक्ष और पुष्प से सुगन्ध प्रथक नहीं रहती। उसी प्रकार फूल रूपी बुद्धि है। कामना रूपी सुगन्ध है। आत्मा तैल और वृक्ष की तरह है। जब बुद्धि रूपी पुष्प इस से प्रथक किया जायगा—तब कर्म कामना रूपी सुगन्ध भी तैल रूपी स्वयं ज्योति के साथ अवश्य जायगी।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! ऐसे कहने वाले आचार्यों को तुम पाप की प्रतिमा जानो। इन सब जीवों के पाप इकट्ठे होकर इन आचार्यों का स्वरूप धार कर इन के सामने आ बैठे हैं। यह दुष्ट आचार्य अनेक प्रकार की कल्पना रूपी युक्तियों से पापियों को पाप में जोड़ते हैं। यह दुष्ट असत् को

सत् और सत् को असत् कहते हैं। आत्मा को अनात्मा और अनात्मा को आत्मा कहते हैं। इसी कारण से यह लोग मिथ्यावादी हैं। जैसे फूल और सुगन्ध को अनुभव करने वाला पुरुष इनसे पृथक् ही होता है। उसी प्रकार बुद्धि की कामना और कर्म का देखने वाला स्वयं ज्योति पुरुष इनसे प्रथक है। तब बुद्धि का होना सिद्ध होता है। यह स्वयं ज्योति, पुरुष जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में उनके व्यवहारों को देख कर ही चला जाता है। अपने साथ किसी को नहीं ले जाता। बुद्धि का धर्म बुद्धि में ही रहता है। स्वयं ज्योति निर्विकार, निरअहंकार, और परमानन्द स्वरूप है।

हे राजन्! मिथ्यावादी आचार्यों का कहना नहीं मानना चाहिए। यह मूर्ख अनेक भोगों की कामना में स्वयं ही फंसे रहते हैं और अपने शिष्यों को भी भोगों की बड़ाई करके फंसाते हैं। सो स्वयं शिष्यों सहित बारम्बार जन्मते-मरते रहते हैं। हे राजन! भोगी, संसारी और जिज्ञासु इन तीनों को कामना दुःख देती है। जब यह लोग किसी देवता का ध्यान करने लगते हैं अथवा विचार करने लगते हैं, उस काल में इनके आगे स्त्री, धन, पुत्र आदिक की कामना आ कर खड़ी हो जाती है। वह इन को ध्यान और विचार से रोक लेती है। जब यह पुरुष सब कामनाओं का त्याग करे तब उस से ध्यान और विचार हो सकता। बोधवान इन कामनाओं से रहित है। इसने लोक, पुत्र, धन तीनों को मिथ्या अनिर्वचनीय जान लिया है और भूत भविष्यत् प्रपंच को ज्ञानरूपी अग्नि से जला दिया है। एक प्रारब्ध मात्र शेष रही है। उसको भी मिथ्या जान कर असंग हुआ भोगता है। अर्थात इन्द्रियों को प्रारब्ध भुगाता है और यह भी जानता है कि शुभाशुभ कर्म और उनके फल, सुख तथा दुःख, शरीर, मन, इन्द्रियों से होते हैं। यही उनके फल सुख-दुःख का भोग करते हैं और यह जब भोग पूरा हो जायेगा स्वयं ही निवृत्त हो जायेंगे। हमको इनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति से क्या प्रयोजन है? मैं सर्व आत्म, आप्त काम हूं, ऐसा अनुभवी विद्वान सुषुप्ति में गया हुआ स्वयं ज्योति स्वरूप हो जाता है और फिर वहाँ से कभी नहीं आता है।

कामना वाले, कर्म संगी, शरीर अभिमानी सुषुप्ति से लौटकर जन्म मरण को प्राप्त होते हैं। जो जीव ईश्वर को प्रथक मानते हैं वह तो ईश्वर के पशु ही हैं और संसारी पशु आदिकों से भी नीच हैं। हे राजन्! जो अपने आपको जीव, परिच्छिन्न, दास, कर्मी, भगत, उपासक आदिक मानते तथा जानते हैं, वह लोग परमार्थ से शून्य पशु ही हैं। मुमुक्षु को इनका संग दूर से ही त्याग कर देना चाहिए इनकी बात भी नहीं सुननी चाहिए। क्योंकि इन के संसर्ग से मन में नाना प्रकार की शंकायें उत्पन्न होने लग पड़ती हैं जो आत्मज्ञान नहीं होने देती हैं। हे राजन! इस कारण से तुम इनका सम्बन्ध तोड़ छोड़ दो और जो कुछ इनकी कल्पना सुन रखी है सो भी सब विस्मृत कर दो। यही जिज्ञासु का पुरुषार्थ है।

राजा—हे मुनि! स्वयंज्योति का क्या स्वभाव है और इसका क्या स्वरूप है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन! जैसे सूर्य का प्रकाश स्वभाव है, उसी प्रकार स्वयंज्योति का प्रकाश स्वभाव है और चैतन्य स्वरूप है।

जनक—हे मुनि! कोई आचार्य तो बुद्धि के बिना ज्योति को जड़ मानते हैं। बुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा को चैतन्य मानते हैं।

मुनि—हे राजन् ! ऐसा कहने वाले जड़ बुद्धि ही हैं। यह बुद्धि तो चैतन्य आत्मा की चलाई चलती है। जैसे अग्नि सब में समान रूप से रहती है, पत्थर, घास, काष्ट आदिक सब में एक रस है। परन्तु जब पत्थर से अग्नि प्रगट होकर घास-काष्ट के साथ मिलती है, उस काल में अपनी उष्णता से प्रकाशित करती है। उसी प्रकार स्वयंज्योति आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्यापक है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, पशु, पक्षी, पत्थर सब में एक रस है। पत्थररूपी सुषुप्ति है। घासरूपी स्वप्न है। काष्ठरूपी जाग्रत है। स्वयंज्योति आत्मा पत्थररूपी सुषुप्ति से निकल कर स्वप्नरूपी घास के साथ मेल खाता है। फिर जाग्रतरूपी काष्ठ में सवार होकर अपने चैतन्य स्वरूप को प्रगट करता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि जो जड़ हैं, उनको अपनी चैतन्यता से चैतन्य करता है।

जैसे अग्नि अपनी सत्ता से घास और काष्ठ को अग्नि कर दिखाती है, उसी प्रकार स्वयंज्योति आत्मा अपनी सत्ता से शरीर इन्द्रिय, मन बुद्धि को चैतन्य कर दिखाता है। लिंग शरीर द्वारा ही स्वयंज्योति आत्मा अपना महत्व दिखाता है। जैसे अन्धा आखों को बनवाकर पदार्थों को देखता है, उसी प्रकार जो आखों को देखने वाला है वही पदार्थों के और वृत्तियों के भाव-अभाव का भी देखने वाला है। सोई स्वयंज्योति आत्मा है। आखों के आदि, अन्त और मध्य तीनों काल में यह स्वयंज्योति सिद्ध हुआ। उसी प्रकार यह स्वयंज्योति सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों को अन्धे की तरह देखता है। जाग्रत में चक्षु आदिक इन्द्रियों को स्पष्ट रूप से देखता है और स्वप्न में सामान्य रूप से देखता है। जैसे पुरुष चक्षु के भाव-अभाव को देखता है, उसी प्रकार स्वयंज्योति आत्मा इन्द्रियों के भाव-अभाव को देखता है।

हे राजन् ! यह स्वयंज्योति जब जाग्रत से स्वप्न में अथवा सुषुप्ति में जाता है तब प्राण को शरीर की रक्षा के लिए बिठा जाता है और इन्द्रियों को शयन करा जाता है। तब मन स्वप्न में अनेक रूपों को धारकर क्रीड़ा करता है और स्वयंज्योति को अपनी लीला दिखाता है। फिर स्वयंज्योति जब स्वप्न की लीला देख कर सुषुप्ति में जाता है, तब मन अविद्या में लीन होजाता है और स्वयंज्योति ही शेष रहता है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। जैसे पुरुष के सामने शीशा के आने से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय बन जाते हैं। जब शीशा हटा दिया जाता है तब प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय रूप त्रिपुटी स्वयंज्योति में लीन हो जाती है। जहाँ से उत्पन्न हुई थी—वहाँ ही लीन हो जाती है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब एक हो जाते हैं और जो कल्पना के आश्रय हुई थी, वह भी कल्पना में ही लीन हो जाती है। उसी प्रकार जब परमात्मा अन्तःकरण की तरफ देखता है उसकाल में, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, जाग्रत, स्वप्न में सिद्ध होते हैं और जब अपने स्वरूप की तरफ देखता है तब प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय जाग्रत, स्वप्न का अभाव हो जाता है। सुषुप्ति की तरह एक अद्वैत स्वयंज्योति ही शेष रहती है। हे राजन् ! इस प्रकार स्वयंज्योति आत्मा आप ही अनेक रूप होकर अपनी लीला आप देखता है।

राजा—हे मुनि ! आपने स्वयंज्योति आत्मा को ज्ञान स्वरूप कहा है और जो यह नाना ज्ञान रूप पुरुष हैं, जब ज्योति में लीन होते हैं उस काल में प्रथक-प्रथक रहते हैं अथवा ज्योति के साथ अभेद हो जाते हैं। जो परस्पर भिन्न रहते हैं तब तो भेद सिद्ध हुआ और जो मिलकर एक हो जाते हैं तो अभेद सिद्ध हुआ, परन्तु ज्योति रूप न रहा। आप ज्योति को ज्ञान भला कैसे कहते हो ?

मुनि—हे राजन् ! गौ शब्द एक है। खुर, पूँछ, सींग तथा अंग प्रथक-प्रथक हैं। सो गौ तो लिंग

नहीं होते हैं, गौ का स्वरूप ही हैं। उसी प्रकार स्वयंज्योति शब्द गौ की तरह एक है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय इस ज्योति के मानो अंग हैं। जहाँ ज्योति जाती है, वहाँ उसके अंग भी जाते हैं। यदि अंगों की ओर दृष्टि को करें तो अनेक प्रकार का ब्रह्माण्ड प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय स्वप्न, जाग्रत, नाना भान होते हैं और जब स्वयंज्योति की तरफ देखें तब एक, अद्वैत, आनन्द, ज्ञान घन ही दीखती है। हे राजन्! जैसे महाकाश से घटाकाश भिन्न नहीं है उसी प्रकार स्वयंज्योति आत्मा से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, भिन्न नहीं हैं। जब स्वयंज्योति की इच्छा होती है तब एक दम से उत्पन्न हो जाते हैं और जब त्याग की इच्छा होती है, तब सब का एक दम अभाव हो जाता है। सब प्रपंच संकल्प मात्र बना हुआ प्रतीत होता है। यथार्थ में तो सैंधव नमक की तरह एक विज्ञानघन स्वयंज्योति ज्यों-का-त्यों अपने आप में स्थित है।

जनक—हे मुनि! एक में तो दृष्टान्त और युक्ति कुछ नहीं बन सकती। इस कारण से स्वयंज्योति एक किस प्रकार है? दृष्टान्त युक्ति बिना स्वयंज्योति सिद्ध नहीं होता है।

मुनि—हे राजन स्वयंज्योति चैतन्य को अनेक मानने से श्रुति से विरोध होता है, श्रुति में एक ही अद्वैत है। साक्षी चैतन्य एक ही माना है। उसमें अनेकत्व तो उपाधि से प्रतीत होता है। वास्तव में आत्मा एक रस है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय करके जो अनेकत्व की प्रतीति है सो भ्रान्ति मात्र है। जो पुरुष विचार से रहित हैं, उनको एक स्वयंज्योति में नानापना प्रतीत होता है। विचारवान विवेकी पुरुष को नानापना अनिर्वचनीय दीखता है। राजन्! अब हम तुमसे यह पूछते हैं कि यह नानात्व कहाँ से उत्पन्न हुआ है?

जनक—हे मुनि! एक से हुआ है और वह एकत्व नानात्व से तथा नानात्व एकत्व से हुआ है।

मुनि—हे राजन्! इस तेरे कहने से भी एक ही सिद्ध हुआ क्योंकि जहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष होता है, वहाँ पर किसी की भी सिद्ध नहीं होती है। जो एक स्वयंज्योति है वही निर्विकार, सब का ज्ञाता है। नानात्व इसमें मिथ्या है। बिना हुआ प्रतीत होता है। इस नानात्व का भ्रम ब्रह्मज्ञान से अत्यन्त अभाव निश्चय होने पर हो जाता है और स्वयंज्योति को एक कहना भी नाना की अपेक्षा से है। वास्तव में अवाच्य पद है। इस कारण से वेद का कथन यथार्थ है। हे राजन्! यह असत् प्रपंच भी स्वयंज्योति के आश्रय, भ्रम मात्र प्रतीत होता है। वास्तव में स्वयंज्योति से इतर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदिक त्रिपुटियों का चैतन्य से भिन्न अभाव है।

राजा—हे मुनि! स्वयंज्योति जाग्रत स्वप्न के साथ मिलकर विशेष होता है तो इसका सामान्य स्वरूप जाता रहता है और फिर जब सुषुप्ति में जाकर विशेष रूप का त्याग करके निर्विशेष होता है तो विशेष के अभाव हुए से स्वयंज्योति एक रस नहीं हुआ क्योंकि जाग्रत अवस्था में उसकी निर्विशेषता का अभाव देखने में आता और सुषुप्ति में विशेषता का अभाव देखने में आता है।

मुनि—हे राजन्! स्वयंज्योति आत्मा का असली स्वरूप निर्विशेष है। तेरे समझाने के लिए हमने विशेष रूप कहा था। विशेषरूप तो इसका मिथ्या है। सो उपाधि के कारण से प्रतीत होता है। सो धर्म नहीं होता है। जाग्रत-स्वप्न में स्वयंज्योति ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, रूप से विशेष कहा जाता है और सुषुप्ति में निर्विशेष होता है। क्योंकि वहां पर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, आदिक त्रिपुटी का अभाव है।

हे राजा! यही एक रस आनन्द धाम ब्रह्मलोक है। तुमने जिस ब्रह्म लोक के जाने के लिए नाना प्रकार की तय्यारी की थी, सो यह ब्रह्म लोक है और यह स्वयं ज्योति तेरा आत्मा ही सब धामों

का धाम परम धाम है। इस से भिन्न जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्र आदिक देवताओं के धाम हैं, वह सब के सब अधाम हैं। सर्व आत्मा स्वयं ज्योति परम धाम है। नाना प्रकार की कर्म उपासना, तप, आदिक जो सकामता से करते हैं उनको किंचित्मात्र भोग की प्राप्ति होती है, मोक्ष नहीं होती और जो विवेक आदिक चार साधन करते हैं वह मोक्ष को प्राप्त होते हैं। मोक्ष का नाम ही परम धाम है। हे राजन्! इसी को वैकुण्ठ कहते हैं। यही सच्चिदानन्द आत्मा है, यही तुर्या ज्योति है।

हे राजा! जो कोई अपनी इस एकता को जानता है और इस तरह का विवेक पाता है कि मैं "संप्रसाद" में अपनी एकता देखता हूँ और अनेकता में भी आया हुआ दूसरों के धर्मों से धर्म वाला हूँ, किन्तु उनसे संग नहीं पाता, जैसा कि स्वप्न में दिखलाया गया है, तो इसी विद्या के कारण यहां भी नियत समय तक दुःख पाता हुआ भी नहीं पाता। मृत्यु के पश्चात् सुख स्वरूप ही हो जाता है और कर्म बंधन से निकल जाता है। इसलिए इस ज्ञान पर यह दूसरा मिथ्या कमाल मुफ्त में मिल जाता है। हे राजा! यही प्रसाद है अर्थात् "आनन्द स्वरूप मैं हूँ"। तब जाग्रत और स्वप्न में ख्याल और प्रारब्ध के कारण यदि कुछ दुःखों की प्रतीति भी होती है तो होते हुए भी नहीं होती। हे राजा! तू प्रत्येक विशेष आनन्द को इस पूर्ण आनन्द से जांच कर देख ले। छोटे से लेकर बड़े तक मनुष्य से लेकर ब्रह्मलोक तक प्रत्येक का आनन्द पूर्णानन्द के भीतर सम्मिलित है। इस परमानन्द से इतर और सब आनन्द तुच्छ हैं।

राजा—हे मुनि! जिस आनन्द से सब आनन्दी हो रहे हैं उसको हम कैसे प्राप्त हों?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जैसे नमक की चुटकी नमक बेचने वाले के नमक का एक अंश है। बेचने वाले का नमक किसी बड़े ढेर का एक अंश है और नमक का ढेर पर्वत के नमक का एक अंश है। इस एक चुटकी का नमक और पर्वत का नमक छोटी बड़ी दो उपाधि हैं और देखो कितना भेद है। परन्तु नमक मात्र का भेद नहीं है। उसी प्रकार मनुष्य का आनन्द परमानन्द का एक तुच्छ कण है। सो भी किस मनुष्य का आनन्द कण है—चक्रवर्ती राजा का, पूर्ण अंगों वाला सुन्दर दृढ़ शरीर वाला, जवान, रोग से रहित और शास्त्र का ज्ञाता भी हो तथा बुद्धिमान हो और सब चिन्ताओं से रहित हो। भोगों को भोगने से शिथिल न हो। ऐसा आनन्द का नाम मनुष्य लोक का आनन्द है। उन चक्रवर्ती मनुष्य के आनन्द से सौगुणा मानव गंधर्व का आनन्द है और मानव गंधर्व से सौगुणा अधिक देव गंधर्वों का आनन्द है। देवगंधर्वों से सौगुणा अधिक पितृों का आनन्द है और पितृों से सौगुणा आनन्द कर्म देवताओं का आनन्द है। कर्म देवताओं से सौगुणा अधिक आजान देवताओं का आनन्द है और आजान देवताओं से सौगुणा अधिक मुख्य देवताओं का आनन्द है। मुख्य देवताओं से सौगुणा इन्द्र का आनन्द है और इन्द्र से सौगुणा अधिक देवगुरु बृहस्पति का आनन्द है। बृहस्पति से सौगुणा अधिक विराट् का आनन्द है और विराट् से सौगुणा अधिक ब्रह्मा का आनन्द है।

हे राजन्! उस ब्रह्मा से अधिक किसी का आनन्द नहीं है। ब्रह्मा को दुःख का लेश भी नहीं है। सो ब्रह्म का आनन्द भी परमानन्द आत्मा के आनन्द का एक कण मात्र है, दूसरों के आनन्द की तो बात ही क्या है?

हे राजन्! जिस मनुष्य ने तृष्णा का त्याग किया है और आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ है, वह मनुष्य से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सब आनन्दों को भोगता है। जैसे खांड का खिलौना खांड का देवता

भोगता है। उसी प्रकार वह पुरुष अपने आप आनन्द को मनुष्य शरीर में आनन्द रूप होकर भोगता है। हे राजा ! यह अनन्त आनन्द जो आत्मा आनन्द है, अपने आप प्रत्येक को सदैव प्राप्त है और वही अपना आप है। किन्तु अपने से भिन्न की कामना में, भिन्न वस्तु की प्राप्ति में प्रत्येक को अनुभव भी है। जो नहीं पाते दुःखी होते हैं। परन्तु जो अपने आपकी कामना करता है, अपने से भिन्न की कामना नहीं करता, उसे सदा मिलता है। जो इसे जानता है वह विना कामना और इच्छा किए ही पा जाता है और नित्य आनन्द में है। हे राजन् ! इसका आदि या अन्त नहीं। इसलिए आत्मनैष्ठी ज्ञानी परमहंस शरीर में रहता हुआ भी शरीर से प्रथक होता है तथा अमृत ब्रह्म प्राणों का भी प्राण, प्रकाशों का भी प्रकाशक है। वह दंड और पुरस्कार इन दोनों से परे है और यही वास्तव में मुक्ति है और यही जीवन्मुक्ति है।

हे राजा ! इन ब्रह्मलोक आदिकों को कैसे पुरुष प्राप्त होते हैं, यह भी सुन। जो शास्त्र के अनुसार नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, श्राद्ध आदिक कर्मों के करने वाले हैं, वह पितृलोक को प्राप्त होते हैं और जो अग्निहोत्र, उपासना, ध्यान करने वाले हैं, वह गन्धर्व लोक को प्राप्त होते हैं और जो पुरुष कूप, ताल, बावड़ी, बाग, बगीचे, धर्मशाला, यज्ञशाला, मन्दिर आदिक बनाते हैं और किसी को भूखा नहीं देख सकते, अपनी शक्ति के अनुसार अन्न आदिक दान करते हैं वह कर्मदेव भाव को प्राप्त होते हैं। जो वेद पढ़कर भोगों की तृष्णा को त्याग देते हैं वह आजान देव हुए हैं और इच्छा पूर्वक भोग भोगते हैं। हे राजा ! तृष्णा रहित पुरुष मनुष्य शरीर में ही चक्रवर्ती, मानव गन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृ, कर्म देवता और आजान देवता के आनन्द को भोगता है। जिसने वेदों का श्रवण मनन करके सब कामना छोड़ दी हैं अर्थात् जो लोभ-लालच से दूर है वह जीवनकाल में ही विराट् के आनन्द को प्राप्त होता है।

जिस पुरुष ने महावाक्यों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन किया है और स्वयं को हिरण्यगर्भ रूप करके ध्यान करता है और सब ब्रह्माण्ड को मिथ्या मृग तृष्णा के समान देखता है और जिसकी सब तृष्णा शान्त हो गई है, सो जीते जी ब्रह्मलोक का आनन्द भोगता है। जैसे कुण्ड के जल से मोरी द्वारा कोई बूँद कहीं जा पड़ती है, उसी प्रकार परमानन्द रूपी समुद्र से निकली हुई एक बूँद के समान हिरण्यगर्भ का आनन्द है। इस बूँद का नाम ही ब्रह्मलोक है। वही बूँद ब्रह्मलोक द्वारा विराट् लोक में आई है। विराट् लोक द्वारा इन्द्रलोक में, इन्द्रलोक द्वारा आजान देवताओं में, आजान देवताओं द्वारा कर्म देवताओं में, कर्म देवताओं द्वारा पितृलोक में, पितृलोक द्वारा गंधर्वलोक में और गंधर्वलोक द्वारा मनुष्यलोक में आई है। उस मनुष्यलोक के चक्रवर्ती राजा द्वारा सब मनुष्यों में फैली है।

हे राजा ! पर्वत के नमक की तरह परमानन्द की बूँद ब्रह्मलोक से मनुष्यलोक पर्यन्त फैल रही है। अब इस आनन्द को साक्षात् दिखाते हैं। जब यह पुरुष सुषुप्ति में जाता है तो वहाँ सब पदार्थों का अभाव देखता है और अपने आप विज्ञानघन आनन्द रूप से स्थित होता है। हे राजन् ! सो परमानन्द तेरा आत्मा है। मुख्य तो सात लोक हैं—भू लोक, पितृलोक, गंधर्वलोक, कर्मलोक, आजान लोक, विराट लोक, ब्रह्म लोक। और जितने लोक शास्त्रकारों ने निरूपण किये हैं सो सब-के-सब इन्हीं के अन्तर्भूत हैं। शास्त्रों में जो शिव, विष्णुलोक आदिकों का कथन है सो धात्रि की कथा की तरह कामना के मारे हुए पुरुषों की रुचि बढ़ाने के लिए हैं। यह सब लोक ब्रह्म के अन्तर्भूत हैं। स्वयं ज्योति भूमा आत्मा के आश्रय अनन्त ब्रह्मलोक आदिक भुवन हैं सो सब कल्पना मात्र मिथ्या हैं। भूमा आत्मा में देना, लेना, आना,

जाना, देखना, सुनना, पुण्य, पाप, लोक, परलोक आदि स्वरूप से कुछ नहीं हैं। इसी कारण से वह परमानंदस्वरूप है। इसी को अमर पद, ब्रह्म, आत्मा आदि के नाम से कथन करते हैं। इससे भिन्न जो कुछ है सो सब सीपी में चाँदी की तरह है। रज्जू में सर्प की तरह भान होता है।

जिस पुरुष की तृष्णा ब्रह्मलोक पर्यन्त निवृत्त हुई है सो मनुष्य शरीर में रहते हुए ही सब लोकों का आनन्द भोगता है। वही साक्षात् परमानन्द स्वरूप है। जिस पुरुष की भूलोक के भोगों की तृष्णा निवृत्त हुई है, सो रङ्क की अवस्था में चक्रवर्ती का आनन्द भोगता है। इसी प्रकार यह पुरुष जिस-जिस लोक के भोग की तृष्णा-त्याग करता है, उसी-उसी आनन्द का भोग करता है। जिसकी सब तृष्णा जाती रही हैं सो परमानन्द ज्योति स्वरूप है। हे राजन्! सो ही तेरा अपना आप प्रत्यग् है। जो हमने दृष्टांतों द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का द्रष्टा कहा है वह तू ही है और जितना दृश्य तुझको प्रतीत होता है सो सब नाम मात्र मिथ्या है। जीवन्मुक्त इसी प्रकार अपने आपको अद्वैत परमानन्द रूप से निश्चय करके स्थित होते हैं। यह जीवन्मुक्त ज्ञानी परमहंस शरीर में रहता हुआ भी शरीर से पृथक होता है। अमृत ब्रह्म प्राणों का भी प्राण, प्रकाशों का भी प्रकाश है। जैसे सर्प अपनी केंचुली उतारता है और अपनी बाँबी में फेंकता है। उसके साथ रहता है किंतु उससे सम्बन्ध नहीं रखता। इसी तरह यह ज्ञानी भी अपने बाह्य शरीर को जब विवेक से फेंकता है तो यद्यपि साथ ही पाता है, परन्तु कुछ सम्बन्ध नहीं रखता।

राजा—हे मुनि! जैसा आप कहते हो ऐसा ही है। मैं अद्वैत आनन्द ब्रह्मस्वरूप हूँ। हे मुनि! आत्म स्वरूप विषय में स्थित हूँ सो मेरा मरण नहीं होता है, जन्म भी नहीं होता है, क्योंकि मैं तो त्रिकाल में सत्यरूप हूँ। केवल आत्मा मात्र को देखने वाला हूं, मुझे भूः आदि लोकों की प्राप्ति नहीं होती है, इसी कारण मुझे कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। मैं पूर्णात्मा हूँ, इस कारण मेरा लय वा समाधि भी नहीं होती है। हे मुनि! अब मैं वस्त्र-भूषण सहित एक सहस्र गौ आप को देता हूँ। आप इनको स्वीकार कीजिये।

॥ इति ज्योति ब्राह्मण, जनक-याज्ञवल्क्य सम्वाद नामक दशवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ग्यारहवाँ अध्याय

[राजा जनक और सुलभा का संवाद]

शिष्य—हे गुरु ! सूक्ष्म और कारण अहंकार का त्याग किस प्रकार होता है ?

गुरु—हे शिष्य ! इस पर एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ ताकि तुम कभी बाहर के त्याग को ही सब कुछ न समझ बैठो । प्राचीनकाल में एक सुलभा नाम की क्षत्रिय कुल की कन्या, सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्मरूप से देखने वाली, ब्रह्मरूप में विलीन हुई संन्यासिनी ने अनेक तत्वविद् महात्माओं के मुख से सुना था कि राजा जनक को दिव्य अलौकिक ज्ञान प्राप्त हुआ है। वह सत् का ही उपासक है, अन्य नामरूप संसार का नहीं । सत् बिना कुछ देखना-सुनता तथा बोलता भी नहीं। इस प्रकार सुलभा उस जनक की महिमा को सुन कर विचार करने लगी कि चल कर देखना चाहिये। इसलिये वह राजा जनक की परीक्षा के लिये उसकी यज्ञसभा में पहुँच गई ।

हे शिष्य ! अब आगे उसका स्वरूप भी सुनो। उसका वेष विचित्र अद्भुत था। वह दिगम्बर नग्न थी। उसकी कान्ति मनोहर थी अर्थात् जगत् के अज्ञानी, विषय-लम्पट जीवों पर अपने प्रताप की दिव्य छाप डालने वाली थी। उसका अङ्ग गौरवर्ण का था और लम्बे-लम्बे काले केशों से तमाम शरीर ढका हुआ था। उसके माथे पर त्रिपुण्ड की स्वाभाविक तीन रेखायें पड़ी हुई थीं। उसके हाथ में दण्ड-कमण्डलु था। बिना संकोच वह राजा जनक की यज्ञसभा में जा खड़ी हुई।

उसको सभा के बीच में खड़ी देख कर सब-के-सब सभासद आश्चर्य में हो गए। यज्ञसभा में एक-दम सन्नाटा-सा छा गया तथा सभी सभासद अनेक संकल्प-विकल्पों से ग्रसित हो गये। ऋषि, मुनि, नगर-जन तथा क्षुद्र प्राणियों में कोई हँसी से, कोई कौतुक से और कोई दूसरे ही प्रकार से उसकी तरफ देखने लगे। परन्तु उस त्रिदण्डिनी सुलभा के मुख-मण्डल के प्रकाश के सामने किसी की भी दृष्टि ठहर न सकी। यहाँ तक कि ब्रह्मज्ञानियों का भी स्थितप्रज्ञापना नहीं रह सका, क्षुद्र जीवों की तो बात ही क्या थी ? यज्ञसभा में केवल उस एक याज्ञवल्क्य मुनि ही स्थितप्रज्ञ रहे।

जनक ने कहा कि हे विचित्र वेष धारने वाली देवी ! यद्यपि मैंने छत्र-चँवर आदि धारण किया है, राज का कार्य तथा निग्रह-अनुग्रह सब काम-काज करता-कराता हूँ तथापि मैं मुक्त, असंग तथा निर्लेप हूँ। मेरी इस सब में किंचित् भी आसक्ति नहीं है, ऐसा तत्व करके तू जान। हे त्रिदण्डिनी ! ज्ञानरूपी अग्नि से मेरा वासनारूपी बीज भस्म हुआ है। मुझे शत्रु के नाश में प्रीति नहीं है, वैसे ही स्त्री-पुत्रादिक के परि-मद में भी प्रीति नहीं है। मेरे कोई चन्दन लगावे या कोई भुजा को काटे, ये दोनों पुरुष समान हैं। न तो काटने वाले से द्वेष है और न दूसरे से राग। मुझे मिट्टी और सोना समान जँचता है अर्थात् न तो सुवर्ण से राग है और न मिट्टी से द्वेष है।

हे भगवती ! यह देह जो तुझे दिखाई देता है, यह सर्वसंग से रहित है। सम्पूर्ण कामनाओं से रहित है। मुझे त्रिदण्ड और छत्र धारण करना समान है क्योंकि मुझे इन बन्धन के कारण पदार्थों में आसक्ति ही नहीं है। मुझे वर्तमान काल भी भविष्यत काल के समान ही दीख पड़ता है अर्थात् जैसे

भविष्यत काल के राग-द्वेष वर्त्तमान काल में प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार वर्त्तमान काल के राग-द्वेष भी मुझको स्पर्श नहीं करते। यह सब तू निश्चय करके जान। मुझे दिगम्बर और साम्बर समान है। मुझको इनमें कोई भी विलक्षणता नहीं दीखती। मेरे स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीरों की शुद्धि हो चुकी है अर्थात् इन तीनों शरीरों का अहंकार नष्ट हो गया है। जैसे कमल-पत्र को जल स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार संसार मुझको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि मैं तीनों ईषणाओं से मुक्त हूँ।

हे त्रिशूलधारिणी! मैंने पूर्वकाल में सर्वश्रेष्ठ मोक्ष विषयक ज्ञान जिनसे प्राप्त किया था, उनके सिवाय दूसरा कोई उस ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला नहीं था। उस ज्ञानदाता का भी परिचय तू सुन—पराशर गोत्रीय, संन्यास धर्मावलम्बी वयोवृद्ध महात्मा पंचशिख मेरे गुरु हैं। मैं उनका परम प्रिय शिष्य हूँ। उनकी मेरे पर बहुत कृपा थी। वह एक समय संसार में घूमते-घामते मिथिला नगरी में आ निकले और वर्षा काल में चार माह यहीं पर आनन्द पूर्वक ठहरे। उनको सांख्य शास्त्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त यथार्थ रूप से प्रत्यक्ष की भाँति ठीक-ठीक ज्ञात था। उन्होंने मुझे सांख्य शास्त्र, योग विद्या, राजनीति अर्थात् राजधर्म इन त्रिविध मोक्ष धर्मों का श्रवण करा दिया। मुझे कोई संशय भी नहीं रहा, परन्तु उन्होंने मुझे राजकाज के कार्यों से दूर होने की आज्ञा नहीं दी। मैं इस प्रकार से उस उपदेश को पाकर विषयों की आसक्ति से रहित होकर मोक्ष पद में स्थित हुआ हूं।

हे भगवती! विवेक-वैराग्य ही ज्ञान के मुख्य साधन हैं और ज्ञान से ही परम पद प्राप्त होता है। मनुष्य ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष पाने के लिये प्रयत्न करता है, उसी से महान आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वह आत्मज्ञान ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से छुटकारा दिलाने का साधन है। यही परम सिद्धि है, अन्य कुछ नहीं। मृत्यु से भी पार करने वाली है। उसी आत्मज्ञान से मेरा मोह भी दूर हो गया है। मैं तमाम संसर्गों का त्याग कर चुका हूं, इसी कारण से मैं गृहस्थ आश्रम के धर्मों में वर्तता हुआ भी बुद्धि की परम निर्द्वन्द्वता को प्राप्त हुआ हूं। हे त्रिदण्डिनी! इस प्रकार मुक्ति विषयक इन तीन प्रकार की वृत्तियों का आचरण करता हुआ मैं परम पद में स्थित हो गया हूँ।

हे शिष्य! राजा जनक अपना सब परिचय सुना कर फिर सुलभा से पूछने लगा—हे भगवती! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम मेरे राज-भवन में इस विचित्र वेष अर्थात् नग्न अवस्था में कहाँ से आई हो! तू ने तो मेरे चित्त को उलट-पुलट कर दिया। तू ने तो व्यावहारिक धर्म नष्ट कर दिया जो तू संसारी जीवों के सामने नग्न होकर, बिना लज्जा-शर्म के, बेधड़क आकर खड़ी हो गई। इसे स्त्री धर्म, लौकिक धर्म तथा शास्त्र-मर्यादा के विरुद्ध वर्तना ही कहा जाता है। फिर तू कुँवारी जान पड़ती है, क्योंकि तेरे शरीर पर विवाहिता होने का कोई भी आभूषण नहीं है। इस प्रकार स्वच्छन्द होकर घूमने से यौवन अवस्था को प्राप्त हुई कन्या दूषित हो जाती है।

एक काम तू ने बहुत ही अनुचित किया है, वह यह कि तू याज्ञवल्क्य मुनि के पास जाकर खड़ी हो गई। क्या तू सबको अन्धा और पशु ही जानती है? यदि तू विवाह के लिए इस राज-भवन में आई है तो मैं क्षत्रिय हूँ और तू ब्रह्म ऋषि की कन्या मालूम होती है। क्या तू क्षत्रिय से वर्णशंकर सन्तान उत्पन्न करना चाहती है? तेरा यह कार्य मेरे राज में व्यभिचार लाने वाला है। यह नहीं हो सकता। तू यौवन अवस्था को प्राप्त हुई अपना विवाह क्यों नहीं कर लेती? इस प्रकार से तो कलिकाल में स्त्रियाँ इधर-उधर

घूमा करती हैं। भला विदेह के राज्य में कलियुग जैसी स्त्रियों का क्या काम ? जिस राष्ट्र में इस प्रकार की उच्छृङ्खल प्रजा होती है, वहाँ पर अनेक प्रकार की आपदायें खड़ी हो जाती हैं। परस्पर विरोध, मिथ्याचार, व्यभिचार, अनाचार, छल-कपट, दुर्भिक्ष, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, साधु तथा ब्राह्मणों का अनादर, देव तथा पितरों को तृप्त करने का अकाल पड़ने लगता है। हे दिगम्बरी ! मेरी इन सब बातों का ठीक-ठीक उत्तर दे।

हे शिष्य ! विदेह राजा जनक के मुख से ऐसे कठोर वचन सुनकर उस दिगम्बरी का चित्त किंचित भी विचलित अर्थात् विक्षेप को प्राप्त नहीं हुआ। वह जनक से कहने लगी कि हे जनक! तू इस संसार में विदेह माना जाता है और अपने नौकरों-चाकरों से अपने को पुजवाता है। हे देहदर्शी जनक ! बुद्धिमान् तत्वविद् वही गिना जाता है जो अक्षर, शब्द और वाक्यों को दोष रहित बोलता है। बुद्धिमान् तो निष्प्रयोजन या निरर्थक वाक्य का उच्चारण ही नहीं करता। उसी प्रकार वह कठोर, ग्राम्य धर्म, अर्थ, काम से विरुद्ध, असंगत और असंस्कृत तथा न्यूनाधिक वाक्योच्चारण भी नहीं करता।

हे जनक ! मेरा परिचय सुन ! मैं तेरे समान जाति-वर्ण वाली क्षत्रिया ही हूँ, ब्रह्मऋषि की कन्या नहीं हूँ। मेरा जन्म शुद्ध वंश में हुआ है। तुमने प्रधान नामक राजर्षि का नाम जरूर सुना होगा। मैं उनके कुल में उत्पन्न हुई हूँ। तुमको मालूम होना चाहिये कि मेरा नाम सुलभा है। मेरे जिन पूर्वजों के यज्ञों में देवराज इन्द्र के सहयोग से द्रोण, शतशृङ्ग और चक्रद्वार नामक पर्वत यज्ञवेदी में ईंटों की जगह चुने गये थे, मेरा जन्म उसी महान कुल में हुआ है। अपने योग्य पति के न मिलने पर मैंने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया है और मोक्ष धर्म की दीक्षा लेकर, मुनि व्रत धारण करके, संसार में रहती हूं। हे जनक ! मैंने छल-कपट से संन्यासिनी का वेष धारण नहीं किया, न मैं दूसरों के धन का अपहरण करती फिरती हूँ और न धर्म शंकरता ही फैलाती हूँ। हे जनक ! मैं दृढ़ता-पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती हुई अपने धर्म में स्थिर रहती हूं। मैं अपनी प्रतिज्ञा से कभी विचलित नहीं होती और बिना सोचे-समझे तेरी तरह से कोई बात कभी नहीं बोलती। तेरे पास जो आई हूँ, खूब सोच-विचार कर आई हूँ।

हे जनक ! मैंने अनेक महात्माओं के मुख से सुना था कि राजा जनक विदेह है, परन्तु आज प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो गया कि तू विदेह अर्थात् आत्मदर्शी नहीं, किन्तु देहदर्शी अल्पज्ञ प्राणी ही है और साथ ही साथ मूर्ख ही नहीं, वज्र मूर्ख भी है। क्योंकि जो कामी नहीं होता, वह शरीर की शोभा बढ़ाने वाली वस्तुओं से प्रीति कभी नहीं किया करता और तू इसके विपरीत वर्तता है। तू ने जो कहा कि मैंने तेरे चित्त को चंचल कर दिया, सो मैंने तेरे अंग से स्पर्श तक नहीं किया। फिर भी तेरा चित्त मुझको देखकर चंचल हो गया तो यह दोष तेरे मन का है, न कि दृश्य-पदार्थों का। मैं स्वच्छन्द होकर नहीं घूमती, तेरी परीक्षा के लिए पिता से आज्ञा लेकर तेरी राजसभा में आई हूं। विवाह मैंने इस कारण से नहीं किया कि मेरे समान वर नहीं मिला। मेरा विवाह तेरे साथ भला कैसे हो सकता है ? तू बुड्ढा, अनात्मदर्शी, मंदबुद्धि युक्त अनेक दोषों से ग्रस्त है। मेरी तेरी क्या समता ?

हे जनक ! जो विदेह होते हैं, वह तो परब्रह्म में रमण करने वाले सद्रूप ही होते हैं। वे ऐसे निकृष्ट वचन नहीं बोलते और सर्वत्र ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ देखते ही नहीं। जैसे नट नाट्य करता है, ...ज में भी पुरुष ही है और जब उस वेष को त्यागता है उस हाल में भी पुरुष ही है, इसी प्रकार

ब्रह्मवेत्ता चाहे नंगा हो और चाहे वस्त्र पहिने हो, उसमें अधिकता तथा न्यूनता कुछ नहीं होती। वह तो तेरे समान विदेहीपने को नहीं जानते। उनमें तुझको विलक्षणता जान पड़ती है तो यह तेरी मूर्खता नहीं तो और क्या है ? तू जो अपने को विदेह जानता है, सो तुझको भ्रम हुआ है। तुझमें विदेहपन किंचित् मात्र भी नहीं क्योंकि जिसमें अखण्डित सद्रूपता होती है, वही विदेही होता है। उस सद्रूपता का अभावही सदेहपना गिना जाता है। अतः तू शरीराभिमानी सदेही है, इसीलिए तूने मुझे नग्न देखा। यदि तुझ में सद्रूपता होती तो तू मुझको ब्रह्मरूप ही देखता, न कि इस प्रकार का भ्रम देखता।

हे जनक! जो स्थितप्रज्ञ होता है वही विदेह होता है। मेरे समान स्थितप्रज्ञ न होने के कारण सब पशु हैं, उनकी मैं लज्जा नहीं करती। भला पशुओं से भी कोई बुद्धिमान लज्जा करता है! कदापि नहीं! इन याज्ञवल्क्य मुनि के पास जाकर इसलिये खड़ी हो गई कि यह मुनि उच्च कोटि के स्थितप्रज्ञ ब्रह्मरूप हैं। जो यह हैं, सोई मैं हूँ। पुरुष-पुरुष समान होते हैं, भिन्न नहीं। यह भी मैंने निश्चय कर लिया कि तू स्थितप्रज्ञ नहीं है। यह इसी से स्पष्ट है कि मुझे नग्न देखकर तुझको कौतुक हुआ और नग्नावस्था को तूने दूषण जाना। तूने ही मुझ से पूछा है कि तू कौन है ? कहाँ से आई है! —इत्यादि, सो यह तेरा प्रश्न ही तेरी अज्ञानता को सूचित करता है।

मिट्टी और पानी जैसे स्वभाव से मिल जाते हैं, वैसे ही इस जड़ शरीर और चैतन्य का मेल भी है तथा इस जड़ और चैतन्य के संयोग से मैं निर्माण हुई अर्थात् एक पुतली बनी हूँ। यह जड़ और चैतन्य सब में है। जो जड़ तुझ में है, वही मुझ में भी है और जो चैतन्य मुझ में है, वही तुझ में भी है। फिर बता कि तू किस से प्रश्न करता है ? जड़ से प्रश्न करता है या चैतन्य से ? यदि जड़ से करता है तो रेत का कण दूसरे के साथ मिलकर भी उसे नहीं जानता। वह कण भला क्या उत्तर देगा ? यदि तू चैतन्य से प्रश्न करता है तो मेरा चैतन्य और तेरा चैतन्य एक ही है, दो नहीं। जो तुझ में है, वही मुझ में है। तब तू अपने चैतन्य से ही क्यों नहीं पूछ लेता कि मैं कौन हूँ ? हर वस्तु में एक ही जड़ और एक ही चैतन्य है। तब क्या प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न ज्ञान हो सकता है ? कदापि नहीं।

हे राजा जनक ! अव्यक्त अर्थात् प्रकृति चौबीस कला से व्यक्त हुई है—पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पंच प्राण, चार अन्तःकरण, वासनात्मक जगत्, अविद्या, प्रकृति, व्यक्ति, सुख-दुःख, जन्म-मरण, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय, काल, पंचमहाभूत, सद्भाव, असद्भाव, विधि, वीर्य और बल,—यह अड़तीस तत्व हैं। या यों कहो कि एक प्रकृति, सात विकृति, षोडश विकार हैं। वही मैं हूँ, वही तू है और वही यह सारा जगत है।

तू पूछता है कि मैं किसकी हूँ और तेरी राजसभा में कहां से आई हूं ? तेरा यह प्रश्न भी मूर्खता से भरा है। हे बड़े ज्ञानी! तुझको इतनी भी खबर नहीं कि जिसकी स्थिति प्रतिक्षण बदलती हो अर्थात् एक दशा में न रहे, वह क्या कहे तथा इसका क्या उत्तर दे ? देख, जिसका तू है उसी का सब संसार है, तो मैं किसकी कही जाऊँ ? क्योंकि स्त्री के गर्भाशय में वीर्य तथा रज के मिलने से शरीर बनता है। उससे नवें महीने में जन्म होता है। कुछ चिह्नों से स्त्री-पुरुष कहे जाते हैं।

शरीर ही बाल अवस्था से क्रमानुसार बढ़कर युवावस्था को प्राप्त कर बुड्ढा होता है और फिर मर जाता है। इस प्रकार क्रम से पूर्व-पूर्व रूप का नाश होता जाता है और दीपक की ज्योति की तरह

जीवात्मा नये-नये रूपों को क्षण-क्षण में धारण करता जाता है। इस प्रकार रूपान्तर और स्थित्यान्तर होता जाता है।

यह सब विकार शरीरादि को ही धारण करने पड़ते हैं। आत्मा का तो इनके साथ कुछ भी प्रयोजन नहीं है। वह तो विकार रहित है। वहां कौन किसका है और कहां से आया है?—इस प्रश्न का उत्तर मैं क्या कहूं? अरे जनक! बोधमान को यह प्रश्न कैसा? सिवाय बद्ध ज्ञानी के और कौन ऐसा प्रश्न करेगा? जीवात्मा का अपने ही हाड़-चाम के साथ सम्बन्ध नहीं तो फिर दूसरों के साथ सम्बन्ध कैसे हो? जीव एक स्थिति में ठहरता नहीं। "मैं" जो आत्मा हूं सो अपने को किसकी बताऊँ? "मैं" कौन हूँ, किसकी हूं और कहां से आई हूं?—बता तुझे कैसे समझाऊँ?

हे जनक! जो तू समानता का अधिकारी और अद्वैत भाव में मग्न होता तथा तुर्या का नशा तुझे चढ़ा होता तो यह प्रश्न ही नहीं करता। परन्तु तुझ में बोध की कमी है, वही तुझसे ऐसे प्रश्न कराती है और इसी कारण से तेरी सभा भी मुझको देखकर आश्चर्य में पड़ गई है। सच्चा बोधवान जो स्थित प्रज्ञ होता है, वह तो सब को द्वन्द्वों से वियुक्त ही देखता है। अब समझ ले कि जहां से तू आया है, वहीं से मैं भी आई हूं। जो स्थान सबका और तेरा है, वही स्थान मेरा भी है।

तू पूछता है कि मैं तेरी इस सभा में कैसे आई? अरे जनक! किसकी सभा और किसका मन्दिर? यह तू जानता ही नहीं, इससे तू ऐसे अभिमानयुक्त प्रश्न करता है। यह मन्दिर भूतकाल में तेरा नहीं था, भविष्य में भी तेरा नहीं रहेगा और वर्तमान में भी तू इसका स्वामी नहीं है।

जनक—हे सुलभा! विचार कर बोलना चाहिये। भला यह सब वर्तमान में मेरा क्यों नहीं है? इसका मालिक मैं हूं, इसी से मैं कहता हूं कि यह मेरा है।

सुलभा—हे जनक! मैं ठीक कहती हूं, क्योंकि इस मन्दिर के एक देश में ही तेरा निवास-स्थल है अर्थात् साढ़े तीन हाथ की भूमि का ही तू ठेकेदार है। हे जनक! उस साढ़े तीन हाथ भूमि का भी तू अकेला ही स्वामी नहीं है क्योंकि उसकी आधे की मालिक तो तेरी अर्धांङ्गिनी है। तब पूरी खाट तेरी कहाँ है? तेरा मन्दिर कहाँ है और तेरी सभा कहाँ है?

हे जनक! ऐसा जान पड़ता है कि अभी तुझको उपशम की प्राप्ति हुई नहीं। ठीक है, होती भी कैसे? क्योंकि राजाओं को सदा परतन्त्रता में ही रहना पड़ता है। राजाओं का सोना-जागना, नहाना-धोना, खाना-पीना सब दूसरों की ही इच्छा पर होता है। वे अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकते। तू नकल मनुष्यों की भांति केवल बुड्ढा ही हुआ है, इसी से ऐसी निरर्थक बातें कहता है और मूर्खों की भांति अपने मुँह से अपनी बड़ाई करके प्रसन्न होता है कि मैं ऐसा हूं, वैसा हूं।

हे जनक! मुझे दिगम्बर, चिदम्बर समान हैं। मुझको त्रिदण्ड और छत्र-धारण समान हैं। मुझे मिट्टी, सोना समान हैं। तू ज्ञानवृद्ध नहीं है, इसी से तुझे द्वैत-दृष्टि आती है। तेरा मन तथा इन्द्रियाँ विषयोन्मुख हैं, इसी से तुझे नग्न दिखाई पड़ती हूं और मुझे देख कर तुझको कौतुक हुआ है। हे जनक! मैं तो ब्रह्मरूप हूं। तू भी ब्रह्मरूप है। भला ब्रह्म, ब्रह्म को नग्न देख सकता है? कदापि नहीं। यदि तू स्थितप्रज्ञ होता तो मैं, जो कि सदा ही अम्बरधारिणी हूँ, तुझे नग्न अवस्था में दीखती? कदापि नहीं। स्थितप्रज्ञ की ऐसी दृष्टि ही नहीं होती।

मैं तो महात्माओं से यह प्रशंसा सुन कर तेरी राजसभा में आई थी कि राजा जनक विदेह है। वह राज-काज करता-कराता है, फिर भी विदेह मुक्त है। सो तू तो सदेह अज्ञानी प्राणी निकला क्योंकि जैसे प्रश्न और बातें शरीर अभिमानी मूर्ख पूछा-कहा करते हैं, वैसे ही तू भी मुझसे पूछता-कहता है कि "तू कौन है और किसकी लड़की है ? यौवन अवस्था वाली अविवाहित स्वतंत्र होकर घूमती-फिरती है, तू ब्रह्मऋषि की कन्या जान पड़ती है, कुछ ऐसा जान पड़ता है कि तेरी मुझसे विवाह करने की इच्छा है, मुझ क्षत्रिय से विवाह कर वर्णशङ्कर सन्तान उत्पन्न करके मेरे राज्य में आपत्तियां लाना चाहती है तथा दुर्भिक्ष आदि से मेरी प्रजा को पीड़ित करना-कराना चाहती है"—आदि।

हे जनक ! जो स्थितप्रज्ञ होते हैं, वे इस प्रकार की बातें नहीं किया करते। वह तो प्रथम ही शब्दों को तोल कर बोलते हैं। इसलिये तू मूर्ख ही नहीं, किंतु महामूर्ख तथा अल्पदर्शी है। अभी तो तेरे मनोनाश एवं वासनाक्षय भी नहीं हुए और प्रजा में ढोल पिटवा दिया कि राजा जनक विदेह है। हे जनक! अभी तो तेरी विपरीत भावना भी नष्ट नहीं हुई, अतः तू चमार है, क्योंकि चमार की ही चमड़े पर दृष्टि जाती है, सर्वत्र ब्रह्म को देखने वाले स्थितप्रज्ञ की नहीं। इसी से स्थितप्रज्ञ मैं बेधड़क निःशंक होकर राजसभा में तेरी परीक्षा के लिये आ गई हूं और कुछ समय रह कर फिर पिता के घर लौट जाऊँगी। न मैं तेरे साथ विवाह करने आई हूं और न दुर्भिक्ष आदि डालने आई हूं, केवल तेरी परीक्षा करने को आई थी सो तू देहदर्शी निकला, आत्मदर्शी नहीं।

हे शिष्य ! उस अवधूतिनी के ऐसे अनमोल, बोधक, तत्व से भरपूर वचन सुन कर जनक के रोंगटे खड़े हो गये और उसका शरीर कांपने लगा जो अपने को विदेह मुक्त मानता था। उसका रहा-सहा अभिमान भी बर्फ के पुतले के समान गल गया और वह एकदम सुलभा के चरणों पर गिर कर कहने लगा कि हे त्रिदण्डिनी ! मन, वाणी और शरीर को वश में करने वाली महामाया ! अम्बर धारिणी ! मैं तेरी शरण में हूं। मुझे ज्ञान दे और मेरे अपराधों को क्षमा कर, यही भिक्षा मांगता हूँ।

हे शिष्य ! जिस समय सुलभा ने जनक को डाट लगाई और जनक उसके चरणों में गिरा तब राजसभा में सन्नाटा छा गया। सभा एकदम मौन हो गई। जो स्त्रियाँ चौवारे पर बैठी थीं, वे भी अपनी चंचलता को छोड़कर शान्त हो गई और जो पक्षी पिंजड़ों में द्वार पर टँगे हुए थे, वे भी अपनी चंचलता को त्याग कर एक पैर से खड़े हो गये। चलते-फिरते मुसाफिर भी खड़े-के-खड़े रह गये।

हे शिष्य ! कहाँ तक कहें ? वायु देवता भी अपनी स्पन्द गति को छोड़ कर निस्पन्दता को प्राप्त हो गया। अग्नि ने भी अपना प्रकाश बन्द कर दिया। सूर्य का तेज फीका हो गया। समुद्र के जल ने अपनी हलचल बन्द कर दी और बेचारी पृथ्वी तो अपना दम घोट कर सरपट हो गई। नक्षत्रों का तेज ऐसा फीका हुआ मानों आकाश में रहे ही नहीं। आकाश की कान्ति जाती रही। आकाश में जो देवता स्थित थे, उन्होंने सुलभा के ऊपर पुष्पों की वर्षा की और कहा कि हे देवी ! तुझको धन्य है। हे भगवती ! हमने ऐसे उदार वचन आज तक किसी के मुख से नहीं सुने, जैसे तेरे मुख से सुने हैं। तुझ को बारम्बार हमारा नमस्कार है।

जनक—हे त्रिदण्डिनी ! तू साक्षात् ब्रह्मविद्या और ब्रह्मभूता है ! मेरे सूक्ष्म और कारण अहंकार को नष्ट करके मुझे स्थितप्रज्ञ बना।

सुलभा—हे जनक ! तेरी राजसभा में तेरे सर्वसमर्थ गुरु याज्ञवल्क्य के रहते हुए मैं ज्ञान देने की

अधिकारिणी नहीं हूँ। मैं तो केवल तुझको देखने के लिए आई थी, अतः तू इनसे ही प्रार्थना कर। तेरे सूक्ष्म तथा कारण अज्ञान के नाश करने के लिए तथा विदेह मुक्ति देने के लिए भी यही समर्थ हैं। परन्तु मैं तेरे गुरु याज्ञवल्क्य से एक प्रश्न पूछती हूँ। उसका उत्तर सुनकर ही तू अपने अर्थ को प्राप्त हो जायगा।

हे शिष्य ! फिर उस सुलभा ने हाथ जोड़कर, प्रणाम करके बड़ी नम्रतापूर्वक मुनि से पूछा,—हे भगवन् ! मैं यह जानना चाहती हूँ कि कनक तथा कामिनी के त्याग से भी क्या कोई दूसरा त्याग श्रेष्ठ है ? अर्थात् स्थूल त्याग श्रेष्ठ है किंवा सूक्ष्म तथा कारण त्याग श्रेष्ठ है ? जन्म-मृत्यु से मुक्त कौन है ?

हे शिष्य ! मुनि याज्ञवल्क्य सुलभा के ऐसे गम्भीर वचन सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए और गम्भीरता से विचार कर के कहने लगे कि हे सुलभा ! इससे भी श्रेष्ठ त्याग है क्योंकि कनक और कामिनी का त्याग तो प्रायः प्राणी हठ से भी कर देते हैं। यह स्थूल त्याग है। इस स्थूल त्याग में किंचित् भी विशेषता नहीं, क्योंकि यह पशु-पक्षियों में स्वाभाविक देखा जाता है। परन्तु जो सूक्ष्म और कारण का त्याग करता है, वही त्याग श्रेष्ठ माना जाता है। काम का त्याग सरलता से हो सकता है, परन्तु सूक्ष्म का त्याग अति कठिन और अति दुर्लभ ही है।

कोई स्त्री जन्म से क्वारी रही। उसने ६० वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। पुरुष का संग तो क्या, उसके अंग के रंग का भी संकल्प कभी नहीं किया, ऐसा उग्र ब्रह्मचर्य हठ से पाल सकने में समर्थ होने पर भी यदि सूक्ष्म अहंकार का त्याग न हुआ हो तो उसके पतन का होना निश्चय ही है।

दैवयोग से वह बीमार पड़ गई। आस-पास के मनुष्य वैद्य को बुला लाये। उस ब्रह्मचारिणी स्त्री के पुरुष का स्पर्श न करती होने से उसको पर्दे में बिठाकर, उसके हाथ में डोरी बांधकर, उस डोरी का छोर वैद्य के हाथ में दे दिया गया। वैद्य ने डोरी के स्पर्श से ही उस ब्रह्मचारिणी के अंग को ऐसी शीतल भावना दी कि वह फलीभूत हुई अर्थात् उसमें शान्ति आ गई। पर उसी क्षण उस ब्रह्मचारिणी के हृदयाकाश में एक नई भावना उत्पन्न हुई कि हाथ की बंधी हुई डोरी के द्वारा मुझे पुरुष का स्पर्श होने से ही शान्ति मिली है तो जो स्त्रियां सर्वदा काल पुरुषों का स्पर्श करती होंगी, उनको कितनी शान्ति होती होगी ? इस विचार में ही उसका शरीर शान्त हो गया और उसको वेश्या का जन्म धारण करना पड़ा।

तात्पर्य यह है कि हठ से कनक-कामिनी का त्याग भी कर दो, परन्तु विवेक-वैराग्य पूर्वक सूक्ष्म का त्याग जब तक न हो तब तक हठ के द्वारा त्याग निरर्थक ही है। स्थूल का त्याग हठ से ही बनता है, इससे वह श्रेष्ठ नहीं माना जाता। सूक्ष्म का जो त्यागी है, वही यथार्थ में त्यागी है और वही श्रेष्ठ है।

हे सकल तत्वों को जानने वाली विदुषी सुलभा ! कारण अहंकार को किस प्रकार त्यागना चाहिये ? उसकी कथा कहता हूँ, सो सुन। किसी वन में एक तपस्वी तथा त्यागी मुनि रहते थे। उनके अचल और अटल तपोबल से प्रसन्न होकर इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर बाबा, देव और देवी सब के सब उनके पास पहुँचे। सब देवी-देवताओं ने उस तपस्वी को आशीर्वाद देकर कहा कि हे मुने ! आप हमारे लोक में चलो। तुम्हारा तप सिद्ध हो गया।

मुनि ने प्रश्न किया—हे देवताओ ! मुझ से यह कहो कि आपके लोक में समता तथा विषमता से रहित अखण्ड सुख है या नहीं ?

देवों ने उत्तर दिया हे मुनि ! अखण्ड सुख हमारे लोक में नहीं है। अखण्ड सुख तो ब्रह्म धाम में ही है।

उस तपधारी ने कहा कि यदि ऐसा है तो आप जाओ। जहां का सुख नाशवान हो, वहां मेरी जाने की इच्छा नहीं है। मुझे तो अखण्ड सुख का भोगी होना है, खण्ड का नहीं। देवता इतनी बात सुनकर अपने-अपने लोक को चले गये।

कुछ काल के पश्चात् उस मुनि के मन में अभिमान का अंकुर उत्पन्न हुआ। वह विचारने लगा कि अहो ! मैं कितना त्यागी अर्थात् निस्पृह हूं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि ने मुझको अपने लोक में ले जाने को कहा तथा मेरी प्रार्थना की, परन्तु मैं निस्पृह होकर नहीं गया। वाह ! वाह ! मैं कितना त्यागी हूं ! मेरी जगह पर यदि और कोई फक्कड़ होता तो शीघ्र ही जाने को तैयार हो जाता। हे सुलभा ! ऐसा अभिमान करते ही उस तपधारी का शरीर शान्त हो गया और इस अभिमान के योग से कितने ही काल तक उस तपधारी को जन्म-मृत्यु के चक्कर में रहना पड़ा।

हे सुलभा ! सूक्ष्म और कारण अहंकार किंवा अज्ञान का नाश अर्थात् त्याग करके जो पुरुष समचित्त रहकर करने योग्य कर्मों को करता हुआ संसार में विचरता है, वही श्रेष्ठ और संसार से मुक्त है। बाहर से कनक-कामिनी का त्याग श्रेष्ठ नहीं है। देखले कि अखण्डित ब्रह्मचर्य पालकर भी इंद्रियों के माध्यम से ही पुरुष का स्पर्श सुखदाई जानकर ब्रह्मचारिणी को वेश्या का जन्म प्राप्त हुआ। तीनों लोकों के सुख को नाशवान जानकर जिस त्यागी ने लात मार दी और देवताओं का भी तिरस्कार कर दिया, उसी को त्याग के अभिमान का स्फुरण हो गया। हे सुलभा ! इसे उस मुनि की अपूर्णता ही जान।

स्थूल के त्याग से पूर्णता नहीं मिला करती, अतः स्थितप्रज्ञ होने के लिए सूक्ष्म तथा कारण अज्ञान का त्याग करना परम आवश्यक है। हे सुलभा ! जिसे ब्रह्मानन्द का ऐसा अजर-अमर नशा चढ़ा हुआ होता है, जो किसी प्रकार की खटाई से उतरता ही नहीं, उसी को सूक्ष्म तथा कारण अहंकार बाधा नहीं करता। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ की प्रज्ञा तीनों कालों में दृढ़ समता वाली रहती है। हे त्रिदण्डिनी ! सूक्ष्म और कारण अज्ञान का त्याग अर्थात् नाश तभी होता है जब बोध का ज्ञाता सब में सर्वरूप आत्मा को तथा सब पदार्थों को आत्मरूप से देखता हो और जिसका द्वैत प्रपंच निकलकर भाग गया हो। हे सुलभा ! अनेकाग्रह बुद्धि वाला पुरुष जिसने ब्रह्म को आत्मारूप से नहीं जाना और जो अव्यक्त का भी ज्ञाता नहीं है, वह तप, जप, योग, दान आदि करता हुआ भी समय पाकर जन्म ही लेता है, जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता।

फिर याज्ञवल्क्य मुनि राजा से बोले कि हे जनक ! जो भी तू सोचता या विचार करता है, वह सब सूक्ष्म या कारण अहंकार रूपी अज्ञान में ही है। जो भी कुछ मन, वाणी के द्वारा कल्पना उठाई जायेगी, वह सब अज्ञान जनित ही होगी, बोध जनित नहीं। ज्ञानस्वरूप आत्मतत्व में न अज्ञान है और न अज्ञान को नाश करने की सामर्थ्य वाला ज्ञान ही है। हे जनक ! जब एक ही एक है तो उसमें साक्ष्य-साक्षी, दृष्टा-दृष्य, मैं-तू, यह-वह, दिगम्बर-साम्बर, त्याग-ग्रहण आदि भाव कहां हैं ?

आत्मतत्व निर्विकार शुद्ध तत्व है और सर्व व्यापारों से शून्य है। वह किसी का विषय नहीं। मन से जो मनन नहीं किया जाता, जिस से मन संकल्प-विकल्प करता है, वही ब्रह्म है। हे जनक! स्थितप्रज्ञ होने के लिए सूक्ष्म और कारण अहंकार का त्याग करना चाहिए।

हे शिष्य! याज्ञवल्क्य की यह अमृतभरी वाणी सुनकर राजा की वृत्तियों का प्रवाह परम तत्व की ओर बहने लगा अर्थात सूक्ष्म, कारण अभिमान को त्याग कर अन्तकाल में वह कैवल्य गति को प्राप्त हुआ। सुलभा आकाश मार्ग से अपने आश्रम को चली गई। हे शिष्य! इससे यह बात दिखलाई कि सूक्ष्म, कारण अहंकार के त्याग बिना केवल बाहरी स्थूल त्याग से कुछ सिद्ध नहीं होता। इसलिये पहिले जिज्ञासु को इन दोनों अहंकारों का त्याग करना चाहिये।

हे शिष्य! सूक्ष्म और कारण अहंकार को त्याग करने के साधन रूप यह सुलभा और जनक का संवाद तुम्हारे कल्याण के लिए सुनाया। जो तुम इसको धारण करोगे तो परमानन्द रूप शान्ति को प्राप्त होगे।

॥ इति जनक-सुलभा संवाद ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

बारहवाँ अध्याय

[शारीरिक ब्राह्मण—याज्ञवल्क्य और जनक-सम्वाद]

जनक—हे मुनि ! आपने सुषुप्ति के दृष्टान्त से मुमुक्षु को मोक्ष के सन्मुख कर दिया परन्तु जो अनन्त अज्ञानी जन्म-मरण रूपी महाकष्ट में पड़े हुए हैं, उनके उद्धार के लिये भी कोई साधन कृपा करके कथन करिये ?

मुनि—हे राजन् ! शारीरिक ब्राह्मण में अज्ञानी जीवों के जन्म-मरण का निर्णय हुआ है, सो सावधान होकर सुन। जैसे बंजारा सदा यात्रा में ही रहता है और अपने ओखली, मूसल, बर्तन तथा नमक, मिर्च, मसाले आदि सब सामग्री गाड़ी-बैलों पर लादे हुए इधर-उधर फिरता रहता है। जब गाड़ी चलती है तब मार्ग में चीं-चीं शब्द करती जाती है। उसी प्रकार विज्ञानघन आत्मा की लिंग शरीररूपी गाड़ी है। पुण्य-पाप रूपी दो बैल, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां रूपी दस घोड़े स्थूल शरीररूपी रथ में जुड़े हुए हैं। बुद्धि इनका सारथी है। मन रूपी लगाम है। विज्ञानघन रूपी पुरुष रथ में बैठने वाला स्वामी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—यह चलने के मार्ग हैं। उस पाप रूप शरीर के छूटने को संसारी लोग मरना कहते हैं और फिर इस पाप रूप शरीर की प्राप्ति का नाम ही जन्म है।

जब विज्ञानघन आत्मा एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में जाता है, तब अपने घर की सब सामग्री लिंग शरीर रूपी गाड़ी में लाद लेता है। वह सामग्री क्या है ?—यह भी सुनो। अहंकार रूपी ऊखल है। राग-द्वेष रूपी मूसल है। तृष्णा रूपी कढ़ाई है। पाप-पुण्य रूपी अन्न है और अनन्त वृत्तियां, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि नमक-मिर्च मसाले हैं। सो सब गाड़ी में लाद कर चलता है। जैसे जाग्रत का त्याग करके स्वप्न में जाता है। उसी प्रकार, हे राजन् ! इस शरीर का त्याग करके परलोक में जाता है। जैसे रात्रि में गाड़ी प्रकाश के आश्रय चलती है, उसी प्रकार लिंग शरीर रूपी गाड़ी भी प्राण के आश्रय जाती है। जैसे घड़े के आश्रय आकाश जाता है, वैसे ही इसके साथ ज्ञान रूपी प्रकाश जाता है। जैसे गाड़ी चलते समय चीं-चीं शब्द करती चलती है, उसी प्रकार मरण-काल में इन पुरुषों के लम्बे-लम्बे श्वास चलते हैं। मुख से झाग निकलते हैं और कष्ट के मारे हाय देव, हाय पुत्र, हाय कलत्र, हाय कष्ट इत्यादि हाय-हाय शब्द होते हैं। यही शरीर रूपी गाड़ी का चीं-चीं शब्द करना है।

जब विज्ञानघन आत्मा शरीर की दशा को देखता है तब अपनी सब सेना को अपने पास बुलाता है। प्रथम कर्म-इन्द्रियों को बुलाता है—तब इस शरीर का बोलना-चालना बन्द हो जाता है और इसके सम्बन्धी कहने लगते हैं कि भाई, अब यह कोई घड़ी का ही महमान है। इसको खाट से नीचे ले लो। फिर ज्ञानेन्द्रियों को बुलाता है। तब इसकी सब वृत्तियों का अभाव हो जाता है। इसी को सर्व साधारण लोग मूर्छा बोलते हैं। फिर प्राण को बुलाता है, तब सब अङ्ग जहाँ-के-तहाँ पड़े रह जाते हैं। कोई भी चेष्टा नहीं करते।

जब प्राण शरीर से निकलने को होता है, तब उस मरणशील पुरुष का कण्ठ कफ से घिर जाता है और सम्बन्धी लोग कहने लगते हैं कि इसको बड़ा कष्ट हो रहा है, अरे भाई ! अब राम-राम, कृष्ण-

कृष्ण कहो। यह तुम्हारा अन्त का समय है। यह सुनकर वह पुरुष अपने हृदय में कहता है कि जब मुझ से सब कुछ हो सकता था, तब तो किसी ने भी न कहा कि राम-राम कहो। मुझको कथा-सत्संग में भी न जाने दिया। अब कहते हैं नारायण का ध्यान करो। अब मैं कष्ट से व्याकुल पराधीन हूं। भला अब मुझसे राम-राम कहा जाता है? तुम लोग चुपचाप बैठे रहो। अब मुझको यह मूर्ख नारायण के भजन का उपदेश देते हैं। मेरे गुरु बनते हैं। यह दशा देखकर सम्बन्धी लोग कहते हैं कि भाई मरण का कैसा कष्ट है? संसार में जीने से क्या लाभ है? जन्म-मर कष्टों का ही अनुभव होता है। अन्त में एक दिन हमारा भी यही हाल होना है। जैसे यह मर गया और इसको संसार से कुछ भी हाथ न लगा, इसी प्रकार माता, पिता, भाई, पुत्र, चाचा, ताऊ, बाबा, राजा, रंक, साहूकार, संन्यासी, पापी, पुण्यात्मा, भगत सब चले जाते हैं। कोई किसी से नहीं पूछता कि भाई तुम कहाँ जाते हो?

हे राजन्! इस प्रकार यह लोग नित्य देखते-भालते हैं और चर्चा भी करते हैं परन्तु फिर भी भूल जाते हैं। इस कारण से वेद भगवान् सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे मनुष्यो! जो कुछ करना हो सो यौवन अवस्था में ही कर लो। शरीर-इन्द्रियों के दृढ़ रहते हुए तुम लोग जो कुछ कर्म, धर्म, ध्यान, पूजा, पाठ, सत्संग, ज्ञान कर लोगे, सोई तुम्हारा है। नहीं तो अन्त में पछताओगे—क्योंकि मरण-काल में इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। अत्यन्त क्लेश होता है। कण्ठ कफ से घिर जाता है। वात, पित्त के कोप से चित्त व्याकुल हो जाता है। भला तुमको ऐसे कुसमय में ईश्वर का ध्यान-स्मरण हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता।

तुम याद रखो, वृद्धावस्था में जो तुम्हारे पुत्र, स्त्री, भाई, बन्धु हैं, वह भी तुमको शत्रु की नाईं देखेंगे और यह इच्छा करेंगे कि यह बुड्ढा मर जाय तो अच्छा है। यह हमको कहाँ से पाप लगा है, रात को आराम से सोने भी नहीं देता। इस कारण से ऐसे पुत्र आदिकों से जो तुम बुद्धिमान हो तो अभी से स्नेह अर्थात् मेरेपन की रागबुद्धि को त्याग करके परमात्मा में चित्त को लगाओ। अन्त काल में न तो कोई देवता, न मित्र, न धन सहायता कर सकता है और न आप ही अपनी कुछ सहायता कर सकता है। इस प्रकार दया करके वेद भगवान् जीवों को स्मरण कराता है। यद्यपि इन बातों को तुम भी नित्य देखते हो, तो भी मोहरूपी मदिरा के नशे में भूल जाते हो। इस प्रकार वेद भगवान् ने दया करके तुमको समझाया है।

जनक—हे मुनि! अज्ञानियों के प्राण ऊर्ध्व लोक में कैसे जाते हैं? मृत्युकाल में शरीर दुबला क्यों हो जाता है? किस प्रकार मरता है? किस निमित्त से आवागमन को प्राप्त होता है? इन चार प्रश्नों का उत्तर कृपा करके फिर कहिये।

मुनि—हे राजन्! जब प्राणी की वृद्धावस्था आती है तब इन्द्रियाँ अपने स्थान से विपर्यय हो जाती हैं। शरीर कांपने लगता है। विष्ठा, मूत्र शरीर से अच्छी तरह नहीं निकलता। आँखों की ज्योति मन्द पड़ जाती है। वाणी भी उलटी बोलने लगती है। लाठी के आश्रय होकर चलता-फिरता है। सब सम्बन्धी उससे उदासीन हो जाते हैं अथवा बुखार-खाँसी, श्वास आदि रोग से शरीर शिथिल तथा कमजोर हो जाता है। फिर प्राण अपनी सेना को इकट्ठा करके परलोक को गमन करता है।

जैसे वृक्ष जिस फल का त्याग कर देता है, वह फल फिर उस वृक्ष पर पुनः नहीं लगता। इसी प्रकार ब्रह्मांड रूपी बाग है, स्थूल शरीररूपी वृक्ष, शाखा रूपी कुटुम्ब, शरीर रूपी पुष्प, लिंग शरीररूपी फल है।

जिस शरीर का लिंग शरीर त्याग कर देता है,वहाँ फिर नहीं आता। जैसे फल वृक्ष के रस से वृक्ष में जुड़ा रहता है, वैसे ही प्रारब्ध अहंभाव लिंग शरीर को स्थूल शरीर में बांधे रखता है। जब मरता है तब कर्म, उपासना और पूर्वप्रज्ञा यह तीनों लिंग शरीर के साथ जाती हैं। जब तक प्रारब्ध होती है, तब तक जीता है। प्रारब्ध को भोग कर अन्त में मर जाता है। रोग आदिक निमित्त हैं। अनेक प्रकारों से मृत्यु प्राणियों को मारता है। मरने का कोई काल नियत नहीं है। बाल, यौवन, वृद्ध अवस्था में कभी मर जाय।

हे राजन्! यह बड़ा आश्चर्य है कि काल के मुख में पड़े हुए प्राणी भी जीने की आशा करते हैं जैसे बिल्ली के मुख में चूहा और सिंह के मुख में पशु जीने का भरोसा करे। देखो, यह प्राणी जीने के लिये अनेक साधन करते-कराते रहते हैं। कोई औषधि करते हैं, कोई देवताओं की आराधना करते हैं, परन्तु काल इनको भुने चने की नाईं चबाता जाता है। जिन देवताओं की आराधना से यह मूर्ख प्राणी जीने की आशा करते हैं, वे देवता स्वयं ही काल के भय से अमृत का सेवन करते हैं। परन्तु पुण्यों के क्षीण होने पर काल भगवान् उनको भी चट कर जाता है। ईश्वर के अवतार जो नरसिंह, राम, कृष्ण आदि होते हैं, काल भगवान् उनको भी नहीं छोड़ता। हे राजन्! हम नहीं जानते कि यह जीव जीने का भरोसा कैसे करते हैं? जीने का भरोसा करना ही अज्ञान है। विचार की दृष्टि से देखो तो मूर्खता से जीवन धारण करना सिवाय संसार की हानि के लाभकारी नहीं है।

राजा—हे मुनि! मरणकाल में इस जीव के साथ न तो धन, न पुत्र, न स्त्री, न राज-पाट ही जाता है। फिर परलोक में इसकी रक्षा कौन करता है?

मुनि—हे राजन्! कर्म, धर्म, उपासना और संचित कर्म,—यह इसके साथ परलोक में जाते हैं। जैसे मेले में कर्मचारी लोग राजा के लिए पहिले ही छोलदारी आदिक खड़ी करके अनेक प्रकार के पदार्थ इकट्ठे कर रखते हैं, उसी प्रकार परलोक में माता-पिता के मिलाप रूपी प्रयागराज की नाईं मेले का स्थान है। देवता रूपी कर्मचारी कुटी बनाने वाले हैं। जिस पुरुष ने देवता की उपासना तथा कर्म किए होते हैं, वह देवता उसके कर्म उपासना के अनुसार उत्तम, मध्यम दर्जे की शरीर रूपी कुटी बना देते हैं। प्रथम तो वे शरीर बनाते हैं, फिर प्राण गोलक बनाते हैं। उन गोलकों में सब देवताओं की सभा आ बैठती है।

आकाश कान में, वायु त्वचा में, अग्नि वाणी में, वरुण जिह्वा में, अश्विनी कुमार नाक में, इन्द्र भुजा में, सूर्य आंख में, चन्द्रमा मन में, विष्णु चित्त में, ब्रह्मा बुद्धि में, शिव अहंकार में, मृत्यु गुदा में, उपेन्द्र चरणों में आ बैठता है। इस प्रकार सब देवताओं की सभा जीव की गद्दी के चारों ओर आ बैठती है। जैसे राज-पुरुष राजा के धन के सहारे जीते हैं, वैसे ही देवता जीव के धर्म-अधर्म के आसरे जीते हैं और इसी कारण इसका शरीर रूपी घर बनाते हैं। वही इसकी रक्षा भी करते हैं। समय से पहले गिरने नहीं देते।

चक्षु के दरवाजे पर सूर्य देवता आत्मा को रूप दिखाने के लिए खड़ा रहता है। वाणी के दरवाजे पर शब्द उच्चारण के लिए अग्नि देवता और इस आत्मदेव को गंध पहुँचाने के लिए नासिका के दरवाजे पर पृथ्वी महारानी खड़ी रहती हैं। तरह-तरह के रस पहुंचाने के लिए जिह्वा के दरवाजे पर वरुण देवता, कान के दरवाजे पर शब्द सुनाने के लिए आकाश और भुजा के दरवाजे पर इन्द्र देवता, त्वचा के दरवाजे पर वायु देवता, गुदा के दरवाजे पर मृत्यु देवता खड़ा रहता है। बुद्धि के द्वार पर ब्रह्मा, मन के द्वार पर

चन्द्रमा, चित्त के द्वार पर विष्णु, अहंकार के द्वार पर शिव खड़ा रहता है। इस प्रकार सब देवता इस आत्मदेव के लिए अपना-अपना काम करने के लिए तैयार रहते हैं।

हे राजन्! जब यह आत्मदेव इस शरीर से जाता है, उस काल में सब इन्द्रियों को अपने साथ ले जाता है। यह जैसे उनको चलाता है, वैसे ही वे चलते हैं। यदि महाराज आत्मदेव को देवताओं की याद न रहे तो वह देवता किसी काम के न रहें। यह अपने बल से रहित हैं। हिरण्यगर्भ से लेकर सब देवता इस महाराज की आज्ञा में चलते हैं। हे राजन्! ऐसा इस ज्योति आत्मा का प्रताप है। जिसको इस ज्योति आत्मा का ठीक-ठीक ज्ञान होता है, वह फिर संसार में नहीं आता है। यही सब जीवों की मोक्ष का स्थान है।

इस प्रकार मुनि के मुख से सुनकर जनक ने स्वयंज्योति को जाना और बड़े उत्साह के साथ अलंकारों सहित एक सहस्र गौ, जिनके उदर घड़े के समान और जिनमें हाथी के समान बल थे, याज्ञ-वल्क्य मुनि को दीं। तब याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा कि हे राजन्! हमारे पिता का यह प्रथा था कि जब तक शिष्य कृतार्थ न हो जाय, तब तक उससे कानी कौड़ी भी नहीं लेनी चाहिए। हमारा भी यही प्रथा है। इसलिए यह तुम्हारी गौवें तुम्हारे पास ही रहें। जब तक तुम कृतार्थ न हो जाओगे, तब तक हम तुम्हारी कानी कौड़ी भी नहीं ले सकते। हमसे बार-बार लेने-देने का सवाल नहीं करना। अब और जो कुछ तेरे को सन्देह हो सो तू पूछ ले।

जनक—हे मुनि! इस मरण की अवस्था को देखकर कितने ही अज्ञानी जीव बोधवानों पर दोष लगाते हैं कि यह तो अपने को ब्रह्मज्ञानी कहता था, देखो, अब मरने के समय कैसी दशा को प्राप्त हुआ है? हाय-हाय करता है। ब्रह्म कहना भूल गया है।

मुनि—हे राजन! इन अज्ञानी मूर्खों के भ्रम-निवारणार्थ वेद ने यह ज्ञान की गाथा कही है कि मरने के समय बुद्धि, प्राण और शरीर व्याकुल होते हैं। उपाधि का व्याकुल होना स्वाभाविक है। ज्ञानवान सब अवस्थाओं में उपाधि का द्रष्टा, असंग हुआ तमाशा देखता है क्योंकि यह स्वयंज्योति सर्व-आत्मा बुद्धि के सावधान अथवा व्याकुल होने पर भी सदा एक-सा रहता है। ग्रहण करना अथवा त्याग करना बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं। जो यह उपाधि वाले चैतन्य देवता हैं सो तो आत्मदेव की आज्ञा में चलते-फिरते हैं। जब वह महाराजा सब इन्द्रियों को अपने साथ लेकर हृदय में जाता है, तब सब देवता अपने-अपने अंशों को अपने पास बुला लेते हैं। सूर्य चक्षु से कहता है कि तुम यहां आओ, महाराज ने विभूति समेट ली है और दूसरी जगह जाने का मनोरथ किया है। जहाँ महाराज अपनी विभूति का विस्तार करें, वहीं तुम फिर जाना। अब हमारे पास चले आओ। तब चक्षु अपने स्थान को छोड़ कर सूर्य के पास चला जाता है।

इसी प्रकार कान आकाश के पास, स्पर्श वायु के पास, वाणी अग्नि के पास, रस वरुण के पास, गंध पृथ्वी के पास, मन चन्द्रमा के पास, बुद्धि ब्रह्मा के पास, चित्त विष्णु के पास, अहङ्कार शिव के, बल इन्द्र के, वायु मृत्यु के और पग उपेन्द्र के पास चले जाते हैं। फिर जहाँ महाराज जाते हैं वहीं पहुँच जाते हैं। उस काल में लोग कहने लगते हैं कि भाई, अब इसके प्राण नहीं चलते। छाती में कुछ-कुछ गर्मी है। छाती में गर्मी सब मेले के इकट्ठे होने से होती है। जब यह महाराज स्वप्न में जाता है तब इन्द्रियों को अपने साथ ले जाता है और प्राण को दरवाजे पर रक्षा के लिए छोड़ जाता है। शरीर

त्यागने के समय प्राण को भी अपने साथ ले जाता है क्योंकि उसको फिर उस स्थान में नहीं आना होता।

राजा—हे मुनि! पहले तो आपने चैतन्य को निर्विकार कहा था और गमनागमन से रहित भी कहा था। फिर यह कौन आता है और कौन जाता है?

मुनि—हे राजन्! यह सब व्यवहार बुद्धि उपहित चैतन्य में होता है। सङ्कोच, विकास, राग, द्वेष, पाप, पुण्य, धर्म, अधर्म, काम, क्रोध सब बुद्धि के धर्म हैं। चैतन्य आत्मा आकाश की नाईं निर्विकार, असङ्ग है। जैसे आकाश का उपाधि के साथ मिलकर सङ्कोच, विकास, आना, जाना आदिक कहा जाता है, उसी प्रकार चैतन्य आत्मा बुद्धि के साथ मिलकर लोक-परलोक में जाता-आता है। सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, शिव आदिक भी इस चैतन्य आत्मदेव की उपासना करते रहते हैं और इसी का यश गाते रहते हैं। परन्तु, हे राजन्! ये सब उपाधि की ही उपमा करते हैं। परम शुद्ध आत्मा की उपमा करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

जैसे मनुष्य राम, कृष्ण, आदिक की प्रतिमा के आगे हाथ जोड़ कर स्तुति करते हैं कि आप साक्षात् राम, कृष्ण, शिव हैं, उसी प्रकार चैतन्यदेव की उपाधि की प्रतिमा अर्थात् मूर्ति बुद्धि है। सब देवता चैतन्य सहित उपाधि की उपमा करते हैं और उस उपाधि वाले माया विशिष्ट चैतन्य की आज्ञा में ही चलते हैं। साक्षात् चैतन्य की महिमा कोई भी कथन नहीं कर सकता। हे राजन्! वेद भी नेति-नेति करके परम आत्मा का बोधन करता है। वह परम आत्मा अपने आपको स्वयं ही जानता है। जो कोई कहे कि मैंने परम आत्मा को जाना है, वह चाहे देवता हो, चाहे मनुष्य हो, उसको तुम अज्ञानी समझो। वह बोधवान नहीं है।

जनक—हे मुनि! यह पुरुष मरण काल में किस प्रकार का रूप धारण करता है?

मुनि—हे राजन! पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन और बुद्धि,—इन सत्तरह वस्तुओं के संघात को लिंग शरीर कहते हैं। जाग्रत अवस्था में यह लिंग शरीर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है और सुषुप्ति अवस्था में हृदय में संकुचित हो जाता है। जब यह संकुचित होता है, तब इसके आगे एक ज्ञान रूपी प्रकाश उदय होता है। जिस योनि में इसको जाना होता है, वही इसके आगे-आगे प्रकाश करता चलता है और उस लोक की नाड़ी में ही इस जीव को ले जाता है। और लोकों की नाड़ियाँ सब मुंद जाती हैं। जो उस पुरुष को ब्रह्मलोक में जाना होता है तो ब्रह्मा के शरीर का बुर्का पहिले यहीं धारण कर लेता है, तब शरीर से बाहर निकलता है। जब यह लिंग शरीर रूपी प्राण स्थूल शरीर से बाहर जाता है, तब कर्म, उपासना और पूर्व की प्रज्ञा,—तीनों इसके साथ-साथ जाते हैं।

सूर्य का उपासक प्रकाश के आश्रय से चक्षु की नाड़ी के सम्मुख प्राप्त होता है। फिर चक्षु-नाड़ी द्वारा सूर्य लोक को जाता है। मनुष्य की जैसी उपासना होती है, उसी के अनुसार वैसी ही नाड़ी का मुख खुल जाता है। ब्रह्मलोक को जाने वाला सुषुम्णा नाड़ी द्वारा जाता है। पृथ्वीलोक को जाने वाला नासिका की नाड़ी द्वारा, वरुणलोक को जाने वाला रसना की नाड़ी द्वारा, अग्निलोक को जाने वाला वाक्य नाड़ी द्वारा, वायुलोक को जाने वाला त्वचा नाड़ी द्वारा, इन्द्रलोक को जाने वाला भुजा की नाड़ी द्वारा यमलोक को जाने वाला गुदा की नाड़ी द्वारा, वृक्षलोक को जाने वाला केशों की नाड़ी द्वारा, घास-फूँसलोक को जाने वाला शरीर के बालों की नाड़ी द्वारा, और पहाड़ों की योनि को प्राप्त होने वाला नख की नाड़ी द्वारा, चन्द्रलोक को जाने वाला मन की नाड़ी द्वारा विष्णुलोक को जाने वाला चित्त की नाड़ी द्वारा

जाता है। ब्रह्मलोक को जाने वाला बुद्धि की नाड़ी द्वारा, शिवलोक को जाने वाला अहंकार की नाड़ी द्वारा जाता है।

हे राजा! अपनी-अपनी कर्म उपासना के अनुसार सब ऊँच-नीच योनियों को प्राप्त होते हैं। उत्तम कर्म करने वाला उपासक उत्तमलोक को और नीच कर्म करने वाला उपासक नीच योनियों को प्राप्त होता है। जो मनुष्य अपना पुरुषार्थ इस विश्वास पर त्याग बैठते हैं कि अन्त में देवता हमारी सहायता करेंगे, वे शरीर को पागलों की नाईं वृथा नष्ट करते हैं। अन्त में किसी की सहायता कुछ काम नहीं करती, केवल अपना पुरुषार्थ ही फलता है। जैसा प्राणी अभ्यास करता है, वैसा फल पाता है।

राजा—हे मुनि! कोई-कोई वादी तो यह कहते हैं कि यह वेदान्ती जो 'अहं ब्रह्म, अहं ब्रह्म' पुकारते हैं, वह तो शून्य है। उससे क्या हाथ लगता है? ये बकवादी ही हैं। इस कारण से सदा कर्म करना चाहिए कि जिससे शुभगती प्राप्त होवे और धन, स्त्री, पुत्र आदिक मिलें। खाली ब्रह्म से क्या हाथ आवेगा? कुछ नहीं। मोक्ष में क्या रखा है? कर्म करो और आनन्द भोगो। आप भी कर्म के अनुसार ही गती का वर्णन करते हो, तो अब ज्ञानी और अज्ञानी के कर्मों में क्या विशेषता रही?

मुनि—हे राजन! हमने अज्ञानी को कर्म करने इसलिए कहे हैं कि जो यह अज्ञानी अशुभ कर्मों का त्याग करके शुभ कर्म करेगा तो परलोक में सुख पावेगा, परन्तु फिर भी कर्म का फल संसार ही है। परम आनन्द मोक्ष कर्म का फल नहीं है। मोक्ष केवल वेदान्त के विचार द्वारा ज्ञान से ही होता है। अतः वासना का त्याग करके गुरु द्वारा वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करे और "तत्-त्वं" पद का शोधन करके ब्रह्माभ्यास करे, तब मोक्ष होता है। श्रवण आदि जो साधन हैं, वे विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व साधन से होते हैं। वैराग्य विषयों में दोषदृष्टि से होता है। भोगों में अनन्त दुःख भरे पड़े हैं। स्त्री, पुत्र, धन आदिक सब भोगों के साधन हैं। बड़े यत्न करने से दुःख देकर प्राप्त होते हैं। प्राप्त होकर अपनी रक्षा में प्राणी को दुःख देते हैं। जब नष्ट हो जाते हैं तब जैसा दुःख देते हैं, वह वर्णन करने में नहीं आता। स्त्री, पुत्र, धन आदिक पदार्थों के आश्रय जो कोई अपने को सुखी मानता है किंवा इनके आश्रय रह कर सुखी होने की इच्छा करता है, सो मूर्खों का राजा है। इनके सम्बन्धी पुरुष को कदापि शान्ति नहीं होती।

हे राजन! वैराग्य बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। जो मूर्ख ब्रह्म को शून्य और ब्रह्मज्ञानी को रूखी, सूखी, अलोनी शिला बतलाते हैं, उनका चित्त माया में मोहित हो रहा है। वे भोगों की आसक्ति से अन्धे हुए वृथा बक-बक करते हैं। अन्त में बारम्बार घटी यंत्र की नाईं भ्रमते हुए जन्मते-मरते रहते हैं। हे राजन! यह विज्ञानघन जब एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तब कर्म उपासना, विष्णु, शिव आदिक देवता और स्त्री, पुत्र, धन की कामना; अनेक प्रकार के यज्ञ, अग्निहोत्र, दान, पुण्य आदिक शुभ कर्म और मांस भक्षण, मद्यपान, ब्रह्महत्या आदि अनन्त अशुभ कर्म इसकी पूर्व प्रज्ञा में भरे रहते हैं। अगले शरीर में वही प्रज्ञा देश-काल में वस्तु के अनुसार वर्तती है। कुत्ते के शरीर में कुत्ते का, बन्दर के शरीर में बन्दर का, इसी प्रकार प्रत्येक शरीर के अनुसार व्यवहार करती है। जब यह जाता है, तब इसके साथ अनन्त कोटी की सामग्री जाती है।

राजा—हे भगवन! कर्म, उपासना जब इसके साथ जाते हैं तो प्रज्ञा के जाने की क्या अपेक्षा है? क्योंकि कर्म, उपासना ही भावी शरीर का व्यवहार करा सकते हैं?

मुनि—हे राजन! जो इस जीव के साथ प्रज्ञा न जावे; तो इसको भोग कौन भुगावे? कौन शुभ-अशुभ का स्मरण करावे, कौन अनुभव पूर्वक व्यवहार करावे और पूर्व कर्मों में इसको जोड़े? यह प्रज्ञा अनादिकाल से ही सब शरीरों का व्यवहार जानती है। जहाँ जाती है, उसी शरीर के अनुसार वर्तती है। जो यह प्रज्ञा अनुभव न करावे तो प्रत्येक शरीर में एक-एक पुरुष व्यवहार सिखाने को चाहिए। इस प्रज्ञा को किसी के सिखाने की कुछ अपेक्षा नहीं होती क्योंकि यह प्रज्ञा अनादि काल की सीखी-सिखाई होती है। जैसे मूर्ती बनाने वाला कोई अच्छी, कोई बुरी बनाता है। कोई बालावस्था से ही बड़ों को शिक्षा देने लग जाता है। कोई बड़ी आयु वाले भी हो गए हैं, तो भी उनको कुछ भी नहीं आता। पशुओं की नाई व्यवहार करते हैं। इस कारण से यह प्रज्ञा पूर्व जैसा व्यवहार कराती है, वैसा ही अगले शरीर में करती है। जब यह पुरुष देवलोक में जाता है तब देवता देव-शरीर का आकार बनाकर इसी की प्रतीक्षा करते रहते हैं कि अब हमारा महाराजा आता है। जब मनुष्य शरीर में जाता है तब देवता गर्भ में पुतला बना रखते हैं और माता-पिता द्वारा भूषण, वस्त्र, खिलौने आदिक बनवाते हैं और कहते हैं कि हमारे घर बालक जन्मेगा। उसके लिये यह वस्तु तैयार करते हैं।

यह जीवात्मा पहले भावी शरीर को ग्रहण कर लेता है, तब पिछले शरीर को छोड़ता है। हे राजन! जैसे स्वप्न में जाग्रत शरीर का त्याग करके जाता है वैसे ही ब्रह्मलोक, मनुष्यलोक अथवा पशुलोक आदि को भी पूर्व शरीर का त्याग करके जाता है। वासना द्वारा जब भावी शरीर को ग्रहण कर लेता है,. तब पूर्व के शरीर का त्याग करता है। जब यह जीव अगले शरीर में जाता है, तब देवता अपने-अपने अंशों को भेज देते हैं। सूर्य चक्षु द्वारा प्रकाश करता है। आकाश का अंश श्रोत्र द्वारा शब्द सुनाता है। वायु त्वचा द्वारा स्पर्श कराता है। चन्द्रमा मन द्वारा संकल्प-विकल्प करता है। विष्णु चित्त द्वारा चिन्तन कराता है। वरुण जिह्वा द्वारा रसों का आस्वादन कराता है। अग्नि वाणी द्वारा श्रुति, स्मृति, पुराण आदिक शब्दों का उच्चारण कराती है। पृथ्वी नासिका द्वारा गंध को सुँघाती है। ब्रह्मा बुद्धि द्वारा पदार्थों का निश्चय कराता। शिव अहंकार द्वारा शरीर की रक्षा करता है। इन्द्र भुजा द्वारा लेन-देन कराता है। यम गुदा द्वारा विष्ठा बाहर निकालता है। उपेन्द्र चरणों द्वारा शरीर को इधर-उधर ले जाता है। इस प्रकार सब देवता इस आत्मदेव की सेवा करते हैं। सदा पास में ही खड़े रहते हैं और कहते हैं कि यह महाराज कुछ आज्ञा करें तो हम शीघ्रता से महाराज का कार्य करें। हे राजन! इस गाथा द्वारा वेद भगवान ने यह बात बतलाई है कि महाराजा जो आत्मदेव है वह शरीर और देवताओं से पृथक है; ये सब इसके आज्ञाकारी हैं अथवा इसके रचे हुए हैं।

राजा—हे मुनि! ब्रह्मलोक में क्या यही पाँचभूत शरीर बनाते हैं अथवा और कोई?

याज्ञवल्क्य—हे राजन! ब्रह्मलोक में भी इन्हीं पाँच तत्वों से शरीर बनता है। इस पर एक दृष्टान्त है। एक पक्षी होता है। जब वह अपना घर बनाता है तब उसका घर स्वर्ण की नाई चमका करता है और जब वह दूसरा घर बनाता है तब पहले घर का त्याग करके उस पहले घर का लैम्प अपने नवीन घर में जा लगाता है। उसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पाँचों भूत इस स्वयंज्योति आत्मा के जाने से पहले ही ब्रह्मलोक के शरीर की रचना करते हैं। फिर यह आत्मा तृण जलोका की तरह चला जाता है। इसी प्रकार पितृलोक, कर्मलोक, गंधर्वलोक, देवलोक, विराट्लोक, भूलोक, पशुलोक, दैत्यलोक आदिक सब के सब पंचभूत रूप हैं। देवता, ब्राह्मण, चाण्डाल, पशु, मच्छर, चींटी, वृक्ष, घास, दूब

आदि सब-के-सब पाँचों भूतों से रचे गए हैं। मूर्तामूर्त ब्राह्मण में यही कहा है कि सूर्य, चन्द्रमा, विराट्, ब्रह्मलोक आदिक सब आकारों को यह पाँचभूत ही धारते हैं। यज्ञ के धूम द्वारा प्रथम वह देवता शरीर को बना कर पीछे अग्नि द्वारा जीव को वहाँ ले जाते हैं। जब यह जीव देव-भोगों को अपने पुण्यों के अनुसार भोग चुकता है, तब शोक के मारे इसका तप्त श्वास निकलता है। उससे वह देवशरीर बर्फ के पिण्ड की नाईं गल जाता है। फिर चन्द्रलोक से वर्षा द्वारा पृथ्वी में आता है। पृथ्वी से अन्न में आता है। अन्न द्वारा पिता-माता के गर्भ में आता है। फिर नाना रूप धारण कर प्रगट होता है।

हे राजन्! तात्पर्य यह है कि यह स्वयंज्योति आत्मदेव ही आकाश है। यही वायु है, यही अग्नि है, यही जल है, यही पृथ्वी है, यही ब्रह्मलोक है, यही देवलोक है, यही सूर्य लोक है, यही चन्द्र-लोक है, यही भूलोक है, यही अहंकार है, यही चित्त है, यही बुद्धि है, यही मन है, यही वाणी है, यही चक्षु है और यही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध है। यही मनुष्य, यही पशु, यही कुत्ता, यही विराट, यही सिंह, सर्प, बिच्छू, मच्छर, वृक्ष, पत्थर, घास, फूंस आदिक सब यही है। हे राजन्! इस स्वयं-ज्योति से भिन्न कुछ भी नहीं है।

राजा—हे मुनि! यह सर्व रूप कौन है?

मुनि—हे राजन्! जो यह जीव है, यही ब्रह्म और यही सर्व आत्मा है। इससे इतर कोई ब्रह्म नहीं है। जैसे स्वप्न में अनेक रूपों को धारता है, फिर जागकर एक का एक रहता है। उसी प्रकार यही ब्रह्मात्मा माया उपाधि से मिलकर अनेक ब्रह्माण्ड के आकारों को धारता है। जब विचार करता है तब उपाधि को त्याग कर एक, अद्वैत, आनन्द रूप से स्थित होता है और अनुभव करता है कि मैं सर्व सामर्थ्यवान हूँ। सब प्रपंच मेरा रचा हुआ है। मैं ही कामना करने वाला हूँ। मैं ही क्रोधी, लोभी हूं, मैं ही माया द्वारा ईश्वर हूं। मैं ही अविद्या द्वारा प्राज्ञ हूँ। मैं ही ब्रह्माण्ड की नीति को स्थापित करने वाला हूँ। पुण्य करके मैं ही स्वर्ग को प्राप्त होता हूँ। पाप करके मैं ही नर्क को प्राप्त होता हूँ। मैं ही विवेक-वैराग्य आदि द्वारा ज्ञानी होकर मोक्ष को प्राप्त होता हूं। मैं ही शुभ हूं, मैं ही अशुभ हूँ, मैं ही सब में व्यापक हूं। सब-के-सब मुझ में ही स्थित हैं, पर मैं किसी में स्थित नहीं हूं। वास्तव में कोई भी मेरे में स्थित नहीं है, ऐसा मेरा अद्भुत ऐश्वर्य है। मुझ को ही ज्योति ब्राह्मण में विज्ञानघन कहा गया है।

जैसे शीशे के मकान में बैठा हुआ साहूकार बाजार की सैर करने को निकलता है। वहाँ बाजार में अनेक मनुष्य आते-जाते हैं। उनका प्रतिबिम्ब शीशों पर पड़ता है और साहूकार भीतर अलग बैठा हुआ सब पदार्थों को देखता है। उसी प्रकार विज्ञानघन आत्मा ने संसार रूपी नगर में शरीर रूपी बंगला बनाया है। उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी शीशा जड़ दिया है। इस महल में बैठकर वह अनेक प्रकार के तमाशे देखता है। नाना प्रकार के काम, क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि अनेक पदार्थ आते-जाते हैं। उनका प्रतिबिम्ब अन्तःकरण रूपी शीशे में पड़ता है और विज्ञानघन आत्मा उन सब पदार्थों से असङ्ग हुआ उनका तमाशा देखता है। जब तक लिंगशरीर रूपी शीशा नहीं फूटता तब तक काम, क्रोध, मोह, लोभ, रूपी वृत्तियाँ स्वरूप से सर्वथा नष्ट नहीं होतीं। जब यह पुरुष संसार का तमाशा देखते-देखते उकता जाता है, तब विवेक रूपी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वे ज्ञानरूपी मूसल से लिङ्ग शरीर रूपी शीशे को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर डालती हैं। तब पुरुष निर्विकार रह जाता है।

हे राजन्! ब्रह्मविद्या के बिना और किसी कर्म, धर्म, उपासना आदि उपाय से लिंग शरीर रूपी शीशा नहीं फूटा करता। कामना के त्याग से पाप-पुण्य का अभाव हो जाता है और पुण्य-पाप के अभाव से किसी भावी शरीर का जन्म नहीं होता। स्थूल शरीर के न होने से लिंग शरीर का भी अभाव हो जाता है। लिंग शरीर रूपी शीशे के फूटने से चिदाकाश आत्मा निर्विकार असंग रूप से स्थित होता है। हे राजन्! इस प्रकार परमानन्द की प्राप्ति होती है और किसी प्रकार से नहीं होती। पाप-पुण्य, यज्ञ-दान, तप आदि करने से ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट, सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, पितर-गंधर्व, राजा, मनुष्य, चाण्डाल, पशु-पक्षी आदि शरीरों की प्राप्ति होती है। पाप करने से हिरन, पक्षी, चींटी, भूत-प्रेत आदि नीच शरीरों की प्राप्ति होती है। पुण्य कर्म करने से उत्तम देव शरीरों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अहंकार सहित सकाम कर्म जन्म-मरण के ही कारण होते हैं।

राजा—हे मुनि! कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि संसार का कारण कर्म है, कामना नहीं। जब प्रथम कर्म करता है, तब शुभ-अशुभ योनि को प्राप्त होता है।

मुनि—हे राजन्! संसार का कारण कर्म नहीं है, कामना ही है। जैसे सिंह नित्य ही जीवों का घात करता है, उसको पुण्य-पापों का फल नहीं भोगना पड़ता। कोई-कोई पशु तो स्वभाव से ही पुण्य करते हैं अर्थात् कुछ संग्रह भी नहीं करते-कराते और अनारम्भ, अनिकेत रहते हैं। शीत, उष्ण आदि सहन करते देखे जाते हैं। मान-अपमान का ध्यान ही नहीं करते। इन पुण्यों का फल उन पशुओं को कुछ नहीं मिलता क्योंकि इनको पाप-पुण्य की कामना नहीं फुरा करती। लोक में भी प्रसिद्ध है कि जैसी नीयत होती है, वैसा ही फल होता है। इस कारण से संसार का कारण कामना ही है, कर्म नहीं है। जैसे गंगा-यमुना में दैत्य, पशु, पक्षी, मलेच्छ, आदि सब जल-बुद्धि से स्नान करते हैं और जल भी पीते हैं। परन्तु पुण्य-कामना के अभाव से उनको कुछ भी पुन्य नहीं होता। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, पुण्य की कामना से गंगा-यमुना आदिक में स्नान करते हैं, उनको पुण्य का फल उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। जिस पुरुष को जिस काम के करने में उसके फल की कामना का अभाव है, उसको उस कर्म का फल नहीं होता। नीयत का ही फल होता है।

हे राजन्! कर्म भी मन के फुरने का ही नाम है। नीयत और मन का फुरना यह पर्यायवाची शब्द हैं। जो पुरुष सब कामना से रहित हुआ है और आत्मा को यथार्थ रूप से जानता है, उसका फिर जन्म नहीं होता। जो अज्ञानी शरीर अभिमानी कर्मसंगी हैं, सो जन्म-मरण से कभी नहीं छूट सकते। कोई-कोई आचार्य तो अज्ञान को संसार का कारण कहते हैं। पर अज्ञान जड़ होने से स्वतन्त्र किसी का कारण नहीं हो सकता। काम से संकल्प होता है, संकल्प से कर्म होता है। कर्म से परलोक मिलता है। परलोक में सुख-दुख का भोग होता है। जिस पुरुष को कामना का अभाव हुआ है और जो विवेक वैराग्य द्वारा शरीर निर्वाहमात्र कर्म करता है, कोई भी स्फुरण नहीं उठाता, उसको पाप-पुण्य नहीं लगा करता। उसी का अन्त में मोक्ष होता है।

राजा—हे मुनि! आपने स्वप्न में पशु के दृष्टान्त से कामना सहित संसार को सिद्ध किया, परन्तु मोक्ष का स्वरूप दृष्टान्त द्वारा नहीं कहा।

मुनि—हे राजन्! सब का साक्षी रूप होकर स्थित होना मोक्ष का कारण है और शरीर, मन, बुद्धि के व्यापार को अपने समझना संसार का कारण है। लिंग शरीर से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय रूपी

त्रिपुटी उत्पन्न होती है। जो पुरुष स्वयं को अस्ति, भाति, प्रिय रूप होकर सब में व्यापक देखता है और लिंग शरीर जन्य त्रिपुटी से स्वयं को भिन्न देखता है, वही निर्विकार परब्रह्म, जीवन्मुक्त है। बंध, मोक्ष आदि सब व्यवहार मन के फुरने से भान होते हैं। मन के न फुरने से न तो बंध है, न मोक्ष है, न जन्म है, न मरण है, न मैं हूँ, न तू है। जैसे पुरुष स्वप्न को जाग्रत में मिथ्या जानता है वैसे ही स्वरूप में जागकर मन और मन-रचित संसार मिथ्या दिखाई देने लगता है। उस दशा में जो कुछ कर्म किया जाता है, उसका फल कर्म करने वाले को नहीं होता। जैसे बंध्या का पुत्र तीन काल में असत् है, वैसे ही कारण-कार्यरूप जगत भी तीनों काल में असत् है,— इस प्रकार का विचार करना ही मोक्ष का कारण है।

राजा—हे मुनि! ज्ञानी के प्राण मरणकाल में कहाँ जाते हैं?

मुनि—हे राजन! मरणकाल में बोधवान के प्राण शरीर से बाहर निकल कर नहीं जाते। जहाँ-के-तहाँ लीन हो जाते हैं। कामनावान अज्ञानी के प्राण उपासना के अनुसार परलोक में गमन करते हैं। ज्ञानवान कामना के अभाव से परिपूर्ण ब्रह्मरूप से स्थित होता है।

राजा—हे मुनि! सब कामनाओं से रहित ज्ञानी तो कोई भी देखने में नहीं आता, क्योंकि कामना बिना शरीर की स्थिति ही नहीं हो सकती।

मुनि—हे राजन्! आभास रूप कामना से ज्ञानवान के शरीर का व्यवहार सिद्ध होता है। दृढ़ कामना ज्ञानवान में नहीं होती।

राजा—हे मुनि! जिस गुरु से ज्ञान की प्राप्ति हुई है यदि वही कहे कि हे शिष्य! जब तक शरीर है तब तक तुमको कुछ कर्म अवश्य करना चाहिए, तो कर्म तो शिष्य को गुरु की आज्ञा मानने के लिए ग्रहण करना पड़ता है क्योंकि गुरु की आज्ञा भंग करने के बराबर और कोई पाप संसार में नहीं है।

मुनि—हे राजन्! जो गुरु ब्रह्मविद्या का उपदेश करेगा वह पहले ही कामना और कर्म दोनों का त्याग करा देगा। तब शिष्य को ब्रह्मभाव की प्राप्ति होगी। जैसे ब्राह्मण जब संन्यासी होता है तब प्रथम ही ब्राह्मण जाति के कर्म-धर्म का त्याग कर देता है और संन्यासी होकर कहता है कि यह कर्म-धर्म मेरे नहीं हैं। उसी प्रकार जिस पुरुष को ब्रह्मज्ञान हुआ है, उसने कामना और कर्म पहले ही त्याग दिये हैं। ज्ञान हुए पश्चात् नाम-रूप संसार, कर्म और कामना मृग-तृष्णा के जल की नाईं प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। जब ब्रह्माकार वृत्ति दृढ़ होती है, फिर उसको कर्तव्य कैसे फुरेगा? जिसमें कर्तव्यबुद्धि है, वह ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जैसे सुषुप्ति दशा में आत्मा विज्ञानघन स्वरूप से स्थित होता है, उसी प्रकार जीवन्मुक्त विद्वान् भी समदृष्टि रूप से स्थित होता है। हे राजन्! इस कारण से ब्रह्मज्ञानी शरीर के होते हुए भी ब्रह्मरूप से स्थित होता है। फिर मरने के पीछे उसके मोक्ष में भला क्या सन्देह है?

हे राजन्! तुमने जहाँ जाने के लिए बड़ी भारी तैयारी की थी सो वही परमधाम है। उसको ही विष्णु का परम पद कहते हैं। सब कामना का अभाव करके इस शरीर में ही ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म रूप से स्थित होते हैं और फिर उनका जन्म-मरण नहीं होता। सो तू ही ब्रह्मस्वरूप है। जो पुरुष इस प्रकार विचार द्वारा अज्ञान क्षय हुआ है, वह कभी किसी कामना के लिये किसी के आगे दीन नहीं होता। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि ईश्वर से भी कुछ प्रयोजन नहीं रखता, दूसरे प्राणियों की तो बात ही क्या है? जो वेदान्त-

श्रवण करके फिर भी दीनतापूर्वक किसी देवता की आराधना करता है, राजा, साहूकारों के आगे-पीछे दौड़ता फिरता है, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है। वह तो लोक-परलोक दोनों से भ्रष्ट है। उसको मेरा धिक्कार है। क्योंकि वह अक्रिय अभय सर्वात्मभाव को त्याग कर फिर नाशवान वस्तुओं का सहारा लेता फिरता है। ऐसा पुरुष आत्मघाती है। उसने ब्रह्म के महत्व को नहीं समझा। उसकी कामनाजन्य प्रवृत्ति ही उसके अज्ञान की बोधक है। हे राजन्! लोक संग्रह के लिए गृहस्थी ब्रह्मबोधी को कर्म उपासना अवश्य करनी चाहिये। उनको कर्म उपासना का त्याग करना उचित नहीं है।

राजा—हे मुनि! कोई ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी जब शरीर का त्याग करता है, तब मुक्त होता है।

मुनि—हे राजन्! ऐसा नहीं है। यह पुरुष नित्यमुक्त स्वभाव रूप है। किसी के आश्रय मुक्त नहीं होता है। जैसे अग्नि का प्रकाश, उष्ण स्वभाव है। बीच में प्रतिबंधक पापाण आदिक होते हैं। जब उनका नाश होता है, तब पूर्व सिद्ध उष्णता और प्रकाश प्रगट हो जाते हैं। प्राकृतिक लोग कहने लगते हैं कि अब अग्नि उत्पन्न हुई है। वास्तव में अग्नि में प्रगट होना और अभाव होना समान है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ज्ञान से पहले ही मोक्ष रूप है। बीच में अविद्या और कामना का आवरण या परदा पड़ा था सो विचार रूपी हथोड़े की चोट से नष्ट हुआ। मोक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। जो मोक्ष का जन्म होता तो नाश भी अवश्य मानना पड़ता। परन्तु आत्मा नित्यमुक्त है। भ्रान्ति से उसमें बन्ध प्रतीत होता है। वह भ्रान्ति ज्ञान से नष्ट हो जाती है तब आत्मा ज्यों-का-त्यों नित्यमुक्त प्रकाशता है। अज्ञानीजनों के आश्रय बन्ध-मोक्ष हैं। परमार्थ में न कोई बन्ध है, न कोई मोक्ष है। भ्रांतिसिद्ध बन्ध की अपेक्षा से मोक्ष व्यवहार होता है। मोक्ष तो स्वतः सिद्ध है। आदि अन्त से रहित भूमा स्वभाव है।

राजा—हे मुनि! यह बन्ध-मोक्ष किसको होते हैं? जीव को अथवा ब्रह्म को?

मुनि—हे राजन्! वेद भगवान् ने जीव-ब्रह्म का भेद पहले ही निवारण कर दिया है। वेद कहता है कि जीव ही ब्रह्म है। यह सब निश्चय रूप से ब्रह्म ही है। इसमें नानात्व कुछ नहीं। एक अद्वैत ब्रह्म है। सत् ज्ञान अनन्त ब्रह्म है। हे राजन्! अनिर्वचनीय मिथ्या भ्रम से अहंकार आदिक बन्ध प्रतीत होता है। वह विचार करने से निवृत्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष है और मोक्ष कुछ नहीं। यह अहंकार, मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय और दृश्य पदार्थ सब भ्रम रूप हैं। यह सब रूप अविद्या ने धारे हैं। जैसे पुरुष भ्रान्ति के द्वारा रस्सी को सर्प मान लेता है, परन्तु रस्सी भ्रमकाल और ज्ञानकाल दोनों में एक रस है, उसी प्रकार साभास बुद्धि भ्रम करके स्वयं को बद्ध मानती है। कभी कहती है कि मैं ब्राह्मण हूं, कभी कहती है कि मैं पापी-अपराधी हूं। मैं बारम्बार जन्मता-मरता हूं। ईश्वर कृपा करेगा तब मैं इस बन्ध से छूटूंगा।

हे राजा! यह बुद्धि जब दृश्य की तरफ देखती है तब आत्मा को बद्ध जानती है और जब चैतन्य की तरफ दृष्टि करती है तब आत्मा को एक, अद्वैत, सच्चिदानन्द ब्रह्म जानती है। जिस प्रकार स्वयं को बन्ध प्रतीत होता है, उस प्रकार को भी जानती है। आत्मा में बन्ध-मोक्ष व्यवहार भ्रान्ति से बुद्धि को प्रतीत होता है। जैसे प्रकाश अग्नि से भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जो स्वयं को भिन्न मानता है, उसी में बन्ध-मोक्ष रहते हैं। उसको मोक्ष के निमित्त वेदांत का विचार कर्तव्य है। जब उसकी बुद्धि वेदांत विचार करके ब्रह्माकार होगी, तब आप स्वरूप से नष्ट हो जायगी। एक आत्मा ही आनन्दघन शेष रहेगा।

यह बुद्धि जब दृश्य की तरफ दौड़ लगाती है तब इसको मृग-तृष्णा के जल की तरह जगत-बन्ध दृष्ट आता है। जब स्वरूप की तरफ देखती है तब नित्यमुक्त आत्मा ही दिखाई देता है। जैसे ठूँठ में चोर, रस्सी में सर्प भ्रान्ति से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार भाव-अभाव, बन्ध-मोक्ष आत्मा में स्वरूप के प्रमाद से प्रतीत होते हैं। वास्तव में आत्मा एक, अद्वैत, आनन्द स्वरूप है। भाव-अभाव प्रपंच का साक्षी है। आकाश की नाईं सर्वत्र व्यापक है। नाम-रूप प्रपंच, जीव, ईश्वर स्वप्न की तरह अपने आपे में प्रतीत होते हैं। अद्वैत कुछ बना नहीं। इस प्रकार जिसको अनुभव हुआ है सोई जीवन्मुक्त है।

राजा—हे मुनि! ब्रह्म-जीव में बन्ध-मोक्ष कुछ नहीं है तो लोग वेदान्त-विचार, शम, दम आदिक साधन मोक्ष के निमित्त क्यों करते हैं?

मुनि—हे राजन्! परमार्थ में बन्ध-मोक्ष आदिक मिथ्या हैं। परन्तु अविद्या से जिसकी बुद्धि में बन्ध-मोक्ष आदि द्वैत प्रतीत होता है, उसको बन्ध की निवृत्ति के अर्थ विवेक-विचार आदि साधन कर्तव्य हैं। जैसे अंधकार की निवृत्ति के लिये दीपक की जरूरत होती है, उसी प्रकार अविद्या के दूर करने के लिए ज्ञान की जरूरत होती है। जैसे रस्सी दीपक के आने से प्रथम ही सिद्ध है, वैसे ही प्रत्यग् आत्मज्ञान से प्रथम ही स्वतः सिद्ध है। जब यह बुद्धि साधन करके ज्ञान को प्राप्त होती है, उस काल में ज्ञानी कही जाती है और जब मोक्ष के साधन नहीं करती तब पापी, अपराधी, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ, चाण्डाल, सुखी-दुःखी कही जाती है। इस संसार रूपी कलङ्क को दूर करने के लिए इस बुद्धि को अवश्य पुरुषार्थ करना चाहिए। जिसको संसार नहीं प्रतीत होता, केवल आत्म-आनन्द में मग्न है, उसको कुछ भी कर्तव्य नहीं है। आत्मा तो ज्ञान, अज्ञान, बन्ध, मोक्ष, जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि सब व्यवहारों का साक्षी है।

जैसे इस ब्रह्माण्ड में ईश्वर, सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योति ज्ञानी, अज्ञानी, पापी, तपस्वी सब प्राणियों की चेष्टा को प्रकाशते हैं। पर इन प्राणियों की क्रिया इन ज्योतियों को नहीं प्राप्त होती, उसी प्रकार आत्मा बुद्धि के सुख, दुख, ज्ञान, अज्ञान, जन्म, मरण आदि सब व्यवहारों का साक्षी है। यह बुद्धि के धर्म आत्मा को नहीं प्राप्त होते। जैसे मृगतृष्णा के जल से ऊसर भूमि कभी गीली नहीं होती है, उसी प्रकार बुद्धि और बुद्धि के धर्मों से आत्मा उन धर्मों वाला नहीं होता, सूर्य की नाईं असंग हुआ सबको प्रकाशता है। शरीर के सुख-दुख में बुद्धि ही व्याकुल होती है। आत्मा तो शरीर के सुख-दुख और बुद्धि के भाव, अभाव सब का अनुभव करने वाला है।

बुद्धि के व्याकुल होने से आत्मा व्याकुल नहीं होता। बुद्धि के प्रसन्न होने से आत्मा प्रसन्न नहीं होता। ज्ञान, अज्ञान, सुख, दुख, बंध, मोक्ष, भय, अभय आदि सब बुद्धि के धर्म हैं। आत्मा सब धर्मों से रहित केवल अद्वैत रूप है। वही जीव-ईश्वर दोनों का साक्षी है और आप्तकाम है। कामना के त्याग करने से मृत्यु के मुख से छूट जाता है क्योंकि कामना ही सबकी मृत्यु है। कामना के होने से ही बार-बार जन्म-मरण का मुख देखना पड़ता है। गुरु का सत्संग और वेदान्तशास्त्र के विचार से कामना निवृत्त हो जाती है, तब साधक आप्तकाम जीवन्मुक्त रूप से स्थित होता है। इस मोक्ष से इतर और कोई मोक्ष नहीं है। अविद्या रूपी कामना के त्याग करने का नाम ही मोक्ष है।

जैसे नाना प्रकार के भार से लदी हुई गाड़ी चीं-चीं करती चलती है, उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि नाना प्रकार की वासनाओं से लदी यह जीवन रूपी गाड़ी भी अज्ञान के कारण चीं-चीं

करती रहती है। स्त्री, पुत्र, धन आदि के वियोग का दुःख, हड़फूटन से हाथ-पैर फेंकना और हाय देव, हाय माता, हाय पुत्र आदि अनेक शब्दों का कहना ये गाड़ी के चीं-चीं शब्दों की तरह ही चलते हैं। दृश्य पदार्थों को देख कर बार-बार रो पड़ता है क्योंकि पराधीनता से कुछ नहीं कर सकता। मन की मन में ही रह जाती है। जैसे तैल के अभाव से दीपक बुझ जाता है अथवा तैल के होते हुए भी कोई पतंग आदि बुझा देते हैं, उसी प्रकार शरीर रूपी घर में बुद्धि रूपी दीपक है। प्रारब्ध रूपी तैल का अभाव होने से बुद्धि रूपी दीपक बुझ जाता है अथवा प्रारब्ध के होने पर भी पाप-पुण्यरूपी पतंग उसे मूर्छित कर देते हैं।

राजा—हे मुनि! जब यह शरीर को त्यागता है तो अपने साथ क्या ले जाता है?

मुनि—हे राजन! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, मछली के फँसाने के लिए नाना कामना रूपी जाल अपने साथ ले जाता है। कभी जाग्रत रूपी नदी में जाल फेंकता है। कभी स्वप्न की नदी में जाल फेंकता है। जैसे मछेरे जाल से मछलियाँ पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार यह ब्रह्मपुत्र कामना रूपी जाल से कभी शब्द की मछली निकाल लेता है, कभी स्पर्श की मछली निकाल लेता है, कभी रस की, कभी गंध की मछली निकाल लेता है। जहाँ जाता है, वहीं पाँच प्रकार की मछलियों को मार-मार कर भोगता है। इस प्रकार से दूसरे-दूसरे शरीरों में अपने साथ लिंग शरीर रूपी गाड़ी को लिये फिरता है। जब ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि प्रगट होती है तब लिंग शरीर को भी भस्म कर देती है। जैसे कांचली के छोड़ने से सर्प नहीं मरता, वैसे ही शरीर के त्याग से आत्मा नहीं मरता, किन्तु ब्रह्मलोक के आनन्द को प्राप्त होता है।

राजा—हे मुनि! जब आत्मा अचल और निर्विकार है तो आता-जाता कैसे है?

मुनि—हे राजन्! यह वासना का पुतला जो मन है, यही आता-जाता है। आत्मा आकाश की नाईं व्यापक, एक रस, आने-जाने से रहित है। जैसे सिंह को पुराने पिंजरे से निकाल कर नये पिंजरे में प्रवेश कराते हैं, उसी प्रकार प्रारब्ध मन को एक शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर में प्रवेश कराती है और पूर्व प्रज्ञा यथोचित कार्मों में जोड़ती रहती है। जैसे शरीर को ग्रहण करता है, उसी के अनुसार चेष्टा कराती है। कुत्ते के शरीर में भोंकती है। मनुष्य के शरीर में लेन-देन कराती तथा स्वर्ग आदि की इच्छा उत्पन्न करती है। ब्रह्मा के शरीर में सिद्ध-संकल्प करके सृष्टि को करवाती है और देवता के शरीर में भोग भुगाती है। हे राजन्! मन, बुद्धि, शरीर, लोक, परलोक, आना तथा जाना सब अविद्या है। जब ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है तब इस अविद्या का बोध होता है और एक अद्वैत आनन्द स्वयं ज्योति शेष रहता है।

राजा—हे मुनि! जिस प्रकार स्वयं ज्योति आत्मा को मैं साक्षात् जानूं सो कृपा करके कहिये।

मुनि—हे राजन्! जो यह स्फुरण रूप ज्ञान है, वही ब्रह्म और सर्व आत्मा है। इसी के आश्रय विद्या और अविद्या दोनों सिद्ध होती हैं। चिदाकाश स्वयंज्योति आत्मा के बिना ज्ञान और अज्ञान दोनों सिद्ध नहीं हो सकते। परमात्मा अनन्त शक्ति और सर्व सामर्थ्यवान है। ज्ञान और अज्ञान दोनों उसकी प्रधान शक्ति हैं। जब अज्ञान शक्ति का ग्रहण करता है तब नाना प्रकार का संसार रचकर तरह-तरह की लीला देखता है और जब ज्ञान शक्ति को ग्रहण करता है तब कहता है कि मैं असङ्ग, निर्विकार, सब प्रकाशों का प्रकाश हूं। समष्टि में मैं चिदाकाश आत्मा ही सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला ईश्वर हूँ। मैं ही विराट् हूं। मैं सब ज्योतियों की ज्योति और सब प्राणों का प्राण हूं। देवों का देव हूं और सब

आधारों का आधार मैं ही हूं। सब कुछ करता हूं तो भी कुछ नहीं करता। मैं ही सब को प्रेरता हूं तो भी किसी को नहीं प्रेरता क्योंकि मेरे से भिन्न समष्टि-व्यष्टि सम्पूर्ण जगत आकाश में नीलता अथवा स्वप्न की नाई मिथ्या भान होता है। भोगों की कामना जन्म-मरण का कारण है। आत्मज्ञान की कामना मोक्ष का कारण है। हे राजन्! इस प्रकार बोधवान देह सहित भी है और देह रहित भी है। जैसे दही से मक्खन निकाल कर फिर उसी में छोड़ देते हैं, परन्तु फिर मक्खन भिन्न ही रहता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष ने शरीर रूपी मटकी में, विचार रूपी मथनी से संसार रूपी दही को अभ्यास रूपी रस्सी के सहारे से मथकर मिथ्या प्रपंच रूपी छाछ में से चिदाकाश रूपी आत्मा को अस्ति, भाति, प्रिय रूप से निकाल कर फिर डाला है। वह सब व्यापार करता है तो भी अब मक्खन रूपी आत्मा किसी से स्पर्श नहीं करता है।

जनक—हे मुनि! जब ब्रह्मात्मा असङ्ग है तो क्या वह शून्य है?

मुनि—हे राजन! जिस प्रकार बाल्य, यौवन और बुढ़ापा इन तीनों ही अवस्थाओं में शरीर एक ही रहता है, उसी प्रकार भूत मात्र के आदि, मध्य और अन्त इन तीनों अवस्थाओं में वह अभिन्न रूप से रहता है। विश्व की उत्पत्ति के समय जिसका नाम ब्रह्मा पड़ा था, विश्व की स्थिति के समय जिसे विष्णु कहते हैं, अन्त में विश्व का लोप होते समय जिसे रुद्र कहते हैं, तीनों गुणों के लोप हो जाने पर जो शून्य के रूप में शेष रह जाता है और आकाश का शून्यत्व नष्ट करके तथा सत्व आदि तीनों गुणों का भी लोप करके जो चिदाकाश रूप में शेष रह जाता है, वही वेदों के द्वारा प्रतिपादित महाशून्य है जो विचार मार्गियों का ज्ञेय है। हे राजन! ब्रह्म का स्वरूप जानकर अन्त में साधक अपना परिच्छिन्न अभिमान भूल जाता है।

राजा—हे मुनि! देहाभिमान के नष्ट होने पर तद्रूप होने का क्या उपाय है?

मुनि—हे राजन! बहुत साधन हैं। जिस प्रकार पहाड़ पर चढ़ने के लिए पौड़ी बनानी पड़ती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में एक रूप होने के लिए भी सब साधन करने पड़ते हैं। यदि केवल यह कह दिया जाय कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है या आत्मा ही आत्मा है तो इस प्रकार के कथन से तो मनुष्य के मन को कभी भी सन्तोष नहीं होगा। यदि किसी को शून्य दिखाना होता है तो उसके लिए एक बिन्दी बनानी या लिखनी पड़ती है। इसी प्रकार यदि शब्दों के द्वारा अद्वैत तत्व का निरूपण करना हो तो द्वैत की भाषा का प्रयोग करना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न किया जाय तो गुरु और शिष्य के सम्प्रदाय का लोप और सब प्रकार के कथनों का ही अन्त हो जायगा। इसीलिए वेदों ने अद्वैत का वर्णन करने के लिए द्वैत वाली अलंकारिक भाषा का प्रयोग करने की परिपाटी चलाई है।

गुरु—हे शिष्य! यह वचन सुनकर जनक ने फिर एक सहस्र गौ याज्ञवल्क्य को संकल्प कर दीं और कहा कि हे मुनि! जैसा आप कहते हो, ठीक वैसा ही है। जनक ने जो काम-प्रश्न का वर माँगा था कि जब तक मेरी इच्छा हो, तब तक मैं प्रश्न करता रहूँ, सो अब इस वर की समाप्ति हुई।

शिष्य—हे गुरु! अब जनक जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुआ। अब तो इसको ब्रह्मज्ञान की दक्षिणा में सर्वस्व देना योग्य था। एक सहस्र गौ ही क्यों दीं?

गुरु—हे शिष्य! इस प्रकार सहस्र गौओं द्वारा याज्ञवल्क्य का पूजन करने से ज्ञात होता है कि अभी जनक को सम्यक् ज्ञान नहीं हुआ है। अभी और कुछ पूछने की अपेक्षा है।

शिष्य—हे गुरु ! सर्वस्व दान करने से आचार्य बहुत प्रसन्न होता है और गुप्त रहस्य को भी प्रगट कर देता है। इस कारण से जनक को उचित था कि पहिले ही सर्वस्व दान कर देता। बार-बार एक सहस्र गौ दीं तो क्या दीं ?

गुरु—हे शिष्य ! जनक का यह अभिप्राय था कि अभी मुनि ने मुझ को ब्राह्मण भाग द्वारा उपदेश किया है। जब मन्त्र भाग द्वारा उपदेश करेंगे तब मैं सर्वस्व दान करूँगा।

जनक—हे मुनि ! ब्रह्म का स्फुरण किसको कहते हैं और ब्रह्म किसको कहते हैं ?

मुनि—हे राजन। तू ही ब्रह्म है और तेरे मन का नाम ही स्फुरण है। तेरे से इतर कुछ नहीं। जो कुछ भी जीव, ईश्वर, पाप पुण्य, स्वर्ग-नर्क आदि प्रपंच दिखाई देता है, वह सब मन के अस्फुरण से लीन हो जाता है। तू स्वतः सिद्ध है। यह सब कुछ तुझ से ही सिद्ध होता है। जैसे तू स्वप्न को त्याग कर जाग्रत में आता है, वैसे ही यह संसारी जीव एक शरीर का त्याग करके दूसरे शरीर में जाता है। यह आना-जाना निष्काम होने से छूटता है। निष्कामता ब्रह्मज्ञान से होती है और ब्रह्मज्ञान निष्कामता से होता है। बिना निष्कामता के जन्म-मरण नहीं छूटता। कामी को ही संकल्प उठता है। संकल्प से कर्म होता है। कर्म से लोक-परलोक में गश्त लगाता है। इस प्रकार शान्त आत्मा नहीं होता।

जैसे एक मुनि ने सौ वर्ष भोग भोगे, तो भी दो मुहूर्त के समान जान पड़े और उसकी तृष्णा अधिक बढ़ गई। जैसे अग्नि में डाला हुआ घृत अग्नि को शान्त नहीं करता, वैसे ही भोग की कामना रूप अग्नि को भोग कदापि शान्त नहीं करते। जब पुरुष निष्काम होता है, उस काल में सन्तों की पंक्ति में जाकर ज्ञान का अधिकारी होता है। ज्ञानवान होकर सम्प्रसाद में गया हुआ फिर नहीं लौटता। हे राजन ! मन की वृत्ति भोगों की तरफ दौड़ने में अविद्या को बढ़ाती है। मन के शान्त होने से विद्या की वृद्धि होती है, तब यह जगत् स्वप्न की तरह आत्मा में कल्पित रूप से प्रतीत होने लग पड़ता है। जिसने दृश्य को नाममात्र तथा प्रतीतिमात्र जाना है, वही आप्तकामी है और जिसको यह जगत् सत्य प्रतीत होता है वही पुरुष, कामी, क्रोधी और लालची भी होता है। हे राजन ! जो आप्तकाम है वही निष्कामी है। अब तू भी आप्तकाम है और जीवन्मुक्त ब्रह्मरूप से स्थित हुआ है।

जनक—हे मुनि ! आप ने ब्रह्मज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति कही है। वह ज्ञान शरीर अभिमान सहित प्राप्त होता है अथवा शरीर अभिमान त्याग करके प्राप्त होता है। जो शरीर सहित कहो तो जीवन्मुक्त न हुआ और जो शरीर अभिमान रहित कहो तो इसके शरीर का अभाव होना चाहिए। परन्तु जीवन्मुक्त शरीर सहित ही होता है। मेरे इस संशय को कृपा करके निवृत्त करिये।

मुनि—हे राजन ! ज्ञानवान अविद्याकृत देहाभिमान का त्याग कर देता है। जैसे सर्प अपनी कांचली को बांबी के पास फेंक देता है। उसको देखकर सर्प के डर के मारे कोई उसकी कांचली को हाथ नहीं लगाता। इसी प्रकार जीवन्मुक्त वेदान्त-विचार द्वारा देहाभिमान का त्याग कर देता है और संसार में स्वतन्त्रता पूर्वक विचरता है। विद्वान की अहन्ता-ममता निवृत्त हो जाती हैं। अज्ञान दशा में जो शरीर में अहं बुद्धि और भोगों में रुचि रहती थी तथा वर्ण, आश्रम, पापी, अपराधी, जीवपने आदि का अभिमान था, वह निवृत्त हो जाता है। सब को मिथ्या जानकर अज्ञानियों की तरह जगत में शरीर से मत्र व्यवहार करता है। जो कोई इस से नाम आदि पूछता है उसको नाम आदि बता देता है। कोई भोजन

आदि को कहता है तो खा लेता है। इस प्रकार खाना-पीना, चलना-फिरना, सुख-दुःख का ज्ञान, कपड़ा धारण करना, लेना-देना आदि सब व्यवहार करता हुआ भी वास्तव में अपने निश्चय में कुछ नहीं करता है। कर्त्ता-भोक्तापने के अभिमान से रहित होता है।

अज्ञानी लोग अविवेक से बोधमान को कर्ता-भोक्ता देखते हैं। वास्तव में तो वह एक आकाश की तरह असंग है। जैसे मैंने तत्ववेत्ता होकर भी शाकल्य को शाप देकर उसका मस्तक-छेदन किया और दी हुई गौवें ले लीं। जल्पवाद करके सब ब्राह्मणों को पराजित किया। मेरे भय से सब ब्राह्मण भाग गये। दध्यङ्ग, अथर्वणा ने जीवन्मुक्त होकर अश्विनी कुमारों को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है। अश्विनी कुमारों ने गुरु का सिर काट कर ब्रह्मविद्या ग्रहण की है, तो भी ब्रह्मज्ञानीपने का अभिमान न हुआ और न उसके फल दुःख को ही प्राप्त हुए। जब तक शरीर का प्रारब्ध शेष होता है, तब तक प्रारब्ध के अनुसार सम्यग् चेष्टा करते हैं। गृहस्थी ज्ञानी गृहस्थ का व्यापार करते हैं। संन्यासी संन्यास आश्रम के अनुसार विचरते हैं। अतः बोधवान को चाहिये कि जिस हालत में हो उसके अनुसार विचरे या चेष्टा करे।

विद्वान की चेष्टा का कोई नियम नहीं है। ज्ञानवान और अज्ञानी में कुछ भेद नहीं हो जाता, केवल मन का निश्चय बदल जाता है। अज्ञानी जगत को सच्चा जानकर व्यापार करते हैं, ज्ञानवान जगत को मिथ्या मानकर व्यापार करते हैं। जैसे दूर रक्खे हुए कम्बल में भेड़ बुद्धि होती है, पास आकर देखने से भेड़ बुद्धि जाती रहती है और कम्बल का ही भान होता है। उसी प्रकार अज्ञान से चैतन्य आत्मा में पाप-पुण्य, सुख-दुःख सत्य प्रतीत होते हैं। जब विवेक द्वारा सम्यग् ज्ञान से देखता है तब पाप-पुण्य, सुख-दुःख मिथ्या प्रतीत होते हैं और एक, अद्वैत, आनन्द, निर्विकार चिदाकाश ही प्रतीत होता है। ज्ञानवान सूंघता, चलता, लेता, देता, श्वास लेता, नेत्र खोलता-बन्द करता हुआ भी यही निश्चय रखता है कि मैं कुछ नहीं करता।

॥ इति शारीरक ब्राह्मण नामक राजा जनक और याज्ञवल्क्य-संवाद रूप बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

तेरहवाँ अध्याय

[मन्त्र भागसार अर्थ]

जनक—हे मुनि ! आपने वेदान्त द्वारा उपदेश किया है, परन्तु संन्यास बिना जीवन्मुक्ति की सिद्धि नहीं होती। जो पुरुष वेदान्त-श्रवण कर स्वयं को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं और निःशंक होकर संसारी व्यवहार करते हैं, धन संग्रह करते हैं, विषयों का भी सेवन करते हैं और परमार्थ में एक पैसा भी खर्च नहीं करते, ऐसे पुरुषों को मैं जीवन्मुक्त नहीं मानता। ऐसे पुरुष संसार को तो मिथ्या कहते हैं और स्वयं को सत जानकर पदार्थों का संग्रह करते हैं। मेरे विचार से तो वह बद्धज्ञानी हैं।

मुनि—हे राजा ! जिस मार्ग द्वारा अधिकारी पुरुष ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म और अनादि है। सबको इस मार्ग में चलने का अधिकार नहीं है।

राजा—हे मुनि ! वह कौन मार्ग है ?

मुनि—हे राजन् ! वह मार्ग ब्रह्मविद्या है जो कर्म उपासना आदिक सब मार्गों से श्रेष्ठ और प्रत्यक्ष फल वाली है अर्थात् देर का काम नहीं। सुगम धर्म रूप है। इस ब्रह्मविद्या द्वारा ही जो निष्काम अधिकारी पुरुष सब वासनाओं का त्याग करके (अर्थात् लोक वासना, देह वासना, शास्त्र वासना) ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं। वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा के त्याग का नाम ही संन्यास है। यही मोक्ष का मुख्य साधन है। इस संन्यास बिना मोक्ष की प्राप्ति कभी किसी को नहीं होती। वेद द्वारा प्रतिपादित यह सनातन मार्ग किसी का कल्पित नहीं है। और जितने भी मार्ग हैं वे सब किसी-न-किसी मनुष्य के कल्पे हुए हैं। वे वृथा वेदविरुद्ध कल्पना मात्र हैं।

यह संन्यास ऊपर से मूँड को मुँडवाने, वस्त्र रँगवाने, दंड धारण करने अथवा और किसी चिन्ह-युक्त होने से नहीं होता और न कोई सम्प्रदाय विशेष का नाम रखवा लेने से ही सिद्ध होता है। हे राजन् ! यह संन्यास केवल मन से ही तीनों ईषणाओं का त्याग करने से सिद्ध होता है। हे राजन् ! कोई-कोई तो सूर्य, चन्द्रमा आदि द्वारा मोक्ष मानते हैं। कोई इन्द्रियों तथा बुद्धि के अभाव से मोक्ष मानते हैं तथा कोई शरीर के अभाव से (जैसे चारवाक) मोक्ष मानते हैं। यह सब कल्पना मात्र हैं। इन साधनों से मोक्ष नहीं होती। हाँ, उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। कोई-कोई उपासक प्राण को नाड़ियों द्वारा निकालने से मोक्ष मानते हैं। पागल भ्रान्त पुरुषों की नाईं इन मार्ग वालों की अनन्त कल्पनायें हैं।

जिन नाड़ियों से उपासकों के प्राण निकलते हैं वे वात, पित्त, कफ, मूत्र, पुरीष, रक्त आदिकों से भरी हुई रहती हैं। उनको इन मूर्खों ने मोक्ष का द्वार माना है। जिसके रास्ते ऐसे मलीन हैं, वह लोक भी अन्त में अत्यन्त दुःख का कारण है। इस कारण से शुद्ध हृदय वाला मुमुक्षु न तो इन मार्गों की तरफ अपनी वृत्ति को लगाते हैं और न इनके द्वारा जो मोक्ष होती है उसको ही चाहते हैं। हे जनक ! ध्यान देकर सुन, जड़ से श्रेष्ठ प्राणधारी हैं। प्राणधारी से श्रेष्ठ बुद्धिवान हैं। बुद्धिवान से श्रेष्ठ वर्ण आश्रमी हैं, उन

वर्णा आश्रमियों से श्रेष्ठ शूद्र हैं। शूद्रों से श्रेष्ठ वैश्य, वैश्य से श्रेष्ठ क्षत्री है। क्षत्री से श्रेष्ठ ब्राह्मण, ब्राह्मण से श्रेष्ठ वेदपाठी हैं। वेदपाठी से श्रेष्ठ वेद के अर्थ को समझने वाले पटशास्त्री हैं। पटशास्त्री से श्रेष्ठ गृहस्थ ब्रह्मज्ञानी है। गृहस्थ ब्रह्मज्ञानी से श्रेष्ठ त्यागी संन्यासी ब्रह्मज्ञानी हैं। यह दोनों ब्रह्मज्ञानी ही ब्रह्मज्ञान द्वारा मुक्त होते हैं।

इन में इतना भेद है कि गृहस्थी ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु जीवन्मुक्ति का विशेष सुख उनको नहीं होता और संन्यासी ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्ति के विशेष सुख का भी अनुभव करते हैं। विदेह मुक्ति केवल ब्रह्मज्ञानी मात्र को समान होती है, चाहे कोई भी हो। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, मलेच्छ, दैत्य, चाण्डाल, स्त्री ब्रह्मज्ञान द्वारा सब विदेह मोक्ष को प्राप्त होते हैं। सुषुम्ना आदि नाड़ियों द्वारा जिनके प्राण निकलते हैं, वह सब जन्मते-मरते रहते हैं। जो अधिकारी उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं उनमें से जिनको ब्रह्मलोक में ब्रह्मज्ञान हो जाता है, वह तो अपना प्रारब्ध भोगकर मुक्त हो जाते हैं और जिनको ब्रह्मज्ञान नहीं होता है, वह अपना प्रारब्ध भोगकर दूसरे कल्प में जन्म लेते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती। सो मोक्ष का मार्ग ब्रह्मज्ञान ही है। ब्रह्मज्ञानी शरीर का त्याग करके फिर नहीं जन्मता। सच्चिदानन्द रूप से स्थित होता है।

राजा—हे मुनि! अधिकारी पुरुष इस मोक्ष मार्ग को कैसे प्राप्त होता है?

मुनि—हे राजन! निष्काम कर्म करके जब मनुष्य का हृदय शुद्ध होता है अर्थात् "मैं संसार बन्धन से कैसे छूटूँ?" ऐसा विचार करके भोगों में अरुचि होने लगे, तब वैराग्यवान होकर ब्रह्मवेत्ता गुरु द्वारा वेदान्त श्रवण करके, मनन और निदिध्यासन करता है। तब ज्ञान द्वारा आप्तकाम होकर प्रारब्ध का नाश होने पर शान्त आत्मा हो जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश अपने विशेष भाव का त्याग करके समान अग्निरूप से स्थित होता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी प्रारब्ध भोगकर परम आनन्द समरस भाव को प्राप्त होता है।

लोकेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा, यह तीनों जन्म-मरण का कारण हैं। ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक अथवा मनुष्यलोक के विशेष आनन्द भोगने की इच्छा को लोकेषणा कहते हैं। जैसे मनुष्यों को यह इच्छा रहती है कि मेरे पास सौ रुपया हैं। मैं हजारपति हो जाऊँ। हजारपति की यह इच्छा रहती है कि मैं लक्षपति हो जाऊँ। इसी प्रकार लक्षपति क्रोड़पति होने की, क्रोड़पति राजा होने की, राजा महाराजा होने की इच्छा करता है। यह वित्तेषणा है। महाराजा को स्वर्गलोक भोगने की इच्छा है। देवताओं को ब्रह्मलोक के विशेष आनन्द भोगने की इच्छा है। यही लोकेषणा है। मेरे पुत्र होवे—यही पुत्रेषणा का स्वरूप है। यह तीनों ईषणा जन्म-मरण का कारण हैं। जो इन तीनों ईषणाओं का त्याग करता है, वह चाहे गृहस्थ के वेष में हो, चाहे विरक्त के वेष में हो, वही संन्यासी है। तीन ईषणा त्यागे बिना केवल क्रिया होम आदिक करने से मोक्ष नहीं मिलती है।

ब्रह्मज्ञानी तो सब पुण्यों का ज्ञाता और करने वाला है क्योंकि जिसको क्षणमात्र भी ब्रह्माकारवृत्ति की प्राप्ति हुई है, उसने सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान कर लिया, सब पृथ्वी का दान कर चुका, प्रत्येक युग के सहस्र-सहस्र यज्ञों को भी कर चुका, देवताओं का भी अच्छे प्रकार से पूजन कर चुका और अपने पितरों का भी संसार से उद्धार कर चुका। वही तीनों लोकों में पूज्य है। सब कर्मों और उपासनाओं के फल तो

ब्रह्मज्ञान के छोटे से किसी एक कोने में पड़े हैं। जब पुरुष को ब्रह्मज्ञान होता है, उस काल में ही समस्त कर्म और उपासना सफल होती हैं। हे राजन! कर्म उपासना द्वारा स्वर्ग आदिक लोकों की प्राप्ति होती है। पुण्य के क्षीण होने पर वहाँ से गिरा दिये जाते हैं—अर्थात् निकाल दिये जाते हैं। अक्षय पुण्यफल तो बोध है जिससे जीव को अमरपद की प्राप्ति होती है और फिर उसके पास दीनता कभी नहीं फटकती। जिसको सम्यग् बोध होता है वह ईश्वर, देवता, मनुष्य आदिक किसी की भी आराधना नहीं किया करता क्योंकि वह सबको अपना आत्मरूप जानता है। अपने आपके आगे कौन दीन होता है?

जो किसी के आगे दीन होता है वह पुरुष बोधवान नहीं समझा जाता। वह तो आत्म हत्यारा है क्योंकि जब ब्रह्मज्ञान का वर्णन करता है तब सम्पूर्ण प्रपंच का अभाव करता है। फिर जब किसी के आगे प्रार्थना करता है, तब आत्मा का नाश करता है। इसलिए बोधवान को चाहिए कि दीनता स्वीकार करके आत्मा का नाश न करे—अर्थात् अपने को छोटा न माने। इच्छा करने से मनुष्य छोटा बन जाता है। कामना के कारण मनुष्य में दीनता आ जाती है। तब ब्रह्मज्ञान वहाँ से भाग जाता है। जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्मज्ञानी की आराधना करता है तो भला ब्रह्मज्ञानी किसकी आराधना करेगा?

संसार में कोई तो ज्ञान के लिए दीन होता है, कोई भोग के लिए दीन होता है। परन्तु ब्रह्मज्ञानी को न तो ज्ञान की इच्छा है और न भोग की इच्छा है। इच्छा अप्राप्त वस्तु की होती है, प्राप्त वस्तु की नहीं होती। सो ज्ञान तो पहिले ही प्राप्त है और भोग भी प्रारब्ध के अनुसार आप ही मिल जाता है। ब्रह्मवेत्ता चक्रवर्ती की तरह संसार में शोभा पाता है। शरीर के प्रारब्ध पर्यन्त यदृच्छा लाभ करके सन्तुष्ट रहता है। जैसे-तैसे शरीर का निर्वाह कर लेता है। कहीं भिक्षा मांग कर खा लेता है, कहीं महनत-मजदूरी करके पेट भर लेता है, परन्तु किसी के आगे दीन नहीं होता। इसी कारण से शोभा पाता है।

एक रैक्व नामा ऋषि था। उसने प्राण की उपासना की थी। उस उपासना के प्रताप से ब्रह्मा पर्यन्त सब प्राणधारी उसके भय में रहते थे अर्थात् उससे थर-थर कांपते थे कि इसके बस में प्राण हैं। कहीं इसने प्राणों का निरोध कर लिया तो हम मर जायेंगे। इसलिए सब डरते थे और उस रैक्व को किसी का भय नहीं था, क्योंकि ब्रह्मज्ञानी तो प्राण का भी प्राण है। इस कारण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ज्ञानवान के भय में रहता है। भला वह फिर किस की आराधना करे। ब्रह्मज्ञानी विचार के द्वारा शोभा पाता है, कर्म द्वारा शोभा नहीं पाता। कर्म द्वारा तो कर्मसंगी शरीराभिमानी ही शोभा पाते हैं। विचार बिना जो कुछ किया जाता है, वह शोभा नहीं पाता।

हे राजन्! कर्म, उपासना, अविद्याजन्य भेद भ्रम से होते हैं इसीलिए तो कर्मी अन्धतम को प्राप्त होते हैं। तीन वेद के जानने वाले भी सोमपान करके तमलोकों को प्राप्त होते हैं क्योंकि कर्म उपासना करके ब्रह्मलोक आदि में जाते हैं। वहाँ सात विशेषता आदिक दोषों से जलते रहते हैं। कोई तो ब्रह्मा-विष्णु आदिक के पास रहते हैं। कोई ब्रह्मा, विष्णु के ऊपर चँवर करते रहते हैं, कोई सुगन्ध तेल लेकर उनके शरीर में मलते रहते हैं, कोई दूर खड़े रहते हैं, निकट नहीं आने पाते। इस निरादर के मारे इन जीवों के अन्तःकरण का संताप वहाँ भी नहीं मिटता। उस काल में यह जीव ऐसा विचार करते हैं कि अब के जो हम मनुष्य लोक में जायेंगे तो ऐसे कर्म करेंगे कि जिससे सदा विष्णु के चरणों में ही पड़े रहें। इत्यादिक प्रकार से ब्रह्मलोक वैकुण्ठ लोक में भी सुख तथा शान्ति नहीं है, फिर मनुष्य लोक की तो बात ही क्या है जो अनेक प्रकार के दुःखों से भरा पड़ा है।

कभी सर्दी से दुःखी होते हैं। कभी गर्मी से दुःखी होते हैं। कभी अपने विरोधी शत्रु से दुःखी होते हैं। कभी भूख-प्यास से दुखी होते हैं। कभी राजा लोगों से और कभी पिशाच के रोग से दुखी होते हैं। कर्मी उपासक तो थोड़ा खाने, इन्द्रियों का संयम करने, रात को जागने, आसन लगाकर बैठे रहने, धन खर्च करने से अनेक क्लेश सहते रहते हैं, तब कहीं जाकर स्वर्ग आदिक में थोड़ा सा भोग पाते हैं। भोग की कामना से शान्ति कदापि नहीं मिलती। अज्ञान से अपने आप को शरीर मान कर और कर्त्ता-भोक्ता जानकर अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म, उपासना करते हैं। सो जिस अविद्या का सेवन करते हैं, उसी को प्राप्त होते हैं। इन जीवों को अपनी मूर्खता के कारण जो कष्ट होते हैं सो हम तुम से कहाँ तक कथन करें ? ब्रह्मा की आयु पर्यन्त कथन करें तो भी कथन नहीं कर सक्ते।

जो वैराग्यवान पुरुष ब्रह्मज्ञान के लिए पुरुषार्थ करते हैं, वह यहाँ भी सुखी रहते हैं और अन्त में परमानन्द का स्वरूपभूत हो जाते हैं। वे इस लोक में अनेक प्रकार के प्रारब्ध अनुसार भोजन करते हैं और श्री भागीरथी का ठण्डा-ठण्डा जलपान करते हैं। किनारे पर लोट लगाते हैं और दिन-रात आत्मा के विचार में तत्पर रहते हैं, क्योंकि वे नामरूप प्रपंच को मृगतृष्णा के जल की नाईं तुच्छ देखते हैं। जो प्रारब्धवश सुख-दुःख प्राप्त होता है, उस को धैर्य धारण करके असंग हुए सहन करते हैं और कामना रूपी अग्नि से कभी नहीं तपते। स्वतंत्र इच्छा पूर्वक चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हैं। दुष्ट, अहंकारी, पापी, अपराधी, कामी, क्रोधी, अनाचारी, मूर्खों से उदासीन रहते हैं। दूर से साक्षी की तरह तमाशा देखते हैं और संसार को जलता हुआ देखकर हँसते हैं कि देखो यह अज्ञानी मूर्ख भोगों की कामना करके किस प्रकार दुखी हो रहे हैं ?

स्त्री, पुत्र, धन की कामना इन जीवों को क्षणमात्र भी आराम नहीं करने देती। बड़े कष्ट से तो यह प्राप्त होते हैं। फिर कभी तो पुत्र का वियोग होता है। कभी धन का वियोग और कभी अपने ही शरीर में रोग होता है। कभी स्त्री, पुत्र आदि के शरीर में रोग होता है, उससे कष्ट पाते रहते हैं। कभी कोई बुरा कर्म कर बैठते हैं, तब लोगों के धिक्कारजन्य दुःख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार संसारी प्राणी सदा कष्ट पर कष्ट पाते रहते हैं और अपनी मूर्खता से घरों में ही पड़े रहते हैं। उनको देखकर वैराग्यवान हँसते हैं। जिस पुरुष ने सब कामनायें त्याग की हैं, वह पुरुष सदा सुखी रहता है। बोधवान साक्षी हुआ उदासीन की नाईं सब संसार को देखता है और सदा अद्वैत आनन्दरूप आत्मा में मग्न रहता है। आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या कथनमात्र जानता है। हे राजन्! तेरे साक्षीस्वरूप प्रत्यग् आत्मा से इतर जो दीखता है, सो सब स्वप्न की नाईं मिथ्या है।

राजा—हे मुनि ! ऐसे ब्रह्मज्ञानी का क्या लक्षण है ?

मुनि—हे राजन् ! ब्रह्मज्ञानी का लक्षण स्वस्वयंवेद्य है। ब्रह्मवेत्ता स्वयं को आकाश की नाईं व्यापक देखता है। मणियों की तरह सब प्रपंच को इकट्ठा करके पर्वत की नाईं स्थित हुआ है। जैसे माला में सूत का तागा ओत-प्रोत होता है, उसी प्रकार नामरूपात्मक प्रपंच में ओत-प्रोत है। अज्ञानकाल में शरीर आदि का अभिमान उठाकर स्वयं को कर्त्ता, भोक्ता, साढ़े तीन हाथ का जीव मानता था। गुरु के द्वारा महावाक्य का विचार करके अपने स्वरूप को जानकर कृतकृत्य होता है और कहता है कि मैं धन्य हूँ, क्योंकि मैं अपने आप परमानन्द को प्राप्त हुआ हूँ। गुरु धन्य हैं और शास्त्र को भी धन्य है। यदि मैं इस मनुष्य शरीर में अपने स्वरूप को नहीं जानता तो इससे बड़ी और कोई हानि नहीं थी।

चक्रवर्ती राज्य की प्राप्ति से जैसा आनन्द होता है, वैसा आनन्द मुझे होता है। अब मेरे स्वरूप में न हानि है, न लाभ है। इस कारण से मैं अमर और अमृत हूँ। यह संसार क्षणभंगुर असत्‌रूप है, मैं एकरस सत्‌रूप हूं। यह संसार दुःखरूप है, मैं सुखरूप हूं। संसार चाह वाला है, मैं अचाह हूं। यह संसार तृष्णा के मारे जलता है। अहा, हा, मैं सन्तोष करके शान्त आत्मा हुआ हूँ। यह हमको इसी जन्म का पुण्य नहीं फला है, किन्तु अनेक जन्मों के पुण्य आ फले हैं। मैंने पूर्व जन्मों में अनन्त पुण्य किये हैं, उनका फल यह अमर पद मिला है। इस कारण से मैं धन्य हूं। यह समस्त संसार मेरे ही स्वरूप की प्राप्ति के लिए यत्न करता है। कोई यज्ञ करता है, कोई अग्निहोत्र, कोई उपासना-ध्यान करता है। कोई-कोई प्राण-अपान को रोकता है। कोई तीर्थ, कोई व्रत, कोई तप आदिकों को करते हैं। परन्तु मेरी प्राप्ति अभी उनको नहीं हुई है। इस कारण से मैं धन्य हूं। अब मुझको कुछ भी करने-कराने का ख्याल उदय नहीं होता। इसलिए शान्त आत्मा रहता हूँ। महान सुखी हूं। मुझको यह भी चिन्ता नहीं है कि मैंने अमुक काम नहीं किया।

यह संसारी लोग सदा जलते रहते हैं कि हाय हमने ऐसा पुण्य क्यों न किया कि जिससे बड़े-बड़े ऐश्वर्य और दिव्य भोगों को प्राप्त होते। हाय, हमने पाप कर्म क्यों किये जिनके मारे दुःखी हो रहे हैं। बड़ा कष्ट है। हमारा जन्म वृथा गया। अब मरण का समय निकट आ गया है। शरीर में बल नहीं रहा है। धन भी नष्ट हो गया है। धन बिना क्या करें ? इस प्रकार की चिन्ता और जलन से मैं रहित हूँ। अहा, हा, हा, मैं सबका साक्षी प्रकाश स्वरूप हूं। मैं न किसी की निन्दा करता हूँ और न किसी की स्तुति करता हूँ क्योंकि पापी, पुण्यवान, देवता, राक्षस, ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, कुत्ता, हाथी, चींटी, ब्रह्मा और तृण सब मेरे ही स्वरूप भूत हैं। इस कारण से मैं किसी की स्तुति नहीं करता।

हे राजन् ! इस प्रकार जीवन्मुक्त अपने स्वरूप को जानकर अपने महत्व का कथन करता है कि मैं तो मन का भी मन हूँ, बुद्धि का भी बुद्धि हूं, वाणी की भी वाणी हूँ, प्राण का प्राण, श्रोत्र का श्रोत्र और सर्व आत्मा ब्रह्मस्वरूप हूं। यह जीव श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से सच्छास्त्र द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। जिस पुरुष ने वेदांत शास्त्र का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन नहीं किया, वह बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। जैसे विघ्न करने वाले बालक से माता कहती है कि तू मरता भी नहीं, काम नहीं करने देता। पर जब वह बच्चा कोई अच्छा काम करता है तब माता कहती है कि हे पुत्र ! तू चिरंजीवी हो। उसी प्रकार श्रुति माता की नाईं इस पुरुष से कहती है कि हे पुरुष ! तू जो जीव-ईश्वर का भेद देखता है, इस कारण से बार-बार मर, पैदा हो और देवताओं का पशु बनकर उनका बोझा ढो। पर जब वह पुरुष अभेद दृष्टि करता है तब श्रुति कहती है कि हे जीव ! तू ही ब्रह्म है। तेरे में नानापना कुछ नहीं है।

हे शिष्य ! जब अधिकारी पुरुष विवेक-विचार द्वारा स्वरूप के साक्षात्कार को प्राप्त होता है, उस काल में गुरु, शिष्य, वेद, स्मृति, पुराण, जीव, ईश्वर, जड़, चैतन्य, पाप, पुण्य आदि भेदरूप सब प्रपंच का अभाव हो जाता है। अज्ञान से स्वयं को साढ़े तीन हाथ का हाड़-मांस का पुतला मानता तथा जानता था सो अज्ञान को श्रुति माता ने कृपा करके दूर कर दिया। कुछ इसको ब्रह्म नहीं बना दिया, यह जीव तो ब्रह्म स्वतः सिद्ध ही है। चैतन्य एक है, दो नहीं। प्रसिद्ध जीव सबको चैतन्य प्रतीत होता है, कोई नहीं कहता कि मैं जड़ हूं। बस, जीव, ब्रह्म में उपाधिकृत भेद है, सो उपाधि मिथ्या कल्पित है। इस कारण से जीव ब्रह्म का भेद भी मिथ्या कल्पित है।

जैसे प्रतिमा द्वारा राम, कृष्ण आदि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार ओंकार द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है। ओंकार ब्रह्मरूप है। वेद में भी कहा है कि यह आत्मा ब्रह्म है। जीवन्मुक्त जिसका स्मरण करता है सोई सिद्ध होता है और जिसका स्मरण नहीं करता वह सिद्ध भी नहीं होता। आप जीवन्मुक्त स्वतः सिद्ध है। वेद आरोपित प्रपंच का निषेध करके शुद्ध चैतन्य का बोध कराता है। जिसको सम्यग् बोध होता है, उसको कुछ कर्तव्य नहीं फुरा करता। इसी कारण से ब्रह्मज्ञानी ध्यान, धर्म, पाठ, पूजन आदिक सबका त्याग कर देता है और अखण्ड सच्चिदानन्द रूप से विराजता है। इसी को संन्यासी कहते हैं।

जनक—हे मुनि! जब तक शरीर है तब तक उसको कुछ तो कर्तव्य होना ही चाहिये।

मुनि—हे राजन्! ज्ञानवान को कर्तव्य का अभाव है। यदि किये विना न रहा जाय तो वेदांत का ही विचार करे और सबको फेंक दे। जैसे पुरुष भोजन करके पत्तल को कुत्ते के आगे फेंक देते हैं, उसी प्रकार आत्मा को सम्यग् जानकर कर्म-उपासना रूपी झूठी पत्तल अज्ञानी शरीर अभिमानी के आगे फेंक दे। स्वयं सबसे उपराम होकर स्वरूप में मग्न रहे।

गुरु—हे शिष्य जनक ने जो पूछा था कि कर्म, उपासना और शास्त्र इस पुरुष को कहाँ पहुँचा देते हैं? उसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया कि अपने आप प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म में पहुँचा देते हैं। यहाँ आकर कर्म, उपासना, शास्त्र-विचार और पुरुषार्थ सब सफल होते हैं। जो ब्रह्मज्ञान नहीं होवे तो कर्म, उपासना, शास्त्र-विचार और पुरुषार्थ सब-के-सब निष्फल हो जाते हैं। धर्म नाम ब्रह्म का है। उस ब्रह्म की प्राप्ति के जो साधन हैं, उनको भी धर्म कहते हैं। उन साधनों में मुख्य सनातन धर्म ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवण तथा विवेक आदि निष्काम कर्म हैं। यह उत्तरोत्तर गौण धर्म हैं। इनसे भिन्न सब अधर्म हैं। जैसे कोई जन्म के अंधे को कमल नैन कहने लगे, वैसे ही मूर्खों ने भोग के साधन कर्मों का नाम धर्म कल्प लिया है। हे शिष्य! जिससे परम आत्मा की प्राप्ति हो सो ही सनातन धर्म है।

राजा—हे मुनि! वह ब्रह्म परम आत्मा कहाँ रहता है?

मुनि—हे राजन! वह हृदय कमल रूप गुफा में विराजमान है। यह चिदाकाश रूपी बंगला अनेक रत्नों से जड़ा हुआ है। इसी कारण से सब पुरियों से श्रेष्ठ और शान्त स्वरूप है। इसमें परम आत्मा विराजता है। यह जो प्राण में ब्रह्म है यही अक्रिय, अभय, सब का प्रेरक है। जिसने इसको जाना है सोई सब का नियन्ता, ईश्वर, ब्रह्म है। सोई कूटस्थ, अक्षर है। सोई पुरुषोत्तम है। इस की आज्ञा में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चलता है। सृष्टि के आदि में इस परम आत्मा ने जैसी जिसको आज्ञा की है, वह वैसा ही करता है। इस विद्वान की आज्ञा के भय से कोई भी अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जिज्ञासु पुरुष सब संसार के व्यवहारों को त्याग कर श्रवण आदि द्वारा इसी के जानने का यत्न करते हैं। इसी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही ब्राह्मण वेद पढ़ते हैं और शम, दम, शौच, शान्ति, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता,—इन नौ धर्मों को निष्काम धारण करते हैं। इसी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र अपने-अपने धर्म को निष्काम भाव से धारण करते हैं।

जन्म सहित स्वभाव से जिस जीव की जैसी-जैसी प्रकृति होती है, सो-सो ही वर्ण गिना जाता है। इन अपने-अपने धर्मों को जो पुरुष अभिमान पूर्वक सकामता से करते हैं, वे लोग उत्तम लोक को प्राप्त

होते हैं और जो निरभिमान होकर निष्काम कर्म करते हैं, वे मुक्त होते हैं। जो पुरुप मनमुखी निषिद्ध कर्म करते हैं अर्थात् जो मन में आया सोई कर लिया, न वेद को मानें, न गुरु को, न माता-पिता को, ऐसे लोग नीच अर्थात् कुत्ता, सूअर गधा, चाण्डाल आदि योनियों को प्राप्त होते हैं।

जब यह पुरुष सत्संग करता है या वेद-शास्त्र पढ़ता है, उस काल में इसको शुभ-अशुभ कर्मों का विवेक होता है और उनके फल सुख-दुःख का भी निश्चय हो जाता है। फिर कर्मों के करने में रुचि होती है। कर्म करते-करते मन शुद्ध हो जाता है। मन शुद्ध हो जाने पर ब्रह्म-जिज्ञासा होने लग पड़ती है। तदनन्तर श्रवण, मनन आदि के द्वारा ब्रह्मात्मा को जानकर जीवन्मुक्त हो जाता है। उसी को मुनि किंवा ऋषि कहने लग पड़ते हैं।

हे राजन! जो पुरुष तीन ईषणाओं वाला है, उसको कर्म, उपासना और उनके अंगभूत चिन्ह शिखा और जनेऊ आदि त्याग करने की वेद आज्ञा नहीं देता। उसको तो सकाम, निष्काम कर्म करने ही श्रेष्ठ हैं। जो तीन ईषणा के त्यागे विना कर्म, उपासना, चोटी, यज्ञोपवीत का त्याग कर देता है; वह पुरुष न तो इस लोक में सुख को प्राप्त होता है और न परलोक के सुख को प्राप्त होता है। जो पुरुष ब्रह्म का जिज्ञासु है और कर्म में भी रुचि रखता है, वह तो ऐसा है जैसे किसी पुरुष को पश्चिम में किसी कार्य के निमित्त अवश्य जाना हो और चला जावे पूर्व को अथवा पूर्व को जाना हो और चला जाय पश्चिम को। उसी प्रकार यह पुरुष ज्ञान की प्राप्ति के लिये संन्यास लेना चाहता है और कर्मों को नहीं छोड़ता।

जैसे उलटे चलने वाले पुरुष को सिवाय कष्ट के वांछित कार्य की सिद्धि नहीं होती, उसी प्रकार कर्मी ब्रह्मजिज्ञासु को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। जिसको लोक-परलोक के भोगों की इच्छा हो और शरीर का अभिमान भी हो, उसको संन्यास लेना योग्य नहीं है। यदि संन्यास ले भी लिया तो वह प्रवृत्ति मार्ग को प्राप्त होगा। अतः देहाभिमान रहित विवेकी मुमुक्षु जिज्ञासु ब्राह्मण को ही संन्यास लेना चाहिए।

राजा—हे मुनि! कोई ऐसा भी कहते हैं कि पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए गृहस्थ आश्रम के व्यापार, ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए ध्यान और मोक्ष की प्राप्ति के लिए संन्यास—यह तीनों बातें सब को अवश्य करनी चाहियें।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! ऐसा कहने वाला मिथ्यावादी है। जो मनुष्य गृहस्थ के कार्यों में फँसा रहता है और स्वयं को ज्ञानी भी कहता है, वह अन्त में नरकगामी होता है। इस कारण से जिज्ञासु को प्रथम ही कर्मों का त्याग करना चाहिये और भोगाभिलाषी को कभी भी संन्यास नहीं लेना चाहिए। क्योंकि भोगों की प्राप्ति कर्मों द्वारा ही होती है और संन्यास में कर्मों का अधिकार नहीं है। तीर्थों में रहने के वास्ते, स्वर्ग की प्राप्ति के लिये, ईश्वर का ध्यान करने के लिये किंवा आजीविका के लिए संन्यास नहीं लेना चाहिए। आत्मज्ञान की प्राप्ति के अर्थ या जीवन्मुक्ति के विशेष आनन्द की प्राप्ति के अर्थ साधन सहित कर्मों का त्याग है। क्योंकि सम्यग् त्याग रूप संन्यास विना मोक्ष नहीं होता, इस कारण से मुमुक्षु को संन्यास ही श्रेष्ठ है।

पूर्व के विद्वानों ने लोक-परलोक सबको मिथ्या जानकर और आत्मा को अद्वैत निश्चय करके "अब हम किसकी इच्छा करें और किसका ध्यान करें?" ऐसा विचार कर संन्यास ही श्रेष्ठ माना है। यह

शरीर का निर्वाह, सो प्रारब्ध के अनुसार आप ही हो जायगा। इस बुद्धि से संन्यास किया जाता है। यह सब प्रपंच हमारी फुरना है, कल्पना मात्र है। फिर बताओ हम किसकी इच्छा करें? हम सर्व आत्मा हैं और सब कुछ हमको प्राप्त है। हमारे से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसकी हम इच्छा करें।

गुरु—हे शिष्य! सनत्कुमार ने नारद को शोक की निवृत्ति के लिए इसी भूमा का उपदेश किया है कि भूमा को प्राप्त होकर सब शोकों की निवृत्ति होती है। क्योंकि कामनाओं के अभाव होने पर भोक्ता, भोग, भोग्य, इस त्रिपुटी का बाध हो जाता है। सबको आत्मा स्वरूप देखता है। यद्यपि ऐसे विद्वान् का कोई कर्तव्य नहीं है, तो भी जीवन्मुक्ति के विशेष आनन्द की इच्छा करे तो संन्यास करना श्रेष्ठ है और नहीं तो आसक्ति का त्याग करके, गृहस्थ आश्रम में मन से तीनों ईषणाओं का सम्यग् त्याग करने से भी यह पुरुष विदेह मोक्ष को प्राप्त होता है। वह जीवन्मुक्त भी है क्योंकि ज्ञानी ज्ञान से तत्काल ही जीवन्मुक्त हो जाता है। परन्तु जीवन्मुक्ति का जो आनन्द होना चाहिए था, वह उसको नहीं मिलता।

जैसे कोई पुरुष धनवान तो है, परन्तु लोभ के कारण न तो खा-पी सके और न किसी को दे सके। उसको लोग यह कहते हैं कि भाई, यह धनी तो जरूर है, परन्तु इसको धन का सुख जैसा होना चाहिए था, वैसा नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी ने संसार को मिथ्या तो जान लिया है, फिर भी लोक, पुत्र अथवा धन के लिए यत्न करता है। ऐसा पुरुष जीवन्मुक्त तो है, परन्तु उसको जीवन्मुक्ति का विशेष आनन्द, जो सदा शान्ति हरदम प्रसन्नता रहती है, वह नहीं प्राप्त होती। हे राजन्! सतवादी वही पुरुष है कि जिसने संसार का त्याग करके संन्यास धारण किया है और आत्मकामी हुआ है।

राजा—हे मुनि! आप कहते हो कि ज्ञानवान को गृहस्थ आश्रम में रहकर प्रवृत्ति मार्ग में करने से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। उसको ज्ञान के लिए संन्यास करना ही श्रेष्ठ है। परन्तु कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि जब तक यह पुरुष तीन ऋणों का भुगतान न कर दे तब तक संन्यास लेना योग्य नहीं है। तीन ऋणों के भुगतान किए बिना मोक्ष कदापि नहीं होती।

मुनि—हे राजन्! जिस पुरुष को संसार का अपरोक्ष मिथ्या निश्चय हो जाय और संसार दुःखरूप प्रतीत होने लगे, उसको जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन संन्यास धारण करना योग्य है। वह चाहे ब्रह्मचारी हो, चाहे गृहस्थी किंवा वानप्रस्थी हो, किसी भी आश्रम में हो। मुमुक्षु को सर्वथा संन्यास ही श्रेष्ठ है। जिसको मोक्ष की इच्छा नहीं है और संसार सत् रूप प्रतीत होता है अर्थात् स्त्री, पुत्र, खान, पान आदि में राग बुद्धि है और भोगों में आसक्ति है, उसको तीन ऋणों से छूटकर ही संन्यास लेना श्रेष्ठ है। पिचहत्तर वर्ष के अनन्तर चाहे वैराग्य हो अथवा न हो, संन्यास अवश्य धारण करना चाहिए, नहीं तो प्रतिवाय हो जाता है और शरीर त्यागकर नरकगामी होता है। जो पुरुष पिचहत्तर वर्ष से पहिले ही पूर्व के उत्तम संस्कारों के बल से षट् ऊर्मियों, तीन ईषणाओं और तीनों वासनाओं से रहित हुआ है और संसार को मृगतृष्णा के जल की नाईं अनहुआ, केवल देखनेमात्र जान चुका है, उसको संन्यास ही श्रेष्ठ है।

हे राजन्! वैराग्यवान पुरुष को सदा संन्यास तथा रागी, अज्ञानी, शरीर अभिमानी को निष्काम कर्म और उपासना करना योग्य है। जैसे जिस पुरुष ने पूर्ण सूर्य को देखा है, वह फिर राहु से ग्रसे हुए सूर्य को नहीं देखता और जो देखे तो पापी हो जाता है। उसी प्रकार जिसने एक अद्वैत आनन्द स्वरूप अपना प्रत्यग देखा है, वह निर्मल ही देखता है। जो फिर माया से ग्रसे हुए आत्मा का

चिन्तन करे तो उसको भी पाप होता है। क्योंकि जिस पदार्थ को साक्षात् मिथ्या जान लिया और फिर उसी को सत् कहना झूठे असत्वादियों का ही काम है, सत् वादियों का काम नहीं है। जिस पुरुष ने किसी घड़े को फूटा-टूटा प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया, वह पुरुष फिर उस घट को साबुत नहीं कहता। इसी प्रकार जिस ने संसार को प्रत्यक्ष असत् जान लिया है, उसको फिर सत् नहीं कहता। ऐसा बोधवान पुरुष तीन ईषणाओं से रहित होकर केवल शरीर-निर्वाह मात्र क्रिया करते हैं। इसके सिवाय उनको और कुछ कर्तव्य नहीं है क्योंकि वे सर्व आत्मा रूप हैं।

हे राजन्! स्त्री, धन, पुत्र आदि का जो सङ्ग है, वह ज्ञान की अदृढ़ता का कारण है तथा पंच क्लेशों को उत्पन्न करने वाला है। अतः इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है। वेद में कर्मों का जो विधान है, वह अन्तःकरण की शुद्धि के लिए है और कर्मफलों का जो कथन है वह अर्थवाद है जो गुड़-जिह्वा न्याय से अन्तःकरण की शुद्धि के अर्थ किया है। वेद ने जो कर्मों के फल कथन किए हैं सो पुरुषों की कर्म में प्रवृत्ति के निमित्त किये हैं। फल में वेद का अभिप्राय नहीं है। इस कारण से जिस पुरुष ने संसार को मिथ्या, दुःखरूप जान लिया है, पर आत्मा का सम्यग् बोध नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष का अन्तःकरण तो शुद्ध है। उसको भोगों के निमित्त कर्मों में प्रवृत्ति सुखदायक नहीं है। इस कारण से उन को संन्यास ही ले लेना चाहिये।

राजा—हे मुनि! कोई आचार्य तो लोकसंग्रह के लिए ज्ञानवान को भी कर्म कर्तव्य कहते हैं।

मुनि—हे राजन्! यह सब आचार्य तो लोकसंग्रह का बहाना करते हैं, कोई वैष्णव मत को सिद्ध करता है, कोई राम, कोई कृष्ण को श्रेष्ठ सिद्ध करता है, कोई शिव को सब से श्रेष्ठ सिद्ध करता है, कोई ब्रह्मा को और कोई सूर्य को सब का स्वामी कहते हैं। इसी प्रकार कोई गणेश, कोई देवी, कोई अग्नि, कोई विराट्, कोई हिरण्यगर्भ को सब से श्रेष्ठ कहते हैं। अपने-अपने मत के अनुसार दृष्टान्त और युक्तियों से दृढ़ता करते हैं। उन अपनी-अपनी उपासनाओं द्वारा भोगों की प्राप्ति की तृष्णा में बहे जाते हैं। इसका नाम लोकसंग्रह नहीं और न ऐसे लोगों से लोकसंग्रह हो सकता है। अपने-अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार, कर्तव्य, मोक्तव्य बुद्धि से रहित होकर, संसारी लोगों के सिखाने के वास्ते बोधवान जो चेष्टा करता है, उसका नाम लोकसंग्रह है।

ज्ञानवान को उचित है कि शरीर अभिमानी, अज्ञानी, कर्मसङ्गी, भोग की इच्छा वालों को सकाम विहित कर्मों में जोड़े तथा शरीराभिमानी अज्ञानी कर्म सङ्गी भोगों से उपराम पुरुषों को अन्तःकरण की शुद्धि के लिए निष्काम कर्मों में जोड़े। विवेकी, वैरागी पुरुषों को कर्म, उनके फलों की अनित्यता, दुःखरूप पिपासा और तृष्णा आदिक दोषों को दिखाकर उनसे उपराम करके ज्ञान के साधन श्रवण, मनन आदि में उनको जोड़े। गृहस्थी ज्ञानी को सदा कर्म और वानप्रस्थी को सदा तप में ही लगे रहना चाहिए। संन्यासी ज्ञानी को सिवाय शरीर-निर्वाह मात्र कर्मों के और कुछ नहीं करना चाहिए। संन्यासी ज्ञानवान को मुमुक्षुओं क संग्रह-अर्थ कर्मों का संन्यास ही उचित है।

हे राजन्! तू जो ज्ञानवानों को कर्म-संन्यास से रोकता है, इस में तूने क्या भलाई देखी है! ज्ञानवान वेद की आज्ञानुसार संन्यास का विधान करते हैं। युक्ति से भी संन्यास ही श्रेष्ठ है क्योंकि बोधवान को आत्मा से भिन्न संसार वन्ध्यापुत्र और रज्जुसर्प की तरह प्रतीत होता है। तो फिर वह किस के लिए, किस भोग की इच्छा करके संसार में खप-खप, पच-पच कर मरे? हे राजन्! शरीराभिमानी

भेदवादी आचार्यों का जो लोकसंग्रह है, वह तो जन्म-मरण रूपी संसार की वृद्धि करने वाला है। बोधवान का लोकसंग्रह संसार से मुक्त करने वाला है। आत्मज्ञान और जीवन्मुक्ति के विशेष सुख का साधन संन्यास है।

हे राजन्! साधु को शीत निवारणार्थमात्र वस्त्रधारण करना और सात, पाँच, तीन घरों की भिक्षा को, जिसको शास्त्र में यदृच्छा लाभ कहा है, खाकर सन्तुष्ट रहना चाहिए तथा सावधान होकर आत्मविचार में तत्पर रहना चाहिए। सदा दीनता से रहित उदारचित्त रहना चाहिये। शरीर का प्रारब्ध पहले ही बन चुका है। वह अवश्य सुख-दुःख भुगा देगा। उनकी निवृत्ति का यत्न करना, वैद्य डाक्टरों के पास जाना, सिवाय मूर्खता के और क्या कहा जा सकता है? यत्न करने से प्रारब्ध का निवृत्त होना अशक्य है। वह भोग देकर आप ही निवृत्त हो जायगा। भोगों की प्राप्ति के लिए दम्भ, कपट, छल आदि छोड़कर प्रत्यग् आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखना चाहिए। मुमुक्षु को यह सब बातें विचार करके अपने स्वभाव में घटानी चाहिएँ। ब्राह्मण सब का त्याग करके ब्रह्मलोक, देवलोक, कर्म, उपासना, पाप, पुण्य, जन्म, मरण, भय, अभय किसी में भी नहीं अटकता। सबको स्वप्न के समान आगमापायी, अपने आप में मिथ्या कल्पित देखता है।

जिस समय पुरुष को सम्यग् आत्मज्ञान प्राप्त होता है, तब उसके छल, कपट, पाखण्ड, बनावटें आदि सब-के-सब एकदम भाग जाते हैं। अपनी महिमा में स्थित होकर अपने समान भी किसी दूसरे को नहीं देखता, अधिक तो कहाँ से देखेगा? अपने स्वरूप से भिन्न जो कुछ भी है, वह भ्रान्ति से हुआ प्रतीत होता है। आत्मा से भिन्न सब अपनी सत्ता से शून्य है और असत्, जड़, दुःखरूप है। हे राजन्! मैं प्रत्यग् आत्मा को सम्यग् जानकर ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ही ब्राह्मण हूँ, मैं ही ब्रह्मलोक हूं और मैं ही सबकी शांन्ति का स्थान परमधाम हूँ। पूर्व में जो बोधवान त्यागी हुए हैं और जो वर्तमान काल में ज्ञानी संन्यासी हैं, ये सब-के-सब मुझको प्राप्त होकर ही शान्त आत्मा हुए हैं। हे राजन्! तू भी मैं ही हूं। तेरे स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं है। इस कारण से तू ही परब्रह्म है।

हे शिष्य! याज्ञवल्क्य ने जनक से जो पूछा था कि तुमने कहाँ जाने को इतनी तैयारी की है और जनक ने कहा था कि हे भगवन्! यह मुझको खबर नहीं है कि मुझको कहाँ जाना है? तैयारी तो मैंने बड़ी भारी की है। आप ही कृपा करके बताओ कि मुझको कहाँ जाना है, अब मुनि उसका उत्तर देते हैं।

मुनि—हे राजन्! तुमको अपने प्रत्यग् स्वरूप में जाना है, और स्वर्गादि में कहीं नहीं जाना।

जनक—हे प्रभो! आपके कहने से मैं समझ गया। मैं शान्त आत्मा हुआ हूं। जहाँ जाने के लिए मैंने बड़ी भारी तैयारियाँ की थीं, मैं वहीं पहुँच गया हूँ। आपकी कृपा से कृतकृत्य हो गया हूँ। अब मुझको कहीं भी आना-जाना नहीं रहा। मैं तो सब कर्तव्य से रहित हुआ हूँ। बड़ा आनन्द है। करने-धरने का भूत अभिमान मेरे सिर से उतर गया। बला टल गई। सिर हलका हो गया। अब बताओ कि मैं आपकी क्या पूजा करूँ? क्योंकि सब नाम-रूप प्रपंच स्वप्न की सृष्टि, सीपी में चाँदी की तरह है, तो भी गर्वरहित सब वस्तु आपको अर्पण करता हूं और अपने आप को भी अर्पण करके आपका सेवक बनता हूं।

शिष्य—हे गुरु ! जनक ने अपना आपा देकर फिर सेवक क्यों कहा ?

गुरु—हे शिष्य ! जनक ने सेवक इसलिए कहा कि याज्ञवल्क्य मुनि को तो राज करना है नहीं, हम से ही कराना है। उनका भी यही कहना है कि हे जनक ! अब तुम हमारे सेवक बनकर राज को और हमारी प्रजा का पालन करो। समदर्शी होकर सब प्रजा को अपने-अपने धर्म पर चलाओ। हम तो संन्यासी होकर वन को जाते हैं। सिवाय तुम्हारे यह राज और किसको दें ? हे जनक ! इसके अधिकारी तुम ही हो। हे शिष्य ! यही विचार करके जनक ने मुनि से कहा कि मैं सेवक हूँ। याज्ञवल्क्य ने पहिले यह कहा था कि तीन ईषणाओं का त्याग करके मुमुक्षु को ज्ञान के निमित्त संन्यास धारण करना चाहिये क्योंकि ज्ञान बिना मोक्ष नहीं होती। मुमुक्षु को संन्यास के सिवाय और कुछ कर्तव्य नहीं है। तो फिर ज्ञानवान को कर्तव्य कहाँ से होगा ? ज्ञानवान में तो कर्म, उपासना, जप, तप, श्रवण, मनन, निदिध्यासन सबका अभाव है। एक रस ब्रह्मरूप में स्थित सदा शान्त स्वरूप है।

शिष्य—हे गुरु ! वेद ने निषेध मुख से एक, अद्वैत आनन्द ब्रह्म सिद्ध किया है, परन्तु मैंने यह नहीं श्रवण किया कि उपासकों को विशेष ब्रह्म की उपासना से क्या विशेष लाभ होता है ? कहीं इनका पुरुषार्थ निष्फल तो नहीं चला जाता।

गुरु—हे शिष्य ! उपासकों का पुरुषार्थ निष्फल नहीं जाता। उनको विशिष्ट ब्रह्म की प्राप्ति होती है। वेद ने जिसको निर्विशेष ब्रह्म कहा है, सोई विशेष रूप धार कर उपासना के अनुसार कल्पित भोगों को भोगता है। यही ईश्वर होकर जीवों को कर्मों का फल देता है। मुमुक्षुओं को मुक्त करता है। जो पुरुष शोक, मोह आदि अष्ट दोषों और षट् ऊर्मियों का त्याग करके निर्गुण ब्रह्म की अहंग्रह उपासना करता है, उसको मोक्ष कराता है। जो विशेष रूप को जानकर ब्रह्म की आराधना करता है, उसको परम्परा करके मोक्ष कराता है। निर्गुण उपासक को साक्षात् मोक्ष कराता है। जो इन्द्रादिक देवता रूप से ब्रह्म की उपासना करते हैं, उनको स्वर्ग आदि की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार उपासकों को उनकी उपासना के अनुसार सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य मोक्ष देता है। परन्तु देवता भी सदा भययुक्त रहते हैं, क्योंकि उनके भोग भी पुण्यों के क्षीण होने पर नष्ट हो जाते हैं। अतः देवलोक में भी किसी को सुख नहीं होता।

जब ब्रह्मा उत्पन्न हुआ था तब अपने को अकेला देख कर डरा था। वह भी ब्रह्मज्ञान द्वारा ही शान्ति को प्राप्त हुआ। जब हिरण्यगर्भ में बहुत होने की इच्छा हुई तब उसका मन बाहर जाकर फँस गया और घबराने लगा कि अरे ! यहाँ तो अनेक प्रकार की कामना उठेंगी और उनसे दुःखी होना पड़ेगा। इस क्लेश रूप सभा में बुद्धिमान भला कैसे रहेंगे ? तब हिरण्यगर्भ ने अपने मन को अन्दर बुलाया और कहा कि अरे ! घबराओ मत। जैसा तू कहेगा वैसा ही करेंगे। तब मन भी इस सभा को दुःखरूप जान कर अप्रसन्न होकर बैठ गया। इस संसार रूपी सभा में देवलोक की कामना अच्छी मानी जाती है। पर देवता भी सदा भयभीत रहते हैं। जहाँ भय है, भला वहाँ सुख कहाँ से आया ? अर्थात् विशेष स्वरूप में सुख तथा शान्ति नहीं है। इस कारण से बुद्धिमान विवेकी पुरुष निर्विशेष स्वरूप की इच्छा करते हैं। निर्विशेष में दुःख का लेश भी नहीं है, अक्रिय, अभय, अविनाशी परब्रह्म सत् है। भयवान, क्रियावान, नाशवान परिच्छिन्न होने से यह जगत असत् रूप है।

जनक—हे मुनि ! वेदों में वेदांत द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता का निरूपण तो थोड़े-से में किया है और कर्म-उपासना का विस्तार से निरूपण किया है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा,

ईश्वर, जीव, लोक, भोग, पुण्य, पाप आदिक अनन्त पदार्थों का बहुत स्थान में विस्तार के साथ निरूपण किया है। वेद भगवान् परमप्रमाण, सत्वादी माना जाता है इस कारण से इस प्रपंच में कुछ भी सत्य नहीं है। कुछ तो अवश्य सत् होगा।

मुनि—हे राजन्! वेद सतवादी और बुद्धिमान है। सबकी बुद्धि और स्वभावों का ज्ञाता है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् ने यह विचार करके कि जिज्ञासु बुद्धिमान होते हैं, थोड़े-से कहने पर अभ्यास द्वारा समझ जाते हैं,—सूक्ष्म में कहा है। दूसरी बात यह है कि यथार्थ वस्तु के प्रतिपादन में बहुत विस्तार करने की जरूरत भी नहीं होती। मिथ्या वस्तु को सच्ची करके दिखलाने में ही बहुत-सी बनावट और विस्तार करने की जरूरत होती है। इसलिये वेद ने कर्म-उपासना का विस्तार से निरूपण किया है। कर्मी आसक्त भोगासक्त, मलीन अन्तःकरण वाले, मूढ़ होने से चंचल और बे-समझ भी होते हैं। इनकी संख्या भी बहुत होती है। इसलिए वेद भगवान् ने विचार किया कि यह लोग विस्तार से निरूपण किए बिना किसी वस्तु को नहीं समझ सकते। उत्तम पदार्थ, दूध में घृत के समान, थोड़ा ही होता है, विशेष नहीं होता। अधिकारी भी बहुत नहीं होते। इस कारण से वेद ने निर्विशेष ब्रह्म का संक्षेप से निरूपण किया है।

हे राजा! परमात्मा ने जब लीला देखने के वास्ते मिथ्या प्रपंच को रचा था, उस काल में ही विचार किया था कि जब यह जीव मेरी लीला देखकर दुःखी, व्याकुल और बेचैन होगा, तब इस प्रपंच के त्यागने की इच्छा करेगा। इस कारण ही वेद ने असत्प्रपंच का परम आत्मा में आरोप करके सत् की तरह निरूपण किया है, वास्तव में नहीं। जब पुरुष को इसके त्यागने की तीव्र इच्छा होती है, तब वेद भगवान् कथित कारण, कार्य रूप प्रपंच का नेति-नेति श्रुति द्वारा निषेध करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करा देता है।

राजा—हे मुनि! इतना मिथ्या कथन करने से वेद को क्या लाभ हुआ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! मिथ्या द्वारा भी लाभ होता है। जैसे मृग-तृष्णा का मिथ्या जल पृथ्वी को सत् करके दिखलाता है और असत् चांदी सीपी को सत् जताती है, अधिष्ठान को जताकर कल्पित वस्तु आप असत् हो जाती है, उसी प्रकार यह नाम-रूपमय प्रपंच सत् अधिष्ठान के आश्रय सत् की तरह दिखाई देता है। इस कारण से सब असत् वादियों ने सत् आत्मा का त्याग करके असत् शरीर आदि को सत् मान लिया है। फिर विवेक द्वारा असत् प्रपंच सत् आत्मा का बोध करा कर आप भी असत् हो जाता है, क्योंकि वह सब ब्रह्मसत्ता में कल्पित है। जैसे निर्दोष पुरुष में निन्दक लोग दोष का आरोप करते हैं, जैसे सीपी में चांदी प्रतीत होती है, वैसे ही परम आत्मा में जगत है। नाम-रूप का बाध होने से एक, अद्वैत, आनन्द परब्रह्म ही शेष रहता है।

जैसे असत् रेखा सत् को जताती है, जैसे सांकेतिक भ्रम करके रेखा में एक प्रतीत होता है। उस रेखा के ऊपर शून्य रखने से वही रेखा सांकेतिक भ्रम द्वारा दश को जताती है, वैसे ही दो शून्य रखने से शत और तीन शून्य रखने से सहस्र संख्या जताती जाती है। इसी प्रकार एक-एक शून्य के लगाने से दश-दश गुणी संख्या जताती जाती है। इन रेखाओं द्वारा भूलोक, पितृलोक, गंधर्वलोक, कर्मलोक, सत्यलोक, ब्रह्मलोक आदि कर्म करके उत्तरोत्तर के जोड़ से आयु दश गुणी मालूम हो जाती है। फिर यह रेखा सत् को जताकर आप भी असत् हो जाती है। ब्रह्मा की आयु पर्यंत सबकी आयु सत्-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार मिथ्या नामरूप द्वारा ब्रह्मा की आयु ... सबकी आयु असत् हो जाती है।

सत् ब्रह्म सिद्ध होता है, फिर नाम-रूप आप ही असत् हो जाते हैं। वेद भगवान् ने मिथ्या द्वारा सत् का बोध कराया है।

जनक—हे मुनि! इस मिथ्या प्रपंच के अभाव से सत् ब्रह्म का भी अभाव हो जाता होगा।

मुनि—हे राजन्! नहीं, परब्रह्म अभय, अमृत, अमर, सनातन तथा सत् है। प्रपञ्च के भाव-अभाव का साक्षी, स्वतन्त्र, शान्त स्वरूप, सर्व आत्मा है। यही जीवन्मुक्तों का स्वरूप है। यही सबकी शान्ति का स्थान है और यही तेरा स्वरूप है।

इतना श्रवण करके राजा जनक ने याज्ञवल्क्य मुनि को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और कहा कि हे मुनि! अब आपकी कृपा से मैं भी अमर पद को प्राप्त हुआ हूं। अब मैं निस्सन्देह, निशंक और निर्भय भी हुआ हूं।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! अब तुम यह बताओ कि यह ब्रह्मविद्या उपनिषद्-ज्ञान तुम्हें अच्छा भी लगा कि नहीं?

जनक—हे मुनि! यह आपने क्या कहा? मेरे तो इस उपनिषद्-ज्ञान से जन्म-जन्मांतरों के पाप नष्ट हो गये। महाराज! मैं तो सत्काम और सत् संकल्प हो गया। लोक-लोकान्तरों में व्यापक होकर मैं तो स्वतन्त्रता को प्राप्त हुआ हूं। मैं तो तीन ताप और पञ्च क्लेशों से सदा के लिए छुट्टी पा गया। हे मुनि! मैं तो आपको आदि और अन्त से रहित देखता हूं। मेरा क्षुद्र अहंकार न जाने भाग कर कहां चला गया? मैं तो कृतकृत्य हो गया। मेरी शांति की उपमा संसार में कोई नहीं है। हे गुरु महाराज! आपको धन्य है। पुनः पुनः धन्य है।

मुनि—हे राजन्! इस उपनिषद् ब्रह्मविद्या का गुप्त भंडार प्राप्त करने के लिए भाग्य के अलौकिक बल की आवश्यकता होती है। इस ज्ञान के सामने यह सब तुच्छ हो जाते हैं। परन्तु, हे राजन्! एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि भाग्य से एकत्र की हुई सम्पत्ति का उपभोग करने के लिए भी शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता होती है और यह बड़ा भाग्य किसी तेरे जैसे साधक को ही प्राप्त होता है, हर एक को नहीं। देख, बिना जमाये हुए दूध के क्षीर-सागर जैसे प्रचंड मटके को मथने में कितना अधिक कष्ट हुआ होगा?। तू स्वयं विचार करके देख ले। यह तमाम परिश्रम भी अन्त में सफल ही हुआ, असफल नहीं। किन्तु अन्त में उन लोगों से उस अमृत का ठीक-ठीक रीति से उपभोग नहीं हो सका अतः वही अमृत मरण का कारण हुआ। यदि बिना ज्ञान के, इस बात का विचार न करते हुए कि सम्पत्ति का उपभोग कैसे करना चाहिये, बिना विचारे उचित-अनुचित भाव को न देखते हुए सम्पत्ति का संग्रह कर लिया जायगा तो बड़ा ही अनर्थ होगा।

जैसे राजा नहुष स्वर्ग के स्वामी तो हो गये, परन्तु उनका आचरण ठीक-ठीक रीति से न कर सके। पश्चात् उनको सर्प की योनि में जाना पड़ा। इसलिए, हे राजन्! तुम्हारे संग्रह में पुण्य तो बहुत हैं, परन्तु तुम मेरे उपदेश के अनुसार पूरा-पूरा आचरण करना तथा अटल निष्ठा से इस उपनिषद् ब्रह्मविद्या का पालन करना। यदि तुम इस उपनिषद् ब्रह्मविद्या का उचित रूप से ध्यान न रक्खोगे तो तुम्हारी भी वही दशा होगी जो अमृत के निकालने के समय हुई थी।

मान लो कि खूब अच्छी, मोटी-ताजी, देखने में सुन्दर गौ तो मिल गई, परन्तु सन्ध्या-समय उसका दूध पीने को हमें उसी दशा में मिलेगा जबकि हम उस गौ की साज-संभाल तथा दूध के निकालने

ही कला भी जानते हों। इसी प्रकार मान लो कि गुरु भी प्रसन्न हो गये और शिष्य भी साधन चतुष्टय के द्वारा विद्या सम्पन्न हो गया, परन्तु ब्रह्मविद्या का सम्प्रदाय उचित रूप से पालन न किया गया, तो वह ब्रह्मविद्या शाप भी दे देती है।

जनक—हे मुनि! मैं आपके कहने का तात्पर्य नहीं समझा। आपके कहने का तात्पर्य क्या है?

मुनि—हे राजन! हमारे इस कथन का तात्पर्य यह है कि तुम मेरे इस उपदेश को तप से रहित गुरु ब्राह्मण आदि की दृढ़ भक्ति से रहित, जो अपने वर्ण आश्रम का ठीक-ठीक पालन न करता हो, जो ब्राह्मणों की निन्दा करता हो, उसको कभी न देना। हे राजन! जो पुरुष देव पूजन, गंगा आदि की निन्दा करता हो, भगवान के अवतारों तथा उनके भक्तों की निन्दा करता हो, उनकी हँसी-मखौल उड़ाता हो, वह चाहे भगत, बुद्धिमान, तपस्वी, व्रतधारी ही क्यों न हो, तो भी उस से कभी इस उपनिषद ब्रह्मविद्या का स्पर्श भी मत होने देना। विद्या में चाहे ब्रह्मा के समान प्रज्ञा वाला ही क्यों न हो, तो भी तुम उसको हंसी में भी न सुनाना, क्योंकि वह अनधिकारी है तथा आसुरी सम्पत्ति वाला है।

जनक—हे मुनि! जैसा आप कहते हो सो ठीक है। ऐसा ही करूँगा। हे महाराज! इस सेवक को और क्या आज्ञा है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन! तुम हमारी आज्ञा से राज्य का प्रबन्ध अच्छे प्रकार करते रहना। सब प्रजा को धर्मशास्त्र के अनुसार वर्तने की आज्ञा देते रहना। जो आज्ञा को भंग करे, उस को मर्यादा-स्थापन करने के लिए दण्ड अर्थात् जुर्माना, जेलखाना किंवा पिटवाना आदि दण्ड दो। साधु, पंडित, विद्वान, धर्मज्ञ, तपस्वी- व्रतधारी, विरक्त, पुरुषों की अन्न-वस्त्र आदि से सेवा करते रहो।

राजा—हे मुनि! मैं आपका सेवक हूं। आपकी आज्ञा के अनुसार ही करूँगा, विरुद्ध नहीं करूँगा।

मुनि—हे राजन! अब तो हम सब से उपराम होकर जीवन्मुक्ति के विशेष सुख का अनुभव करने के लिए विद्वत परमहंस संन्यास ग्रहण करना चाहते हैं। इतना कहकर मुनि सभा से उठ खड़े हुए। राजा जनक ने विधिपूर्वक याज्ञवल्क्य मुनि का पूजन कर के साष्टांग प्रणाम किया और मुनि अपने आश्रम को चले गये।

॥ इति मन्त्र भागसार अर्थ नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

चौदहवाँ अध्याय

[याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी-संवाद]

शिष्य—हे गुरु ! जीवन्मुक्ति की दृढ़ता के अर्थ युक्ति और दृष्टान्त सहित कोई व्याख्यान सुनाइये ।

गुरु—हे शिष्य ! इस अधिकारी जीव को संन्यास सहित आत्मज्ञान बिना मोक्ष नहीं होती। जैसे पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का अनुमान ज्ञान होता है, उसी प्रकार संन्यास सहित आत्मज्ञान से मोक्ष का अनुभव होता है। मोक्ष का मार्ग केवल आत्मज्ञान है। और जितने भी मार्ग किंवा साधन हैं, वे सब के सब जन्म, मरण, स्वर्ग, नर्क आदि के साधन हैं। साधु, गृहस्थी चाहे कोई भी हो, सब के सब संन्यास सहित आत्मज्ञान द्वारा ही मुक्त होते हैं ।

हे शिष्य ! जिस समय याज्ञवल्क्य राजा जनक को वेद द्वारा ज्ञान का उपदेश करके अपने आश्रम पर आये, उस काल में अपने घर में बैठकर विचार करने लगे कि अब हम राजा जनक का कर्ज़ा चुका आये हैं। मैं जनक का गुरु था। गुरु को चाहिए कि शिष्य को ज्ञान देकर उसको कृतार्थ करे। गुरु शिष्य से तभी उऋण होता है, दूसरे प्रकार से नहीं होता। जो गुरु शिष्य का माल-टाल लेकर खान-पान करता है, वह नर्क को प्राप्त होता है। अतः अब वह भी शान्ति को प्राप्त हुआ है और हमको भी शान्ति मिली है।

चारों दिशाओं के ब्राह्मण भी हमने पराजित किए हैं। इन गुणों से इस संसार में हमारी कीर्ति भी बहुत फैल गई है। इस ब्रह्माण्ड में हमने सब मनुष्यों से अधिक शोभा भी पाई है। हमको जो कुछ लोक-परलोक के लिए करना था, वह भी हम सब कर चुके हैं। किसी प्रकार की वासना नहीं रही है। नाना प्रकार के भोग भी हमने भोगे हैं। सदा स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थों से परिपूर्ण रहे हैं। इस मानवी संसार में मनुष्यों को जितना आनन्द हो सकता है, वह सब हम भोग चुके हैं। किसी भी वस्तु की हमको अभिलाषा नहीं रही है। न कोई भोग की ही वासना है। न कोई संसार का ही कार्य करना रहा है तथा अवस्था भी वृद्ध हो गई है। अब हमको मूर्खों की तरह बाल-बच्चों में रहकर भोगों में वृथा काल को नहीं खोना चाहिए।

हमको इन सबका त्याग करके संन्यास ग्रहण करना ही श्रेष्ठ है। अब हमको निवृत्ति का सुख भी तो देखना चाहिए कि कैसा होता है ? क्योंकि वेदों में परमहंस संन्यास को सब से श्रेष्ठ कहा है। संन्यास अर्थात् त्याग के समान इस संसार में कोई भी सुख नहीं है। यह संसारी भोग विद्वत परमहंस संन्यासी के सामने तुच्छ हैं। इनमें कुछ भी तत्व नहीं है। इस संन्यास का आनन्द मनुष्य शरीर में ही भोगा जाता है। दूसरे शरीरों में नहीं भोगा जाता। वेद की भी आज्ञा है कि विद्वान को चाहिए कि तीनों ईषणाओं का त्याग करके संन्यास ग्रहण करना ही श्रेष्ठ है। तत्व-वेत्ताओं का [illegible] है।

चौथी अवस्था आने पर तो वैराग्य हो अथवा न हो, स्त्री की आज्ञा लेकर संन्यास अवश्य ही लेना योग्य है। यदि चौथी अवस्था आने पर भी संन्यास न ग्रहण करे अर्थात् त्याग न करे तो प्राणी पाप का भागी और नरकगामी होता है। इस कारण मैं भी मैत्रेयी की आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण करूँ। पता नहीं मृत्यु कब आ जाय और काल कब पीस डाले? इस कार्य में देर नहीं करनी चाहिए। यह मैत्रेयी तत्ववेत्ताओं के समान गम्भीर, उदार, शान्त आत्मा है। इसको कभी संसार का संकल्प ही नहीं फुरता। सदा प्रसन्न मुख रहती है। इसमें विचित्रता यह है कि जब कभी प्रश्न भी करती है तो आत्म-विषयक ही करती है। आत्मज्ञान की इच्छा के सिवाय इस को भोगों की इच्छा कभी नहीं फुरती क्योंकि इसने हम से भोगों के लिए कभी प्रार्थना नहीं की। यह तो घर में रहती हुई भी संन्यासिनी बनी बैठी है।

हमारी जो दूसरी स्त्री कात्यायनी है वह तो गृहस्थ के व्यापार में अति कुशल है। सब काम स्वच्छता और चतुराई से करने में समर्थ है। हमको और मैत्रेयी को कभी भी कुछ कहना नहीं पड़ता। भोजन, वस्त्र, शयन आदि सब का प्रबन्ध पहले ही कर देती है। जैसा समय देखती है, उसी प्रकार कर देती है। हम दोनों में इसका समान ही प्रेमभाव भी है। जैसा हमसे प्रेम रखती है उसी प्रकार मैत्रेयी में भी रखती है। बड़ी होने पर भी मैत्रेयी की सेवा से संकुचित नहीं होती। इसको अपने बड़प्पन का अभिमान किंचित् भी नहीं है। साक्षात् सतयुग की मूर्ति है। इसको भी धन्य है। देखो, कैसा आश्चर्य है कि भेदभाव कदापि नहीं रखती। सदा प्रसन्न मुख हँसती हुई सी रहती है। उदास तो हमने इसको कभी देखा ही नहीं। आतिथ्य, सेवा-सत्कार भी अच्छे प्रकार से करती है। इसका चित्त भी बड़ा ही उदार है, कृपण नहीं है। हम इसके कार्य कौशल को देखकर बड़े ही प्रसन्न हैं। ठीक है, जहां स्त्री से भर्ता और भर्ता से स्त्री सन्तुष्ट रहते हैं, वहाँ अटल लक्ष्मी निवास करती है।

इस प्रकार अपने घर में रात्रि-भर विचार करके, प्रातःकाल उठ कर, वैदिक कार्य से निवृत्त होकर मैत्रेयी को अपने पास बुलाया और कहा कि हे मैत्रेयी! तुम आज्ञा करो तो अब हम विद्वत संन्यास ग्रहण करके अज्ञात रूप से संसार में विचरें। तुम अपने मन में यह विचार मत करना कि याज्ञवल्क्य फिर राजाओं को शिष्य बनाकर गुरु-दक्षिणा ग्रहण करके सम्पत्तिमान होगा। ऐसा कदापि नहीं होगा। मेरे विचरने का तात्पर्य यह है कि मैं जीवन्मुक्ति का विलक्षण सुख लिया चाहता हूं। हे मैत्रेयी! देखो, आत्मज्ञान का फलभूत विद्वत संन्यास है जो कि विलक्षण आनन्द का हेतु है। यह बोध का आदर्श है। यदि हम गृहस्थ में ही काल को यापन करेंगे तो समाज कहेगा कि याज्ञवल्क्य जैसे ही मोह-ममता में पड़े रहे तो हमारी कौन गिनती है? समाज ताने दिया करेगा। वह लोग मेरा उदाहरण दिया करेंगे।

हे मैत्रेयी! धर्म और त्याग के कारण ही साधु और ब्राह्मण को मानव-समाज के मूर्धा स्थान में रक्खा गया है। यह बात तभी सफल हो सकती है कि जब मैं विद्वत संन्यासी हो जाऊँ। कामना रहित त्यागी ही संसार में शोभा पाता है, कामना वाला नहीं। मनुष्य को यही बंधन है कि वह अच्छे-अच्छे भोजन, वस्त्र तथा स्त्री की कामना करता है। जो इन्द्रिय आरामी है अर्थात् मैं दुबला-पतला न हो जाऊँ, ऐसा विचार करता है और जीवन के निमित्त ही अनेक प्रकार के ढोंग रचता है, वह मनुष्य अनर्थ करता है। जीवन की अभिलाषा ही तो बंधन है, दूसरा बंधन कुछ नहीं।

मैत्रेयी—हे भगवन्! जैसी आपकी इच्छा हो वैसा आप करो। इससे श्रेष्ठ और कौन-सी बात है? ... उत्तम कार्य करने की मैं अति प्रसन्नता पूर्वक अनुमति देती हूँ। परन्तु, हे भगवन्! आपको गृहस्थ

आश्रम में भी कुछ विक्षेप नहीं है। आप तो सहज ही संन्यासी हो रहे हो क्योंकि तत्ववेत्ता पूर्णकाम हो, कर्तव्य, भोक्तव्य बुद्धि से रहित हो, जो कुछ करना था सो सब आपने कर लिया है। आप सर्वत्र समदर्शी हो। आपकी वृद्धावस्था हो गई है। संन्यास आश्रम में क्षुधा-पिपासा-जन्य दुःख सहने पड़ते हैं। इस कारण, हे मुनि ! सिवाय कष्ट के संन्यास लेने में आपको क्या मिलेगा ? कुछ विशेष तो मिलना-मिलाना है नहीं। आगे जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा करें। हम अपने स्वार्थ के कारण आपके आनन्द में क्यों बाधा डालें ?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! सच है, जैसा तुम कहती हो वैसा ही है। तुम्हारी बात सोलह आना पाव रत्ती ठीक है क्योंकि अपना आप प्रत्यग् आनन्द स्वरूप ब्रह्म सदा आपे में ज्यों-का-त्यों स्थित है। परन्तु, हे मैत्रेयी ! जीवन्मुक्ति का आनन्द, गृहस्थ आश्रम का त्याग करके, संन्यास आश्रम के ग्रहण से ही होता है। घर में रहने-सहने से चित्त में अनेक प्रकार के झगड़े-बखेड़े तथा अनात्म विषयक संकल्प-विकल्प उठते ही रहते हैं। वे ब्रह्मानन्द का आस्वादन करने नहीं देते। गृहस्थ का त्याग किए बिना मन की चञ्चलता भी निवृत्त नहीं होती। चञ्चल मन में स्वरूपानन्द का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। जिस प्रकार निरोग शरीर में ही विषयानन्द का स्वाद आता है, उसी प्रकार निरोग मनुष्य शरीर में ही जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्द का अनुभव होता है। जब तक सर्व त्याग न किया जायगा तब तक आनन्द नहीं मिलता।

विषय-सुख और जीवन्मुक्ति के आनन्द का परस्पर विरोध है। इस कारण से विषयानन्द को हम त्याग कर, अपने शिवस्वरूप आत्मा में वृत्ति को जोड़ कर, सर्वथा सोए हुए के समान उदासीन भाव से सहज-समाधि में रह कर तथा शरीर यात्रा करते हुए, सदा अज्ञात रूप से विचरते हुए और सात, पांच, तीन घरों से भिक्षा मांग कर क्षुधा की निवृत्ति करेंगे। अन्न-वस्त्र के लिए किसी को भी प्रेरणा नहीं करेंगे। शरीर को प्रारब्ध पर छोड़ देंगे। अपने कुल, गोत्र, आयु, नाम, वर्ण, देश, काल, जप-तप आदि किसी से भी या किसी के पूछने पर भी नहीं कहेंगे। हे मैत्रेयी ! सच्चा संन्यासी पूर्व ज्ञात सम्पूर्ण देशों और पूर्वज्ञात मनुष्यों का भी यत्नपूर्वक त्याग करे। हे मैत्रेयी ! सच्चा वैराग्यवान साधु अपने पुराकृत गुणों को छिपा कर भिक्षा का आचरण करे, उनको प्रगट करके भिक्षा न ले।

रहा वृद्धावस्था में शारीरिक कष्ट, सो हे मैत्रेयी ! आत्मस्थिति होने पर तो संकल्प-विकल्पों के झगड़े न रहने से मन संताप तथा जड़ता रहित केवल प्रकाश तथा आनन्द स्वरूप हो जाता है। अपने स्वभाव का भी उसी प्रकार त्याग कर देता है, जिस प्रकार सर्दी से शून्य रहने वाला शरीर का अङ्ग स्पर्श-ज्ञान से रहित हो जाता है तथा सर्दी की बाधा का भी अनुभव नहीं करता। उस समय मन को निश्चल, कलङ्कहीन तथा परिपूर्ण चन्द्र-मण्डल के समान जो आत्म-सौंदर्य प्राप्त होता है, मन की उस दशा में शरीर आदि के कष्ट नहीं के समान हो जाते हैं। केवल आत्मबोध की पूर्णता ही शेष रहती है। फिर शारीरिक कष्ट भला क्यों कर व्यथित कर सकते हैं ? नहीं कर सकते।

हे मैत्रेयी ! जीवन्मुक्ति की पराकाष्ठा-अवस्था में तो, शास्त्रों का उपदेश करते समय जो वाणी हिलानी पड़ती है, वह भी बंद-सी होने लग पड़ती है। शरीरमात्र पर अभिमान रखने वाले अज्ञानी अनात्म अध्यास के कारण अपनी अपूर्णता (अर्थात् परिच्छिन्नाभिमान) को लिए हुए कष्ट पर कष्ट उठाते

रहते हैं। परन्तु सातवीं भूमिका तक पहुँचा हुआ कोई मुनि, जो अपने इस शरीर-परिच्छेद को छोड़कर व्यापक आत्मा किंवा ब्रह्म ही हो चुका हो, उसको शारीरिक कष्ट कदापि नहीं होगा तुम क्या ऐसी बात कह रही हो ?

हे मैत्रेयी ! जो भेददर्शी पुरुष अपने से भिन्न करके उन कष्टों को अनुभव करता है किंवा उनसे भयभीत होता है, उस भेददर्शी पुरुष को ही वह कष्ट दुःख की प्राप्ति कराते हैं। आत्मा रूप से देखने वाले पुरुषों को दुःख की प्राप्ति कदापि नहीं कराते। जो मनुष्य स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों को अपने आत्मरूप से देखता है, उस देह धारी जीव को वह पति, स्त्री, पुत्र आदि के पदार्थ सुख की प्राप्ति कराते हैं। जो मनुष्य उन पति, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों को अपने से भिन्न करके देखता है उस पुरुष को वह पदार्थ दुःख की ही प्राप्ति कराते हैं, सुख की नहीं। हे मैत्रेयी ! इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सब में एक आत्मा ही वास्तविक है।

शिष्य—हे गुरु जी महाराज ! जब याज्ञवल्क्य मुनि राजा जनक की सभा से निवृत्त हुए तो सीधे ही वन को क्यों न गए ? घर क्यों आये ? दूसरी शंका यह है कि जैसे याज्ञवल्क्य मुनि ने ज्ञान का उपदेश मैत्रेयी को किया है, कात्यायनी को क्यों नहीं किया ? इसका कारण कहो।

गुरु—हे शिष्य ! जब याज्ञवल्क्य राजा जनक को मोक्ष-ज्ञान देकर अपने घर आये और विचार करने लगे कि जैसे यह पुरुष स्त्रियों के संग से कामादि की उत्पत्ति द्वारा अनेक जन्मों में दुःखों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार विषयासक्त कामी मूर्ख पुरुषों की संगति से भी यह जीव उसी प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है क्योंकि विषयासक्त कामी पुरुष सर्वदा स्त्री सम्बन्धी काम का ही चिन्तन तथा वर्णन करता है। उस कामी पुरुष से सम्बन्ध करके पास में रहने वाले पुरुष को भी अवश्य ही स्त्री का स्मरण रूप ज्ञान होता है और स्मरण करके वह स्त्री रूप अग्नि उस पुरुष के चित्त को अवश्य ही दग्ध करती है। उस दग्ध हुए चित्त में आत्मा और अनात्मा का विचार नहीं होता। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए जिस पुरुष ने संन्यास आश्रम ग्रहण किया है, वही संन्यासी पुरुष स्त्रियों के संयोग तथा विषयासक्त कामी पुरुषों के संग का अवश्य ही परित्याग करता है।

जैसे महान वायु में स्थित दीपक मार्गादिक पदार्थों के प्रकाश रूप कार्य को उत्पन्न नहीं करता। हे शिष्य ! उसी प्रकार गुरु, शास्त्र के उपदेश से उत्पन्न हुआ ब्रह्मज्ञान स्त्री, पुत्र, धन आदिक पदार्थों के संग रूप प्रतिबन्ध के वश से अज्ञान की निवृत्ति रूप कार्य को उत्पन्न नहीं करता। अतः जिस पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा हो, उसको चाहिए कि स्त्री, पुत्र धनादिक पदार्थों के संग का अवश्य त्याग करे। इस प्रकार से स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों के संग से अनेक प्रकार के दोषों का विचार करके याज्ञवल्क्य मुनि ने स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों के संग का परित्याग करने के लिए संन्यास आश्रम के ग्रहण का दृढ़ निश्चय कर लिया।

हे शिष्य ! देख, उस याज्ञवल्क्य का कैसा अत्यंत कृपालु स्वभाव है कि अपने मन में पुनः विचार करने लगा कि इस पृथ्वी पर सात पगों के उठाने में जितना समय लगता है, उतने समय भी जो पुरुष किसी पुरुष के साथ सहनिवास करले तो वह उस पुरुष का मित्र हो जाता है। मैं तो इन स्त्रियों के साथ बहुत काल पर्यन्त रहा हूं, इसलिए यह स्त्रियां हमारी मित्र हैं। संसार में उपकार करने वाले का नाम मित्र है, अतः इन स्त्रियों के ऊपर भी मुझ को उपकार करना परम आवश्यक है।

कात्यायनी नामा बड़ी स्त्री तो केवल घर-बार के कार्यों में कुशल है। दूसरे किसी बन्ध तथा मोक्ष के विषय को यह किंचित भी नहीं जानती क्योंकि यदि हम किसी समय आध्यात्मिक चर्चा करते हैं तो यह उस चर्चा से जी चुराकर दूसरे ही प्रकार की बातें करने लगती है। इसी से ज्ञात होता है कि यह ब्रह्म-विद्या की अधिकारी नहीं है। मैत्रेयी नामा जो दूसरी स्त्री है, वह तो संसार के जन्म-मरण आदिक दुःखों को देखकर सर्वदा शोकवान-सी जान पड़ती है। न तो इसको खाने-पीने तथा शरीर सजावट आदि से ही काम है और न संसारी स्त्रियों से ही इसका अधिक मेल-मिलाप है। सर्वदा मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा करती है। क्योंकि हम से यह जब कभी बातचीत करती है तो जन्म-मरण से छूटने की ही करती है। गृह-सम्बन्धी कोई भी चर्चा नहीं करती। इसको यौवन अवस्था में भी कामादि विकार नहीं व्यापते थे।

इसको अपने शरीर में भी स्नेह नहीं है। क्योंकि हमने इसको आभूषणों, वस्त्रों और तैल आदि से अलंकृत कभी नहीं देखा। यह तो शरीर की क्रिया से भी उदासीन ही रही। जब इसको अपने शरीर में भी स्नेह नहीं तो पति, पुत्र, गृह आदि में भला कैसे हो सकता है ? इस मैत्रेयी ने जो श्रद्धा सहित हमारी सेवा की है, सो भी लौकिक स्त्रियों की तरह काम-भावना करके नहीं की है। पतिव्रता स्त्री को पति की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि शास्त्रों में पति की सेवा करना पतिव्रता स्त्रियों का परम धर्म कहा है। उस धर्म के भंग होने के भय से ही यह हमारी सेवा करती रही है। इससे यह ब्रह्मविद्या की अधिकारी है।

गुरु—हे शिष्य ! याज्ञवल्क्य मुनि त्रिकालदर्शी था। उसने कात्यायनी के अदृष्ट को वर्तमान की क्रिया से जान लिया था। विचारशील मनुष्य पुरुष तथा स्त्रियों की क्रिया को देखकर उनके ऊँचे या नीचे कुलों का ज्ञान कर लेते हैं। इसलिए कात्यायनी को ब्रह्मविद्या की अधिकारिणी न समझ कर उसको उपदेश नहीं किया। याज्ञवल्क्य मुनि ने यह भी विचारा कि यदि मैं मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किये बिना ही वन-गमन करूँगा तो कात्यायनी की नाईं इसको तो धन आदिक पदार्थों की प्राप्ति से सन्तोष नहीं होगा। इसलिए मेरे पीछे यह चिन्ता करके परम दुःखों को ही प्राप्त होगी। अतः मैं प्रथम इसको ब्रह्मविद्या का उपदेश करके पश्चात् वन गमन करूँगा।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! अब हम यह चाहते हैं कि तुम और कात्यायनी हमारे पीछे कलह न करो। दोनों आनन्द से जीवन-व्यतीत करो। इसलिए तुम दोनों को धन-धान्य का विभाग कर दें।

मैत्रेयी—हे मुनि ! आप धन आदि का विभाग क्यों करते हो ? जो कुछ भी है, सब बहिन कात्यायनी को दे दीजिये। हे प्रभो ! मैं धन का क्या करूँगी ? क्योंकि मुझको कर्म करने किंवा भोगने की किंचित् भी इच्छा नहीं है। धन तो दान तथा भोग के लिए ही होता है। रहा शरीर का निर्वाह, सो मुझको विश्वास है कि बहिन कात्यायिनी करती रहेगी क्योंकि उसका मुझ में दृढ़ स्नेह है। यह धन उसी को दे दीजिये। आप मेरी कुछ भी चिन्ता न करें।

हे मुनि ! जैसे आप संन्यास आश्रम को धारण करके शरीर के नाश पर्यन्य भिक्षा अन्न करके अपने शरीर का निर्वाह करोगे, उसी प्रकार मैं भी इस शरीर के नाश पर्यन्त भिक्षा अन्न से अपने शरीर का निर्वाह करूँगी। हे भगवन् ! पूर्व माता के पेट में दश महीने पर्यन्त जिस विश्वम्भरदेव ने हमारी रक्षा की है, वही अब भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिए ऐसे विश्वम्भर परमात्मदेव के विद्यमान रहते हुए अपने शरीर के जीवन के लिए मूर्खों की नाईं चिन्ता करनी मुझ को उचित नहीं जान पड़ती है।

हे राजन् ! जो कदाचित् अन्न की अप्राप्ति के कारण शरीर नष्ट भी हो गया तो भी कोई भय

नहीं। उलटा इस शरीर के नाश में परमेश्वर का उपकार तथा उसकी बड़ी भारी कृपा समझूँगी। यह शरीर विष्ठा, मूत्रादि मलों से पूर्ण है, अत्यन्त दुर्गन्ध तथा अनेक प्रकार की व्याधियों से युक्त है, अनेक प्रकार के दुःखों और अशुभ प्रवृत्ति द्वारा अनेक पापों का कारण है। ऐसे निन्दित शरीर में मेरी किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं है। अतः, हे मुनि! यदि धन आदि के ग्रहण के बिना जो कदाचित् यह शरीर नष्ट हो भी जायेगा तो हमारे ऊपर से दुर्गन्ध रूपी भार उतर जायेगा।

यदि आप कहो कि जब तुम्हारी अपने शरीर में आसक्ति नहीं किंवा शरीर को तुम अपना नहीं समझती तो फिर अन्नादि का भक्षण किस लिए करती हो? सो, हे भगवन्! जैसे इस संसार में राजा के नौकर मंत्री की आज्ञा पाकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं, स्वयं अपने आप नहीं होते। उसी प्रकार मैं भी पराधीनता से भोजन आदि में प्रवृत्त होती हूं। इस शरीर की रक्षा के लिए हमारा किंचितमात्र भी अन्न का ग्रहण करना नहीं है। यदि हो सकता है, तो इतनी बात तो अवश्य है कि इस भरतखण्ड में अधिकारी मनुष्य शरीर को पाकर आत्मज्ञान से रहित हुई मैं इस शरीर के परित्याग करने की इच्छा नहीं करती हूं। इसलिए अन्नादिक ग्रहण करती हूँ।

हे प्रभो! जैसे आप आत्मज्ञान द्वारा संतोष को प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार मैं भी आत्मज्ञान को सम्पादन करने के पश्चात् शरीर का त्याग करूँ तो श्रेष्ठ है, इसीलिए अन्न का भक्षण करना भी ठीक है। यदि आप मोक्ष रूप अमृत की प्राप्ति का साधन जानते हों तो मुझको उपदेश देकर निःसंकल्प होकर वन को जाइये तथा संन्यास ग्रहण करके जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द लीजिए। मैं संन्यास ग्रहण करके घर में ही रहूँगी। परन्तु, हे भगवन्! मैं आप से यह बात पूछती हूँ कि सम्पूर्ण पृथ्वी, हीरे, मोती आदि रत्न, चाँदी, सुवर्ण सहित मेरे पास में हो और मैं उस धन को कमाँ, यज्ञों और तीर्थ यात्रा आदि में खर्च कर दूँ तो क्या मेरी मोक्ष हो जायगी? बंध की वासना कट जायँगी?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! यह तुम कभी भूल कर स्वप्न में भी निश्चय नहीं करना कि धन से मोक्ष हो जायगी। कदापि नहीं होगी। इतनी बात तो अवश्य है कि धन से केवल शरीर का भोजन-वस्त्र आदि का काम इच्छानुसार सुखपूर्वक हो जाता है। इस धन में दो गुण हैं। दान करना और भोग भोगना। जो मनुष्य धन को न तो भोगता ही है और न दान ही करता है, संग्रह में ही तत्पर रहता है, वह इस शरीर का त्याग करके सर्प होता है क्योंकि सर्प को धन बहुत प्यारा लगता है। यह नियम है कि जहाँ स्नेह होता है, वहीं जन्म होता है।

गृहस्थ हो, चाहे विरक्त, अपनी उपासना के अनुसार ही गति होती है। मनुष्य के जीवन में दो गुण होते हैं—एक तो अनेक प्रकार के भोग भोगने, दूसरे नाना क्रिया द्वारा शरीर की रक्षा तथा राग-द्वेष करके चिंता करनी। दिन गँवाया, रात हुई और बस सो रहना। प्रातःकाल उठकर फिर उन्हीं कर्मों में प्रवृत्त होना। यही निद्रा, भोजन, भोग तथा भय अनादिकाल से पूर्वजन्मों में करता चला आया है, वही अब भी करता है और आगे भी करेगा। इस प्रकार के जीने में मनुष्य का भला क्या लाभ हुआ? भला वह वृथा क्यों जीना चाहता है? ऐसे धनी के धन ने उसको क्या काम दिया? इसका जीना वृथा है। ऐसा मनुष्य मानव-शरीर में आया-न-आया बराबर है। इस प्रकार के अज्ञानी धनवान् का जीना व्यर्थ है। बस, बहिन कात्या-

मैत्रेयी—हे प्रभो! ठीक है और बहुत ठीक है। मुझे ऐसा धन नहीं चाहिये। बस, प्रवृत्ति से दुःखों की प्रवृत्ति बढ़ती है और धन से ही राग-द्वेष को ही देखिए। मैं समझ गई कि

का पहाड़ खड़ा हो जाता है तथा साधक प्रवृत्ति में पड़कर अपने लक्ष्य से दूर चला जाता है। हे प्रभो! सौ ऊँटों को सुई के छिद्र में से निकाल देना सम्भव है, परन्तु धनी पुरुषों के चित्त को राग-द्वेष से मुक्त करना असम्भव है। धन के होने से भोग तो अवश्य भोगे जायेंगे। भोग भोगने से इन्द्रियों का बल भी अधिक बढ़ेगा। बल बढ़ने से इन्द्रियाँ कुमार्ग में चलेंगी। एक तो बन्दर स्वभाव से ही चञ्चल होता है, फिर कोई यदि उसको शराब पिलादे तो उसकी चञ्चलता का भला क्या ठिकाना ? हम यह भी देखते हैं कि धन से अनेक प्रकार के व्यसन भी बढ़ते हैं। मनुष्य स्वतन्त्र होकर शरीर की पुष्टि के लिए धन को इकट्ठा करके अच्छे-अच्छे सुन्दर खाने खाते तथा वस्त्रादिक पहिनते हैं। ऐसे पुरुष तो नर्क में ही जायेंगे।

हे प्रभो! जब हम यह देखते हैं कि साधारण अन्न खाने मात्र से काम, क्रोधादि शत्रु सताते हैं तो अच्छे-अच्छे खान-पान अथवा वस्त्र-भूषण आदि के सेवन करने से तो और अधिक सतायेंगे तथा इन शत्रुओं का बल अधिक बढ़ेगा। घास-फूँस खाने वाले पशुओं की भी जब यह काम दुर्गति करता है, तो फिर अच्छे-अच्छे पदार्थ खाने वाले मनुष्यों की दुर्गति का क्या ठिकाना है ? इसलिए मुझको तो यह धन अनर्थों की जड़ मालूम होता है।

वैराग्य के अभाव में ही धन की जरूरत होती है जो महान भय का कारण है। इसलिए मैं धन को नहीं चाहती। हे प्रभो! एक जरा-सी बात और भी सुनो कि संतान की उत्पत्ति में स्त्रियों को बड़ा कष्ट होता है। यह स्त्रियों के अनुभव से सिद्ध है। काम रूपी विषयों से स्त्रियों को जो कष्ट होता है, वह मरण किंवा नर्क से भी अधिक है क्योंकि काम के फलरूप गर्भ को धारण करने से प्रसवकाल में स्त्री को अत्यन्त कष्ट सहना पड़ता है। इस दुःख का पुरुष को लेशमात्र भी अनुभव नहीं है। ऐसे अत्यन्त दुःख के सहन करने पर भी स्त्री का शरीर नष्ट नहीं होता। बड़ा ही आश्चर्य है। इसलिए, हे प्रभो! मैं धन और शरीर नहीं चाहती हूं। मुझको तो अशरीर रूप अमर स्थिति का उपदेश दीजिये जो फिर शरीर धारण न करना पड़े।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! यह बात तुम्हारी सोलह आना ठीक है। यह धन अनर्थों की खान है।

मैत्रेयी के ऐसे गम्भीर वचन सुनकर मुनि बड़े ही प्रसन्न हुए और मन से उसको धन्यवाद दिया। कात्यायनी को बुलाकर कहा कि हे कात्यायनी! देखो यह मैत्रेयी तुम्हारे पास रहेगी। हम तो वन को जाते हैं। इसकी तुम सब प्रकार से रक्षा करती रहना और जितना भी घर, बाग, बगीचे, गौ, रुपया, पैसा आदि सम्पत्ति है सो सब-के-सब तुम्हारे ही हैं। जो कुछ तुमको कहना है सो कह डालो। अच्छे प्रकार विचार करके कहना।

कात्यायनी—हे प्रभो! आप आनन्दपूर्वक वन को जाइये। यदि मैं यह कहूँ कि आप वन को न जायें, तो क्या आप न जायेंगे ? अवश्य जायेंगे। मैं बहिन मैत्रेयी की केवल सेवा ही नहीं करूँगी, बल्कि सदा इनकी आज्ञा में भी रहूँगी। यह जैसे भी मुझको चलायेंगी, मैं उसी प्रकार चलूँगी। कभी भी आज्ञा भंग नहीं करूँगी। जैसे यह प्रसन्न होंगी उसी प्रकार मैं चेष्टा करूँगी, अन्यथा न करूँगी। मैं तो बहिन मैत्रेयी की दासी बनकर रहूँगी। आप इसमें किंचित् भी शंका न करें। हे प्रभो! और कुछ आज्ञा है ?

याज्ञवल्क्य—हाँ कात्यायनी, कुछ और भी कहना है। हमारे पीछे तुम अपने गृहस्थ-आश्रम को अच्छे प्रकार से पालन करना। आतिथ्य-सेवा, सत्कार, तन-मन-धन से करना जैसा कि हमारे सामने चलता था। मांगने वालों को श्रद्धा से देना। खाने वाले को श्रद्धा से खिलाना। प्यासे को प्रेम से जल

प्रदान करना। मान चाहने वालों को मान देना और तुम्हारे आधीन जिन प्राणियों का जीवन हो, उन सबकी देख-भाल करते रहना। हे कात्यायनी! हम तुम सब दैवी सम्पदा को लेकर इस लोक में आये हैं। जो प्राणी देवलोक से आते हैं, उन प्राणियों के चार चिह्न होते हैं। देने का स्वभाव, बिना दिये वह नहीं खाते। मधुर वचन बोलना तथा देवताओं का पूजन करना। देवालय में जाना, सत्य शास्त्रों का स्वाध्याय करना तथा साधु, ब्राह्मणों को तृप्त एवं प्रसन्न करना। अपने भाई, बहिन, माता, पिता, ज्ञातीजनों से प्रेम का बर्ताव रखना। यह उनमें स्वभाव सिद्ध बातें होती हैं।

जो प्राणी नीच योनियों से मनुष्य जन्म को प्राप्त हुए हैं उनके चिह्न यह हैं कि वे प्रयोजन अत्यंत क्रोध करना, कटुवचन बोलना, दरिद्रता, अपने भाई, बहिन, माता, पिता तथा ज्ञातीजनों से वैरभाव रखना, अपनी जाति वालों के कर्मों को त्याग कर मलिन स्वभाव तथा मलिन जाति वालों के कर्मों को करना, कुलहीनों की सेवा करना, भंगी, चमार, मुसलमान, ईसाई, तेली, धोबी के साथ उठ-बैठ करना। हे कात्यायनी! यह सब आसुरी सम्पत्ति वालों के लक्षण हैं। इस आसुरी भाव को तुम अपने गृह में प्रविष्ट नहीं होने देना क्योंकि तुम्हारा जन्म ऊँचे लोकों से हुआ है, नीच योनियों से नहीं हुआ। हे कात्यायनी! बस इतना ही कहना था। अब तुम जाओ।

मैत्रेयी—हे प्रभो! आप तो उदारात्मा, दयालु हैं। मुझको तो वह धन दीजिये कि जिसको ग्रहण करके आप इस संसारी धन को तृण के समान तुच्छ जानकर छोड़े जाते हो। जिस प्रकार आप जनक को आत्मा के सन्मुख अथवा आत्मा में प्राप्त कर आए हो, जो-जो प्रश्न जनक ने आप से पूछे हैं, जैसे आपने उनके उत्तर दिए हैं तथा जैसे उसके सन्देह दूर कर आत्मज्ञान का उपदेश किया है, वही सब मुझको भी कृपा करके दीजिए। हे प्रभो! मेरे सब संशय छेदन करके और आत्मज्ञान रूपी धन देकर आप निर्संकल्प संन्यास ग्रहण करें।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! तुमको धन्य है जो तुमने ऐसे उदार वचन कहे हैं। तुम्हारे माता-पिता को धन्य है जो कि ऐसे सन्तान को जन्म दिया है। हे मैत्रेयी! तू हमको पहले ही बहुत प्रिय थी और तेरी ऐसी उदारवाणी सुनकर तो तू और अत्यन्त प्रिय लगने लगी है। तू हमसे पहिले भी जब कभी कोई प्रश्न करती थी, वैराग्य सहित आत्मज्ञान का ही करती थी। अब कुछ ऐसा जान पड़ता है कि तुमने सब ईषणाओं का त्याग करके मोक्ष अर्थात् निर्वाण-पद की इच्छा की है। तू परम अधिकारी जिज्ञासु जान पड़ती है, इस कारण से हम अपना निजी धन तुमको देते हैं क्योंकि आचार्यों की प्रसन्नता के बिना ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कदापि नहीं होती, यह वेद में कहा है। आचार्य सुशील, छल-कपट-दम्भ आदि से रहित सेवक पर ही प्रसन्न होते हैं। तुमने हमको सब प्रकार से प्रसन्न किया है, इसी कारण से हमको भी तुम्हें अपना निजी धन देना चाहिये।

याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि वेद की आज्ञा है कि निजी धन प्रिय को देना चाहिए। जो शिष्य भाव से रहित हो, तप, वैराग्य और जिज्ञासा भाव से रहित हो, उसको ब्रह्मज्ञान का उपदेश नहीं करना चाहिये। जो लोभ, मोह से ब्रह्मज्ञान का दान करता है, तो ब्रह्मविद्या उसको शाप देती है। परन्तु इस मैत्रेयी में अधिकारी के सब लक्षण पाये जाते हैं और यह हमको अत्यन्त प्रिय भी है। इसको आत्मलोक में अवश्य पहुँचाना चाहिये। फिर विचार किया कि अभी तो इसको ब्रह्मज्ञान खेल-सा जान पड़ता है। जब हम वन-गमन करेंगे, तब पीछे यह बहुत प्रलाप करेगी क्योंकि इसका हममें अत्यन्त स्नेह है

स्नेहवान को वियोग से बड़ा प्रलाप होता है। इससे प्रथम इसका स्नेह छुड़ाने के लिए वैराग्य का उपदेश करना चाहिये।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! स्त्री को पति अपने लिए ही प्रिय होता है, पति के वास्ते पति प्रिय नहीं होता। पति को जाया अपने वास्ते ही प्रिय होती है, जाया के लिए जाया प्रिय नहीं होती। पिता को पुत्र अपने ही लिए प्रिय होता है, पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता। स्वामी को सेवक अपने लिए प्रिय होता है, सेवक के लिए सेवक प्रिय नहीं होता। सेवक को जो स्वामी प्यारा लगता है वह अपने लिए है, न कि स्वामी के लिए। बंजारे को पशु अपने लिए प्रिय होता है, पशु के लिए पशु प्रिय नहीं होता। जो-जो, जहाँ-जहाँ, जिस-जिस में प्रीति करता है सो अपने लिए ही करता है, दूसरे के लिए नहीं करता। धन, पदार्थ, मित्र, वर्ण, आश्रम, ईश्वर, देवता, लोक, परलोक, वेद आदि सबके-सब अपने लिए ही प्रिय हैं, उनके लिये नहीं। हे मैत्रेयी! इस कारण से जिसके लिए सब प्रिय हैं, वही प्रीति का विषय है।

प्रीति नियम करके आनन्द में होती है। आत्मा में परम प्रीति सबको है। इस कारण से आत्मा परमानन्द रूप है। हमको जो कुछ भी प्यारा लगता है, वह आत्मा की खातिर प्यारा लगता है। आत्मा ही सब प्यार का स्रोत और लक्ष्य है। हम किसी भी वस्तु से प्यार करते हैं तो बेखबरी में अपने-आप से ही प्यार करते हैं। हे मैत्रेयी! स्वरूप से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। आत्मा के साथ प्रीति बढ़ाने के लिए सिवाय इसके और कुछ अपेक्षित नहीं है कि सब प्रकार के विषयों की तरफ से बुद्धि को हटा लिया जाय और अपनी तरफ ही दृष्टि फेर ली जाय। तब जिज्ञासु को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनंदमय कोषों से अपना-आपा एकदम प्रकट हो जायगा। हमको कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि तुमको भी आत्मा परम प्रिय अनुभव होने लगा है और आत्मा से भिन्न सब अनात्म पदार्थ अप्रिय ज्ञात होते हैं। इसीलिए हमको जान पड़ा है कि तुमको आत्मज्ञानरूपी धन दें।

हे मैत्रेयी! देखो, अपने-आप प्रत्यग् चैतन्य आत्मा से भिन्न ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, मन, बुद्धि, पुत्र, स्त्री, धन आदि कुछ भी नहीं हैं। सब अभिन्न हैं। इस कारण अहङ्कार से लेकर पृथ्वी, ब्राह्मण आदि सब प्रपञ्च को आत्मारूप देखना चाहिए। अनात्मारूप नहीं देखना चाहिये। जैसे नगाड़े के समान शब्द से नाना राग-रागिनी और गीत भिन्न नहीं होते और जैसे अग्नि से दीपक, मशाल, चिनगारी आदि भिन्न नहीं होतीं, उसी प्रकार यह नाम-रूप प्रपञ्च ज्योति स्वरूप आत्मा से भिन्न नहीं है। यह आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे आग से प्रकाश और प्राणी का श्वास बे प्रयत्न आता-जाता है, उसी प्रकार आत्मा में बे प्रयत्न अनन्त नाम-रूपमय ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लय होते रहते हैं। जीव, कर्म, उपासना, देवता, लोक, भोग आदि श्वास की नाईं ब्रह्मात्मा में यत्न बिना विवर्त्त होते हैं। यह नियम है कि जो जिसका विवर्त्त होता है वह उसी का स्वरूप होता है, उससे भिन्न नहीं होता। जैसे रस्सी का विवर्त्त सर्प रस्सी से भिन्न नहीं होता, जैसे वीणा के समान शब्दों से नाना राग-रागिनी भिन्न नहीं हैं और जैसे अग्नि से चिनगारी निकल कर अग्नि में लीन हो जाती है, उसी प्रकार विज्ञानघन ब्रह्मात्मा से नाम-रूपमय ब्रह्माण्ड निकल कर आत्मा में ही लीन हो जाते हैं।

जैसे सामान्य जल से कूप, तड़ाग, नदी, समुद्र आदि के विशेष जल भिन्न नहीं हैं, जैसे सामान्य स्पर्श से नाना विशेष स्पर्श भिन्न नहीं हैं, जैसे सामान्य सुगन्ध से नाना विशेष सुगन्ध भिन्न नहीं हैं, जैसे सामान्यरूप से नाना विशेष रूप भिन्न नहीं हैं, जैसे सामान्य हाथ की क्रिया से नाना विशेष हाथ

की क्रियायें भिन्न नहीं हैं, जैसे सामान्य चरणों की क्रिया से नाना चरणों की विशेष क्रिया भिन्न नहीं है, जैसे सामान्य मानसिक संकल्प से नाना विशेष संकल्प भिन्न नहीं हैं और जैसे बुद्धि के सामान्य निश्चय से बुद्धि के विशेष नाना निश्चय भिन्न नहीं हैं; उसी प्रकार, हे मैत्रेयी ! सामान्य सत्ता विज्ञानघन आत्मा से नाना विशेष नाम रूपमय ब्रह्माण्ड भिन्न नहीं हैं। सब आत्म स्वरूप हैं। यह सब प्रपञ्च आत्मा का विवर्त्त है। आत्मा सजातीय, विजातीय स्वगत भेद से रहित है।

मनुष्य से मनुष्य का जो भेद है वह सजातीय भेद है क्योंकि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के समान नहीं होता। मनुष्य का जो पशु, वृक्ष आदिकों से भेद है वह विजातीय भेद है क्यों कि जो मनुष्य की जाती है सो पशु और वृक्षों की नहीं। अपने शरीर में हाथ, पैर, उङ्गली आदिकों का जो भेद है, वह स्वगत भेद कहा जाता है। चैतन्य ब्रह्मात्मा के समान दूसरा चैतन्य नहीं है, इस कारण से आत्मा में सजातीय भेद नहीं है। आत्मा से विजातीय जो जड़ माया और उसका कार्य जगत् है, वह चैतन्य आत्मा में कल्पित होने से वास्तव में है ही नहीं, इस कारण आत्मा में विजातीय भेद नहीं है। आत्मा निर्विकार, निरावयव है, इस कारण से आत्मा में स्वगत भेद भी नहीं है।

हे मैत्रेयी ? इस प्रकार आत्मा सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित है। यह आत्मा देश, काल, वस्तु-परिच्छेद से भी रहित है क्योंकि व्यापक होने से आत्मा में देशकृत भेद नहीं है। नित्य होने से कालकृत भेद भी नहीं है। सर्वात्मा होने से वस्तुकृत भेद भी नहीं है। यह "है" और "नहीं है" (अस्ति-नास्ति) व्यवहार का विषय भी नहीं है। इस प्रत्यग् आत्मा से भिन्न जो कुछ भी है सो सब कल्पनामात्र है। आत्मा प्रत्यग् जो नाम है उस अपने आपे को जानना चाहिए। जैसे विशेष शब्द सामान्य शब्द में लय भाव को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार नाना विशेष इन्द्रियों की क्रिया स्वप्न में लय हो जाती हैं, स्वप्न की क्रिया सुषुप्ति में लीन हो जाती हैं। फिर उस सुषुप्ति से स्वप्न में आती हैं, स्वप्न से जाग्रत में आती हैं। फिर नाना विशेष क्रिया इन्द्रिय रूप धार कर अनेक व्यापार करती हैं।

हे मैत्रेयी ! यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विराट में लय हो जाता है। विराट हिरण्यगर्भ में लय हो जाता है। हिरण्यगर्भ शबल ईश्वर में लय हो जाता है। शबल ईश्वर शुद्ध चैतन्य विज्ञानघन निर्विशेष सत्ता में लय हो जाता है। उसी प्रकार नाम-रूप मन में, मन बुद्धि में, बुद्धि अविद्या अर्थात् सुषुप्ति में, अविद्या तुर्या अर्थात् साक्षी आत्मा में लीन हो जाती है। वह तुर्या ब्रह्मरूप है। उस में तमाम ब्रह्माण्ड लीन हो जाता है। वही तेरा स्वरूप है।' अनुभव करके देख ले। आप विज्ञानघन आत्मा सैंधव नमक की तरह एक-रस, ज्यों-का-त्यों असंग, अद्वैत ही रहता है। वह कभी स्वरूप से द्वैतभाव को प्राप्त नहीं होता क्योंकि अभय, अक्रिय और निर्विकार है।

मैत्रेयी—हे मुनि ! यदि आज्ञा हो तो मैं आप से कुछ पूछूँ ?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! अवश्य पूछो। हम बड़ी प्रसन्नता से तुमको आज्ञा देते हैं।

मैत्रेयी—हे मुनि ! मुझको तो एक बड़ा विमोह हुआ है। वह यह है कि विशेष सत्ता के अभाव से सामान्य सत्ता का भी अभाव हो जाता होगा तो फिर शून्य ही सिद्ध हुआ क्योंकि इसका देखने वाला कोई नहीं रहा। शून्य में देखने वाले का अभाव है।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! आत्मा मन, वाणी, चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय है, तेरा अपना

आप प्रत्यग् स्वरूप है और अभय, अक्रिय, सब विषयों के भाव-अभाव का द्रष्टा है। दृश्य किसी का नहीं है। इसका द्रष्टा स्वभाव कभी भी नष्ट नहीं होता। विज्ञानघन ब्रह्मस्वरूप द्रष्टा साक्षी तू ही है। भला तू शून्य कैसे है ? क्या तू ने कभी अपना अभाव देखा है ?

मैत्रेयी—हे भगवन् ! मैं तो अद्वैत आनन्दघन हूं। मेरा अभाव तीन काल में भी नहीं होता। मैं तो ज्ञान संवित हूँ।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! जाग्रत तथा स्वप्नावस्था आदि घन सुषुप्ति, प्रज्ञानघन यह ईश्वर के समान हैं। इस दशा में ज्ञान सम्पूर्ण गुणों से घनीभूत हुआ होता है। जब वृत्तिरूप ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है तो स्वप्नावस्था में वह तैजस या हिरण्यगर्भ कहलाता है और जाग्रत अवस्था में वही विश्व या वैश्वानर विराट् कहलाता है। दूसरा ज्ञान इन अवस्थाओं से असंग, साक्षीरूप से निश्चेष्ट रहता है। तीनों अवस्थायें उसके सामने आती-जाती रहती हैं। अपनी-अपनी उपाधि अवस्था में वे साक्षी को सम्बन्धित करके अपने-अपने विशेषणों से विशिष्ट करती हुई अपना नृत्य करती रहती हैं।

तुमको ध्यान रखना चाहिये कि यह विशेषणयुक्त नाम, कर्म और सम्बन्ध विभिन्न-विभिन्न अवस्थाओं और उपाधियों में हैं अर्थात् वृत्तिज्ञान में हैं। ज्ञान संवित आत्मा में नहीं हैं। स्वयंज्योति आत्मा उनसे प्रथक् निर्विकार, एकरस तथा अधिष्ठानरूप है। अध्यस्त या आधेय रूप पदार्थ यद्यपि मिथ्या हैं और स्वयंज्योति प्रथक् है तथापि प्रत्येक अवस्था में उसके साथ लगा हुआ-सा जान पड़ता है। अविवेकी को आधेय-विकार और गुण यह सब आत्मा के जान पड़ते हैं। इसलिए तुमको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस से भ्रान्ति न हो जाय। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिये।

हे मैत्रेयी ! अस्थान और तीन अवस्थायें यही वेद में कही हैं। वह तीनों आधेयरूप हैं, आधार रूप नहीं। यह अवस्थायें अवस्था वाले आधार के साथ मिली हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इसीलिए तो जाग्रत में अधिष्ठान आत्मा को विश्व, स्वप्न में तैजस और सुषुप्ति में प्राज्ञ नाम से कहने लग जाते हैं। यह तीनों नाम एक ही अधिष्ठान आत्मा के हैं जो आधेय की विभिन्न-विभिन्न उपाधियों के कारण विभिन्न-विभिन्न नामों से अभिहित हुए हैं। तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से वह तीन अवस्थाओं वाला ज्ञात होता है क्योंकि तीन अवस्थाओं में एक ही आत्मा उन भिन्न अवस्थाओं से प्रथक् है, उसको चौथे तुर्या नाम से पुकारने लग जाते हैं। तीनों अवस्थाओं में यही तुम्हारा आत्मा अवस्था वाला कहलाता है। यथार्थ में चौथी अवस्था कोई नहीं है, वरन् चौथा यह निर्गुण ब्रह्म विशुद्ध तुम्हारा प्रत्यग् है। सर्वसाधारण की बोलचाल में इसको तुर्या अर्थात चौथे पद को असङ्ग निर्विकार कूटस्थ आत्मा अवस्थातीत कहते हैं। तुर्या कोई अवस्था नहीं समझनी चाहिए वरन् असङ्ग आत्मा, जो अवस्थातीत है, वही आधेय से मिलकर तीन रूपों को लेकर दिखाई देता है। सोई तुम्हारा अपना स्वरूप है।

मैत्रेयी—हे मुनि ! अभ्यास और समाधि का मुख्य तात्पर्य क्या है ?

मुनि—हे मैत्रेयी ! चित्त को सावधान करके सुनो। अभ्यास और समाधि का मुख्य तात्पर्य यही है कि ख्याल करने वाले और ख्याल में विवेक पैदा हो जाय। अर्थात् ख्याल करते समय ख्याल का साक्षी अपने आपको ख्याली वस्तुओं से पृथक् द्रष्टा रूप से देखे या समझे और जो वस्तुएं ख्याली या कल्पित हो रही हों, वह पृथक् कल्पित भासमान दिखाई देने लग पड़ें। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। एक ज्ञान साक्षी जिसको स्वयंज्योति आदि के नाम से कहा गया है और दूसरा ख्याल या मनोवृत्तियां जो भास-

मान पदार्थ हैं। इसी को हम पीछे आधेय या गुण ज्ञान नाम से कथन कर आये हैं। प्रथम भाग आधार अर्थात् गुणी ज्ञान है। आधार और आधेय दोनों मिले-जुले प्रतीत होते हैं। विवेकी उनको अलग-अलग देख लेते हैं। उनको देखकर वृत्ति जड़भाव को त्याग कर, चैतन्यरूप को धारण करती हुई, निर्विकल्प जो आत्मा का स्वरूप है उसके समान हो जाती है, भिन्नता का अनुभव नहीं करती। वृत्ति का परिच्छिन्नभाव भूमा में विलीन हो जाता है। उस अवस्था में "अहंब्रह्मास्मि" स्फुरण होने लग पड़ता है। यही बोध है और यही आत्मानुभव है।

निदिध्यासनकाल की अवस्था जब अच्छे प्रकार पक जाती है तब निर्विकल्प वृत्ति में ही वृत्ति स्वरूपाकार होती है, इससे पहले नहीं। इस विवेक को प्राप्त करके साधक यह जानता है कि "मैं" तो ज्ञान ज्योति हूँ और वृत्तिज्ञान मेरा गुण है। इस विवेक के द्वारा बोधमान पुरुष निश्चिन्त और आप्तकाम हो जाता है। जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश घट, मठ की उपाधि से परिच्छिन्न नहीं होता, उसी प्रकार यह स्वयंज्योति साक्षी आत्मा भिन्न-भिन्न अन्तःकरण या शरीरों के कारण छिन्न-विच्छिन्न नहीं हो जाता क्योंकि वह तो सर्वत्र एकरस विद्यमान है। किंतु जिसको अपने आत्मा का ज्ञान नहीं है, वह घटाकाश के समान अपने आपको महाकाश रूप आत्मा से पृथक् और परिच्छिन्न ख्याल करता है। किन्तु, हे मैत्रेयी! अज्ञान आवरण जो घटाकाश के रूप में मिट्टी से बना हुआ है और मनुष्य के रूप में अविद्या की आवरणशक्ति से बना हुआ है, जब वह दूर होता है अर्थात् शरीराभिमान नष्ट होता है, उस काल में बोधमान को निश्चय होता है कि साक्षी स्वयंज्योति आत्मा जो उसमें है, वही सर्वव्यापक एक रूप है। वही मेरा स्वरूप है, कभी पृथक् नहीं हुआ। उसका अंश वृत्तिरूप ज्ञान जो गुण है, वह भी अपने आधार से कभी पृथक् नहीं हुआ।

जिस प्रकार अधिष्ठान आत्मा सर्वव्यापक है, उसी प्रकार आधेयरूप वृत्तिज्ञान भी सर्वव्यापक के एक देश में विद्यमान है। इसलिए तमाम सृष्टि ज्ञान में विद्यमान है, उससे पृथक् नहीं। ऐसा जानता हुआ वह निश्चिन्त अर्थात् बे-परवाह और आप्तकाम है। उसको तमाम पदार्थ प्राप्त हैं। ऐसे बोधमान को न तो किसी पदार्थ की इच्छा होती है और न अनिच्छा। न किसी से रागयुक्त व्यवहार करता है और न द्वेष-युक्त करता है। वह पूर्ण है, अपूर्ण नहीं। भय से रहित निर्भय है। वह अल्पज्ञ नहीं, भूमा है। उसको समाधि और अभ्यास से कुछ भी प्रयोजन नहीं। यह सब उसकी इच्छा पर निर्भर है। जब तक साधक को अपनी अपूर्णता का अनुभव होता है तब तक अभ्यास तथा समाधि आदि साधन के द्वारा अपनी कमी को पूर्ण करता रहे।

सम्पूर्ण सृष्टि, दृश्य जगत, चाहे स्थूल हो चाहे सूक्ष्म हो, केवल ज्ञान-ज्योति का प्रकाश है कि प्रत्येक वस्तु जो मूर्तिमान होती है, उसका ज्ञान उस वस्तु के रचने वाले के हृदय में होता है। जिस प्रकार घड़े के रूप का ज्ञान कुलाल के मन में, पलंग, तख्त, चौखट का ज्ञान बढ़ई के मन में है और मकान के रूप का ज्ञान उसके बनाने वाले के मन में होता है। प्रगट होने से प्रथम ज्ञात नहीं हो सकता। जब तक कि उसकी ज्ञानजन्य आकृति हृदय में विद्यमान न हो जाय तब तक अन्धेरे में मकान के अन्दर घड़ा आदि विद्यमान होने पर भी दिखाई नहीं देते। उनके देखने के लिए प्रथम प्रकाश की जरूरत होती है और फिर शुद्ध आँखों की। जब अन्तःकरण की वृत्ति से निकल कर घट-पट आदि के तद्रूप होती है, उस काल में मनुष्य को उन वस्तुओं का ज्ञान होता है।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान-मात्र से जिस वस्तु का द्रष्टा हुआ है, फिर उसकी जानकारी भी ज्ञानजन्य आकृति से ही होती है और वह ज्ञान सदैव विद्यमान रहता है। जाग्रत, स्वप्न में विस्तार के साथ प्रत्यक्ष तुम देखते ही हो। स्वप्नरहित निद्रा दशा में वह ज्ञान नित्यंप्रति संकुचित किंवा घनीभूत-सा रहता है। हे मैत्रेयी ! यह तुम्हारे तथा हमारे अनुभव में भी नित्य आता है। प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। अभ्यास या समाधि के समय चाहे जाग्रत हो, चाहे स्वप्न अवस्था हो, अभ्यास तथा समाधि करने वाला अपने-आपको प्रथक देखे कि मैं तो स्वयं ज्योति, आत्मा, साक्षी, द्रष्टा हूँ। यही अभ्यास तथा समाधि का तात्पर्य है। जो अनुभव रूप साक्षी-ज्योति है वह क्या जाग्रत, क्या स्वप्न, क्या सुषुप्ति, सब का साक्षी है जिसे हम तुमको तुर्या रूप से कथन कर आए हैं। तुर्या जाग्रत सत्ता का नाम है, जाग्रत का द्रष्टा नहीं, जिस ज्ञानवान को ऐसा अनुभव हुआ है उसको कोई क्लेश नहीं व्यापेगा।

मूलाज्ञान से ही पञ्चक्लेशों की उत्पत्ति होती है और यही 'अहं-मम्' तथा धर्म-अधर्म की वासना को जन्म देता है। जब यह मूलाज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है, उस काल में आप-से-आप एकमात्र "मैं" ही "मैं" का ज्ञान प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार निद्रा के साथ-साथ स्वप्न का भी नाश हो जाने पर केवल अपना ही भान शेष रह जाता है, उसी प्रकार मूलाज्ञान के दूर हो जाने पर सिवाय स्वयं के और कुछ भी शेष नहीं रहता। हे मैत्रेयी ! मूलाज्ञान के प्राप्त होने पर तमोगुणी बुद्धि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु पर विस्मृति का परदा डालती है। अज्ञान रूपी निद्रा मनुष्य को संसाररूपी स्वप्न की व्यर्थ चिन्ताओं का अनुभव कराती है।

मूलाज्ञान के कारण नाम रूप की आड़ में छिपा हुआ भूमा जो अपना आपा है, वह उसी प्रकार दिखाई नहीं देता जिस प्रकार भूषण के रूप की आड़ में छिपा हुआ सोना किसी छोटे से बच्चे को दिखाई नहीं देता। देहाभिमान के कारण शुद्धाद्वैत तत्व का उसी प्रकार पता नहीं चलने पाता जिस प्रकार मटकों और घड़ों के रूप में दिखाई पड़ने वाली मिट्टी मूर्खों को दिखाई नहीं देती अथवा कपड़ा नाम पड़ जाने की आड़ के कारण मूर्खों को उसके तारों का ज्ञान नहीं होता। मूलाज्ञान के कारण ही प्राणीमात्र भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं और एकता वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। फिर अहंभाव के कारण आत्मा में कर्तृत्व का मिथ्या आवरण चढ़ना प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा नहीं सा जान पड़ता है।

मैत्रेयी—हे मुनि ! आत्मस्थिति किसको कहते हैं ?

मुनि—हे मैत्रेयी ! चित्त को सावधान करके सुनो। अग्नि जिस वस्तु में लग जाती है वही वस्तु अग्नि का रूप धारण कर लेती है और दोनों में दाह्य-दाहकता का भाव आप से आप नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब कर्मों का आकार आत्मा से भिन्न मान लिया जाता है और उस कर्म को आकार प्रदान करने के लिए कर्तृत्व का आत्मा पर होने वाला मिथ्या आरोप नहीं रहता, तब फिर जो कुछ शेष रह जाता है, वही आत्मस्थिति है। इस आत्मस्थिति का स्वामित्व जिसको प्राप्त होता है, वह इस क्षुद्र शरीर में बद्ध होकर नहीं रह सकता। उसी प्रकार अभिन्न भाव के कारण स्फुरण प्राप्त करने वाली अहंता अर्थात् सर्वात्मभावना जब पूर्णता को प्राप्त हो जाती है अर्थात् भूमाभाव से स्थित होती है तब वह इस अपूर्ण दुर्गन्धयुक्त शरीर में नहीं समा सकती। जो ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय विषय का भेद ही

दूर कर लेता है, भला फिर उसमें इस प्रकार की अहंता का किस प्रकार स्फुरण हो सकता है कि मैं शरीर आदि हूं।

हे मैत्रेयी ! जब अधिकारी को अपने आत्मस्वरूप का प्रत्यय होता है, जिसके सम्बन्ध में यह निर्देश नहीं किया जा सकता कि "यह है" या "वह है" और जो अपने अहं बिना ही स्वयं सिद्ध होता है, वह आत्मस्थिति कुछ ऐसी है कि चित्त निर्भय होकर परब्रह्म की बराबरी का हो जाता है। यह स्थिति वैराग्य की कामना पूरी कर देती है, विवेक का भी समाधान कर देती है और कर्मों के प्रति होने वाला अनुराग दुर्बल हो जाता है। तर्क तो विचारा अन्धा-लङ्गड़ा होकर चुपचाप बैठ जाता है। इन्द्रियाँ विषय की बात ही भूल जाती हैं और मन का मनत्व ही नष्ट हो जाता है। वाणी की वाग्मिता अर्थात् चतुराई का अन्त हो जाता है। लौकिक कामनायें तथा कर्मकाण्ड की तमाम क्रियायें फीकी पड़ जाती हैं। जिस प्रकार सूर्य के सामने तारों का तेज फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी यज्ञ के सामने यह सब जड़ क्रियायें फीकी पड़ जाती हैं।

मैत्रेयी—हे प्रभो ! यह बंध क्या वस्तु है ?

मुनि—हे मैत्रेयी ! बन्ध और मुक्ति का विचार तो सिर्फ माया के कारण होता है। जहाँ अहंभाव तथा नाम-रूप की कल्पना नहीं रहती, वहाँ बन्ध की तो बात ही क्या है, मुक्ति भी नहीं ठहरती। वहाँ तो मुक्त और बद्ध का विचार ही विस्मृत हो जाता है। बंध करने वाला तो अहंभाव अर्थात् शरीराभिमान ही है। जो अहंभाव को धारण करता है उसी को यह बन्धन में डालता है।

मैत्रेयी—हे प्रभो ! शरीर और आत्मा का किस प्रकार सम्बन्ध हुआ ? यह शुभाशुभ कर्मों के फल कैसे भोगता है ?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! यह शरीर तो काष्ठ और मिट्टी के समान है। जिस प्रकार स्वप्न में चित्त के फुरने से शरीर दीखता है, उसी प्रकार यह शरीर भी चित्त से कल्पित है। चित्त ही चैतन्य के सम्बन्ध से जीवभाव को प्राप्त हुआ है और वह जीव चित्त सत्ता से ही शोभायमान होता है। उस चित्त के फुरने से संसार उत्पन्न हुआ है और अपने स्फुरण रूप कर्मों से अनेक प्रकार के शरीरों को धारण भी करता है। वही चित्त अज्ञान से सुख तथा दुःखों को भोगता है। शरीर सुख-दुःख नहीं भोगता। जो अबोध चित्त है, वह शान्तरूप है। जब तक चित्त अबोध है और अविद्यारूपी निद्रा में सोया हुआ है, तब तक स्वप्नरूप अनेक संसार देखता है। जब अविद्यारूप निद्रा से जागता है तब मन नहीं देखता। जैसे रात्रि होने से कमल मुँद जाते हैं और सूर्य के उदय होने से खिल जाते हैं, उसी प्रकार अविद्या से जगत भ्रम देखता है और जब ज्ञान हो जाता है तब अद्वैतरूप हो जाता है।

हे मैत्रेयी ! अज्ञान ही दुःख का कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं। यह जीव अविवेक से पंचकोषों में अभिमान करके जैसे कर्म करता है, वैसे ही भोगता है। जो कुछ भी इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख है, वह एक मन के फुरने में है। जैसा मन होता है वैसा ही पुरुष होता है। पूर्ण चित्त से पूर्ण होता है, अपूर्ण चित्त से अपूर्ण अर्थात् अल्प होता है। जो अल्प होता है, वह नष्ट होता है। जिसका चित्त आत्मज्ञान से पूर्ण है, वह तो पूर्ण है और जो आत्मज्ञान से रहित है वह नष्टचित्त है। ऐसा पुरुष नीच बुद्धि है और अनेक दुःखों को प्राप्त होता है।

जिसको यह निश्चय है कि मैं शरीर हूँ तथा ब्राह्मण आदि हूँ, वह नीच बुद्धि है। वह तो

अनेक दुःखों को प्राप्त होगा। जिसका चित्त पूर्ण विवेक से जाग्रत हुआ है, उसके सब दुःखों का अभाव हो जाता है। जैसे सूर्य के उदय होने से कमल का संकुचित होना दूर हो जाता है और वह खिल जाते हैं, उसी प्रकार विवेकरूपी सूर्य के प्रकाश से रहित पुरुष दुःखों के मारे संकुचित रहते हैं। जो विवेकरूपी सूर्य के प्रकाश से प्रफुल्लित हुए हैं, वह संसार के दुःखों से पार हो जाते हैं। इसलिए तुम विवेक को धारण करो। शरीराभिमान का त्याग करो। तुम शरीर नहीं हो। हे मैत्रेयी! जब तक चित्त संकल्प-विकल्प करता है अर्थात् यह मुझको मिल जाय, वह मुझको मिल जाय, यह मुझको न प्राप्त हो ऐसा विचार बना रहता है तब तक आपदा प्राप्त होती ही रहेंगी। शान्ति कदापि नहीं मिल सकती। ज्यों-ज्यों कीकर का वृक्ष बढ़ता है, त्यों-त्यों कांटे भी साथ-साथ बढ़ते जाते हैं, उसी प्रकार मन के संकल्प-विकल्प करने से आपदायें बढ़ती ही जाती हैं।

हे मैत्रेयी! इस चित्तरूपी बर्फ के पुतले को विवेकरूपी ज्वाला से पिघलाते रहना। अभ्यास का त्याग नहीं करना। उसके पश्चात् परमसार की प्राप्ति हो जायगी। यह चित्त ही तो सम्पूर्ण जगतरूप आडम्बरों का कारण है। उसी को तुम अविद्या का रूप जानो और अविद्या कुछ नहीं। जैसे वृक्ष, विटप और तरु एक ही वस्तु के नाम हैं, उसी प्रकार अविद्या, जीव, बुद्धि, अहङ्कार, मन सब फुरने के नाम हैं। इसको विवेक से लीन करो। जैसा संकल्प दृढ़ होता है, वैसा ही देखता है। जैसे बर्फ के बर्तनों को जल में डालिये तो जल से उनकी एकता हो जाती है, उसी प्रकार अपने स्वरूप के बोध से सब पदार्थों की एकता हो जाती है। अनेकता का कोई भी चिह्न शेष नहीं रहता।

मैत्रेयी—हे मुनि! इस एकता के बोध से अधिकारी पुरुष को क्या फल होता है?

मुनि—हे मैत्रेयी! जिस अधिकारी पुरुष को अपने स्वरूप के बोध से सब पदार्थों की एकता का अनुभव होता है, उसका अज्ञानरूप अविद्या के निवृत्त हुए पश्चात् नानापने का भ्रम निवृत्त हो जाता है। वृत्ति की बहिर्मुखता नष्ट करके रागद्वेष से रहित शान्ति-सुख का आस्वादन करने लग जाता है तथा अधिकारी के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सम्पूर्ण अनात्माभिमानों की निवृत्ति हो जाती है। जैसे कोई पुरुष स्वप्न अवस्था से जाग्रत अवस्था को प्राप्त होकर स्वप्न-जगत को मिथ्या जानता है और स्वयं को एक का एक ही देखता है, उसी प्रकार यह अधिकारी नानापन को दिखलाने वाली अविद्यारूपी निद्रा से जब जाग्रत होता है, उस काल में इसके हृदय में एक अद्वितीय आत्मा प्रकट हो जाता है।

हे मैत्रेयी! तुम एक बात तो बताओ कि जो हमने तुमसे सम्पूर्ण शास्त्रीय सिद्धान्त कहे हैं, वह तुमने एकाग्रचित्त से सुने हैं या नहीं? जिस प्रकार मैंने आत्मज्ञान तुम्हारे कानों तक पहुँचाया है, उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे मन में भी भरा है या नहीं या बीच में कोई ऐसी बात रह गई है जो तुम्हारे ध्यान में न आई हो या उपेक्षा के कारण यों ही रह गई हो। मैंने जिस प्रकार इस ज्ञान का तुम्हें उपदेश दिया है, यदि उसी प्रकार यह आत्मज्ञान तुम्हारे अन्तःकरण में भर गया हो, तो फिर मैं जो कुछ तुमसे पूछता हूँ, उसका ठीक-ठीक उत्तर दो।

मैत्रेयी—हे प्रभो! अवश्य पूछिये।

मुनि—हे मैत्रेयी! मैं तुमसे इसलिए पूछता हूं ताकि आत्मसम्बन्धी अज्ञान के कारण तुम्हारे मन में "अहं-मम" का भ्रम उत्पन्न न हो जाय। तुम्हारा मोह तो अवश्य नष्ट हो गया होगा। तुम मुझको यह भी बताओ कि आत्मा-अनात्मा का भेद तुम्हें साफ-साफ दिखाई देता है या नहीं और

आत्मानन्द के अद्वैत रस में वृत्ति निमग्न होती है या नहीं? भूमा भाववृत्ति में प्रकट हुआ है कि नहीं? कहीं पुराने द्वैतभाव के संस्कार तो सामने नहीं आते? हे मैत्रेयी! देखो, स्वार्थ में मोह है। दृष्टि की रची हुई सृष्टि में मोह है। दृष्टि-सृष्टि का लोप होते ही सृष्टि का सौंदर्य नष्ट हो जाता है और उसके साथ-ही-साथ मोह-ममता भी भाग जाती है। स्वार्थ नष्ट होते ही मायिक प्रेम सदैव के लिए नष्ट हो जाता है और वह साधक फिर सच्चे मार्ग पर चल पड़ता है।

हे महामते। आत्मस्वरूप को निरन्तर चिन्तन करते हुए, अपने सम्पूर्ण प्रारब्ध को भोगते हुए, हमारे पीछे काल को उदासीनता के साथ बिताना चाहिये। जाग्रत होने पर जैसे स्वप्न नहीं रहता, उसी प्रकार शरीर आदि असत् होने के कारण बोध-उदय के पश्चात् प्रारब्ध नहीं रहा करता। जिस अवस्था में साधक ज्ञान द्वारा समस्त भूतों को आत्मरूप जानता है, उस काल में उसे कोई दूसरा न रहने के कारण मोह और शोक कहाँ है?

मैत्रेयी—हे मुनि! आप यह क्या पूछ रहे हैं कि मोह ने तेरा पीछा छोड़ा कि नहीं? हे प्रभो! वह तो अपने गोत्र के सभी भावों को लेकर अपना बँधना-बोरिया उठाकर मेरे मन से कभी का भाग गया। हे प्रभो! शरीर अभिमान तो ऐसा गला जैसे सूर्य के उदय होने पर बर्फ का पुतला गल जाता है। भला यह भी कभी सम्भव है कि सूर्य किसी के पास आ जाय और अन्धकार भी रहे? कदापि नहीं। इसी प्रकार आप सूर्य के समान प्रत्यक्ष दिखाई देते हुए मेरा मोह रूपी अन्धकार भी नहीं रह सकता। हे भगवन्! अब जिस दृष्टि से आपने मुझ से यह प्रश्न किया है कि तुम्हारा मोह किंवा अध्यास दूर हुआ या नहीं, उस दृष्टि को लेकर मैं कहती हूँ कि आपकी कृपा से मैं कृतकृत्य हो गई। मेरा अज्ञान भागकर न जाने कहाँ चला गया?

आपकी कृपादृष्टि से आपके स्वरूप का ज्ञान होने पर मैं मुक्त हो गई हूं। हे प्रभो! अब न तो प्रश्न करने के लिए ही कोई स्थान रह गया है और न उत्तर देने के लिए ही कोई साधन है। आपकी कृपा से मुझे जिस आत्मबोध की प्राप्ति हुई है भला वह बोध, मोह अर्थात् मूलाज्ञान का कहीं नामनिशान भी बाक़ी नहीं रहने देता है? अब जिस द्वैतभाव से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं करना चाहिये, वह आपको छोड़कर और किसी में मुझे दिखाई नहीं देता। इस विषय में अब मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। मैं तो अब उस अवस्था में पहुँच गई हूं कि जिसमें करना-कराना, लेना-देना आदि कर्म तथा मन के संकल्प-विकल्पों का बिल्कुल नाश हो गया है। आपकी कृपा से आज मैंने "मैं" अर्थात् आत्मा को प्राप्त कर लिया है। चित्त में आनन्द की स्फूर्ति होने लगी है और पुराना भूत रूपी अहंकार भागता जा रहा है।

मेरे लिए आपकी आज्ञा के सिवाय और कुछ भी करना शेष नहीं रह गया है क्योंकि जिसके दृष्टिगोचर होने पर यह दृश्य विषय नहीं रह जाता, जो स्वयं दूसरा होने पर भी द्वैत का नाश कर डालता है, जो एक होने पर भी सदा सब स्थानों में निवास करता है, जिसके साथ सम्बन्ध होते ही आगे-पीछे के सब बन्धन टूट जाते हैं, जिसकी आशा होते ही और सब अभिलाषाओं का अन्त हो जाता है, जिसके साथ भेंट होने पर स्वयं अपने ही साथ भेंट हो जाती है, वही मेरे आराध्य, पति, गुरु, देवता आदि जो कुछ भी हो, आप ही हो। आपके सम्बन्ध से ही मेरा अद्वैतबोध के प्रान्त में प्रवेश हो गया है।

स्वयं ब्रह्म स्वरूप होकर कृत, अकृत्यपने का बखेड़ा दूर होकर, एकनिष्ठ होकर शांतिपूर्वक मैं तो आपकी सेवा करना चाहती हूँ। आप अपने भक्तों को अपने आप में उसी प्रकार मिला लेते हैं जिस प्रकार समुद्र से भेंट करने वाली नदी आकर स्वयं समुद्र ही बन जाती है। आप मेरे निरुपाधिक सेवा योग्य सद्-गुरु हैं। इसलिए, हे प्रभो! मेरे और आपके मध्य में माया और अविद्या के कारण भेदभाव वाली जो बाधा थी, वह कट गई। आज आपने मुझे निजी आनन्द का अनुभव कराया है। मैं आपको नमस्कार करती हूँ।

जब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के ऐसे उदार वचन सुने, उस काल में बड़े ही आश्चर्य चकित हुए और मन में विचार करने लगे कि इसको कुछ और भी ज्ञान देना चाहिए। इसकी बुद्धि समझने में बड़ी ही कुशल है।

मुनि—हे मैत्रेयी! आज तुमको जो इतनी प्रसन्नता हुई है, उस से तुम्हारा प्रतिबन्ध नष्ट हो गया है। मैं तुम पर बहुत ही प्रसन्न हूं। अब मैं कभी भी ऐसी अवस्था नहीं आने दूँगा कि जिससे तुम्हें संसार के सामने गिड़गिड़ाना पड़े, दुर्दैव से तुमको संसारी मनुष्यों से दीनता उठानी पड़े किंवा मृत्यु से डरना पड़े। देहाभिमान अर्थात् अहंभाव के छोड़ते ही मुक्त असंग आत्मा के साथ मिलाप हो जाता है। अहं के गलते ही इच्छाओं का नाश हो जाता है। जैसे सूर्य के निकलते ही बर्फ का पुतला गल जाता है, इसी प्रकार मिथ्याभिमान के गलने पर अपने आपे का पता लग जाता है। देहाभिमान के गले बिना अपने आपे का दर्शन नहीं होता। अनुभवी लोग इसी बात को जानकर सुखी होंगे, दूसरे नहीं।

हे मैत्रेयी! ज्ञान से श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान के बिना मनुष्य का जीवन ऐसा है जैसी कि कुत्ते की पूँछ क्योंकि कुत्ते की पूँछ न तो अपनी गुदा को ही ढकती है और न मच्छरों को ही हटा सकती है। जो अपने शरीर को अच्छा मानता तथा जानता है, वह मनुष्य देहबुद्धि का कुत्ता है। इसीलिए तो बुद्धिमान शरीर को मिथ्या जानकर इसकी निन्दा करते हैं और मूर्ख शरीराभिमान करके संसार में घसीटे जाते हैं। फिर ऊपर से दैव के कोड़े भी पड़ते हैं। इसी कारण से तो उनको शांति नहीं मिलती। भूमा ही सुखरूप है और अल्प में दुःख है। तुम अल्पज्ञान को त्यागो और सुखी हो। महात्मा लोग देहबुद्धि को बुरा समझते हैं। यदि योगियों को अपनी अणिमा आदि सिद्धियों का अभिमान हो जाय तो उनको भी संसार में घिसटना पड़ेगा।

हे मैत्रेयी! इस अनित्य जीवन की इच्छा किंवा तृष्णा ने ही तो मोह की वासना उत्पन्न की है। मोह की वासना से तरह-तरह की इच्छायें प्रगट होती हैं। स्त्री, पुत्र, कलत्र, रुपया, कपड़ा, मान, दान, ख्याति आदि जितना भी वासना-जाल फैलता जाता है, उतना ही मनुष्य संसारियों का गुलाम होता जाता है। तू अनुभव करके देख ले। एक शरीर की रक्षा के निमित्त मनुष्य कितनों का गुलाम बन जाता है। बस, इच्छाओं का बढ़ना ही संसार का गुलाम होना है। कल्पनाओं के साथ ही आशाओं की तमाम आँधियाँ चलती रहती हैं और जहाँ अहंकार रहित कल्पनायें मिटीं, फिर तो शीघ्र ही शरदृऋतु के समान शांति आई तथा मोक्ष भी हाथ लग गया।

हे मैत्रेयी! साधन चतुष्टय के द्वारा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से प्रमाणगत, प्रमेयगत संशय तथा शरीर में अहंबुद्धि की जो उलटी भावनायें हैं, वे सब नष्ट हो जाती हैं। इस भावना से श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा निरोध हुए चित्त में तीन भूमिका अर्थात् सत्वापत्ति, असंसक्ती, पदार्थभावनी, निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है। मैंने तुमको अनेक प्रकार से आत्मज्ञान का उपदेश किया है। धर्म-

अधर्म की भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाला जो अज्ञान है, जो कि अविवेक पर्यन्त ही है, उस सबको तुम मेरे आत्मज्ञान के उपदेश की सहायता से हटाकर दूर फेंक दो। देखो, तादात्म्य अध्यास के कारण अनात्मा में आत्मबुद्धि ने स्वर्ग और नर्क प्राप्त करने वाले धर्म-अधर्म की सृष्टि कर डाली है और सृष्टि कुछ नहीं है। केवल संकल्पमात्र है। जैसे वेसमझ बच्चा चौराहे में भूत की कल्पना करके और सच्चा मान कर भयभीत होता है, वैसे ही अज्ञानजन्य उन तमाम ख्याली कल्पनाओं को तुम मेरे आत्मज्ञान से बिल्कुल दूर कर दो।

जैसे हम रस्सी को हाथ में ले लेने पर उस रस्सी में होने वाले सर्पाभास का परित्याग कर देते हैं अथवा जिस प्रकार जाग्रत होने पर हम स्वप्न के साथ-साथ उसके सम्पूर्ण व्यवहारों का भी अन्त कर देते हैं अथवा जिस प्रकार कमल रोग के नष्ट होते ही शङ्ख में पीलापन आप-से-आप दूर हो जाता है अथवा जिस प्रकार पित्तरोग के दूर होने पर हमारी जिह्वा का कटुपन दोष भी आप-से-आप नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जो मूलाज्ञान धर्म और अधर्म की गड़बड़ी को उत्पन्न करता है, उस मूल अज्ञान को आत्मज्ञान से दूर करने पर साथ-ही-साथ धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नर्क, गमनागमन के सब झगड़े भी आप-से-आप दूर हो जाते हैं। जब अज्ञान अर्थात् भ्रांति किंवा अविद्या नष्ट हो जाती है तब एकमात्र "मैं" अपना आपा ही शेष रह जाता है। फिर न तो दीनता-हीनता ही रहती है और न किसी के आगे हाथ ही पसारना पड़ता है। अर्थात् ऐसे मनुष्य का जीवन निष्कलङ्क तथा अनिर्वचनीय हो जाता है।

हे मैत्रेयी ! सच तो यह है कि "अहं-मम" तुच्छ अभिमान सदैव के लिए भाग जाता है। जिस प्रकार निद्रा के साथ-साथ स्वप्न का भी नाश होने पर केवल अपना ही भान बाकी रह जाता है, उसी प्रकार अविद्या के दूर हो जाने पर तेरे सिवाय और कुछ बाकी नहीं रहता। एक परमतत्व शेष रहता है। मेरी शरण में आकर फिर भी यदि उसमें अपने जीव होने का भाव बना रहे तो बड़े आश्चर्य की बात है। सूर्य के प्रकाश में रस्सी सर्प दीख पड़े, यह ऐसी ही बात है। कृतार्थ होने वाला प्राणी ही मेरे पास आता है, दूसरा नहीं। देखो, जैसे भौंरा कमल की गन्ध लेने के लिए जङ्गल में जाता है और एक जगह में रहने वाला मेंढक किसी के पास नहीं जाता। इसी प्रकार मूर्ख प्राणी मूर्खों की बात को सुन-सुनकर प्रसन्न होकर हाथ की ताली बजाते हैं और गुणी लोग गुणवान के साथ बैठकर शीतल चित्त होते हैं। अविद्या से जकड़ा प्राणी मेरे उपदेश का अधिकारी नहीं है। वह तो करनी-भरनी की रेखाओं में ही चक्कर लगाता है। वह चौरासी के चक्कर से नहीं निकल सकता।

मैत्रेयी—हे मुनि ! दुःखों का जन्म कहाँ से हुआ है ?

मुनि—हे मैत्रेयी ! तुम अच्छे प्रकार ध्यान पूर्वक मेरे निरूपणशब्द फिर भी एक बार सुन लो। कोई ऐसी बात नहीं है जो कहने योग्य न हो। मेरे उपदेश के सम्बन्ध में तुम भी समझ लो कि मेरा कोई अदृष्ट शुद्ध पुण्य उदय हुआ है। जितने भी सांसारिक दुःख हैं, उन सबका जन्म आशा के द्वारा हुआ करता है। हे मैत्रेयी ! सब दुःखों की जननी आशा किंवा तृष्णा है। इसका तुम त्याग करो। इसी में तुम्हारी भलाई है। जो शिष्य गुरु के उपदेश पर ध्यान नहीं देता अर्थात् उनके वचनों की उपेक्षा करता है, उसको देहाभिमान के भयङ्कर आघात होते हैं और इस देह-सम्बन्ध के प्रदेश में पग-पग पर आत्मघात का कष्ट उठाना पड़ता है। गुरु की परम कृपा से जिसका देहाभिमान अर्थात् जीवभाव रूपी कण अच्छी तरह से पिस जाता है, उसे इस संसार का हौवा पीड़ा नहीं दे सकता।

जो प्राणी विवेक और वैराग्य साधनों को तिरस्कार पूर्वक दूर हटाकर देहाभिमान, तृष्णा तथा आशा का पालन-पोषण करता है, वह तो ऐसा प्राणी है कि जैसे पथ्य न करने वाला रोगी ज्वर को और दीपक से ढंप करने वाला मनुष्य अन्धकार को प्रबल करता है। उसी प्रकार शरीराभिमानी स्वयं ही अपने महत्त्व की स्थापना करके मारे अभिमान के विलक्षण रूप से फूल उठते हैं। जिस प्रकार कोई वेश्या किसी यार के आश्रय में रहकर व्यर्थ ही अपने-आप को सौभाग्यवती समझकर सन्तोष करती तथा आनन्द मनाती है, उसी प्रकार यह मूर्ख अज्ञानी जीव स्त्री, पुत्र, विद्या, यज्ञ, व्रत, धन आदि के वैभव से अपने को कृतकृत्य मान बैठते हैं।

हे मैत्रेयी! अशान्त-पद पर पहुँचने वाले अज्ञानी को इन्द्रियाँ इस तरह खा जाती हैं, जिस तरह हिरन घास को खा जाता है। संसार के विषयों से सम्बन्ध रखना मानों दुःखों को बुलाना है।

मैत्रेयी—हे मुनि! जो सब गुणों से परे है, उसका क्या लक्षण है?

मुनि—हे मैत्रेयी! बोधवान, निर्गुण और शाश्वत तत्व मैं ही हूं। जहाँ द्रष्टा, दृष्टा नहीं रहता, ध्यानी, ध्यान की हुई वस्तु और ध्यान करने वाले मन से भी सम्बन्ध छोड़कर परमपद पर पहुँच जाता है। जब किसी प्रकार की कोई वासना मन में नहीं रहती तब मनुष्य निर्मल सत्ता में ठहर जाता है। जिस की दृष्टि में सुख-सुख नहीं रहता, दुःख-दुःख नहीं रहता, जो इस प्रकार की विवेक बुद्धि से उन्नत होता है, वह पुरुष स्वतन्त्र तत्व भूमा को बिलकुल पूरी तरह से जानता हुआ सब गणों से परे है क्योंकि उस पर ज्ञान की छाप पूरी तरह से पड़ी रहती है।

जिस प्रकार कोई नदी समुद्र में मिलकर उसके साथ एकरस हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष उस परमतत्व के साथ एकरस होकर सारूप्य प्राप्त करता है। जैसे पिंजरे से छुटकारा पाने वाला तोता स्वतन्त्रता पूर्वक वृक्ष की शाखा पर जा बैठता है, उसी प्रकार वह गुणातीत जीवाभिमान तथा माया से छुटकारा पाकर 'अहं ब्रह्मास्मि' के मूल तत्वरूप वृक्ष पर स्थित हो जाता है। जो अब तक अज्ञान की निद्रा में पड़ा हुआ जोर-जोर से खुर्राटे ले रहा था, वही अब आत्मस्वरूप का बोध प्राप्त करके जाग उठता है। जब भेद-बुद्धि उत्पन्न करने वाला मोह का दर्पण उसके हाथ से गिर पड़ता है, तब उसे प्रतिबिंब का आभास कभी हो ही नहीं सकता।

जब देहाभिमान रूपी वायु के झोंके बन्द हो जाते हैं तब जैसे शान्त होने पर लहरें और समुद्र एक हो जाते हैं, वैसे ही जीव और शिव दोनों मिलकर एक रूप हो जाते हैं। जिस प्रकार वर्षा ऋतु के अन्त में मेघ आकाश में लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्मतत्व में लीन होकर तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाने पर यदि वह शरीर के नाश होने तक प्रारब्धवश इसी शरीर में रहता है, तो भी शरीर से उत्पन्न होने वाले गुणों की बातों के हेर-फेर में वह कभी नहीं आता। जिस प्रकार समुद्र के जल से बड़वाग्नि कभी बुझ नहीं सकती, उसी प्रकार गुणों के संचार के कारण साधक का बोध कभी मलिन नहीं हो सकता। जिस प्रकार आकाश का चन्द्रमा जल में प्रतिबिम्बित होने पर भी जल से सदा निर्लेप रहता है, उसी प्रकार चाहे वह शरीर में रहता हुआ भले ही दीख पड़े, परन्तु फिर भी उसमें शरीर के धर्म नहीं लगते।

तीन गुण अपनी-अपनी सामर्थ्य से शरीर के स्वाँग प्रस्तुत करके उसे अनेक प्रकार के नाच

नचाते रहते हैं। परन्तु फिर भी बोधवान पुरुष उनकी तरफ देखने के लिए कभी भूलकर भी अपने "अहं-ब्रह्मास्मि" वाले भाव क्षणमात्र के लिए भी अपने से अलग नहीं करते क्योंकि उनके अन्तःकरण में आत्म-स्वरूप का निश्चय इतना अधिक दृढ़ होता है कि उन्हें कभी इस बात का भान ही नहीं होता कि हम इस शरीर में रहकर कुछ करते भी हैं या नहीं।

जब सर्प एक बार अपनी केंचुली छोड़कर अपने गहरे बिल में चला जाता है, तब फिर भला वह उस केंचुली का ध्यान कब करता है? ठीक वही बात तत्ववेत्ता के विषय में भी लागू होती है। वह इस शरीर में अपनी वृत्ति को नहीं जोड़ता कि यह शरीर क्या वस्तु है और इसके धर्म क्या हैं? इसीलिए तो शरीर के जन्म, जरा, मरण आदि जो षट्-विकार किंवा गुण हैं, वे शरीर में ही रहते हैं, मन के विकार मन में रहते हैं। ज्ञानी के साथ उनका सम्पर्क नहीं होता। जब शरीर का अभिमान लुप्त हो जाय और अपने आत्मस्वरूप का स्मरण भी हो जाय, तब उस आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह सकता। इस अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मबोध से युक्त होकर वह शरीर में निवास करता है, इसी से मैं उसे गुणातीत कहता हूँ।

याज्ञवल्क्य मुनि के इस प्रकार वचन सुनकर मैत्रेयी बड़ी प्रसन्न हुई और फिर सन्तोष प्राप्त करके पूछने के लिए तत्पर हुई।

मैत्रेयी—हे मुनि! जब आत्मबोध हो जाता है, तब उसमें कौन से लक्षण दिखाई देने लग पड़ते हैं? वह अपनी वृत्ति को किस प्रकार निर्गुण रखता है? आप यह सब बातें मुझे बतलावें।

मुनि—हे मैत्रेयी! हमको बड़ा आश्चर्य है कि जो तुम ऐसे गहरे प्रश्न करती हो। तुम जो गुणातीत के आचार के सम्बन्ध में पूछती हो,—सो वह तो गुणों के क्षेत्र में कभी जाता ही नहीं। यदि किसी को भ्रम से गुणों के क्षेत्र में आचरण करता हुआ दिखाई भी पड़े, तो भी वह कभी गुणों के चक्कर में नहीं पड़ता। हाँ, यदि तुम्हारे मन में यह शङ्का हो कि गुणों के सब व्यापारों के चलते रहने और उन सब गुणों के मध्य में रह कर सब प्रकार के कार्य करने पर भी वह किस प्रकार गुणों के हाथों में नहीं पड़ता, तो तुम इसके सम्बन्ध में अवश्य ही पूछ सकती हो।

देखो, जब शरीर में रजोगुण का रङ्ग चढ़ता है तो शरीर में कर्म के अंकुर उत्पन्न होते हैं और प्राणी प्रवृत्तियों से घिर जाता है। उस अवस्था में उस व्यक्ति को इस प्रकार का अभिमान छू भी नहीं जाता कि मैं ही काम करने वाला हूं, जैसे कि कमल का पत्ता जल में रह कर भी जल के स्पर्श से रहित ही रहता है। जिस समय सत्वगुण की वृद्धि होती है और तमाम इन्द्रियों पर ज्ञान के तेज का प्रसार होता है, उस समय विद्या के अभिमान अथवा सन्तोष, क्षमा, दया आदि गुणों से वह फूल नहीं जाता अथवा तमोगुण की वृद्धि होने पर भी मोह, क्रोध आदि गुणों के फेर में नहीं पड़ता और मन में अज्ञान का खेद नहीं मानता। मोह के पड़ने पर ज्ञान के लिए उत्कंठित नहीं होता, ज्ञान का प्रसंग पड़ने पर कर्मों का परित्याग नहीं करता और अपने हाथों से कर्म हो जाने पर भी स्वयं दुखी नहीं होता। वह ठीक उसी प्रकार कोई भेद-भाव नहीं करता है जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल में कोई भेद-भाव नहीं करता।

जिस प्रकार शरीर में रहने वाले प्राण अथवा दूसरे के घर में अतिथि के रूप में जाकर रहने वाला ब्राह्मण गृहस्थियों के घर की बातों से बिलकुल उदास रहकर अपना निर्वाह करके चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञानवान भी अपने शरीर में बिलकुल उदासीन भाव से रहता है। चाहे कोई उसे ईश्वर कह

कर उसकी पूजा करे और चाहे कोई उसे चोर आदि कहकर उसकी निन्दा करे। चाहे घुड़साल में रखे, चाहे जेल में रखे और चाहे यज्ञशाला में रक्खे।

एक उसमें और भी आचार का लक्षण दिखाई देता है कि वह तमाम कर्मों को हटाकर दूर फेंक देता है और प्रवृत्ति का मूल ही नष्ट कर डालता है। किसी प्रकार की ऐहिक अथवा पारलौकिक कामनायें उसके मन में कभी उत्पन्न ही नहीं होती। इसीलिए तो उसे सहज में अथवा स्वाभाविक रूप से जो कुछ खाने-पीने को मिल जाता है, उसे वह उदासीनतापूर्वक अंगीकार कर लेता है। मिलने पर प्रसन्न नहीं होता है और न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता। वह तो सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों को छोड़ देता है। वह न किसी से डरता है और न किसी को डराता है। न किसी से कुछ लेता-देता है। जिस प्रकार मद्य पीने वाला उसके नशे में लीन रहता है, इसी तरह यह ब्रह्मज्ञानी गुणों से पार होकर ज्ञान के नशे में ब्रह्मरूप होकर मस्त रहता है। दैवयोग से जिसके सामने जा खड़ा होता है, उसको कभी भी चिंता का अवसर नहीं देता। हे मैत्रेयी! बात यह है कि उसकी दृष्टि संसारी पदार्थों से उलट कर शुद्ध "मैं" पर जम जाती है। सत्य और असत्य के मध्य में जो शुद्ध पद है, वह केवल उसी पर ध्यान रखता है। "मैं अमुक हूँ"—ऐसी दृष्टि उसकी नहीं हुआ करती।

मैत्रेयी—हे प्रभो! मैं और भी पूछना चाहती हूं। क्या कृपा करके मुझको उत्तर देंगे?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! तुम्हारे मन में जो प्रश्न उचित जान पड़े, वह तुम हम से बिना संकोच प्रसन्नतापूर्वक पूछ सकती हो। संकोच तो द्वैतभाव में होता है। प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता दो नहीं हुआ करते, एक ही होते हैं। हाँ, जहाँ छल-कपट से युक्त होकर प्रश्न और उत्तर, हार तथा जीत के लिए किए जाते हैं, वहीं द्वैतभाव उत्पन्न होकर कलह का कारण होता है। तुम अपनी शंकाओं को अच्छी प्रकार से निःशंक होकर निवृत्त करलो और उत्तर पाकर चित्त का समाधान करके शान्तात्मा हो जाओ।

मैत्रेयी—हे प्रभो! ज्ञाननिष्ठा कहाँ समझनी चाहिये?

मुनि—हे मैत्रेयी! जहाँ आयु होती है, वहीं पर मनुष्य का जीवन भी अवश्य होता है। जहाँ चन्द्रमा होता है, वहीं प्रकाश तथा शीतलता भी अवश्य होती है। जहां भोले शंकर होते हैं, वहीं पारवती भी अवश्य होती हैं। जहां अग्नि होती है, वहाँ दाहकता भी होती है। जहाँ तप, दान, दया का भाव होता है, वहाँ धर्म तथा आचार आकर अवश्य निवास करते हैं और जहाँ धर्म-आचार होगा वहाँ देवताओं का निवास तथा सुख-शान्ति अवश्य निवास करेंगी। जहां देवता, ब्राह्मण, सन्त, महात्मा निवास करते हैं, वहाँ विवेक-वैराग्य भी अवश्य होता है। जहाँ विवेक, वैराग्य, धर्म आदि दैवी सम्पत्ति होती है, वहाँ गुरु भगवान का निवास भी होता है। जहाँ गुरु भगवान निवास करते हैं, वहाँ ज्ञान भी अवश्य होता है। जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ निरभिमानता, नम्रता, सरलता आदि गुण भी अवश्य विराजते हैं। जहाँ देहाभिमान नहीं होता वहाँ, आत्मदर्शन भी होता है। जहाँ आत्मदर्शन होता है, वहाँ चित्त का समाधान भी होता है। जहाँ चित्त का समाधान होता है, वहाँ ज्ञाननिष्ठा भी अवश्य होती है। जहाँ स्थितप्रज्ञता होती है, वहाँ बे रोक-टोक, शान्ति का समुद्र लहरें मारने लगता है।

श्वास-श्वास में प्रसन्नता की लहरें जब उठने लगें तब समझ लो कि जीवन्मुक्ति किंवा ज्ञाननिष्ठा का आनन्द मिलने लगा। हे मैत्रेयी! कोई और शङ्का है? यदि है तो निवारण कर लो।

मैत्रेयी—हे प्रभो! एक शंका और भी है। हम अपने को किस प्रकार जानें कि हमको बोध हो गया है और जो बोधमान अखण्ड समाधि का सुख भोगता है, वह किस प्रकार स्वरूपस्थिति में रहता हुआ संसार में वर्तता है?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी! आत्मसुख के मार्ग में रुकावट करने वाली प्रबल विषय-वासना है जो मन में सदा निवास करती है। वह ज्ञाननिष्ठा नहीं होने देती। उन वासनाओं को नाश करने के लिए विद्वत्त संन्यास करना चाहिए। विद्वत्त संन्यास के साधन से वृत्ति में निर्विकल्पता स्वभाव से आ ही जाती है और उस निर्विकल्पता में ही शरीर की क्रिया या तो स्वयं कर लेता है या दूसरे करा देते हैं। जिसका मन आत्मसुख में सदा मग्न रहता है वही जिज्ञासु बोधमान समझा जाता है। अनेक प्रकार के दुःख आने पर भी जिसके मन में क्षोभ नहीं होता और जो इन्द्रियों के सुख के लोभ में नहीं पड़ता उसमें काम, क्रोध आदि तो स्वभाव से ही नहीं रह जाते। जिसका अन्तःकरण आत्मानन्द से सदा परिपूर्ण रहता है, जो विषयों का लालची नहीं, जो इन्द्रियों का बल बिल्कुल तोड़-फोड़ डालता है, वही मनुष्य योगनिष्ठा या बुद्धिस्थैर्य में समर्थ होता है।

हे मैत्रेयी! जो साधक दुष्ट अभिलाषियों के संसर्ग से विषय रूपी कीचड़ में फँसता है तो समझ लो कि उसकी वह अभिलाषायें अच्छे प्रकार से नष्ट नहीं हुई हैं। वह "अहंब्रह्मास्मि" के मूल तत्व पर नहीं पहुँचा। उसमें मनन तथा निदिध्यासन की कमी है। वह अभ्यास से शून्य है। किसी बहिरङ्ग प्रवृत्ति के कारण श्रवण साधन से आगे नहीं बढ़ा। महावाक्य के कथनमात्र से कामनाओं का जाल थोड़े ही कटता है। क्या औषधि के नाम लेने मात्र से ही रोग नष्ट हो जाता है? कदापि नहीं।

विषय-सुख जिस पुरुष के मन को भ्रम में नहीं डाल सकते, वही मनुष्य निरन्तर आत्मबोध से सुसज्जित होकर रहता है। जो ऊपर से तो विषयों को नहीं भोगता, इन्द्रियों के दरवाजे बन्द करके बैठा है, परन्तु मन में विषयों का थोड़ा-सा भी ध्यान करता है अर्थात् विषयों का थोड़ा भी लालची है, तो समझ लो कि सम्पूर्ण संसार उसके अन्दर छिपा है। वह थोड़े ही काल में विवेक-वैराग्य का सत्यानाश कर डालेगा। कान, आँख आदि इन्द्रियों को रोक भी लिया, फिर भी यदि रसनेन्द्रियों को वश में न किया जायेगा तो उस साधक को यह एक जिह्वा-इन्द्रिय ही संसार में हजारों तरह से अपने जाल में फँसा डालेगी। संसारी गृहस्थी मनुष्य को पाँचों इन्द्रियाँ परेशान करती-कराती रहती हैं। परन्तु साधु साधक को यह एक ही रसनेन्द्रिय चैन नहीं लेने देती।

जिस प्रकार जल की सहायता पाकर वृक्ष और भी शाखा पर शाखा निकालता रहता है, उसी प्रकार इस रसनेन्द्रिय का भोग बने रहने से मन में विषयों की पुष्टि होती है। दूसरी इन्द्रियों के विषय तो छोड़े भी जा सकते हैं, परन्तु जिह्वा इन्द्रिय का वश में करना बहुत ही कठिन है क्योंकि शरीराभिमानी मनुष्य शरीर पर अधिक दृष्टि रखता है। वह जानता है कि यदि मैं कुछ नहीं खाऊँगा-पीऊँगा तो शरीर दुबला हो जायेगा। ऐसी-ऐसी अनेक शंकायें करता-कराता रहता है और जिह्वा इन्द्रिय को पुष्ट करता रहता है। परन्तु जिस मनुष्य को स्वानुभव से परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, वह जिह्वा इन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर लेता है।

हे मैत्रेयी! जब साधक को इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि मैं पंचकोष नहीं हूँ, तब देहधर्म का लोप हो जाता है और विषयों की स्मृति जाती रहती है अर्थात् भूल पड़ती जाती है।

प्रारब्ध की भी कल्पना उठती जाती है क्योंकि जिस प्रकार स्वप्न का शरीर अध्यस्त है, उसी प्रकार यह शरीर भी अध्यस्त है। अध्यस्त का भला जन्म होता है ? कदापि नहीं। जब जन्म का अभाव है तो बताओ प्रारब्ध कहाँ है ? जन्म-जन्मान्तरों का अभाव होने से वह किसी अवस्था में नहीं है। जब चित्त इच्छा नहीं करता, शोक नहीं करता, किसी वस्तु का त्याग नहीं करता, ग्रहण नहीं करता, किसी वस्तु की प्राप्ति से प्रसन्न नहीं होता और कारण होने पर भी कोप नहीं करता तो बस समझ लो कि बोध हो गया है। हे मैत्रेयी ! निर्विकार तथा ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा जो पूर्णरूप से वृत्तिहीनता हो जाती है, वही तो ज्ञान-समाधि है। ऐसे ज्ञान-समाधि वाले तीनों लोकों में धन्य और वन्दनीय हैं।

मैत्रेयी—हे प्रभो ! जैसे आप अलिङ्ग विद्वत्त संन्यास लेकर वन-गमन कर रहे हैं, क्या मैं भी आपके साथ चल सकती हूँ ? आपके साथ रहकर आपके चरण-कमलों की सेवा कर दिया करूँगी। आपका शरीर तो वृद्ध है, मैं ग्रामों से भिक्षा माँगकर आपको खिला-पिला दिया करूँगी। मैं भी अलिङ्ग संन्यास लेकर अज्ञात रूप से विचरूँगी। यदि आज्ञा दें तो आपके साथ चलूँ। और तो मुझसे आपकी क्या सेवा हो सकती है ? आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी। मुझसे आपको कोई विक्षेप भी नहीं होगा। कहिये क्या आज्ञा है ?

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! हमारे विचार से तो तुम घर में रहकर ही जीवन्मुक्ति का आनन्द लो। वन में रहने-सहने से तथा जगह-जगह घूमने से कष्ट ही होता है। दूसरी बात यह है कि स्त्री जाति का शरीर भी कोमल होता है। शरीर का थोड़ा भी कष्ट स्वभाव से ही विशेष रूप से जान पड़ता है। संन्यास आश्रम की तो बात ही क्या है, वानप्रस्थ आश्रम में भी स्त्री को साथ रखना ठीक नहीं। जो ऐसा करे तो मोह-ममता ही इसमें कारण है। सेवा तो तुमने घर में रहकर ही हमारी भले प्रकार से की है। हम तुमसे बहुत ही प्रसन्न हैं।

मैत्रेयी—हे प्रभो ! जैसी आपकी आज्ञा है, हमको तो वही शिरोधार्य है। मैं बहिन कात्यायनी के घर में रहकर जीवन को किस प्रकार समाप्त करूँ ? कृपा करके साधारण जीवन पर कुछ विशेष रूप से उपदेश कर दीजिये जिससे निर्भय होकर, अभयदान देती हुई, इस शरीर रूपी घट को तोड़-फोड़ दूँ और विदेहमुक्त हो जाऊँ।

याज्ञवल्क्य—हे मैत्रेयी ! तुम सच बतलाओ कि किस प्रकार जीवन-निर्वाह करना चाहती हो। यदि तुम्हारी कोई क्रिया अशुद्ध देखेंगे तो हम संशोधन कर देंगे।

मैत्रेयी—हे प्रभो। मेरी यह इच्छा है कि आपके चले जाने पर मैं प्रथम अपने केशों को अपने हाथ से काटकर, फिर घर के किसी कोने में कुशा बिछा कर, ऊपर से पुराने कपड़ों की एक कथरी बनाकर जरूरत पड़ने पर इस मुर्दे शरीर पर डाल दिया करूँगी। बहिन कात्यायनी की पुरानी-धुरानी धोतियों को जोड़-तोड़ कर पहन लिया करूँगी। शरीर में तेल-साबुन आदि तथा बालों का कोई भी शृङ्गार नहीं करूँगी और न शीशे में अपना मुख देखूँगी। न खट्टे-मीठे रसयुक्त पदार्थ ही सेवन करूँगी और न राजा जनक के किसी मन्त्री आदि का दर्शन करूँगी। बस, मैं तो संन्यासियों के जो पाँच धर्म हैं उनको ही बरतूँगी। अन्धत्व, बधिरत्व, अजिह्वत्व, नपुन्सकत्व, पंगुत्व,—इन पाँच बातों का निरन्तर अभ्यास करूँगी। हे मुनि ! मैं दूसरे मनुष्यों से तो बात-चीत भी नहीं करूँगी। यदि कोई सद्गृहस्थी आई तो मैं गृहस्थ के झगड़े न

सुनकर उनसे पति-सेवा, अतिथि-सत्कार तथा भक्तिभाव की ही बातें करूँगी किंवा बहिन कात्यायनी के कार्य में कुछ भाग ले लिया करूँगी या मौन रहूंगी।

मैत्रेयी ने जब इस प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि से अपना कार्य कहा तब याज्ञवल्क्य मुनि ने मैत्रेयी की तरफ को देखा और तब उसका अन्तःकरण रात्रि के मुंदे हुए कमल की नाईं प्रफुल्लित हो गया। एकदम आंखें बन्द हो गईं और शिला की नाईं निश्चेष्ट हो गई। याज्ञवल्क्य मुनि बड़े आश्चर्यान्वित हुए और कहने लगे कि बड़ा आश्चर्य है कि पद्म की ताँत के साथ पहाड़ बाँधा गया है। देखो, अविद्यमान अविद्या ने सम्पूर्ण जगत् को वश में किया है और अविद्यमान जगत् को वज्रसारवत दृढ़ कर दिया है। हे मैत्रेयी! क्यों, क्या बात है ? तुम्हारी आँखें बन्द क्यों हो गई हैं ? क्या अन्दर तथा बाहर में कुछ भेद है ?

मैत्रेयी—हे प्रभो! भेद कुछ नहीं है। सर्वत्र मैं ही विद्यमान हूं। हे मुनि! प्रथम मैंने आपकी कृपा से कायिक क्रियाओं का त्याग किया, फिर वाणी के जपरूप कर्म का भी त्याग करके, मन के संकल्प-विकल्प कर्म का लोप करके, इस प्रकार मैं सम्पूर्ण व्यवहारों का त्याग करके केवल चैतन्य स्वरूप आत्मा का आश्रय करके स्थित हो गई थी। मेरा मन तीनों प्रकार के विक्षेपों से रहित और एकाग्र है अर्थात नाशवान स्वर्गादिक फल देने वाले जप, तप, व्रत आदि में प्रीति न होने से मुझ में जप, व्रत, रूप विक्षेप कि हाय, आज मैंने जप न किया, हाय, आज व्रत छूट गया, तीर्थ-यात्रा नहीं की इत्यादि नहीं है।

आत्मा अदृश्य होने से ध्यान का विषय नहीं है, इस कारण चिंता रूप मन का विक्षेप भी मेरे में नहीं है। इससे मैं आत्मस्वरूप करके स्थित हूँ। यदि कहो कि समाधि के लिए तो व्यवहार करना ही होगा, सो हे प्रभो! जहाँ कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अध्यास विशेष होता है, वहीं मिथ्यारूप अध्यास की निवृत्ति के लिए समाधि के निमित्त व्यवहार करना पड़ता है। यदि ऐसा अध्यास न होता तो समाधि के निमित्त व्यवहार नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के नियम को देखकर शुद्ध आत्मबोध का आश्रय लेने वाली मैं अध्यास न होने के कारण समाधिशून्य आत्मस्वरूप में स्थित हूं। मैं धन्य हूं, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ। अहो, मेरी उपमा संसार में नहीं है।

मुनि—हे मैत्रेयी! बस अब रहने दो। बहुत कुछ शंकायें हो लीं। चित्त को समाधान करके एक बात और सुन लो। तुमने जो अत्यन्त भक्तिपूर्वक मेरी सेवा की है और मैं ने तुमको अपने हृदय का गुप्त धन दिया है, उसको तुम तपहीन को नहीं देना। पतिसेवा से रहित किसी स्त्री-जाति को भी नहीं देना। गुरुसेवा से रहित भक्तिहीन को भी नहीं देना। आचार-विचार से रहित उच्छृङ्खल वृत्ति वाले को भी नहीं देना। इस मेरे आत्मरूपी धन को सबके सामने बैठकर नहीं कहना चाहिए। यह ज्ञान उसी प्रकार बचाना चाहिए जिस प्रकार अन्त्यजों से वेद बचाये जाते हैं। हे मैत्रेयी! अब हम वन-गमन करते हैं। तुम भी ब्रह्मानन्द का रसपान करना और प्रारब्ध पर शरीर छोड़ देना किंवा शरीर का अत्यन्त लोप करके निर्विकल्प समाधि में स्थित रहना मैं तो अब वन-गमन करता हूं।

॥ इति याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी-सम्वाद नामक चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

पन्द्रहवाँ अध्याय

[राजा जनक और उसकी रानी का संवाद]

शिष्य—हे गुरु जी ! क्या ज्ञान होने पर घर-घर भीख मांगनी जरूरी है ?

गुरु—हे शिष्य ! इस पर एक प्राचीन काल की गाथा है, वह सुनो। जिस समय राजा जनक को याज्ञवल्क्य मुनि ज्ञान देकर वन को चले गए थे, उस दिन से राजा जनक की स्थिति बिल्कुल बदल गई थी। वह पहिले जैसा जनक अब नहीं रहा था। पूर्व का जनक संसारी, व्यवहारी अर्थात् लौकिक था, अब वह जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ हो गया था। उसकी चित्तवृत्ति बिल्कुल शान्त हो गई थी। उसके मन की अहंता ममतादि भावनायें सदा के लिए निवृत्त हो गई थीं। अस्ति-भाति, नाम-रूपात्मक भावनाओं से वह मुक्त हो गया था और काम, क्रोधादिक तो उसके दास बन गये थे। सम्पूर्ण संसार उसको गंधर्वनगर के समान भासने लगा और जनकपुरी भी उसे बरसात के जल से भीगे हुए चित्र के समान जान पड़ती थी।

राज के काम-काज आदि व्यवहारों को तो वह साक्षीरूप होकर चलाता था। वह किसी में भी लिप्त नहीं था। यदृच्छा लाभ अर्थात् दैवेच्छा से प्राप्त हुई वस्तुओं से संतोष करने वाला था। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित उसको छल-कपट, मत्सरता आदि विकार तो छूते भी नहीं थे। वह कार्य-अकार्य की सिद्धि-असिद्धि को समान मानने वाला हो गया था और अनेक कर्म करने पर भी बन्धन को प्राप्त नहीं होता था अर्थात् सर्व प्रकार के विक्षेपों से पार हो गया था। हे वत्स ! राजा जनक की ऐसी दृढ़ स्थिति हो गई थी अर्थात् उसकी स्थिति बदल चुकी थी। उसकी इस नवीन अवस्था को देखकर रानी तथा मन्त्री चकित हो गए थे। जनकपुरी में भी कौतूहल मच गया था। राजा को संसार से ऐसा तीव्र वैराग्य हो गया था।

एक दिन जनक अपने हाथ में उस्तरा लेकर, अपने शिर के बालों को काट कर, शरीर में विभूति लगा कर तथा गेरुआ रंगे कपड़े पहिन कर रानी के राजमहल में नारायण हरि बोलता हुआ जाकर खड़ा हो गया। दासी ने राजा की यह दशा देखकर, जल्दी महल में जाकर रानी से कह दिया। रानी राजा का यह आचरण देखकर खिन्न हो गई। वह राजा के पास आकर बोली—'हे महाराज ! यह आपने क्या किया ? यह तो परमात्मा के वचनों का अनादर तथा गुरु की आज्ञा भंग कर दी। यह ठीक नहीं किया। जरा अपनी तरफ को देखिये कि आप क्षत्रिय हैं। प्रजा-पालन आदि कर्म करने के लिये ही जन्मे हैं, संन्यासियों की भाँति घर-घर में भिक्षा मांगने के लिए नहीं जन्मे। फिर यह उल्टा आचरण कैसा ?

याज्ञवल्क्य मुनि से आपको जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, इससे आपकी आत्मा को एक नई चैतन्य-शक्ति मिली है, उसके द्वारा आप सत्-असत् का अच्छे प्रकार से निर्णय कर चुके हैं। आप आश्रम के धर्म-कर्मों को भी भली प्रकार जानते हैं। परन्तु यह ज्ञान कर्म-धर्म का त्याग करने के लिये नहीं मिला, निष्काम कर्म करते रहने पर जो आपको आत्मनिष्ठा प्राप्त हुई है, उसके द्वारा परमपद पाने का अधिकारी

बनने के लिये मिला है। शिर के बाल काट कर, अङ्ग में विभूति मलकर, भगवा वस्त्र पहिन कर भीख मांगने से अथवा वनचर की भाँति वन में भटकने से क्या परमतत्व को प्राप्त कर सकते हैं ? कदापि नहीं।

हे राजन् ! जिसको शुद्ध आत्मनिष्ठा प्राप्त हुई है, वह कर्म तथा अकर्म का त्याग नहीं करता और न वेशटेक की टेढ़ी गली में प्रवेश करके गोलमाल के चक्कर में ही पड़ता है। भला अन्धों की तरह भूलता-भटकना तथा ठोकरें खाना भी कोई बुद्धिमानी की बात है ? कदापि नहीं। हे मेरे सुहागरत्न प्रभो ! आपको तो नित्य, नैमित्तिक और आश्रम के कर्म-धर्म करने ही चाहियें क्योंकि कर्म का त्याग करने की अपेक्षा कर्म करते रहने पर भी उनमें लिप्त न होना ही श्रेष्ठ है। हे प्रभो ! कर्म न करने से तो आपके शरीर का निर्वाह भी न हो सकेगा और उल्टे भ्रष्ट हो जाओगे। हे नाथ ! मैं आपसे पूछती हूँ कि आपने किस कारण एकदम राजपाट छोड़कर योगी का वेष धारण किया है ? क्या मुट्ठी-मुट्ठी अन्न किंवा एक-एक रोटी घर-घर के द्वार पर मांगकर निर्वाह करने के लिये यह कपड़े रंगे हैं ? कदापि नहीं।

हे महाराज ! आप इसके लिये जन्मे ही नहीं हैं। आपका यह कार्य तो क्षत्रिय-धर्म और प्राप्त ज्ञान से विपरीत ही है। यह त्याग करके घर-घर भिक्षा मांगकर खप्पर में पड़े हुए अन्न से आपने संतोष करना विचारा होगा। परन्तु मैं आपकी दासी नम्रभाव से पूछती हूं कि याज्ञवल्क्य मुनि से उत्तम ज्ञान प्राप्त करके उसका यह उपयोग करना आपको शोभा नहीं देता। राजा का धर्म तो प्रजा का पालन-पोषण करने-कराने में है। क्या घर-घर हाथ फैलाने में ही जीवन्मुक्ति है ? धन्य है आपके आत्मज्ञान को। हे महाराज ! राजाओं को तो अतिथि, देवता, ऋषि तथा पितृ इन सबका यजन करना चाहिये। भला थोड़ा-सा भीख का अन्न लाकर इन सबको कैसे तृप्त कर सकते हो ?

आप तो तीनों विद्याओं के ज्ञाता हैं। सहस्रों ब्राह्मणों का पोषण करने वाले हैं। हे भगवा वस्त्रधारी महाराज ! इस राज्यलक्ष्मी को त्याग कर श्वानवृत्ति से पेट भरने तथा अधम पुरुषों के मुख की तरफ ताकने में जीवन्मुक्ति का क्या आनन्द मनाओगे ? कदापि नहीं। हे प्रभो ! अधम पुरुषों का अन्न किंवा दुर्जन पुरुषों की सम्पत्ति तो दुर्जनों के ही भोग में आती है। आप जैसे सात्विकवृत्ति वालों के भोग में नहीं। नीम की निबोली का उपभोग तो कौवे ही करते हैं। हे प्रभो ! आप दूसरों के अन्न से पेट भरने के लिये नहीं जन्मे, किन्तु दूसरे प्राणियों के पोषण के लिये बनाये गये हैं। हा दुर्दैव ! सचमुच आज मेरी पूज्य सासू जी वन्ध्या हो गई और पितरों को तो रोना ही है।

हे राजन् ! आप राजा हो। हजारों मनुष्य आपके सम्मुख दोनों हाथ पसारे खड़े रहेंगे, परन्तु जब उनको मांगने पर कुछ भी नहीं मिलेगा तब वह निराश होकर लौट जायेंगे। क्या वे आपको आशीर्वाद देंगे और आपका कल्याण होगा ? कदापि नहीं। हे प्रभो ! मैं आपकी अर्धाङ्गिनी सच कहती हूं। यह तो कहो कि आशा-भंग का पाप आप कहाँ जाकर दूर करोगे ? जो मनुष्य गृहस्थ आश्रम का त्याग करते हैं उनको यह लोक भी नहीं तथा परलोक भी नहीं। गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके, क्षत्री राजा होकर जो अपने धर्म का त्याग करता है, वह दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाता है। आप जैसे प्रतापशाली बोधवान भी अपनी धर्मपत्नी का त्याग करके घर-घर भीख मांगकर जीने की इच्छा करते हैं। इस घोर पाप का फल अपार है। हे महाराज ! ऐसा काम करो जो अपनी शक्ति के अनुसार हो और जिससे मन पर बोझा न पड़े।

हे प्रभो ! क्या दूसरों के सुधारने के लिये आपने यह वेश धारण किया है ? हे महाराज ! उपदेष्टा बनने में दूसरों का भार खींचना पड़ेगा, यह मैं आपकी दासी सच कहती हूं। आप संसार के सुधारने की इच्छा न करें नहीं तो दुःखों का भार शिर पर उठाना पड़ेगा। साधुता धारण करने तथा त्यागी का वेश बनाने पर भी आपके इस खप्पर, दण्ड एवं भगवा वस्त्र को जब कोई चुरा ले जायगा किंवा इस भगवा वेश की निन्दा करेगा तो क्या आपको दुःख न होगा ? जरूर होगा। इस प्रकार एक-दो रोटी के लिए भी रोज-रोज दश-ग्यारह बजे ही आपको झोली लेकर मागना पड़ेगा।

महाराज ! चाहे साधु हो किंवा संन्यासी, चाहे जोगी, यती, जंगम या वैरागी कोई भी हो, परन्तु पेट रूपी गड्ढे को तो भरना ही पड़ेगा। किसी को अधिक, किसी को न्यून, कीड़ी को कण और हाथी को मन, परन्तु पेट भरे बिना किसी का काम नहीं चलता। हे महाराज ! पेट भरने के लिये पतितों के सामने हाथ फैलाकर खड़े रहने पर कष्ट ही होगा। हे प्रभो ! चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति को नाश करने वाले बादलों में जैसे अधिक कालापन होता है, उसी प्रकार यद्यपि दुर्जन या पतित, अनाचारी, व्यभिचारी स्वधर्मभ्रष्ट मनुष्य बड़ी जातियों की देखा-देखी धर्म करते-कराते जरूर हैं तथापि वे सब कुछ दूसरों का धर्मनाश करने के लिये ही करते हैं।

जब कौवे जल में स्नान करते दीख पड़ें तो समझ लो कि अब दुष्काल समीप आ गया है। जब काग मैथुन करते दीख पड़ें तो समझ लो कि मृत्यु समीप खड़ी हुई है। हे महाराज ! दैवयोग से दुर्जन मनुष्य दान देंगे तथापि निश्चय करके जानो कि उनकी सम्पत्ति का दान अनर्थ का ही हेतु है अर्थात् वह दान संताप, मोह, काम एवं क्रोधादि भूकम्प का कारण हुए बिना नहीं रहेगा, ऐसा ज्योतिष के ज्ञाता कहते हैं। ऐसे दुष्ट-दुर्जनों के हाथ से भी मुट्ठी-भर आटे अथवा एक रोटी की आशा करनी किंवा उनके हाथ का खान-पान करना,—क्या यही त्याग-वैराग्य तथा सत् की प्राप्ति के योग्य साधन गिना जायगा ? कदापि नहीं।

हे महाराज ! आपने तो मुनि याज्ञवल्क्य की नकल की है और नकल करने वाले की अकल मारी जाती है। आपने तो कलि को अभी से निमन्त्रण देना प्रारम्भ कर दिया। आपका यह कार्य ठीक नहीं है। हे प्रभो ! कलिकाल आने पर हर एक जाति के मनुष्य कपड़े रंग कर दर-दर भीख मांगना स्वधर्म समझेंगे। हे प्रभो ! जो मनुष्य वर्णाश्रम के धर्मों को तोड़-फोड़ कर हेर-फेर करना चाहते हैं या करते-कराते हैं, उनको मौत का पाट लेना पड़ेगा अर्थात् जन्म-मरण के टैक्स पर टैक्स लागू हो जायेंगे। महाराज ! मैंने सुना है कि परधर्म को धारण करने पर भय होता है। आपने जो ब्राह्मणों के धर्म को अपनाया है, वह भय का कारण है, अभयता का नहीं और राष्ट्र में बड़ी गड़बड़ी फैलने का हेतु भी है।

हे प्रभो ! राज-पाट छोड़कर तथा परिवार त्याग कर, मूँड मुड़ाकर वन में जाने पर भी किसी-न-किसी रूप में यह डाकिनी इच्छा सताती ही रहेगी। हे प्रभो ! कंचन को छोड़ने पर भी किसी को मान की, किसी को प्रतिष्ठा की, किसी को कोठी-बंगले आदि की इच्छा सताती ही रहती है। मन से खोज कर इस डाकिनी इच्छा का त्याग करो और आत्मारामी बनो। कपड़े रंगकर घर-घर पतितों से भीख मांगने पर तो कलंक के भागी ही बनोगे।

हे भगवन् ! मुनि याज्ञवल्क्य के शिष्य होकर आपका मन तो चेतन स्वरूप होना चाहिए न कि अचेतन। अचेतन मन तो पेट-पालुओं का, उलटा-मन सूद की कमाई खाने वालों का एवं मुर्दा-मन

नास्तिकों का होता है। उनको ही उलटी-पुलटी बातें सूझा करती हैं। यदि देखा जाय तो घर-घर से भीख माँगना न तो क्षत्रियों का धर्म है,—न अन्य किसी जाति का। केवल ब्राह्मण-जाति का धर्म गिना जाता है। हे प्रभो! हठ से त्याग करने पर भी सब गृहस्थियों का ही आसरा लेते हैं। गृहस्थियों के बिना इनका काम ही नहीं चलता। हे राजा! यदि त्याग करो तो द्वैतभाव का किंवा रजोगुण तथा तमोगुण का त्याग करो या आसुरी सम्पत्ति पर विजय प्राप्त करके शुद्ध सतोगुणी बनो।

अभेद में लीन हो तो फिर हममें, आपमें तथा इस प्रजा में भला क्या भेद है? कुछ नहीं। जब मैं और आप एक ही हैं तो कौन किसका त्याग करता है तथा किसका त्याग करेगा? हे प्रभो! जिस ज्ञान के अभिमान से सत् का भान भूलकर आपने यह चेष्टा की है, उस सत् ज्ञानस्वरूप में तथा चिदाभास में हम सबके सब बराबर ही हैं। जब सबके चिदाभास में भेद का लेशमात्र भी नहीं तो फिर आप राजपाट को त्याग कर भिक्षाजीवी क्योंकर बन गये? यह बात आपको शोभा नहीं देती। इस प्रकार का त्याग राजधर्म के विरुद्ध है। आप जो एक विशाल राज्य को त्यागकर खप्पर में पड़े हुये अन्न से सन्तुष्ट होते हैं, भला इतने अन्न से अतिथि-सत्कार, देव, ऋषि और पितृों को कैसे तृप्त करोगे? नहीं कर सकोगे। तो यह सब परिश्रम निष्फल ही है।

हे महाराज! आपने जो वेद-विहित कर्मों का त्याग कर दिया है, इसी कारण से देवता, अतिथियों तथा पितरों ने भी आप को त्याग दिया है। इसी से आप के मन में संन्यास ग्रहण करने की इच्छा उदय हुई है। इससे पहले तो आप वेद-विद्या के जानने वाले सहस्रों ब्राह्मणों और सम्पूर्ण परिवारी-जनों का पालन-पोषण किया करते थे। वही आप अब उनसे अपने भरण-पोषण की आशा रखते हैं। बड़े दुःख की बात है। मैं कुछ नहीं कह सकती। आप स्वयं समझ लो। ऐसी राज-सुन्दरी लक्ष्मी को छोड़कर पेट भरने के लिए आप को श्वान की तरह दूसरों का मुख ताकना पड़ेगा, यह विचार कर आपकी दासी को बड़ा ही दुःख है। हे प्रभो! आपके इस त्याग से मुझको संदेह है कि इस पाप कर्म का प्रायश्चित्त करने के लिए न इस लोक में और न परलोक में ही स्थान है क्योंकि आप अपने क्षात्र धर्म को त्यागकर घर-घर रोटी माँगकर जीना चाहते हैं। ऐसा निर्जीव जीवन तो पेट-पालुओं का ही हुआ करता है, विचारशील बोधमानों का नहीं।

हे प्रभो! मुझको बड़ा शोक होता है। आपको अनेक प्रकार के आभूषणों तथा अनेक प्रकार के वस्त्रों को त्यागकर और कर्मानुष्ठान से रहित होकर संन्यास ग्रहण करने की इच्छा क्यों उत्पन्न हुई? यह मेरी समझ में ही नहीं आता। जैसे प्यासा प्राणी प्याऊ के पास आता है, उसी प्रकार भूखे-प्यासे सब प्राणी आपके पास दान लेने की इच्छा से आते थे। भला अब पूर्व के संस्कारवश वह दूसरों की उपासना क्योंकर कर सकते हैं?

हे प्रभो! आपकी यह दासी आपसे एक बात पूछती है। आपने जो यह वेश धारण किया है, क्या आपने अपने गुरु याज्ञवल्क्य मुनि से या मुझ से आज्ञा ली है? यदि नहीं ली तो यह कार्य आपका चलेगा नहीं। आप दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जायेंगे, बोधवान् लोग आपको मनमुखिया जानकर सम्बन्ध-विच्छेद करेंगे तथा निरादर एवं तिरस्कार भी करेंगे और जाति-पक्ष के लोग आपकी निन्दा भी करेंगे। क्या आपको दुःख न होगा? अवश्य होगा। परन्तु हे महाराज! जो लोग गृहस्थ आश्रम के

त्यागी होते हैं वे यथार्थ रीति से गृहस्थ आश्रम के सहारे से ही जीते हैं। गृहस्थ आश्रमी अपने बड़े भाग्य से उनका पोषण करता है।

महाराज! सच्चा त्यागी तो वही माना जाता है कि जो अपने आश्रम-धर्म में रहकर, प्रतिग्रह से रहित होकर, जल में कमल-पत्र की तरह निर्लेप रहकर व्यवहार में विचरण करता है और अनेकों को ज्ञान-धर्म का दान देकर प्रेम, सत्कार, आदर द्वारा उनको पञ्चक्लेशों से रहित करता है तथा समानता से सत् को समझ-समझाकर अनेकों का प्राणदाता बनता है और संसार की कोई भी वासना जिसको बाधा नहीं कर सकती। हे महाराज! वही पुरुष इस लोक तथा परलोक में परमात्मा के सान्निध्य अर्थात् मुक्ति-दशा का अधिकारी होता है। परन्तु जो भगवा वस्त्र धारण करके अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए आचार्य किंवा गुरु, सद्गुरु बनकर, साधु-नाम की आड़ में अनेक पुरुषों को संसार से तारने का अपने को अधिकारी प्राप्त हुआ मानते हैं, वे पाश से बँधे हुए पशु ही हैं। वे अपना और दूसरों का लोक एवं परलोक बिगाड़ने वाले ही हैं कारण कि मठ एवं शिष्य बनाने, पुस्तक लिखकर नाम कमाने और पेट भरने की चिंता तथा धन की लालसा से वह मुक्त नहीं हैं।

हे महाराज! इस भगवा कपड़े यथा दण्ड-कमण्डल का त्याग करके राजदण्ड ग्रहण कीजिये। अग्नि की आराधना में अनेक विद्वानों और गुणवानों को बुलाकर उनकी कामनाओं को पूरी करो ताकि देवता और पितरों को सन्तोष हो। ऐसा सत् के ज्ञान वाला परमार्थ ग्रहण करो, जिससे कि परम पुरुषार्थ सिद्ध हो और अपना कल्याण हो तथा दूसरों का भी जीवन शुद्ध बने। हे महाराज! भेद दृष्टि को त्यागकर, अभेदभाव को ग्रहण करके, विश्व-कुटुम्बी बनकर जगत् का व्यवहार करो। खप्पर लेकर घर-घर से भीख माँगना आपको शोभा नहीं देता। हे महाराज! अनाचारी स्वधर्म भ्रष्टों का अन्न खाने से न तो मन ही शुद्ध होगा और न आपको शान्ति ही मिलेगी।

हे प्रभो! आपका क्षत्रिय-धर्म प्रजा की रक्षा करना, यज्ञ करना, दान देना तथा ब्राह्मण, साधु एवं अभ्यागतों की तन, मन एवं धन से सेवा करना है। जब आपका याज्ञवल्क्य मुनि के द्वारा परम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया है, भेदग्रन्थी छिन्न-भिन्न हो गई है, नानात्व देखने का भाव नष्ट हो गया है, सूक्ष्म तथा कारण अहंकार का भी त्याग हो गया है, आपको कोई संशय-विपर्य भी नहीं,—तब फिर इस स्थूल का त्याग करने में आपको क्या मिलेगा? आपकी भावना तो याज्ञवल्क्य मुनि की कृपादृष्टि से ऐसी हो गई है कि जो करना था सो कर लिया और जो पाना था सो पा लिया, न कुछ करने को शेष है और न पाने को बाकी है।

हे महाराज! जैसा प्रारब्ध हो वैसा करो। आपका प्रारब्ध घर-घर भीख माँगने का नहीं बना, भोग और मोक्ष दोनों का बना है। इसलिए जब तक जीना, तब तक सीना। अतः आप धर्म के कार्यों में अनुरक्त रहकर निरन्तर प्रजापालन करते-कराते हुए अपने प्रारब्ध का भुगतान करो। परमात्मा का सेवन, भजन, पूजन तथा दर्शन आदि सब भगवा कपड़े धारण करने से ही होते हों, ऐसी बात नहीं है। आपके समान कितने क्षत्रिय राजा राजकाज करते हुए इसी शरीर से जीवन्मुक्ति की दशा के आनन्द को भोगते हैं। आप अपने गुरुदेव मुनि याज्ञवल्क्य की तरफ तो ध्यान दो। उन्होंने भी अभी तक गृहस्थ आश्रम को स्वीकार किया हुआ है। इस त्याग रूपी गड्ढे से निकलकर क्षत्रियोचित धर्म में बर्तो तथा द्वैत का

सर्वथा छेदन करके अद्वैत में प्रवेश करो। हे महाराज! भगवा वस्त्र धारण किये बिना ही अन्तःकरण में रहते हुए चिदानन्द में लीन हो।

हे प्रभो! मैंने सुना है कि जो संकल्पों का त्याग करता है वही विशुद्ध संन्यासी है और वही परमपद को प्राप्त होता है। हे महाराज! कपड़े रंगने तथा शिर को मुड़ाने में क्या कुछ परिश्रम करना पड़ता है? कुछ नहीं। परिश्रम तो वासनाओं का त्याग करने में है। इसलिए वासनाओं का त्याग करो, न कि राजपाट का। इसने आपका क्या बिगाड़ा है तथा हमने आपकी क्या हानि की है? जो तुम्हारा है, उसका त्याग करो। इस महापापी अहंकार का मूलोच्छेदन करो। बाहर के त्याग से अन्दर का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

हे राजन्! यह पंच महाभूतों की रची हुई राजधानी तथा हम सबके सब आपके नहीं हैं। न अब हैं, न भूतकाल में थे और न भविष्यकाल में होगी। यह सब अनात्म वस्तुयें हैं। इन का आप से कोई सम्बन्ध नहीं है। हे प्रभो! मैं जानती हूँ कि त्याग और वैराग्य ईश्वर-प्राप्ति का गूढ़ साधन है, परन्तु इसको गुप्त रखने में ही साधक का कल्याण है। जो साधक अपने त्याग-वैराग्य को समाज में प्रगट करके अपनी प्रशंसा करवाते हैं, उनका वह त्याग-वैराग्य उनसे कोसों दूर रहता है। बोधवान की दृष्टि में फूल और हेतु से आत्मा की प्रथकता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इसलिए उनके मन में अनात्म पदार्थों में—"मैं यह हूँ, यह मेरा है तथा मैंने त्याग किया है"—ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता। फिर पता नहीं आपने ऐसा विपरीत कर्म क्यों किया?

हे प्रभो! आपका मन तो स्वस्थ होना चाहिए, न कि अस्वस्थ, क्योंकि आप कोई प्रजा का कमाया हुआ धान्य नहीं खाते। संसार को खूब देखो, इसे परमात्मा का खेलमात्र जानकर खूब हँसो तथा नमस्कार भी करो। परन्तु किसी को अच्छा, किसी को बुरा-भला कहने की बुद्धिमानी बघारोगे तो बस आप अपने को इसमें फंसा ही समझो। हे प्रभो! आपको मुनि याज्ञवल्क्य का उपदेश याद रखना चाहिए। यदि कहो कि हे रानी! हमको याद है, तो मैं आपकी दास पूछती हूँ कि फिर यह कपड़े रङ्गकर हाथ में तूँबा क्यों ले लिया? जब तक इच्छा का जन्म है, भोगों में रुचि है तथा जीवन से प्यार है तब तक कपड़े रङ्ग कर घर-घर भीख मांगना महा पाप है। यह मैं जानती हूँ कि त्याग बिना सुख तथा शान्ति नहीं मिलती, परन्तु शिर को मुड़ाकर भीख मांगने से त्याग नहीं माना जाता। जिसकी इस संसार और परलोक के भोगों की इच्छा निवृत्त हुई है, वही त्यागी माना जाता है। हां, यह मैं मानती हूं कि जैसे भी हो सके उसी प्रकार मन को स्वस्थ और शान्त रखने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यही बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता है और इसी में जीवन का साफल्य है।

हे प्रभो! अपने वर्णाश्रम के धर्मों को न भूलकर प्रेम और आनन्द से निर्दोष जीवन गुजारने का अभ्यास करो। मुझको इस बात में बड़ा संदेह है कि मैं आपसे क्या कहूं? आपने जो तमाम कर्मों को त्यागकर उदासीन हो गये हो, यह ठीक नहीं क्योंकि आपको बारह बजने पर क्या पेट भरने की जरूरत न होगी? मैं तो समझती हूं कि जरूर होगी। जब ऐसा है, तब संग्रह और त्याग में भेद ही क्या रहा? कोई थोड़ा, कोई बहुत किन्तु संग्रह तो करना ही पड़ता है। इसलिए मुझको तो राज्य के प्रति आपके उदासीन होने का कोई युक्तियुक्त कारण नहीं दीख पड़ता। सिवाय देखा देखी के और यह कुछ नहीं है। आपकी यह दासी कुछ उपदेश करने के भाव से शिक्षा नहीं करती क्योंकि स्त्री जाति

को उपदेश करने का अधिकार ही नहीं है। मैं तो आपको इस विपरीत कार्य से रोकती हूं। हे प्रभो! आपको पेट भरने के लिए बारह बजे ग्राम में जाने की चिंता जरूर होगी, अतः तुम्हारी त्याग की प्रतिज्ञा भंग होगी। मुझको तो किसी से भी प्रयोजन नहीं। मिथ्यावादी हुये न?

हे राजन्! यदि कोई मनुष्य निर्धन और अकिंचन होकर संन्यासियों के काषाय वस्त्रादि को देखकर अपनी सम्पत्ति का त्याग कर दे तो क्या वह त्यागी माना जाता है? कदापि नहीं। जो मनुष्य दान लेता है और जो मनुष्य दान देता है, उन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? दान लेना वाला किंवा दान देने वाला? दान लेने वाला कभी भी उत्तम नहीं माना जाता, किन्तु नीच श्रेणी का माना जाता है। यह स्मरण रहे कि दम्भी, कपटी, पाखण्ड करने वाले को जो दान दिया जाता है, वह दावानल में होम करने की तरह व्यर्थ होता है अर्थात् उसका फल कुछ नहीं होता। हे महाराज! जो मनुष्य गृहस्थ आश्रम को छोड़कर त्यागी बन गए हैं, उनका निर्वाह भी तो गृहस्थों से ही होता है और उनका उत्पन्न होना भी तो गृहस्थों से ही है तथा उनका मान, सम्मान एवं सत्कार आदि करना भी गृहस्थ लोग ही जानते हैं, दूसरे आश्रम वाले नहीं। हे राजन्! संसार का त्यागी अथवा गरीबों का पालन-पोषण करने वालों से भिक्षा की याचना करने वाला भिक्षुक नहीं कहलाता, किन्तु जो सुख और अर्थ का सच्चे मन से त्याग करता है, यथार्थ में तो वही भिक्षुक एवं त्यागी है। हे प्रभो! सांसारिक भोगों में आसक्त न रहने पर भी आसक्त-सा जान पड़ने वाला इन्द्रिय-निग्रह ही संग रहित बंधनों से मुक्त शत्रु और मित्र को एक दृष्टि से जो देखने वाला पुरुष है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है।

हे प्रभो! आप को तो यही शोभा देता है कि जो लोग नग्न रहते हैं, जटा धारण किये हुये हैं किंवा ब्रह्मचारी आटे की भिक्षा माँगने वाले हैं, उनको गेरुआ वस्त्र किंवा मृगचर्म देकर उनकी कामना को पूरी करो क्योंकि आप क्षत्री राजा तथा गृहस्थी हैं। हे प्रभो! अग्न्याधान हाथ में लेकर, यज्ञानुष्ठान करके ब्राह्मणों को बड़ी-बड़ी दक्षिणायें दो और उनको सब प्रकार से संतुष्ट करो। ऐसा धर्मानुरागी कौन होगा कि जो यज्ञ में अपने गुरु, ब्राह्मणों को दक्षिणा न देगा? जरूर देगा। दक्षिणा के बिना यज्ञ करना-कराना सब निष्फल तथा दम्भ है।

हे राजन्! सद्गृहस्थ ब्राह्मणों को दान न देने वाला और शरणागत प्रजाजन की रक्षा न करने वाला राजा पाप का भागी होता है। वह सुखी कभी नहीं हो सकता। हे प्रभो! जब आप ही अपने वर्णाश्रमोचित धर्म को न वर्तेंगे तो भला प्रजा कैसे वर्तेगी? जो सद्गृहस्थ देव, अतिथि और पितरों का यथाविधि पूजन करते-कराते रहते हैं, वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भागी बनते हैं, दूसरे नहीं। अतः हे राजन्! हम गृहस्थी लोग, देव, अतिथि एवं प्राणीमात्र की सेवा करके मनोभिलषित लोकों को जायेंगे। राजा का जन्म धर्माचरण के लिए ही होता है, घर-घर भीख माँगने के लिए नहीं होता। हे राजन्! जो कोई बाहर अथवा अन्दर के किसी ऐसे विषय का त्याग मन से करता है जो कि अन्त में दुःखकारक है, वही वास्तव में त्यागी है।

जो राजा चोरों, रिश्वतखोरों तथा शत्रुओं से पीड़ित प्रजा की प्रमादवश रक्षा नहीं करता, वह कलि का रूप कहलाता है। यदि हम लोग प्रमादवश घोड़े और गौ आदि का ब्राह्मणों को दान न देंगे, ब्राह्मणों से मत्सरतायुक्त व्यवहार करेंगे और प्रजा को पाप से न रोकेंगे तो हमारी गिनती भी कलिरूप राजाओं में ही होगी। कलियुगी राजा मरकर पिशाच-योनि को प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! जो राजा प्रमाद-

वश प्रजा की देखभाल से जी चुराता है, वह अधर्मी होता है और मरने पर रौरव-नर्क को प्राप्त होता है। हे पृथ्वीपते! राजा तो वही माना जाता है जो कि अपने सहारे रहने वाले की अच्छी प्रकार रक्षा करता है।

अत्यन्त धर्मात्मा धनाढ्य राजा धर्ममूर्ति कहलाता है, किन्तु जो अपने को राजा मानकर तथा राष्ट्रपति जानकर भी अधर्म को नहीं रोकता, उसको देवता त्याग देते हैं। फल यह होता है कि वर्षा का अभाव होकर प्रजाजन भूखे मरने लगते हैं। परस्पर विरोध तथा अनेक प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होने लग पड़ती हैं। सतोगुणी वस्तुओं का अकाल और तमोगुणी वस्तुओं का प्रचार होने लगता है। यह सब केवल देवताओं का तिरस्कार करने से ही होता है।

हे महाराज! जिस देश में अधर्म की रोक-थाम नहीं रहती, उस देश की प्रजा यह नहीं कह सकती कि यह वस्तु हमारी है। यहाँ तक कि राज्य की प्रजा में किसी बात की भी मर्यादा नहीं रहती। सब लोग मर्यादा-भ्रष्ट हो जाते हैं। पुत्र पिता की आज्ञा नहीं मानता, स्त्री पतिव्रत को भंग करके स्वतन्त्र रहना चाहती है। हे राजन्! जब लोगों में पाप की वृद्धि होती है, उस काल में छोटी जातियाँ मनमुखी हो जाती हैं। फिर तो देवपूजन बन्द हो जाता है। न कोई पितरों का श्राद्ध करता-कराता है और न दशवीं-तेरहवीं। आदि मृतक-कर्म सब-के-सब बन्द होने लग पड़ते हैं।

हे प्रभो! यदि राजा अधर्म की बाढ़ को नहीं रोकेगा तो प्रजाजन अतिथियों का आतिथ्य करना छोड़ देते हैं। कोई ब्रह्मचर्य पालन नहीं करता और ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन बन्द करके केवल प्रजा की तरफ मुँह ताकने लगते हैं। केवल दान पर ही निर्भर रहते हैं। हे प्रभो! यदि राजा अनीति बरतेगा तो प्रजा में शान्ति न रहकर अशान्ति का विस्तार होने लग पड़ता है। प्रजा तीनों तापों से पीड़ित रह कर अभक्ष पदार्थों का सेवन करके केवल औषधियों के सहारे प्राण की रक्षा करती हुई डाक्टरों के सहारे रहने लग पड़ती है। हे महाराज! जिस राजा के द्वारा धर्म की रक्षा का प्रचार होता है, वह राजा राजर्षि कहलाता है और जो राजा धर्म-कर्म हीन होता है उसको ब्राह्मण लोग वृषल कहते हैं। "वृष" का अर्थ है "धर्म" और "अल" का अर्थ है "नाश करने वाला" अर्थात् धर्मनाशी राजा वृषल कहलाता है। हे प्रभो! इस कारण राजा को धर्म की रक्षा तथा धर्म का प्रचार करते-कराते रहना परम आवश्यक है क्योंकि धर्म की वृद्धि पर ही सम्पूर्ण प्राणियों की वृद्धि निर्भर है। धर्म के नाश से सबका नाश हो जाता है, ऐसा बुद्धिमान् लोग कहते हैं।

हे महाराज! क्या लौकिक धर्म, क्या आश्रम धर्म और क्या संन्यास धर्म,—सब धर्मों का समावेश
राजधर्म में ही है क्योंकि तमाम धर्म-कर्मों का अनुष्ठान क्षात्र धर्म के आधीन है। यदि क्षात्र धर्म अव्यय-
स्थित हो जाय तो दूसरे अनेक धर्मों का नाश हो जाता है। मानवधर्म अदृश्य फल वाला और बहुत
साधन साध्य है। हे प्रभो! खोटे मार्ग का अनुसरण करने से सनातन धर्म का नाश होकर राष्ट्र में वर्ण
शंकरता की नींव जम जाती है। फल यह होता है कि वेद में कहे हुए धर्मों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त
न करके पाखण्डी लोग मनमाना निर्णय करने वाले दुर्जातियों की बातों में आ जाते हैं।

धर्मशून्यों को धर्मग्रंथों में परस्पर विरोध के सिवाय और कुछ दीखता ही नहीं। वे नए-नए
धर्मों की कल्पना के ग्रंथों की रचना करने-कराने लग पड़ते हैं, अतः उनकी बुद्धि मारी जाती है। हे महा-
राज! सूक्ष्म-दर्शियों का कहना है कि जो क्षत्रिय होकर संन्यासी होता है, वह धर्म-भ्रष्ट हो जाता है। हे

प्रभो ! क्या आपको मालूम है कि मनुष्य संन्यासी कब होता है ? जब उस पर कोई विपत्ति पड़ती है अथवा कोई शत्रु उसका अपमान करता है। अपने आप कोई संन्यासी नहीं होता। आपके साथ तो कोई भी घटना नहीं हुई, फिर आप क्यों संन्यासी हो गये ?

हे प्रभो ! जो बुद्धिमान हैं वे तो कभी, किसी क्षत्रिय का संन्यासी होना अच्छा नहीं बतलायेंगे। यदि आप कहो कि हे रानी ! हिंसामय होने से क्षात्र धर्म गर्हित है, परन्तु यह कथन आपका भ्रममात्र है क्योंकि हिंसा प्रधान क्षत्रिय जाति की सृष्टि करने वाला ब्रह्मा ही तो है। दूसरे अधर्मी राजा का तिरस्कार करके उसका राज्य छीनना क्षत्रिय का परम धर्म है। इस धर्म-पालन में हिंसा अवश्य होती है। यदि कोई बेसमझ क्षत्रिय धर्म की निन्दा करने लगे तो वह निन्दा हमारी नहीं, बल्कि विधाता की है। जहाँ-जहाँ पर शास्त्रों में संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दी है, वह अधिकतर केवल ब्राह्मण वर्ण के लिये ही है, दूसरी जाति वालों के लिये नहीं।

हे राजन् ! यदि आप कहो कि संन्यास-ग्रहण से मोक्ष मिलता है तो यह कहना भी भ्रममूलक ही है। यदि इस प्रकार मोक्ष मिलती हो तो फिर पहाड़ों और वनों के वृक्षों को भी परम गति मिलनी चाहिये क्योंकि वह तो सर्व परिग्रह त्यागी और निर्जन-प्रदेश में रहकर सर्दी-गर्मी आदि सहन करते हैं। उनको तो सबसे प्रथम सिद्धि मिलनी चाहिये। वह तो सदा संन्यासी हैं। इसलिये, हे राजन् ! सिद्धि की प्राप्ति-अप्राप्ति अपने-अपने भाग्य या पुरुषार्थ पर ही निर्भर है। अन्य के भाग्य पर वह निर्भर नहीं है। अतः क्षत्रिय राजा को अवश्य ही वर्णोचित कर्मानुष्ठान करना चाहिये। जो वर्णोचित कर्मों को नहीं करता उसे सिद्धि कदापि नहीं मिला करती।

हे प्रभो ! यदि आप यह कहो कि हमसे तो राज-काज का इतना भार अब नहीं उठाया जाता, हम तो अब उतना ही उद्योग करना चाहते हैं कि जिससे हमारे शरीर की यात्रा पूरी हो सके तो आपका यह कहना भी ठीक नहीं। यदि इस प्रकार से मोक्ष मिलती हो तो तमाम स्थावरों की मोक्ष होनी चाहिये क्योंकि वह तो केवल अपनी शरीरयात्रा मात्र के लिये ही परिश्रम किया करते हैं, अधिक नहीं।

आप जरा विचार की दृष्टि से देखें तो जान पड़ेगा कि तमाम संसार अपने-अपने उद्योगों में संलग्न है। कोई भी तो उद्योगहीन नहीं है। हे राजन् ! यद्यपि मैं अधम स्त्री जाति हूँ, तो भी मेरा यह कहना बनावटी नहीं है। जो मुझको सत् जान पड़ा, वही मैंने आपसे कह दिया। हे प्रभो ! जो राष्ट्रपति निजधर्म को त्याग कर संन्यासधर्म को ग्रहण करता है, वह बड़े दोष का भागी होता है।

हे महाराज ! जो लोग गृहस्थाश्रम में सुखानुभव ग्रहण नहीं करते और एकदम त्यागी बनकर जंगल में चले जाते हैं, वे तामस त्यागी हैं। ऐसा त्यागी दैव का पिटा, भाग्य का मारा हुआ होता है। यदि कोई ढोंगी पाखण्डी वन में जा बैठे और वहाँ उसको किसी वस्तु की कामना उत्पन्न हो जाय तो यम-राज उसके गले में फन्दा डालकर खूब पिटाई करते हैं तथा नाना अस्त्र-शस्त्रों से पीड़ित करते हैं।

हे प्रभो ! यह मैं जानती हूं और किसी हद तक ठीक भी है कि त्याग बिना सुख और शांति नहीं मिलती। परन्तु यह ध्यान रहे कि घर-बार छोड़कर घर-घर भीख माँगना त्याग नहीं माना जाता। हे महाराज ! शास्त्रों में गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा की गई है क्योंकि गृहस्थाश्रम में ही धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि होती है। जो पुरुष शास्त्रोक्त विधि से, फल की इच्छा छोड़कर कर्म करता हुआ गृहस्थाश्रम

में रहता है, शास्त्रों में वही त्यागी माना जाता है। उसको कभी किसी प्रकार का अटकाव नहीं होता। वह तमाम बन्धनों से मुक्त हो जाता है। हे मेरे नाथ! जो गृहस्थी सायं-प्रातः अन्न के विभाग का यथा-विधि अतिथि, देव, पितरों तथा अपने आश्रितों को भोजन कराता है और बचे हुए अन्न को स्वयं खाता है, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष मिलती है, दूसरों को नहीं।

हे प्रभो! चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करना बड़ा कठिन काम है क्योंकि इस आश्रम के कर्तव्यों का पालन अन्धा, लूला, लंगड़ा आदमी नहीं कर सकता। अतः आप इस आश्रम की कठिन-विधियों का सेवन करें। आप तो वेदज्ञ हैं, अवेदज्ञ नहीं। पूर्वजन्म में आपने कठोर तपश्चर्या की है। अतः उसके द्वारा प्रारब्धानुसार प्राप्त-राज्य का आप उपभोग करें। भावी किसी के टाले नहीं टल सकती—अर्थात् कोई भी प्रारब्ध का उल्लङ्घन नहीं कर सकता। अतः अपने पिता-पितामह के परम्परागत प्राप्त राज्य के भार को उठाओ। हे प्रभो! राजा मनुष्यों का प्रभु होता है। राजा का अपमान देवता भी नहीं करते, मनुष्यों की तो बात ही क्या है? मैंने सुना है कि आत्मा को ज्ञानवान् बनाना ही महात्याग है। मन की चञ्चलता को दूर करके उसे स्थिर करके, शुद्ध अन्तःकरण वालों के साथ देवता भी मैत्री करने को लालायित रहते हैं।

हे राजन्! आपको ज्ञात होगा कि देवता भी यज्ञादि कर्म किया करते हैं। आस्तिक पुरुषों के पितृगण जो वृष्टि द्वारा अन्न को देते हैं, वह भी गृहस्थ में रहकर शास्त्रोक्त कर्म किया करते हैं। जो वेदोक्त कर्मों का त्याग करते हैं, पण्डितजन उनको परम नास्तिक कहा करते हैं। हे महाराज! वेद को प्रमाण रूप से मानने वालों ने तमाम आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को ही श्रेष्ठ बतलाया है क्योंकि विविध वेदोक्त कर्मों को करके गृहस्थ देवयान-मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं। जिसके ऊपर तमाम संसार का भार हो और वही मुनि बनकर, कपड़ों को भगवा करके घर-घर भीख माँगे, यह बात मैंने कभी नहीं सुनी। यदि आप की इच्छा त्याग में ही है तो आप गृहस्थाश्रम को न त्यागकर राजसूय-यज्ञ, अश्वमेध-यज्ञ आदि करके यज्ञों में द्रव्य का त्याग करो।

हमारे पूज्य-पूर्वज जिस मार्ग पर आज तक चलते रहे हैं, उसी मार्ग पर आपको चलना चाहिये क्योंकि अपने-अपने वर्णोचित कर्तव्यों का पालन करने वाला पुरुष कभी शोकान्वित नहीं होता। हे राजन! बाहर के पदार्थों का त्याग करने वाले और मन में द्रव्य की इच्छा रखने वाले को जो सुख मिलता है, वह सुख हमारे शत्रुओं को ही प्राप्त हो। जिस राजा को अपने प्रारब्धवश शुभ कर्मों के फल द्वारा यह चराचरात्मक भू-मण्डल मिला हो और वह उस पर राज्य न करे तो फिर उस राजा के जीवन की सार्थकता ही क्या शेष रह जाती है? हे प्रभो! दो अक्षरों वाले 'मम' अथवा 'मेरा' यह अहंकार रखना ही तो मृत्यु है। जो तीन अक्षरों का 'न मम' अर्थात् मेरा नहीं है—ऐसा मानता तथा जानता है, उसी को ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त होता है।

हे प्रभो! 'बन्ध' और 'मोक्ष' ये दोनों भाव आत्मा के अन्दर रहा करते हैं। यद्यपि ये दोनों दीख नहीं पड़ते तथापि प्राणीमात्र से कर्म कराया करते हैं। मैं आपकी अर्धाङ्गिनी तथा सेविका हूँ। आप ही मेरे गुरु हैं। यदि मैंने आपके सामने कुछ उद्दण्डपन प्रदर्शित किया हो तो आप उसके लिए मुझे क्षमा करें क्योंकि मैंने तो अपने आन्तरिक दुःख की प्रेरणा से यह सब कहा है। मैंने आपके सामने सत्य

अथवा असत्य जो कुछ भी कहा है, वह केवल इसलिए कि मेरी आप में अत्यन्त भक्ति है, न कि यह मानकर कि मैं आपसे बढ़कर बुद्धिमान हूँ। आप मुझे क्षमा करें।

हे शिष्य! पटरानी के ऐसे सद्‌बोधक वचन को सुनकर राजा, जनक ने अपने स्वरूप को पहिचानकर, रानी को आशीर्वाद देकर भगवा कपड़े एक ओर फेंक दिये और राज-भवन में जाकर उत्तम रीति से राज-काज करने लगा। राजा जनक आत्मा-अनात्मा का भेद समझकर, परमात्मा की लीला वाले बगीचे में, वृद्धि तथा क्षय से होने वाले हर्ष तथा शोक को त्यागकर उदासीन-भाव से राज-काज करने लगा।

॥ लिङ्ग-संन्यास निषेध—राजा जनक और रानी का संवाद नामक पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

सोलहवाँ अध्याय

[ओंकार की ब्रह्मरूप से उपासना]

शिष्य—हे गुरु ! वेद ने नेति-नेति द्वारा मोक्ष की सिद्धि कही है और उपनिषदों में आचार्यों ने मोक्ष को दूसरे प्रकार से सिद्ध किया है। उद्दालक मुनि ने श्वेतकेतु को दूसरे ही प्रकार से मोक्ष को सिद्ध किया है अर्थात् सत् द्वारा उपदेश किया है। सनत्कुमार ने नारद को भूमा द्वारा मोक्ष कहा है। ब्रह्मा ने इन्द्र को द्रष्टा द्वारा मोक्ष कहा है। सो, हे गुरु ! वेद ने नेति-नेति का आग्रह क्यों किया है ?

गुरु—हे शिष्य ! वेद भगवान् जैसा जिसका अधिकार देखता है, उसको उसकी बुद्धि के अनुसार वैसा ही उपदेश करता है। वेद भगवान् के उपदेश करने का कोई एक नियम नहीं है। किसी उत्तम अधिकारी को तो महावाक्य के उपदेशमात्र से ही सन्तोष हो जाता है और किसी मन्द बुद्धि वाले अधिकारी को बहुत से दृष्टान्त और युक्ति द्वारा उपदेश करने से ही सन्तोष होता है। मोक्ष तो केवल एक ब्रह्मज्ञान से ही होती है। उस ब्रह्मज्ञान के साधन अनेक प्रकार के हैं। जैसे धूम को देखकर पर्वत में अग्नि का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार विवेक-वैराग्य सहित संन्यास देखकर मोक्ष का भी अनुमान होता है। वैराग्य और संन्यास बिना मोक्ष कदापि नहीं होती। संन्यासी ही ब्रह्म का अभ्यास सुखपूर्वक कर सकता है। गृहस्थ आश्रम में तो अनेक विक्षेपों के मारे प्राणी दिन-रात संसार का ही अभ्यास करता है। उसी का चिन्तन, उसी का कथन और उसी की परस्पर बातचीत करता रहता है। ब्रह्माभ्यास होना कठिन होता है। यदि किसी भाग्यशाली से गृहस्थ आश्रम में ही रहकर ब्रह्माभ्यास हो सके तो वह भी मुक्त हो जाता है। हे वत्स ! मोक्ष का साधन तो मानसिक संन्यास सहित ज्ञान है। बाहर से संन्यास का चिह्न हो अथवा न हो।

शिष्य—हे गुरु ! वेद ने एक जगह संन्यास सहित ज्ञान से मोक्ष कहा है और दूसरी जगह कहा है कि जब तक जीवे तब तक अग्निहोत्र आदि कर्म करता रहे तथा सौ वर्ष जीने की इच्छा वाला होकर कर्मों का त्याग कभी न करे। अन्त में इसी अग्नि के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हो जायेगा। इन दोनों वेद-वाक्यों में मुमुक्षु को कौन से वाक्य मानने चाहियें ?

गुरु—हे शिष्य वेद का उपदेश अधिकार के अनुसार है। जिस पुरुष ने तीन ईषणाओं का त्याग कर दिया है, उसको ही ज्ञान की प्राप्ति के लिए संन्यास-कर्तव्य है क्योंकि उसने निश्चय किया है कि भोगों के भोगने से कदापि शान्ति नहीं मिलती। यह प्राणी ज्यों-ज्यों भोग भोगता जाता है, त्यों-त्यों तृष्णा बढ़ती जाती है। जीवन का कोई विश्वास नहीं। शरीर क्षणभंगुर है। ऐसे वैराग्यवान पुरुष को कर्म-उपासना का त्याग करके मोक्ष के लिए साधन सहित कर्मों का संन्यास ही कर्तव्य है। जिस पुरुष की वैराग्य-रूपी अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई, भोगों की कामना है, उसको गृहस्थ आश्रम में रहकर कर्म-उपासना कर्तव्य है।

जब वेद की आज्ञा मानकर गृहस्थी कर्म करने लगता है तो कर्म करते-करते थक जाता है और फिर दुःखी होता है। उस काल में आप ही विचार करता है कि कोई ऐसा सुख भी कहीं पर है कि जिसको

प्राप्त होकर इस संसारी जंजाल से छूटूँ। उस अवस्था में फिर इसको भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए संन्यास करना ही श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान बिना दुःखों का अत्यन्ताभाव नहीं होता। ब्रह्मचारी हो अथवा गृहस्थ या वानप्रस्थ हो, मृगतृष्णा की नाईं मिथ्या संसार का जब त्याग कर दे, तब ही आनन्द है। जिस पुरुष को वैराग्य का अभाव हो, उसको गृहस्थ आश्रम में रहकर नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करना ही श्रेष्ठ है।

जिस किसी पुरुष को पूर्व जन्मकृत पुरुषार्थ में संस्कारों के बल से संन्यास के बिना ही गृहस्थाश्रम में ज्ञानी गुरु से ज्ञान प्राप्त हो जाय, उसको जीवनमुक्ति के विशेष आनन्द की प्राप्ति के लिए संन्यास करना ही श्रेष्ठ है क्योंकि गृहस्थ आश्रम के चिह्न और अज्ञानियों का संग विमोह उत्पन्न करके फिर कर्मों में लगा देंगे। व्यवहार में चिह्न भी सहायता करते हैं। यह नियम की बात है कि बुद्धिमान पुरुष जैसा मन अपने साथ देखता है, उसी के अनुसार चेष्टा भी करता है। गृहस्थ के शिखा-सूत्रादि चिह्नों को देखकर कर्मों में प्रवृत्त होता है और संन्यास के चिह्नों को देखकर ब्रह्माभ्यास में प्रवृत्त होता है। जिस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति की तीव्र इच्छा होती है, उसको ब्रह्मविद्या अपनी तरफ खींच ले जाती है। जिसको भोगों की इच्छा होती है, उसको अविद्या कर्म-कपाल में लाकर पटक देती है। जो पुरुष वैराग्य हुए बिना देखा-देखी संन्यास ग्रहण कर लेते हैं वह तो दोनों लोकों से भ्रष्ट और परम दुःखी रहते हैं। हे वत्स! उनसे न इस लोक का साधन बनता है और न परलोक का ही साधन बनता है। इसलिये दोनों से भ्रष्ट हो जाते हैं।

वेद भगवान् तो जैसा जिसका अधिकार देखता है, दया करके वैसा ही उसको उपदेश करता है। वेद भगवान् जीवों को जिज्ञासा के अनुसार उपदेश करता है। जैसे मार्ग भूला हुआ मार्गी किसी से मार्ग पूछता है तो वह जहाँ का मार्ग पूछता है, वहीं का मार्ग उसको बताया जाता है। अपने आप कोई किसी से नहीं कहता कि हे मार्गी! तू उधर को जा। उसी प्रकार वेद भगवान् भी अज्ञानी पुरुषों को उनके वाँछित पुरुषार्थ का मार्ग बता देता है। अपनी तरफ से किसी को भी कुछ विधि-निषेध नहीं करता। इसी कारण से बोधवान को कुछ भी कर्तव्य नहीं है क्योंकि उसको कुछ वांछा नहीं है। जिसको इच्छा का सर्वथा अभाव है, उसको कर्तव्य का भाव नहीं फुरा करता। इसलिये वह आप ही परमानन्द स्वरूप है। सब संसार इसी की प्राप्ति की इच्छा करता है।

शिष्य—हे गुरु! वंश ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि जिस अवस्था अथवा आश्रम में इस पुरुष को ब्रह्मवेत्ता गुरु की प्राप्ति होती है, उसी अवस्था अथवा आश्रम में गुरु द्वारा वेद वाक्य को श्रवण करके ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान द्वारा मोक्ष तत्काल ही कही है। कितने ही पुरुषों को गृहस्थ आश्रम में मोक्ष हुई है और आपने यहाँ यह कहा है कि संन्यासी ज्ञानवान ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं। गृहस्थी ज्ञानियों को कर्म अविद्या में खींच ले जाते हैं, मोक्ष नहीं होने देते। हे प्रभो! राजा जनक, उद्दालक, अजातशत्रु आदि अनेक राजर्षि, ब्रह्मर्षि आदि गृहस्थी ब्रह्मज्ञानी हुए हैं। वे कर्मों को भी करते रहे हैं और अन्त में मोक्ष को भी प्राप्त हुए हैं।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने ऐसा भी कहा है कि एक गृहस्थ आश्रम ही है और ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रम नहीं है, कथन मात्र हैं। इसी कारण से गृहस्थ को ही वेद का अधिकार है और किसी को नहीं है। अग्निहोत्र का अधिकारी भी वेद ने गृहस्थ को ही कहा है, और किसी को नहीं। जिसको अग्निहोत्र का अधिकार है उसी को वेद का अधिकार है। इस कारण से गृहस्थ ही एक आश्रम

है और गृहस्थ ही अन्तकाल में अग्नि में दाह किया जाता है। तब अग्नि द्वारा ब्रह्मलोक आदिकों में जाकर मुक्त होता है। बीच में उसकी मोक्ष नहीं होती। वह यदि ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति से पहले ही कर्मों का त्याग करदे तो सूर्य आदिक देवताओं के हननजन्य पाप की बराबर पाप उसको लगता है। इस कारण से गृहस्थ पुरुष मरण पर्यन्त कर्मों का त्याग कभी न करे, इस प्रकार कितने ही विद्वान् कहते हैं।

गुरु—हे वत्स! वेद में नाना प्रकार के अधिकारियों के भावों के अनुसार अनेक वाक्य हैं। जिस पुरुष ने विषयों में अपनी तीव्र बुद्धि के द्वारा ठीक-ठीक, बार-बार दोषदर्शन से राग-बुद्धि का त्याग किया है तथा तीन ईषणाओं से जो रहित है, उस पुरुष को संन्यास ही श्रेष्ठ है, क्योंकि उसको आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च तुच्छ प्रतीत होता है और अपना आपा प्रत्यग् ब्रह्म साक्षात् स्वयंप्रकाश रूप से प्रतीत होता है। ऐसे पुरुष को कुछ भी कर्तव्य नहीं है। सम्पूर्ण वेद-विधियाँ वर्णाश्रम के अभिमानी भोगाभिलाषी कर्म-संगी अज्ञानियों पर ही लागू हैं। बोधवान को वर्णाश्रम का न तो अभिमान ही है, न कर्तव्य-भोगतव्य का विधान है। इस कारण से ज्ञानवान पर वेद की विधि नहीं है। कर्तव्यबुद्धि भेदज्ञान से होती है। ज्ञान-वानों के सब भेदों की निवृत्ति हो जाती है। इसी कारण से उसको कर्तव्य नहीं फुरता। जिसको कर्तव्य-बुद्धि बार-बार उदय हो तो समझ लेना चाहिए कि वह अज्ञानी है, बोधवान नहीं है।

सम्यग् बोधवान को संन्यास ही श्रेष्ठ है। जिस पुरुष को सत्-असत् का विचार और विवेक नहीं उदय हुआ, जो तीन ईषणाओं वाला है, भोगों की अभिलाषा रखता है, ऐसे पुरुष की रुचि बढ़ाने के लिए वेद ने गृहस्थाश्रम की स्तुति की है, उन आश्रमों के खण्डन में वेद का अभिप्राय नहीं है। इस प्रकार के वेद वाक्यों को अर्थवाद कहते हैं। विषयासक्त पुरुषों को मरण पर्यन्त कर्म में ही लगे रहने का अधिकार है। वैराग्य के अभाव में प्रमाद से कर्मों का त्याग कर देने से ऐसा पुरुष प्रमादी, पापी कहा जाता है जिसको विषयों की अभिलाषा है, जिसको अनेक भेदभाव भी प्रतीत होते हैं और जो बुद्धिकृत भेदों अर्थात् मत-मतांतरों में अटका हुआ है तथापि कर्म नहीं करता, वह तो आप भी मरा और दूसरों को भी ले डूबा, क्योंकि उसने सूर्यादिक देवताओं को अपने आत्मा से भिन्न देखा है, और यह नियम है कि वस्तुकृत भेद वाली वस्तुयें नाशवान होती हैं।

ब्रह्मज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि सबको अपने आत्मा में और स्वयं को सब में देखता है। ब्रह्म-
ज्ञान त्रैलोक्यरूपी वस्त्र की मानो तह ही है अथवा आकार आदि विकारों से सर्वथा प्रथक और परे है।
जिस ज्ञानी गृहस्थी को दुःखों किंवा विक्षेपों का अनुभव करके कर्मों से वैराग्य हो, उसको प्रथम वान-
प्रस्थाश्रम के पश्चात् संन्यास कर्तव्य है। ब्रह्मचारी को तीव्र वैराग्य हो तो उसको उसी दिन ब्रह्मवेत्ता गुरु
की शरण में चला जाना चाहिये। संन्यास को वेद भगवान् ने सब आश्रमों से इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा
श्रेष्ठ कहा है कि ब्रह्मचर्याश्रम चरण के समान है। गृहस्थ आश्रम पेट के समान है। वानप्रस्थ आश्रम
भुजाओं के समान है और संन्यास आश्रम मस्तक के समान है। चारों मिलकर एक पुरुष के समान हैं।
अपने-अपने स्थान में सब ही श्रेष्ठ हैं। चरण न हों तो आयु-पर्यन्त पुरुष दीन, दुःखी, पराधीन
रहता है। यदि आरोग्यता न हो तो पुरुष सदा दीन, मलीन और दुःखी रहता है। लोक-परलोक के
निमित्त कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता। यदि बाहु न हों तो पराधीन हो अपना निर्वाह करने में भी समर्थ
नहीं होता। इन तीनों में से एक-एक के न होने से भी कुछ काल पर्यन्त पुरुष नष्ट नहीं होता। परन्तु
मस्तक के न होने से पुरुष सर्वथा नष्ट हो जाता है क्योंकि मस्तक सब शरीर में श्रेष्ठ है और सबका मूल

है। उसी प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य न करने से पुरुष इस लोक में मृत्यु पर्यन्त मूर्ख, दीन, दरिद्री, पामर रहता है और परलोक में घोर नर्कों का अनुभव करता है।

हे शिष्य! गृहस्थी विधिपूर्वक पञ्चयज्ञ न करने से इस लोक में पामर, अज्ञानी मूर्खावस्था में रहता है और मरकर नरक भोगता है। वानप्रस्थी विधिपूर्वक तप न करने से इस लोक में दुःखी और परलोक में नरकगामी होता है। संन्यास के अभाव से तीनों आश्रम अन्धे पुरुष के समान नष्ट हो जाते हैं। जैसे कोई अन्धा पुरुष एकान्त, निर्जन, भयानक वन में हो तो वह जल और अन्न के बिना कांटे, खड्डे आदि में गिरकर बड़े कष्ट से मरता है, उसी प्रकार एक उपदेष्टा संन्यास आश्रम के अभाव से तीनों आश्रम नष्ट हो जाते हैं। संन्यास आश्रम के पुष्ट होने से सम्पूर्ण ब्रह्मांड पुष्ट होता है। इस कारण से संन्यास आश्रम सब आश्रमों से अति उत्तम है। इसमें अपने शरीर के निर्वाह के लिए भी कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सहज और थोड़े-से में ही काम चल जाता है।

श्रुति माता ने ब्रह्मचारी, गृहस्थी और वानप्रस्थी—इन तीनों आश्रमों को यह आज्ञा दी है कि भाई तुम लोग संन्यासी, अभ्यागत का प्रतिपालन किया करो। देखो, एक संन्यासी भिक्षुक को भिक्षा कराने से सौ ब्राह्मणों को भोजन कराने के बराबर पुण्य होता है। एक ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की षोडश उपचार द्वारा पूजा करने से सम्पूर्ण ब्रह्मांड अर्थात् अनन्त विष्णु आदि देवताओं की पूजा हो जाती है। इस कारण से जिज्ञासु विविदिषा और विद्वान् संन्यासियों के शरीर का निर्वाह प्रारब्ध के अनुसार स्वयं ही होता रहता है। क्षुधा निवारणार्थ अन्न और शीत निवारणार्थ वस्त्र स्वयमेव प्राप्त हो जाता है। इसके लिए उसको किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। संन्यासी लोक-परलोक के भय से रहित तथा चिन्ता और तृष्णा से शून्य होता है। तीन ईषणाओं से रहित पुरुष को संन्यासी कहते हैं। वेद ने चार आश्रम कहे हैं और चारों के भिन्न-भिन्न धर्म भी कथन किये हैं। पुरुष को चाहिये कि विवेक द्वारा जिस आश्रम का अपने को अधिकारी समझे, उसी आश्रम में रहकर उस आश्रम के धर्मों का पालन करे। भेड़ की तरह एक-दूसरे के पीछे देखा-देखी चलने से लोक-परलोक दोनों में दुःख होता है। सुख कदापि नहीं मिलता।

शिष्य—हे गुरु! कुछ आचार्य तो केवल ज्ञान को मोक्ष का कारण नहीं बताते। सदाचार, कर्म सहित ज्ञान से मोक्ष मानते हैं।

गुरु—हे शिष्य! मोक्ष का कारण तो एक आत्मज्ञान ही है। कर्म, उपासना, संध्या, यज्ञ, अग्निहोत्र आदि तो स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति के कारण हैं। जिसको स्वर्ग के भोगों की इच्छा हो, उसको तो अग्निहोत्रादि कर्म करने श्रेष्ठ हैं और जिसको मोक्ष की इच्छा हो उसको साधन सहित कर्मों का त्याग करके श्रवण आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ही श्रेष्ठ है। यह सब प्रारब्ध कर्मों के ऊपर ही निर्भर है। किसी के वश की बात नहीं है। संसारी भोगाभिलाषी पुरुष का मार्ग और है, और मोक्षाभिलाषी पुरुष का मार्ग दूसरा ही है। इन दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जिसको इसी जन्म में संसार बन्धन से छूटना होता है, उसको संसारी माया नहीं लगती। एकदम वैराग्य होकर संसारी कर्मों का बोझा सिर से फेंक-फाँक कर किसी वैराग्यवान् महात्मा की शरण में चला जाता है। वह घर में रह नहीं सकता। सब प्रतिबन्धों को तोड़-फोड़ डालता है।

शिष्य—हे गुरु ! बोधवान् एक अद्वैत रूप है तो वह भेदबुद्धि क्यों करता है ? यह शुभ है, यह अशुभ है—यह भेदबुद्धि तो अज्ञानी कर्मियों में ही शोभा पाती है।

गुरु—हे शिष्य ! बोधवान् देश, काल, क्रिया आदि किसी का भी विचार नहीं करता। एक ब्रह्म-विचार में ही सदा तत्पर रहता है क्योंकि स्वर्गादिक लोकों की इच्छा उसको नहीं फुरा करती। इसीलिये तो वह कर्म-कलाप के चक्कर में नहीं पड़ता और न वह कर्म-शास्त्रों को ही विचारता है। मोक्ष-शास्त्र के अध्ययन में ही लगा रहता है। न वह यह विचार करता है कि इस स्थल या इस काल में ब्रह्म-विचार अर्थात् ब्रह्मचिन्तन करना योग्य है अथवा अयोग्य है। शौच होता जाता है और आत्म-चिन्तन भी करता जाता है।

उसकी दृष्टि दुहरी होती है। अज्ञानी कर्मसंगी की नाईं एक दृष्टि नहीं होती। इसी प्रकार सब देश, सब काल और सब कर्मों में ज्ञानवान् ब्रह्मचिन्तन-परायण रहता है। कर्मी उपासक को कर्म और ध्यान करने के लिए देश, काल, क्रिया आदि का विचार कर्तव्य है। बोधवान् सबका आत्मा है। उसको सम्पूर्ण जगत् नन्दनवन के समान प्रतीत होता है। सम्पूर्ण वृक्ष कल्पवृक्ष के समान हैं। सम्पूर्ण जल गङ्गा-जल के समान हो जाते हैं। सम्पूर्ण क्रियायें पुण्यरूप ही हैं। प्राकृत, संस्कृत आदि सब वाणी वेदान्तरूप हैं। सारी पृथ्वी काशी के समान है और सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन है, माया का नहीं।

शिष्य—हे गुरु ! ज्ञानवान् कर्मों से इतना द्वेष क्यों करता है ? कर्म-उपासना के त्याग से उसको पाप तो अवश्य लगेगा और इस लोक में उसकी निन्दा भी होगी।

गुरु—हे शिष्य ! बोधवान् के ऊपर कोई विधि-विधान नहीं है। साक्षात् वेद भी उसको कुछ कर्तव्य नहीं कहता। वेद का विधान केवल शरीर आदि के अभिमानियों के ऊपर ही लागू है, जिसके शरीर का अभिमान निवृत्त हो गया है, उसके ऊपर नहीं। पाँच-सात साल का जो बच्चा या पशु है, उस पर अज्ञानी होने के कारण वेद का कोई किसी प्रकार की क्रिया का विधि-विधान नहीं है। इसी प्रकार बोधवान् के ऊपर बोध होने से अर्थात् संसार का ठीक-ठीक निर्णय होने से कोई भी वेद का विधान लागू नहीं होता। वेद तो उसकी आज्ञा में चलता है। कर्म उपासना के त्यागने से बोधवान् को न तो पाप ही होता है और न उसकी लोक में निन्दा ही होती है। उलटा उसका यश फैलता है। जैसे किसी बच्चे के पैदा होते ही उसके माता-पिता का मरण हो जाय और वह बच्चा जीता रहे तो वह बालक पिता के सब पदार्थों का मालिक हो जाता है और खूब आनन्द भोगता है। फिर कहो कि उस बालक का क्या दोष है ?

हे शिष्य ! सभी अपने-अपने पूर्व कर्म का फल भोगते हैं। उसी प्रकार ज्ञानरूपी बालक के कर्म-उपासना माता-पिता के समान हैं। बोध के पैदा होते ही ये मर जाते हैं तो मर जाओ। ज्ञान रूपी बालक का इस में कुछ दोष नहीं है। जितना उनका भोग था उतना भोग उन्होंने भोग लिया। नाश तो होना ही था। यह न्याय है कि जो जन्मता है, वह अवश्य मरता है। बोधवान अपने प्रत्येक ब्रह्माण्ड अर्थात जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का भोग करता है। कर्म-उपासना के त्याग से पाप का भागी नहीं होता। जैसे पहिले रात होती है, पीछे सूर्य के उदय होने से दिन होता है और रात्रि का अभाव हो जाता है। क्या रात्रि के लोप होने से सूर्य को पापी कह सकते हैं ? कदापि नहीं। उसी प्रकार कर्म-उपासना रूपी रात्रि है।

जब बोध रूपी सूर्य चमकता है, तब कर्म-उपासना रूपी रात्रि का अभाव हो जाता है। फिर कर्म उपासना का अभाव करने से ज्ञानवान् को पापी कैसे कह सकते हैं ?

हे शिष्य ! ज्ञान का सहज स्वभाव ही प्रकाश है। उस प्रकाश के उदय होने से अज्ञान का सहज स्वाभाविक नाश हो जाता है। जैसे पिता और पुत्र की जब नहीं बनती तो पुत्र पिता से न्यारा हो जाता है। उस काल में आज्ञाकारी भक्तिमान पुत्र को पिता जो कुछ भी देता है, वह बड़ी प्रसन्नता पूर्वक उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसे पुत्र की समाज में बड़ी स्तुति तथा ख्याति होती है। उसी प्रकार ज्ञान रूपी पुत्र है। कर्म-उपासना उसके माता-पिता हैं। जब उनका परस्पर किसी बात पर विरोध खड़ा हो जाता है तो ज्ञानरूपी बालक कर्म-उपासना रूपी माता-पिता से कहता कि मैं तो तुम से पृथक होता हूँ। तुम ब्रह्मलोक पर्यन्त इस सम्पूर्ण संसार को ले लो। मुझको तो तुम जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—यह तीन ग्राम दे दो। मैं तो अपना निर्वाह इन से ही कर लूँगा। परन्तु यहाँ तुम्हारा काम नहीं है। तब कर्म-उपासना रूपी माता-पिता ने कहा कि अच्छा हमको भी तुम से कुछ प्रयोजन नहीं है।

बात यह है कि ज्ञानवान तो थोड़े-से भोग मिलने पर ही संतुष्ट हो जाता है, परन्तु कर्मी उपासक सम्पूर्ण ब्रह्मांड के भोग मिलने पर भी संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि उसकी तृष्णा रूप अग्नि का पेट तो कभी भरता ही नहीं। तब यह ज्ञान को दोषी ठहरा कर उससे तीनों ग्राम अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति भी छीनना चाहता है। यह तीनों मिथ्या ठहरते हैं। जब यह जाग्रत आदि मिथ्या ठहरे तो फिर बोधवान सत्वादी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में कीर्ति सहित शोभा पाता है।

हे शिष्य ! इस कारण से बोधवान को कुछ कर्तव्य नहीं फुरा करता। इसके सम्पूर्ण भेदभाव किंवा भ्रम वेद भगवान् ने दूर कर दिये हैं। कर्मी उपासकों का भेद बना रहता है। इसी कारण से वह लोग सदा परस्पर कलह करते हुए भयभीत बने रहते हैं और देवताओं के बोझा ढोने वाले पशु बने रहते हैं। बार-बार जन्मते-मरते हैं। यह लोग भोग भोगने के लिये कर्म करते हैं और कर्म करने के मिस से भोग भोगते हैं। बस, यह कर्मी घंटीयन्त्र की तरह ऊपर-नीचे चक्कर लगाते रहते हैं, इन लोगों को शान्ति कदापि नहीं मिलती।

शिष्य—हे गुरु ! भेदबुद्धि के बिना कर्म नहीं होता। आप भेद का सर्वथा खंडन किस प्रकार करते हो ?

गुरु—हे शिष्य ! वेद में यह भी कहा है कि जो तुमको स्वर्ग की कामना हो तो यज्ञ, अग्निहोत्र आदि कर्म करो और यह भी कहा है कि जो तुमको मोक्ष की इच्छा हो तो निष्काम कर्म करके अन्तःकरण को शुद्ध करो और भेदबुद्धि का परित्याग करो। हे शिष्य ! ध्यान देकर और भी सुनो। वेद में तीन काण्ड हैं। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और तीसरा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड अध्याय में कर्म का ही निरूपण है और उसी की स्तुति भी की है। स्तुति बहिर्मुख पुरुषों को शुभ कर्म में लगाने के लिए की है अर्थात् कर्मकाण्ड की प्रशंसा तथा ज्ञान और उपासना की गौणता वर्णन की है। उपासनाकाण्ड में मुख्यतया उपासना का निरूपण किया है और उपासना की ही स्तुति तथा प्रशंसा की है। कर्म और ज्ञान का गौणरूप से निरूपण किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड में मुख्यतया ज्ञान का ही निरूपण किया गया है और ज्ञान की ही स्तुति किंवा प्रशंसा की गई है। कर्म और उपासना की निन्दा की है।

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण वेदवाक्य प्रमाण हैं, अप्रमाण नहीं। परन्तु इतना भेद है कि कर्म और उपासना में व्यावहारिक प्रमाणता है और ज्ञान में पारमार्थिक प्रमाणता है। इसी कारण से कर्म-उपासना विधायक श्रुतियों से ब्रह्मज्ञान विधायक श्रुति बलवान होती है। ज्ञान-विधायक श्रुतियों से कर्म-उपासना विधायक श्रुतियों का बाध हो जाता है और कर्म-उपासना विधायक श्रुतियों से ज्ञान-विधायक श्रुतियों का बाध नहीं होता। जैसे त्रिपादक सूत्र का सवा सात अध्याय सूत्रों से बाध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-काण्ड की श्रुति से कर्मकाण्ड की श्रुति का बाध हो जाता है। इसमें आश्चर्य नहीं मानना चाहिये।

कर्म तो बहुत-से पुरुष करते हैं, परन्तु निष्कामी पुरुष कोई कदाचित् ही होता है। उसी प्रकार विषयसुख की इच्छा वाले पुरुष तो बहुत हैं, परन्तु विवेकी शूरवीर मुमुक्षु पुरुष कोई कदाचित् ही होता है। वह भेदभाव को तोड़-फोड़ डालता है। अविवेकी डरपोक कायरों से भेदभावरूपी भ्रान्ति दूर नहीं की जा सकती। जैसे स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा वाले को एक स्वर्ग की ही कामना होती है, तब स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यदि कोई दूसरी कामना कर बैठे तो स्वर्ग का लाभ नहीं होता। उसी प्रकार केवल मुमुक्षत्वभाव की बुद्धि से ही भेद दूर होता है। जो मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों को ही चाहा करते हैं, ऐसे दो मार्गियों से भेद दूर नहीं हो सकता।

हे शिष्य! जिसने पूर्व निष्काम भावना द्वारा कर्मों का आरम्भ नहीं किया है, उसकी बुद्धि से भेद-भाव दूर नहीं हो सकते! जिसका अन्तःकरण शुद्ध है अर्थात् कामना से रहित है, ऐसे जिज्ञासु, वीतराग पुरुष कर्म की निन्दा करते हैं, दूसरे नहीं। कोई शुद्ध मुमुक्षुओं से कर्म-कलाप की निन्दा सुनकर भी कर्मों का त्याग कर देते हैं जैसे चोरी की निन्दा सुनकर कोई-कोई बुद्धिमान चोरी करना छोड़ देते हैं। किसी पुरुष के मलिन संस्कार नाश होने को होते हैं, तब वह सहज-स्वभाव ही चोरी करना छोड़ देता है। उसी प्रकार जब पूर्व के निष्काम कर्मजन्य संस्कार उदय होते हैं, उस काल में यह पुरुष सब कर्मों का त्याग करके मुमुक्षु जिज्ञासु होता है।

जिसके निष्काम कर्म उदय नहीं होते, उस पुरुष से सकाम कर्म और भेदबुद्धि का त्याग कदापि नहीं होता यद्यपि साक्षात् वेद, वेदान्त, स्मृति, पुराण, आचार्य आदिक सकाम कर्मों की निन्दा भी करते हैं और उनके फलों को तथा अनेक कष्टों को भी बताते हैं, तो भी मन्दबुद्धि पुरुषों के चित्त में संचित पुण्यों के अभाव से एक भी नहीं लगती अर्थात् किसी की नहीं सुनता।

शिष्य—हे गुरु! वेद तो सत्वादी है, फिर उसने बहुत-सी मिथ्या कामनाओं का निरूपण क्यों किया है? सीधा-सादा मार्ग क्यों नहीं कह दिया?

गुरु—हे शिष्य! निस्सन्देह वेद सत्वादी है और उसका कहना भी अधिकार के अनुसार सत ही है। यह जीव कामनाओं को मुख्य समझता है क्योंकि यह अज्ञानी प्राणी कामनाओं का ही तो पुतला है। इसलिये सर्वज्ञ वेद भगवान् ऐसे जीवों को कर्म में ही जोड़ देता है। यथार्थ में तो वेद का अभिप्राय मोक्ष से ही है। इस कारण से वेद पिता के समान जीवों के अधिकार के अनुसार विधान करता है। जैसे बुद्धिमान पिता अपने पुत्र की कुचाल को देखकर उसको दूर करने के लिए पुत्र को शुभ क्रियाओं में लगा देता है और बालक का स्वभाव शुभाशुभ कर्म करने का होता ही है। वैसे ही पिता की नाईं वेद भगवान जीवों की बुद्धि में आरूढ़ पाँच भेदों को देखकर उनको दूर करने के लिए उसे प्रत्यग् आत्मा की ओर जोड़ता

है। जीवों का सहज स्वभाव भेद देखने का होता है। मैत्रेयी ब्राह्मण में भी कहा है कि जिसने भेद दूर कर के तीन ईषणाओं का त्याग किया है, वही ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्त है। भेददृष्टि करने वाला अज्ञानी है।

शिष्य—हे गुरु! भेदबुद्धि और कामना से रहित ज्ञानवान को भी वेद ने कुछ कर्तव्य कहा है कि नहीं?

गुरु—हे शिष्य! सावधान होकर सुन। सम्यग् बोधमान को भी यही कर्तव्य कहा है कि वह संन्यास धारण करके शरीर-निर्वाहमात्र कर्म को करे। अधिक कर्म न करे। शौच, स्नान, भिक्षा और जल-पान—यह चार कर्म ज्ञानी को कर्तव्य हैं और कुछ कर्तव्य नहीं है। ज्ञानवान सबको अपना आप प्रत्यग् आत्मा देखता है। उसकी भेदबुद्धि सहज ही निवृत्त हो गई है। हे शिष्य! जितने भी कर्तव्य फुरते हैं, वह सब-के-सब भेदबुद्धि से ही होते हैं। इसीलिये भेददर्शी को कर्म कर्तव्य हैं। परमपद की प्राप्ति तो बिना भोग-कामना त्यागे नहीं होती। इस कारण से सब कामनाओं का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। जब वह अधिकारी पुरुष संसारी बन्धनों से छूटने का विचार करता है, तब वेद भगवान् इस मुमुक्षु से कहता है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्त्री, पुत्र, धन आदि में आसक्ति अथवा गृहस्थ के तमाम सामानों का तुमको सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। कोई भी चिह्न शरीर अर्थात् शिखा-सूत्र का नहीं रखना चाहिये।

शिष्य—हे गुरु! जब वेद भगवान् कर्मों के चिह्नों का भी त्याग कराता है तब पीछे भी कुछ कहता है कि वह क्या करे? अर्थात् मुमुक्षु को क्या कर्तव्य है?

गुरु—हे शिष्य! प्रथम वेद भगवान् महामन्त्र द्वारा स्वरूप का बोध कराता है और फिर कहता है कि भाई जैसी तेरी प्रारब्ध होवे, उसी के अनुसार विचर। चाहे घर-घर से रोटी लाकर शरीर का निर्वाह कर ले, चाहे महनत-मजदूरी करके शरीर का निर्वाह कर अथवा बिना प्रयत्न सहज स्वभाव से जो प्राप्त हो जाय, उससे पेट भर ले। बहुत इधर-उधर न भटक। जैसे प्राण वायु केवल आहारमात्र की इच्छा रखता है। किसी प्रकार के रूप, रस आदि की उसको जरूरत नहीं होती। उसी प्रकार अभ्यागत को चाहिये कि जिसमें ज्ञान नष्ट न हो और मन-वाणी भी विकृत न हों, ऐसे आहार से ही सन्तुष्ट रहे।

भिक्षा का अन्न रसयुक्त हो अथवा नीरस हो, अधिक हो किंवा किसी दिन थोड़ा हो,—जैसा भी हो, बस खा ले। कोई कल्पना न करे, उदासीन भाव से खाले। मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बल से युक्त होकर भी शरीर से निश्चेष्ट पड़ा रहे। बिना निद्रा के भी सोया हुआ-सा दूसरों को जान पड़े, ऐसा रहे। कोई भी संसारियों का सा व्यवहार न करे। भिक्षु ऐसा होना चाहिये कि अपना खान, पान का भार गृहस्थों पर अधिक न डाले। नहीं तो उनके संसर्ग मोह में फँसकर भिक्षुक भी, कमल की गन्ध में आसक्त हुए भौंरे के समान नष्ट हो जाता है।

बोधवान् होकर जो भोगों की कामना करता है, उसकी दशा भी सुनो। जैसे पहले हल जोतकर, पटेला फेरकर पृथ्वी को शुद्ध करते हैं। फिर उसमें बीज डालते हैं। फिर उसमें हल आदि कोई नहीं चलाता, केवल बीज की रक्षा करते हैं। यदि उस खेत में हल चला दे तो अंकुर का नाश हो जाता है। उसी प्रकार कर्म-उपासना रूपी हल और पटेला फेरकर मुमुक्षु ने बुद्धिरूपी खेत को शुद्ध किया है। गुरुमुख से महावाक्य रूपी बीज डाला है। उससे ज्ञानरूपी अंकुर उत्पन्न हुआ है। अब इस अंकुर के निकलने के पीछे फिर बुद्धि रूपी खेत में कर्म-उपासना रूपी हल और पटेला फेर देगा अथवा फेरने की इच्छा करेगा तो ज्ञानरूपी अंकुर का नाश हो जायेगा।

कोई पुरुष जब किसी देवता के दर्शन करने को घोड़े पर चढ़ कर जाता है, उस काल में घोड़े को बाहर ही छोड़ जाता है। तब देवता का दर्शन होता है। यदि घोड़े सहित दर्शन करने जावे तो देवता का दर्शन नहीं होता। पुजारी लोग बाहर निकाल देते हैं। उसी प्रकार मुमुक्षु निष्काम कर्म रूपी घोड़े पर चढ़कर ज्ञानरूपी देवता के दर्शन को चला है। ज्ञानरूपी देवता का दर्शन इसको तब होगा जब पहिले कर्मरूपी घोड़े का त्याग कर देगा। जो कर्मरूपी घोड़े का त्याग न करेगा तो ब्रह्म का साक्षात्कार न होगा और संसार में निरादर होगा। इस कारण से मुमुक्षु को कर्मों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है। जिस पुरुष ने कर्मरूपी घोड़े का त्याग किया है, उसने ही ब्रह्मज्ञान रूपी देवता का दर्शन पाया है। उसको वेद भी नमस्कार करता है और कहता है कि यह बड़ा शूरवीर है क्योंकि कर्मों के त्याग करने में इसने देवताओं का भय भी नहीं माना। इस कारण से यह धन्य है। अत्यन्त तेजस्वी और सबका पूज्य है।

शिष्य ! हे गुरु ! जब तक शरीर है, तब तक उसकी प्रारब्ध उस बोधवान से कुछ तो कराती ही होगी। और कुछ नहीं तो शरीर की रक्षा के अर्थ तो उसको कछ-न-कुछ कर्म अवश्य ही करना पड़ेगा।

गुरु—हे शिष्य ! संन्यासी यमों का सेवन तो अवश्य करता है। वेदान्त-शास्त्र का विचार सत् बोलना, संग्रह का त्याग, हिंसा न करना और ब्रह्मचर्य का पालन तथा दीनता से रहित, तीन ईषणाओं का परित्याग करके इन पाँचों यमों का सेवन करता है, क्योंकि विविदूपा संन्यास ज्ञान का कारण है और ज्ञान से मोक्ष होती है। इस प्रकार संसार का त्याग करना श्रेष्ठ है। गृहस्थ आश्रम में आसक्ति पूर्वक रहने और सकाम कर्म करने से ज्ञान के सम्मुख वृत्ति कभी नहीं होती। इसी कारण से बुद्धिमान पुरुष को उचित है कि जो गृहस्थ आश्रम का सर्वथा त्याग न कर सके तो आसक्ति और अभिनिवेश का त्याग करके इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्त होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन और 'तत्'-'त्वं' पद का शोधन करके, तीव्र जिज्ञासा पूर्वक ब्रह्मज्ञान का सम्पादन करे।

गृहस्थाश्रम में पुरुषों को हिंसा और मिथ्या भाषण भी करना पड़ता है। अच्छे-अच्छे भोगों की तृष्णा भी होती है। उसके वशवर्ती होकर पापों का संग्रह भी करना पड़ता है। इस कारण से गृहस्थ पापों की खान है। यह नियम है कि पापों से अनेक जन्म होते हैं अर्थात् गृहस्थ आश्रम में यमों का लेश भी नहीं पाया जाता। इस कारण मुमुक्षु को उचित है कि गृहस्थ को अनर्थों का कारण जानकर दूर से ही त्याग करे। यदि स्वरूप से न त्याग कर सके तो भी आसक्ति और संग का तो अवश्य ही त्याग करे। पूर्व मुमुक्षुओं ने भी संग और आसक्ति का त्याग करके अतिथि की नाईं घर में निवास किया है। अन्दर से यम और बाहर से नियमों का सेवन करना चाहिये।

मानसिक त्याग बिना मोक्ष कदापि नहीं हो सकती। इस कारण से त्याग और संन्यास सहित ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है। ब्राह्मण को ही संन्यास का चिह्न धारण करना योग्य है। क्षत्री, वैश्य तथा शूद्रादि को वैराग्य पूर्वक वेदान्त का श्रवण करके संन्यास के चिह्न बिना केवल मानसी संन्यास से भी मोक्ष होती है। संन्यास का चिह्न जो दण्ड-कमण्डलु आदि है, उसके धारण से ही मोक्ष होती है। दण्ड नाम ब्रह्मज्ञान का है। उसी को धारण करने से सच्चा दण्डी होता है। ज्ञान बिना केवल काष्ठ दण्ड धारण करने से दण्डी नहीं होता और न मुक्त ही होता है।

वैराग्य और विरक्त होने का अधिकार मनुष्यमात्र को है। संन्यास के विशेष चिह्नों को धारण

करना तो केवल ब्राह्मण-जाति अभिमानी को ही है। चिह्न बिना संन्यास में मनुष्यमात्र का अधिकार है। हे शिष्य! इस वंश ब्राह्मण में यह सिद्ध हुआ है कि वैराग्य सहित संन्यास ज्ञान की प्राप्ति का कारण है और ज्ञान मोक्ष का कारण है, इस प्रकार परम्परा से सुनते आए हैं। ब्राह्मण मुनियों द्वारा यह ब्रह्मविद्या परम्परा से चली आती है। यह ब्रह्मविद्या अन्य काव्य आदिकों के समान नहीं समझनी चाहिए। यह तो अनादि सिद्ध है।

शिष्य—हे गुरु! वेद में उपासना किस प्रकार कथन की है और कितने प्रकार की है? आप कृपा करके समझाइये।

गुरु—हे शिष्य! पूर्वकाल में बहुत से ऋषियों ने मिलकर उपासना के विषय में जो निश्चय किया है सो सावधान होकर सुनो। जो सबके अन्दर यह द्रष्टा पुरुष है, यही परब्रह्म है। जो इस ब्रह्म को जानता है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म का जानने वाला ही ब्रह्म होता है, इस प्रकार पूर्व महात्माओं ने निश्चय किया है। जिस पुरुष को इस ब्रह्म के जानने की तीव्र इच्छा हो और बुद्धि की मन्दता अथवा अन्य किसी निमित्ति से निर्विशेष ब्रह्म को न जान सके, उसको वेद ने विशेष ब्रह्म की ओंकार द्वारा अहंग्रह उपासना विधान की है। ओंकार की उपासना सब उपासनाओं में उत्तम है क्योंकि ओंकार बिना सब उपासनायें निष्फल हो जाती हैं। हे शिष्य! ओंकार ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म सर्वात्मा है, उसी प्रकार ओंकार भी सर्वात्मा है। जैसे ओंकार ब्रह्मस्वरूप है, उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार जीव ही ओंकार ब्रह्मस्वरूप है।

शिष्य—हे गुरु! इस ओंकार ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार होती है?

गुरु—हे शिष्य! दम, दान, दया बिना ब्रह्म की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जैसे आकाश सब में परिपूर्ण है, उसी प्रकार ओंकार भी सबमें परिपूर्ण है। इसलिये, हे वत्स! जब मनुष्य का दम, दान, दया द्वारा मन शुद्ध हो जाता है, उस काल में मनुष्य ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है। दम, दान, दया उपासना के मुख्य अङ्ग हैं। जैसे सूर्य के उदय हुए बिना अन्धकार का नाश नहीं होता, चाहे कितना ही प्रकाश किया जाय। आकाश में तारागणों की बराबर चन्द्रमा उदय हों तो भी रात्रि नष्ट नहीं होती है, परन्तु एक सूर्य के उदय होते ही अन्धेरी रात्रि का अभाव हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्मविद्या सूर्य की नाईं प्रकाशरूप है। ज्ञान अविद्यारूपी रात्रि का नाश करने वाला है। जहाँ ब्रह्मविद्या जाती है, वहाँ अविद्या (अहंभाव, शरीर का अभिमान) नहीं रहा करती।

चन्द्रमा की तरह करोड़ों कर्म और उपासना करे, तो भी अविद्या रूपी रात्रि का अभाव नहीं होता। दम, दान, दया के सेवन से शुद्ध मन में ब्रह्मविद्या रूपी सूर्य उदय होकर अज्ञानरूपी रात्रि का सहज ही अभाव हो जाता है। तब अपना आपा प्रत्यग् आत्मा अखण्ड, अद्वैत, आनन्द, स्वयंज्योति रूप से प्रकाशित होता है। इस कारण से, हे शिष्य! परमानन्द ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए दम, दान और दया सहित ओंकार की अहंग्रह उपासना मुमुक्षु को अवश्य करनी चाहिए। यह सम्पूर्ण प्रपंच ब्रह्म का विवर्त है जैसे सोने का विवर्त भूषण होता है। ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण, एक, अद्वैत है और निर्विकार, अक्रिय है। इससे भिन्न और कुछ नहीं है। क्रियावान, पूर्ण, अपूर्ण, देश, काल, वस्तु—सब ब्रह्मस्वरूप है। जैसे फेन, तरङ्ग, बुदबुदा आदि सब समुद्ररूप हैं, उसी प्रकार नाम, रूप क्रिया आदि सब ब्रह्मस्वरूप हैं।

शिष्य—हे गुरु ! पूर्व वेद ने तो एक परब्रह्म सैंधव नमक की तरह सिद्ध किया है। फिर आप कैसे कहते हो कि जो अद्वैत है, वही द्वैत हुआ है ? द्वैत प्रपंच नाशवान है। अद्वैत अविनाशी है। वेद भगवान सत्यवादी होकर विरोधी मिश्रित वाक्य कैसे कहता है ? ऐसा कहने से वेद भी प्रपंची ठहरेगा क्योंकि प्रपंच नाशवान है। इसके नाश होने से ब्रह्म का भी नाश हो जायगा।

गुरु—हे शिष्य ! पूर्ण ब्रह्म का नाश नहीं होता। तीनों कालों में सदा एक रस रहता है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान चैतन्य में कल्पित प्रपञ्च की चार प्रकार की प्रलय होती है। एक नित्य प्रलय, दूसरी नैमित्तिक प्रलय, तीसरी प्राकृत प्रलय, चौथी आत्यन्तिक प्रलय। सुषुप्ति अवस्था, मरणावस्था और मूर्छा अवस्था में जो प्रपञ्च का अभाव होता है, उसका नाम नित्य प्रलय है। ब्रह्मा का एक दिन, जिसका नाम कल्प है, उसके अन्त में ब्रह्मा की रात्रि अर्थात् उसकी सुषुप्ति में जो प्रपञ्च का अभाव है, उसका नाम नैमित्तिक प्रलय है। ब्रह्मा का सौ वर्ष पीछे अभाव हो जाता है। तब माया विशिष्ट चैतन्य मात्र शेष रहता है, उसका नाम प्राकृतिक प्रलय है। जब गुरु द्वारा वेदांत के वाक्यों का श्रवण करके शिष्य को प्रपञ्च के मिथ्यापने का अपरोक्ष ज्ञान होता है, उसका नाम आत्यन्तिक प्रलय है और उसी को महाप्रलय भी कहते हैं। प्रथम तीनों प्रलयों में लीन हुए जीव फिर भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु महाप्रलय में लीन हुए जीव फिर नहीं जन्मते।

हे शिष्य ! जब यह पुरुष निद्रा में जाता है, उस काल में दूसरे दिन की कर्म करने की वासनाओं को लेकर जाता है कि मैं उठकर अमुक काम करूँगा। वह यह भी जानता है कि जो कुछ यहाँ करूँगा, परलोक में पाऊँगा। यह भी जानता है कि आत्मा सत् है और सब असत् है। इस प्रकार इनके अनुभव से ही सिद्ध हुआ कि आत्मा का नाश नहीं होता। हे शिष्य ! एक दृष्टांत सुनो। जैसे सुवर्ण अनेक भूषणाकार हो जाता है, पर उस काल में भी सोना ही रहता है। जैसे लोहा छुरी, कुल्हाड़ी आदि आकार का हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म प्रपञ्चाकार हुआ है, तो भी उसने अपने स्वभाव का त्याग नहीं किया है। ज्यों-का त्यों अपने आप में स्थित है।

शिष्य—हे गुरु ! इस प्रकार से भी कर्म तो मिथ्या न ठहरे। फिर आप उनको मिथ्या कैसे कहते हो ?

गुरु—हे सौम्य ! जैसे माता बच्चे से मिट्टी छुड़ाकर उसके हाथ में छुहारा पकड़ा देती है और फिर छुहारे को भी छुड़ाकर रोटी खाने में लगा देती है, उस काल में मिट्टी और छुहारा बालक से भिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। बालक ज्यों-का-त्यों रहता है। उसी प्रकार जीवों को वेद भगवान् अज्ञानरूपी रोग से दुःखी देखकर कर्मरूपी मिट्टी छुड़ाता है और उपासनारूपी छुहारा हाथ में पकड़ा देता है। उसके पश्चात् उपासनारूपी छुहारे का भी त्याग कराकर इसको ज्ञानरूपी रोटी में जोड़ देता है। उस काल में यह मुमुक्षु सब उपाधियों का त्याग करके आत्मा को असङ्ग अविकारी जानता है। उस काल में वेद इनसे कहता है कि तुम जीव नहीं, किन्तु ब्रह्मरूप हो। यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है। एक, अद्वैत, साक्षी, तुम सबके आत्मा सत् हो। इस प्रकार उपाधि से भिन्न करके जीव को वेद ने परब्रह्म रूप सिद्ध किया है। वह सृष्टि के आदि में परिपूर्ण था और अब भी परिपूर्ण है।

ज्ञानवान् को सदा एक अद्वैत ब्रह्मात्मा का ही अनुभव होता है। अज्ञानी शरीराभिमानी को जन्म-मरण आदि द्वैत प्रपञ्च भासता है। इस कारण से अज्ञानी, अविवेकी कर्मसङ्गी को सब कुछ करने-

कराने का संकल्प फुरा करता है। इसीलिए उसके सिर पर कर्तव्य का भार रखा गया है। जिसने गुरुमुख द्वारा महावाक्य मन्त्र का श्रवण किया है, परन्तु किसी प्रतिबन्धक पाप के कारण अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ हो, उसको ओंकार का ब्रह्मरूप से ध्यान करना श्रेष्ठ है। अहंग्रह ध्यान करने से ज्ञान द्वारा अवश्य मोक्ष हो जायेगी। यह ओंकार की उपासना सब उपासनाओं में श्रेष्ठ है और अनादिकाल से चली आती है। जैसे शास्त्रों में धनुष-शास्त्र श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार सब उपासनाओं में ओंकार की अहंग्रह उपासना ही श्रेष्ठ मानी है।

हे शिष्य ! जैसे जल द्वारा सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, उसी प्रकार ओंकार रूपी जल द्वारा ब्रह्मरूपी सूर्य का प्रतिबिम्ब दृष्ट आता है। वह प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न नहीं होता। जैसे प्रतिमा का ध्यान करने से देवता का दर्शन होता है, उसी प्रकार ओंकार रूपी प्रतिमा का ध्यान करने से ब्रह्म का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। वेद भगवान् ने इस ओंकार ब्रह्म की चार मात्रा और चार पाद कहे हैं। अकार, उकार, मकार और चौथा अर्धमात्रा,—यह चार मात्रा हैं। विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर तथा ब्रह्म, यह चार पाद हैं। इसी प्रकार वेद ने जीव के भी चार पाद कहे हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा तुर्या यह जीव के चार पाद हैं।

ओंकार की चारों मात्रा, ब्रह्म और जीव के चारों पाद वाच्यार्थ हैं। चार मात्रा चारों पादों की वाचक हैं। वाच्य-वाचक का सदा अभेद ही होता है। इस कारण से जीव ही ओंकार रूप ब्रह्म है। इस प्रकार चारों पादों सहित ओंकार का जो पुरुष अहंग्रह रूप से ध्यान करता है, मानो उसने सब उपासना सम्पूर्ण अङ्गों सहित कर लीं, क्योंकि ओंकार के अन्तर्भूत ही सब उपासनायें आ जाती हैं। ओंकार का ध्यान करने से सब देवता भी प्रसन्न होते हैं, क्योंकि देवता जानते हैं कि हम इस ओंकार के पाद के नीचे हैं।

हे शिष्य ! पूर्व ब्राह्मणों ने इसी ओंकार का ध्यान परम्परा से अपने शिष्यों को उपदेश किया था। वेद में ओंकार की उपासना के समान और कोई उपासना नहीं है। ओंकार से गायत्री और गायत्री से चारों वेद प्रकट हुए हैं। इस कारण से ओंकार ही वेद रूप है। जितनी भी उपासनायें हैं, वह भी ओंकार के आसरे सिद्ध होती हैं। जो ओंकार ब्रह्म के महत्व को जानना है। ओंकार बिना कुछ भी नहीं है। इस कारण से ओंकार का ध्यान परम श्रेष्ठ है।

हे शिष्य ! तू देख ले कि दिन-रात्रि जो जीवों में श्वास-प्रश्वास आते-जाते हैं, उनमें 'सोऽहं-सोऽहं' शब्द के द्वारा ओंकार ब्रह्म के नाम का उच्चारण होता रहता है और दूसरे नाम दो घड़ी अथवा कभी-कभी उच्चारण होते हैं। परन्तु इस ओंकार ब्रह्म का निरन्तर जाप होता ही रहता है। सोते, बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, दौड़ते, लेते-देते किसी अवस्था में भी इस जाप का भङ्ग नहीं होता। इस कारण से भी सब नामों और उपासनाओं से ओंकार का नाम और उपासना श्रेष्ठ है। इसीलिए मनुष्यों को इसका ध्यान अवश्य करना चाहिये। इस कारण से, हे शिष्य ! तुम भी इस ध्यान में तत्पर रहो और जितने भी ध्यान हैं, उन सबका त्याग करो।

वैसे तो यह जीवात्मा दिन-रात ईश्वर-चिन्तन करता ही रहता है। देखो श्वास लेते समय "स" का उच्चारण होता है और श्वास छोड़ते समय "ह" का उच्चारण होता है। इसमें "ह" शब्द शिवरूप है और "स" शब्द शक्ति स्वरूप है। इस 'हंस' शब्द को ही अजपा गायत्री कहते हैं। जितनी बार श्वास-

प्रश्वास होता है उतनी ही बार "हंस" रूपी परममंत्र का अजपा जाप होता है। यही मनुष्य का स्वाभाविक जप और साधन है। "हंस" का उलटा "सोऽहं" अर्थात् (मैं वही हूँ-मैं वही हूं) शब्द जपा करता है। अनाहत चक्र में जो हंस ध्वनि होती है, वह हंस ही प्रणव या ओंकार है। इस "स" और "ह" को निकाल देने से "ओं" बन जाता है। यही हृदय में शब्द ब्रह्मरूप ओंकार हो जाता है। इस ओंकार के तीन रूप हैं—श्वेत, पीला, लाल। अ, उ, म् के मिलने से प्रणव बनता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव इस प्रणव पर स्थित हैं। यह तीनों देवता और इच्छा, क्रिया, ज्ञान—यह तीन शक्तियाँ सत्व, रज, तमोगुणों पर स्थित हैं। जो साधक इस प्रणवयुक्त गायत्री का जप करता है, वही परमपद को प्राप्त होता है, दूसरा नहीं।

शिष्य—हे गुरु! उपासना कितने प्रकार की है ?

गुरु—हे शिष्य! वैसे तो परमात्मा की उपासना के बहुत भेद हैं, परन्तु उनमें मुख्य तीन प्रकार की हैं। नमक की पुतली, कपड़े की गुड़िया और तीसरी पत्थर की डली। जल के संयोग की तरह तीनों का भेद है। जैसे नमक की डली जल में जाते ही जल का रूप हो जाती है, यह सबसे श्रेष्ठ उपासना है। इसको अहंग्रह उपासना कहते हैं जो कि महावाक्य के द्वारा होती है। उपासक उपास्य के रूप का हो जाता है। यहाँ त्रिपुटी नहीं रहती। कपड़े की गुड़िया जैसे पानी में जाने के कारण कुछ देर के पश्चात् पानी से ऊपर, नीचे तथा अन्दर सब तर हो जाती, परन्तु अपने आकार को नहीं छोड़ती। पानी से निकालने पर ज्यों-की-त्यों रहती है। यह उपासना मध्यम कोटि की मानी जाती है।

इसी प्रकार यदि उपासक भेद-बुद्धि से निरन्तर उपासना करे भी, तो कुछ काल के पश्चात् गुड़िया की तरह हो जाता है और जब उपासना छोड़ दे तो फिर ज्यों-का-त्यों ही हो जाता है। इसलिए मध्य कोटि के उपासक को चाहिए की शरीर का अभिमान भूल कर अपने स्वरूप का निरन्तर अभ्यास करता रहे। तीसरी पत्थर की डली पानी में जाते समय पानी रूप हो जाती है। परन्तु अन्दर एक कण भी गीला नहीं होता। बाहर निकलते ही कुछ काल में वायु के लगने से जैसी थी, वैसी ही हो जाती है। इसी प्रकार वासना रूपी वायु के लगते ही उपासक उपासना को भूलकर वासना का ही रूप बन जाता है अर्थात् दुःख आने पर अथवा कुछ लाभ होने के लिए प्रायः उपासक एकान्त में जाकर ध्यान लगाते हैं। यह तो बहुत ही निकृष्ट उपासना है। इस प्रकार की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए।

हे शिष्य! अब आगे दूसरे प्रकार की उपासना कहते हैं। विश्व ब्राह्मण में ऐसा कहा है कि एक समय देवता, दैत्य और मनुष्य इन तीनों को वैराग्य के संस्कार प्रगट हुए और तीनों अपने-अपने मन में विचार करने लगे कि अरे! भोग भोगते-भोगते तमाम जीवन ही समाप्त हो रहा है और तृप्ति नहीं होती। दिन प्रतिदिन तृष्णा बढ़ती ही जाती है। राम-राम! शिव-शिव! क्या इसीलिए यह मानव जन्म मिला है ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। यह जीवन तो पशुओं जैसा है। मानव-जीवन ऐसा नहीं हुआ करता। अब तो किसी ब्रह्मज्ञानी महात्मा के पास जाकर अपने कल्याण का मार्ग पूछना चाहिए। फिर विचार किया कि किसी ब्रह्मवेत्ता आचार्य के पास चलें। विचार करते-करते यह निश्चय हुआ कि भाई, ब्रह्मा सब आचार्यों का आचार्य और सब ब्रह्मज्ञानियों का ब्रह्मज्ञानी है। उसी के पास चलना चाहिए। वह जिस प्रकार हमारा हित देखेगा, उसी प्रकार का हमको उपदेश करेगा।

तब देवता, दैत्य और मनुष्य—तीनों ब्रह्मचर्य धारण करके ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्मा इनके त्याग, वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य को देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और मन में विचार करने लगे कि देखो, यह सब के राजा होकर, अपने-अपने राज्य का त्याग करके, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके ब्रह्मलोक में आये हैं। इनको अपने-अपने राज्य के भोगों से किस प्रकार वैराग्य हुआ ? इनके लोक में कोई विघ्न तो नहीं हुआ जो भय के मारे मेरे पास आये हैं ? इनसे पूछना तो चाहिए। देखें, यह क्या कहते हैं ?

प्रजापति—हे देव, दैत्यों और मनुष्यों के राजा लोगो ! तुम ब्रह्मचर्य धारण करके मेरे लोक में किस कारण से आये हो ? तुम्हारे शरीर दुर्बल क्यों हो गये हैं ? तुमने अपने राज के सुखों का त्याग क्यों किया है ? क्या कोई राज्यकाज में विघ्न हुआ है कि जिससे तुम्हारी यह दशा हुई है ?

तब तीनों ने कहा—हे प्रभो ! न तो कोई झगड़ा हुआ है और न कोई विघ्न ही हुआ है। महाराज ! जिस प्रकार हमारा कल्याण होवे और इस जन्म-मरण रूपी संसार-समुद्र से पार उतरें, वही उपदेश हमारे कल्याण के वास्ते कृपा करके कहिये। हे प्रभो ! इसी कारण आप के पास आये हैं। महाराज ! हम लोग भोगों को भोगते-भोगते परेशान हो गए हैं परन्तु शान्ति नहीं होती। उलटी तृष्णा बढ़ गई है।

ब्रह्मा—हे देवताओ, दैत्यों और मनुष्यो ! तुम लोग तीनों अलग-अलग बैठ जाओ। जिसको हम बुलायें, वही हमारे पास आवे। बिना बुलाये हमारे पास नहीं आना। जल्दी भी नहीं करना।

ब्रह्मा के यह वचन सुनकर तीनों आज्ञानुसार अलग-अलग चले गए। कुछ काल के पश्चात् ब्रह्मा ने देवों को बुलाकर कहा कि हे देवताओ ! तुम्हारी क्या इच्छा है ? किस वास्ते तुम मेरे पास आये हो ?

देवता—हे प्रभो ! हमको अपने कल्याण की इच्छा है। हमको संसार-सागर से पार करिये। संसार में हमको कुछ अच्छा नहीं लगता। आप कृपा करके हमको हित का उपदेश करिये। इसी वास्ते हम आपके पास आये हैं। हे प्रभो ! सांसारिक व्यवहार हमको दुःखरूप प्रतीत होते हैं। भोगों में अरुचि हुई है।

यह सुनकर ब्रह्मा ने देवताओं को भोगी-विलासी जानकर एक अक्षर 'द' मंत्र का उपदेश किया और कहा कि हे देवताओ ! यही मंत्र 'द' तुम्हारे कल्याण का हेतु है। इसी को जानकर शान्ति को प्राप्त होगे। देखो, इस मंत्र का श्रद्धापूर्वक विचार करो।

फिर ब्रह्मा ने देवताओं को बुलाकर पूछा कि हे देवो ! हमने जो 'द' मंत्र का उपदेश किया है, इसका तुमने क्या तात्पर्य समझा है ? तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा के लिए हम पूछते हैं।

देव—हे प्रभो ! इस मंत्र द्वारा आपने हमको यह उपदेश किया है कि तुम्हारी इन्द्रियाँ, जो भोगों में फंस रही हैं, उनका तुम लोग दमन करो। दमन करने से ही तुम्हारा परलोक सुधर जायेगा अर्थात् तुमको शान्ति मिल जायेगी।

प्रजापति—हे देवताओ ! तुम लोग धन्य हो जो तुमने मेरा अभिप्राय यथार्थ समझा है। अब जाओ, इस मंत्र का विचार करो। यह याद रखना कि यह मंत्र किसी से न कहना। गुप्त रखना।

फिर ब्रह्मा ने मनुष्यों को बुलाया और कहा कि हे मनुष्यो ! तुम लोग किस लिये ब्रह्मलोक में आये हो ?

मनुष्य—हे प्रभो! यह शरीर जन्म-मरण आदि दुःखों की खान है। महाराज! नाना प्रकार के दुःखों से हम ग्रस्त रहते हैं। जिस प्रकार इस से हमारी मुक्ति होवे, वही आप हमको उपदेश करिये।

तब ब्रह्मा ने विचार किया कि यह मनुष्य लोभी बहुत होते हैं। प्रयोजन बिना एक कानी कौड़ी भी देना इनके लिये कठिन है। यह लोग बे प्रयोजन तो किसी से बातचीत भी नहीं करते। जहाँ कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है, वहीं खर्च करते-कराते हैं, अन्यत्र नहीं। इस कारण से इनको दान करने का उपदेश करना चाहिये। यह विचार कर प्रजापति ने कहा कि हे मनुष्यो! "द" मन्त्र का ध्यान करो। यही तुम्हारे कल्याण का हेतु है। इतना सुनकर मनुष्य चलने लगे तो ब्रह्मा ने कहा कि भाई! "द" शब्द का क्या अभिप्राय समझा है? जो कुछ अभिप्राय समझा हो सो हमसे कहो।

मनुष्य—हे प्रभो! आपने हमको यह उपदेश दिया कि तुम लोभी बहुत हो। परमार्थ में एक कौड़ी भी किसी को नहीं दे सकते। इस कारण से तुम लोग 'दान' किया करो। दान करने से ही तुमको कल्याण, शान्ति और आनन्द प्राप्त होगा।

ब्रह्मा—हे मनुष्यो! तुम भी धन्य हो क्योंकि तुमने हमारे उपदेश का यथार्थ अभिप्राय समझा है। अच्छा, तुम जाओ और इस "द" मन्त्र का विचार करते रहो। परन्तु इस मन्त्र का उपदेश किसी से न करना। इसको गुप्त रखना।

इतना कहने पर मनुष्य ब्रह्मा को नमस्कार करके चले गये। फिर ब्रह्मा ने दैत्यों को बुलाकर कहा कि हे दैत्यराज! तुम किस निमित्त से यहाँ मेरे पास आये हो?

दैत्य—हे प्रभो! हमारा स्वभाव बड़ा ही कठोर है। निर्दयता से युक्त अनेक जीव-जन्तुओं को मारकर खाते हैं और भोग भोगते हैं। दम, दान, दया तो हम जानते ही नहीं। महाराज! तो भी शांति नहीं मिलती। दिन-प्रतिदिन तृष्णा अधिक बढ़ती जाती है। जिस प्रकार से हम शांति पावें, सोई प्रकार आप कृपा करके उपदेश करिये। हम आपकी शरण में आये हैं। हे प्रभो! हमको इस तृष्णा की जलन से बचाइये।

तब ब्रह्मा ने विचार किया कि यह दैत्य लोग हिंसा बहुत करते हैं। प्राणघात करते हैं। इनको दया नहीं आती। इनके यहाँ आचार-विचार का तो काम ही नहीं है। इस कारण से इनको भी "द" मन्त्र का उपदेश करना चाहिये।

प्रजापति—हे दैत्यराज! इस "द" मन्त्र का जाप और ध्यान किया करो। यही तुम्हारे कल्याण और शान्ति का हेतु है। यह मन्त्र और किसी से नहीं कहना।

दैत्य—हे प्रभो! बहुत अच्छा। यदि आज्ञा हो तो जायें।

ब्रह्मा—नहीं, अभी जरा ठहरो और तुमने इस मन्त्र का जो कुछ अभिप्राय समझा हो, वह सुना दो। तुम दैत्यराज हो और अपने को बुद्धिमान समझते हो। व्यवहार में भी तुम बहुत चतुर हो। हम भी तो तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा करलें कि कैसे बुद्धिमान हो?

दैत्य—हे प्रभो! हम लोग हिंसा बहुत करते हैं और दया का तो हमारे यहाँ काम ही नहीं है। इसलिये आपने हमको इस मन्त्र द्वारा दया करने का उपदेश किया है कि यही तुम्हारे कल्याण का हेतु और कोई मार्ग नहीं। हे प्रभो! हम तो इतना ही समझे हैं। ठीक है या नहीं, आप जानें।

तब ब्रह्मा ने कहा कि हे दैत्यराज ! तुम बड़े बुद्धिमान हो । जो तुमने समझा है, ठीक यही हमारा अभिप्राय है । हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं । अच्छा जाओ, इस मन्त्र का नित्यंप्रति जाप और ध्यान किया करो । तुम्हारा जीवन दयामय बन जायगा अर्थात् तुम लोग हिंसा करनी छोड़ दोगे ।

दैत्य—हे प्रभो ! गुरुओं का आशीर्वाद चाहिये । आपको हम नमस्कार करते हैं, आज्ञा हो तो हम जायें ।

हे शिष्य ! इस प्रकार ब्रह्मा ने तीनों को एक 'द' अक्षर का उपदेश किया और तीनों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ समझ लिया । यह जीव जब तक अपने अवगुणों को नहीं जानता, तब तक इसका कल्याण नहीं होता । हे शिष्य ! जब यह तीनों चले गए और आगे परस्पर मिले तो कहने लगे कि यह "द" शब्द तो वर्णात्मक होने से जड़ है । जड़ की उपासना करने से भला शांति कैसे मिल सकती है ? चलो, फिर पिता ब्रह्मा के पास चलें और इस शङ्का को निवृत्त करें ।

हे शिष्य ! वे तीनों फिर ब्रह्मा के पास आए और नमस्कार करके कहने लगे कि हे प्रभो ! यह "द" अक्षर वर्णात्मक होने से जड़ है । जड़ की उपासना से शान्ति कैसे मिलेगी ? कृपा करके हमारी शङ्का को दूर करो ।

ब्रह्मा—हे देवो, मनुष्यो तथा दैत्यो ! वैसे तो मन्त्र सब वर्णात्मक ही होते हैं और वे सब जड़रूप ही हैं, तो भी मन्त्रराज गुरु की कृपा से या उनके प्रसाद से यह "द" अक्षर शीघ्र ही सिद्धि देने वाला है । जिन पुरुषों ने गुरुमुख से नहीं सुना, स्वयं कहीं से लेकर रट लिया है, उसका फल कुछ नहीं होता । गुरुमुख से सुना हुआ मन्त्र सब सिद्धियों का देने वाला होता है । जैसे शक्कर में मधुरता और चन्द्रमा में चाँदनी विराजमान है, इसी प्रकार ब्रह्मांड सहित परब्रह्म मन्त्र में विराजमान है । जैसे अनुकूल ऋतु में वृक्षों में अंकुर निकल आता है, उसी प्रकार योग्य साधनों से इस मेरे बताए हुए "द" मन्त्र में से ब्रह्म प्रगट हो जायगा । गुरु के वचनों में श्रद्धा और विश्वास करना ही परम भक्ति है । अच्छा, तुम लोग जाओ और इस "द" मन्त्र का अच्छे प्रकार जप तथा ध्यान करो । तुम्हारा जीवन सफल बन जायगा ।

शिष्य—हे गुरु ! आजकल तो मनुष्यों में भोग, आसक्ति, हिंसा और लोभ—तीनों अवगुण पाये जाते हैं । इनका कल्याण किस प्रकार होगा ?

गुरु—हे शिष्य ! यह मनुष्य जब भोगासक्ति, हिंसा और लोभ—इन तीन अवगुणों का त्याग करेगा तथा दम, दान, दया इन तीनों गुणों को धारण करेगा, उस काल में ही इसका कल्याण होगा । सब कर्म-उपासना भी इनकी जब ही सफल होगी क्योंकि दम, दान और दया यह तीनों कर्म-उपासना के मुख्य अङ्ग हैं और ज्ञान के भी मुख्य कारण हैं । इन तीनों बिना मोक्ष की प्राप्ति कठिन है । कर्म-उपासना भी निष्फल ही जाते हैं । इन तीनों गुणों बिना मनुष्य का जीवन बकरी के गले के थनों के समान व्यर्थ है । इन तीनों गुणों बिना सभी दानव संज्ञा में हैं, देव और मनुष्य संज्ञा में नहीं हैं ।

शिष्य—हे गुरु ! पूर्वकाल में देवता, दैत्य और मनुष्य दूसरे थे । साक्षात् ब्रह्मा उपदेश करने वाला था । अब न तो पहिले के समान देवता ही हैं और न दैत्य, मनुष्य ही हैं । इनका कल्याण किस प्रकार होगा ? इस काल में तो ब्रह्मा के समान कोई उपदेश करने वाला भी नहीं है ।

गुरु—हे शिष्य ! ऐसा मत कहो कि इस समय उपदेश करने वाला कोई नहीं है । वही इस समय देवताओं द्वारा जीवों को नित्यंप्रति उपदेश करता-कराता है । भला किस प्रकार ? देखो, मेघों की दनदना-

हट द्वारा "हे मनुष्यो दम-दम अर्थात् दमन करो, दमन करो" ऐसा कह रहा है। वही बिजली द्वारा कहता है कि जो तुम दया, दान, दम इन तीनों का सेवन नहीं करोगे तो तुम्हारे शिर पर बिजली पड़ेगी अर्थात् बारम्बार जन्मोगे, मरोगे और बार-बार बिजली की नाईं व्याकुल होगे। स्त्री, पुत्र, धन आदि के संयोग-वियोग से बारम्बार पिटोगे। यही बिजली का शिर पर गिरना है। हे शिष्य! इस प्रकार अब ब्रह्मा मेघों की गरज और बिजली की चमक द्वारा दम, दान, दया करने का उपदेश करता रहता है। वेद कहता है कि ब्रह्मा ने जो इन तीनों को दम, दान और दया का उपदेश किया है, सो सत्य है। जो पुरुष इन तीनों का सेवन करेगा, वही परमानन्द को प्राप्त होगा, दूसरा नहीं। इससे भिन्न उपाय करने वाला तो सदा इधर-उधर भटकता ही फिरेगा।

जीवों में भोग लम्पटता, हिंसा और संग्रह, यह तीन बड़े अवगुण हैं। इनकी निवृत्ति दान, दया और दम से ही होती है। ब्रह्मा ने अनुग्रह करके सब जीवों को यह उपदेश किया है। वेद ने जो देव, दैत्य और मनुष्य कहे हैं, सो मनुष्य की रुचि बढ़ाने के लिए रूपक अलंकार द्वारा निरूपण किया है। जो तीनों ब्रह्मा के पास गये थे सो तीनों इस पुरुष की बुद्धि में स्थित हैं। समझाने के मिस से वेद ने बाहर कथन किये हैं कि हे मनुष्यो! बाहर क्या देखते हो? अपने भीतर ही क्यों नहीं देखते? यह तुम्हारे शरीर में ही स्थित हैं। बुद्धिरूपी ब्रह्मा है, मनरूपी देवता है, अहंकाररूपी मनुष्य है और दैत्यरूपी इन्द्रियाँ हैं। बुद्धिरूपी ब्रह्मा इन तीनों को प्रेरणा करता रहता है कि जो तुम दम, दान, दया करते रहोगे तो शांत आत्मा हो जाओगे। यही तीनों साधन तुम्हारी मोक्ष के कारण हैं।

हे शिष्य! अब आगे तीसरी उपासना मृदुल ब्राह्मण की कथन करते हैं। जो पुरुष उक्त प्रकार से ओंकार रूप हिरण्यगर्भ की अहंग्रह उपासना करता है, उसके सम्पूर्ण शत्रुओं का नाश हो जाता है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ—यह तीन बड़े शत्रु हैं और उनके पुत्र-पौत्र आदिक अनेक हैं। उन सबका नाश करके उपासक हिरण्यगर्भ भाव को प्राप्त होता है। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति जल से होती है। हिरण्यगर्भ जल से किस प्रकार उत्पन्न हुआ है? सो भी सुन। हे शिष्य! दूध, घृत, जौ, चावलादि और जल की जो अग्निहोत्री नित्यप्रति आहुति करते रहते हैं, उन सब अग्निहोत्रियों की दी हुई आहुतियाँ सूक्ष्म रूप होकर हिरण्यगर्भ का स्वरूप धारण करती हैं। यह आहुतियाँ शांत स्वरूप वाली तथा सात्विक भी होती हैं। इसी कारण से हिरण्यगर्भ भी शांत, सात्विक तथा शांत आत्मा होता है और शांत आत्मा होने से ही सबका पूज्य भी होता है। सब प्राणियों के मिले-जुले पुण्यों के पूजन का परिणाम होता है। सोई हिरण्यगर्भ का स्वरूप है। ऐसा कौन प्राणी है कि जिसने कभी, किसी जन्म में अग्निहोत्र न किया हो? अर्थात् सबने ही पूर्व जन्मों में अग्निहोत्र अवश्य किया है। हे शिष्य! उससे हिरण्यगर्भ का शरीर बना है। जैसे पञ्च-लोग मिलकर कोई मन्दिर बनाते हैं, फिर वह सबके पूजने का स्थान होता है। उसी प्रकार हिरण्यगर्भ रूप मन्दिर समष्टि जीवों के पुण्यों से बना है। इसी कारण से सबका पूज्य स्थान है।

जैसे इन पुरुषों का निर्वाह अपने-अपने पाप-पुण्यों के अनुसार होता है। पुण्यवान पुरुष उत्तम पदार्थों को प्राप्त होते हैं और दुराचारी, पापी पुरुष नीच पदार्थों को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार इन पुरुषों ने पूर्व जन्म में उत्तम पुण्य कर्म किये हैं, तब हिरण्यगर्भ का उत्तम स्थान मिला है और इसी से देवत्व भाव को प्राप्त हुए। जो समष्टि जीवों ने पूर्व जन्मों में पाप सञ्चय किए हैं, उनसे राक्षस, असुर आदि क्रूर

स्वभाव वाले जीव उत्पन्न हुए हैं। हिरण्यगर्भ से विराट उत्पन्न होता है और विराट से देवता उत्पन्न हुए हैं। फिर मूर्त, सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं से अनेक प्रकार का ब्रह्मांड उत्पन्न हुआ है।

पुण्य-पापों के परिणाम से ही मनुष्य, पशु, पक्षी, चींटी, वृक्ष, पर्वत आदि उत्पन्न हुए हैं। पुण्यों से सब जीवों की उत्पत्ति और सुख का भोग होता है। पापों से दुःख का भोग और सबका नाश होता है। यह स्थूल शरीर पापों से उत्पन्न हुआ है। इसी कारण से दुःखदाई और नाशवान है। बार-बार जन्मता-मरता रहता है। यह जो सूक्ष्म शरीर है, पुण्यों द्वारा उत्पन्न हुआ है। इसी कारण से सुखी और बहुत काल पर्यन्त भी रहता है। यह सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ का अंश कहलाता है। हे शिष्य! पुण्य रूप लिंग शरीर का जन्म नहीं होता। जब ब्रह्मज्ञान होता है, उस काल में ही इसका नाश होता है और फिर सत् ब्रह्म में लीन हो जाता है। हे शिष्य! समझे कि नहीं।

शिष्य—हे प्रभो! आपकी कृपा से समझ गया। परन्तु, हे प्रभो! एक शंका और फुरी है। वह यह है कि आप के कथन से कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि यह जीव सबका कारण है और स्वतः सिद्ध है। तो यह सब ब्रह्माण्ड आत्मा को भूलकर परिच्छिन्न देवताओं की पूजा क्यों करता है? अपनी ही पूजा क्यों नहीं करता?

गुरु—हे शिष्य! वेद में यह वर्णन है कि पाँच भूतों द्वारा जो हिरण्यगर्भ स्वरूप प्रतीत होता है, वही परमानन्द ब्रह्मरूप है। यही ब्रह्म हिरण्यगर्भ द्वारा विराट् स्वरूप हुआ है। उस विराट् के चक्षु सूर्य और चन्द्रमा हैं। व्यष्टि चक्षु और समष्टि चक्षु रूप सूर्य की परस्पर मित्रता है। भला कैसे? जब पहिले सूर्य प्रकाशता है, तब पीछे जाकर यह व्यष्टि चक्षु सूर्य को सिद्ध करता है। यदि चक्षु सूर्य को सिद्ध न करे तो सूर्य को कौन जाने? इस कारण से सूर्य और आँख की आपस में मित्रता है। जो चैतन्य सूर्य में है, सोई चैतन्य आँख में भी है। चैतन्य दोनों में एक है, दो नहीं।

देवता लोग सूर्य का ध्यान करते हैं क्योंकि सूर्य देवताओं का उपास्य है। उसी प्रकार इन्द्रियाँ चक्षु का ध्यान करती हैं। इन्द्रियाँ देवताओं में लीन हो जाती हैं और देवता हिरण्यगर्भ में लयभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जीव के मरने के समय चक्षोपहित चैतन्य सूर्य उपहित चैतन्य में मिल जाता है। तब चक्षु को सूर्यमण्डल दिखाई देता है। उस काल में सूर्य को भी शोक होता है कि अब मेरे मित्र का घर सूना हो गया। फिर सूर्य उपहित चैतन्य हिरण्यगर्भ उपहित चैतन्य में लीन होता है। जो चैतन्य हिरण्यगर्भ से परम्परा द्वारा जीव में आया था, वही चैतन्य परम्परा द्वारा हिरण्यगर्भ से शुद्ध चैतन्य में लीन हो जाता है।

शिष्य—हे गुरु! हिरण्यगर्भ का क्या नाम है और जीव का क्या नाम है? कृपा करके यह भी बताइये।

गुरु—हे शिष्य! हिरण्यगर्भ का नाम 'हकार' और जीव का नाम 'सकार' है। हिरण्यगर्भ के नाम से जीव का नाम श्रेष्ठ है क्योंकि जीव का नाम प्रत्यग् ब्रह्म है। यही तो सर्वात्मा है और यही सब की मोक्ष का स्थान है। जिस पुरुष को प्रत्यग् आत्मा अर्थात् अपने अन्दर के आत्मा में श्रद्धा नहीं है, अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान नहीं है, उसको वेद भगवान् ने मोक्ष के निमित्त हिरण्यगर्भ की अहंग्रह उपासना श्रेष्ठ कही है। इससे भिन्न जो भी उपासनायें हैं, जिनका पुराणों में कथन किया गया है, वह स्वर्गादिक लोकों के भोगों का साधन हैं। उनके उपास्य इन्द्रादिक अनेक देवता हैं। उन उपासनाओं

से सिवाय भोगों के और कुछ नहीं प्राप्त होता है। मोक्ष का कारण मायाविशिष्ट ईश्वर की अहंग्रह उपासना है। यह उपासना सब उपासनाओं से श्रेष्ठ मानी जाती है।

इस मृदुल नाम की तृतीय उपासना को समाप्त करते हुए अब अग्नि ब्राह्मण नाम की चतुर्थ उपासना का कथन करते हैं। हे शिष्य! कोई-कोई उपासक तो अग्नि को ब्रह्म जानकर उपासते हैं क्योंकि शरीर की रक्षा का कारण अग्नि है। जो जिसकी रक्षा करता है, वह उसका आत्मा ही होता है। यह अग्नि दोनों लोकों में लाती और ले जाती है। इसी कारण से यही ब्रह्म है।

शिष्य—हे गुरु! यह अग्नि शरीर की रक्षा कैसे करती है और कौन-कौन से गुणों से इसका उपासक लोग ब्रह्मरूप से चिन्तन करते हैं?

गुरु—हे शिष्य! जब मनुष्य भोजन करता है, उस काल में अग्नि उस खाये हुए अन्न को पेट में फिर से पकाती है और सब नाड़ियों को उन-उन का भाग पहुँचाती है। इस अग्नि के आसरे ही नाड़ियाँ जीती-जागती रहती हैं। जैसे सेना राजा के धन के सहारे से जीती है, उसी प्रकार अग्नि के आश्रय ही सब नाड़ियाँ जीवन-धारण करती हैं। यदि शरीर में अग्नि का अभाव हो जाय तो अन्न गन्दा हो जाय और सब नाड़ियाँ अपने-अपने काम से उपराम होकर भागने को तैयार हो जायें। जैसे अकाल के मारे लोग देश छोड़कर भाग जाते हैं, उसी प्रकार नाड़ियाँ शरीर को त्याग कर भाग जाती हैं।

जैसे मनुष्य अनारदाना निकालकर बेचता है, यदि वह अनारदाना बिकने से रह जाय तो अगले दिन गन्दा हो जाता है और ग्राहक लोग देख-देखकर चले जाते हैं। तब वह पुरुष उस अनारदाने को सस्ता बेचता है। उसी प्रकार अग्नि दिन-प्रतिदिन खाये हुये अन्न को पकाकर नाड़ियों को अन्न पहुँचाती रहती है। यदि किसी दिन पाचन न करे तो खाया हुआ अन्न पेट में सड़ जाता है और नाड़ियाँ भागने को तैयार हो जाती हैं। तब अग्नि जुलाब द्वारा सस्ती कीमत की वस्तु की नाईं उस अन्न को बाहर फेंकने लगती है। इस सब कहने का तात्पर्य यह है कि जठराग्नि जितना अन्न पचा सके, मनुष्यको उतना ही अन्न खाना चाहिये, अधिक नहीं। यदि अधिक अन्न खाया जायेगा तो अग्नि उसका पाचन नहीं कर सकेगी। तब अन्न गन्दा हो जायेगा और उससे नाड़ीरूप प्रजा को अधिक कष्ट होगा। इसलिये मनुष्य को उचित है कि जितने अन्न को पचा सके उतना ही भोजन करे। इतना न खा जाय कि अग्नि की ग्राहक नाड़ियाँ दुःखी होकर भाग जायें।

यह तो अवश्य है कि पिछले जन्म के पुण्यों से भोगों की प्राप्ति होती है। तो भी युक्तिपूर्वक आहार-विहार करना ही श्रेष्ठ है। इस कारण से विचारवान् पुरुष को उचित है कि जब तक गृहस्थ आश्रम में रहे तब तक अपने सुख के लिए अपने बूढ़े माता-पिता की अन्न-वस्त्र से सेवा अवश्य करे। जो कोई भी भूखा-प्यासा घर पर आ जाय, पहिले उसको अन्न-जल देकर सन्तुष्ट करे, पीछे स्वयं खावे। जिस पुरुष को फिर मनुष्य जन्म प्राप्त करने की इच्छा हो, उसको अन्न, जल तथा वस्त्र का दान अवश्य करना चाहिये, क्योंकि बिना दिये कुछ नहीं मिलता।

यह भी ध्यान रहे कि प्राणी जिस श्रद्धाभाव से किसी को कुछ देता है, उसी प्रकार से पाता है। जैसे दूध लेने के लिये घास, दाना आदि से गौ की रक्षा करते हैं, वैसे ही पुण्यरूपी दूध की प्राप्ति के लिए अतिथि-अभ्यागतों की रक्षा करता रहे। जो प्राणी अन्न-वस्त्र आदि अतिथियों को न देकर स्वयं ही

भोगता है, वह वृक्ष, पशु आदिक योनियों को प्राप्त होता है। इस कारण से गृहस्थी को ऊँच-नीच सब प्राणियों में स्थित अग्नि का दर्शन करके भोजन करना योग्य है। बिना किसी देवता के दर्शन किये या बिना अतिथि के जिमाये जो भोजन करता है, वह जितना अन्न खाता है, उतना ही पाप को भी खाता है। जो मन से देता है, वह मन से ही पाता है और तन से देता है, वह तन से ही पाता है। जो वाणी से देता है, वह वाणी से ही पाता है।

जैसे एक नाज के दाने के बोने से ईश्वर की कृपा द्वारा हजारों दाने मिलते हैं, उसी प्रकार भक्ति अनुसार जो गृहस्थी अतिथि-अभ्यागत रूपी पृथ्वी में जैसा-जैसा बीज बोता है,—अच्छा या बुरा,—उससे सहस्रों लाखों और कभी-कभी करोड़ों गुणा भी फल पाता है। हे शिष्य ! यही अग्नि की उपासना है और यही अग्नि का पूजन है। इस प्रकार उपासना करने से अग्नि उपासक पुरुष को मोक्ष की तरफ खींच ले जाती है अर्थात् इसके द्वारा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से मोक्ष मिल जाती है। इस चौथी उपासना को समाप्त करके आगे पाँचवीं रोग-उपासना को प्रारम्भ करते हैं।

शिष्य—हे प्रभो ! सबसे अधिक तप किसको कहते हैं ?

गुरु—हे शिष्य ! इस संसार में सब तपों से श्रेष्ठ तप यह है कि जब प्रारब्धवश कोई रोग आदि अनिष्ट दैवयोग से आ जाय, किंवा हानि, लाभ प्राप्त हो जाय, उस काल में अनिष्ट की प्राप्ति में शोकवान न हो और इष्ट की प्राप्ति में हर्षित न हो। अपनी प्रारब्ध समझकर धैर्य धारण करके सहन करे। किसी देवता या मनुष्यादिक को बुरा-भला न कहे और काष्ठ, पाषाण, जल आदि के समीप जाकर वृथा व्याकुलता से दीन न हो। मूर्ख, अहङ्कारी, अनाचारी, नास्तिक वैद्य डाक्टरों के पास जाकर दीनता पूर्वक वचन न बोले। अपने ही पूर्व जन्म में किये हुए पापों के बल से शरीर में रोग आदि दुःख उत्पन्न होते हैं। वह कर्मफल देकर स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे। यदि किसी विशेष साधन करने से रोक भी लिया तो कालान्तर में फिर पापकर्म कष्ट अवश्य देंगे। इसलिये उनका अभी भुगतान हो जाना श्रेष्ठ है। अति दीनता से व्याकुल होकर दुःख के दूर करने का जो पुरुषार्थ है, वह तो उलटे अनन्त दुःखों का कारण होता है। यदि हो सके तो कुछ जप, होम, पुण्य, दान, पाठादि किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण से करादे। यही पुरुषार्थ सब से श्रेष्ठ है।

खाने-पीने का ख्याल भी रखे अर्थात् परहेज से रहे। इसी प्रकार प्रारब्धवश कङ्गाली आ जाय, धन नष्ट हो जाय तो किसी मूर्ख, अभिमानी, अधर्मी, राजा, साहूकार आदि के सामने जाकर दीन न हो और न सिफ़ारिश करवावे क्योंकि दुःख तथा निर्धनता आदि अनिष्ट पापों का फल भुगतान कराने के लिए दैवयोग से आते हैं। फल भुगाकर आप ही नष्ट हो जायेंगे। इस कारण से तपस्वी मुमुक्षु यदृच्छा लाभ में ही द्वन्द्वों से अतीत, सन्तुष्ट रहे। मत्सरता का त्याग करे। सिवाय इसके और जो कुछ भी करता है, वह पापरूप और दुःख का कारण है। इससे सब तपों में श्रेष्ठ यह तप है कि रोग और निर्धनता आदि को सहन करे। हे शिष्य ! धैर्य धारण करके शीत-उष्ण अर्थात् गर्मी-सर्दी आदि को सहन कर ले। किसी से याचना न करे।

गुरु—हे शिष्य ! अब संक्षेप से अन्य उपासनाओं को भी सुनो। कितने ही पुरुष तो अन्न को ही ब्रह्मरूप जानकर उपासते हैं क्योंकि प्राण अन्न के ही आश्रय रहते हैं। जब पुरुष अन्न खाता है, तब इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं और पुष्ट होकर गुरु किंवा माता-पिता आदि की सेवा या श्रवण-मनन आदि करने को

समर्थ होती हैं। क्षुधा-पीड़ित प्राणी से कुछ नहीं होता, इस कारण से अन्न ही ब्रह्म है। कितने ही पुरुष तो हृदय की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं क्योंकि हृदय से ही सब ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और हृदय में ही ब्रह्माण्ड की प्रलय होती है अर्थात् मन द्वारा ही संसार की उत्पत्ति और लय होती है। इस कारण से हृदय ही ब्रह्म है। कोई-कोई सत् की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं क्योंकि नामरूप प्रपंच की उत्पत्ति और प्रलय सत् में ही होती है। इस कारण से सत् ही ब्रह्म है। कोई चक्षु की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं। चक्षु और सूर्य एक है, क्योंकि चक्षु से ही सब की सिद्धि होती है। यदि आँख न हो अर्थात् सूर्य न हो तो संसार में घोर अन्धकार मच जाय। इस कारण से चक्षु ही ब्रह्म है।

कोई पुरुष विद्युत (बिजली) को ब्रह्मरूप जानकर उपासते हैं, क्योंकि बिजली ही वर्षा द्वारा अन्न, शुक्र और रक्त आदि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करती है। इस कारण से बिजली ही ब्रह्म है। कोई गौ की नाईं वाणी की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं। जैसे गौ के ऊपर हाथ फेरकर तथा पुचकारकर दूध लेते हैं, उसी प्रकार मीठी-मीठी बातें करके, वाणी द्वारा दूसरों का आदर करके दूसरों से पदार्थों की प्राप्ति होतीहै। किंवा जैसे गौ स्वामी का पालन करती है, उसी प्रकार वाणी लोकों का पालन करती है। इस कारण वाणी ब्रह्मरूप है। कोई उपासक वैश्वानर की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं क्योंकि जाग्रत और स्वप्न यह दोनों वैश्वानर के आश्रय रहते हैं। क्योंकि यह दोनों वैश्वानर से ही सिद्ध होते हैं, इस कारण से वैश्वानर ब्रह्मरूप है।

कोई मरणकाल में प्रार्थना द्वारा सूर्य की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं, क्योंकि सूर्य भगवान सर्वज्ञ हैं, वही हमारी रक्षा करेंगे। कोई तो उकथ नामक प्राण की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं क्योंकि सब इन्द्रियों का प्रेरक प्राण ही तो है। प्राण बिना इन्द्रियाँ और शरीर जड़ हैं। इस कारण से प्राण ही ब्रह्म है। कोई गायत्री मंत्र की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं। इस प्रकार उपासक लोग अद्वैत सच्चिदानन्द ब्रह्म में कल्पित अनेक उपाधियों की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं। यह सब ब्रह्मरूप हैं। परन्तु अपने वास्तव स्वरूप को न जानकर दूसरी परिच्छिन्न उपाधियों का आरोपन करके दीनता पूर्वक प्रार्थना करते हैं।

हे शिष्य! जो गृहस्थ द्वादश दिन पर्यन्त प्राण की अहंग्रह उपासना करता है और विधिपूर्वक पंचमहायज्ञ सदा करता रहता है, उसको चाहिए कि प्रथम प्रातःकाल स्नानसंध्या से निवृत्त होकर लक्ष्मी-नारायण स्तोत्र का पाठ करे तथा कभी-कभी पुण्यतिथियों पर विद्वान ब्राह्मणों तथा अभ्यागतों को भोजन करा दे। भोजन के पात्र घर में सोने, चाँदी, कलई, काँसी, पीतल किंवा पत्थर के रखने चाहियें। कांच, मिट्टी, सिलवर तथा चीनी के पात्र में कभी भी लक्ष्मी की इच्छा करने वाले को नहीं खाना चाहिए और न किसी को खिलाना चाहिए। इन पात्रों में भोजन करने-कराने से घर तथा देश में दरिद्रता बढ़ती है अर्थात् लक्ष्मी का प्रकाश जाता रहता है। घर या देश लक्ष्मीहीन हो जाता है। हे शिष्य! स्वास्थ्य को स्थिर रखने और कल्याण करने वाले पात्रों को संस्कृत में प्रशस्त पात्र कहते हैं, ऐसा विद्वानों का मत है।

गृहस्थी को उचित है कि भोजन करके मुख को उच्छिष्ट कभी नहीं रखना चाहिए। भोजन करने से प्रथम तीन आचमन करे और खाने के पश्चात् भी कुल्ला करके तीन आचमन कर लेने चाहिएं। भोजन के आरम्भ में प्रथम छोटे-छोटे पाँच ग्रास पाँच प्राणों के नाम लेकर खा ले। खाने के पात्र सोने, चाँदी आदि के न मिल सकें तो धन की इच्छावाले को ढाक या केले के पात्र बनाकर खाना या अतिथि

को खिलाना शुभकारी है। ऐसे पात्रों में खाने-खिलाने से एक तो भोजन रुचिकर और दीपन होता है; दूसरी बात यह है कि इन पात्रों में भोजन करने-कराने से पुण्यकर्म का फल प्राप्त होता है। इन दोनों पत्तलों में भोजन करने तथा कराने से और भगवान की कथा में विद्वान महात्मा ब्राह्मणों को भोजन कराने और उनका दर्शन करने से महापातकों का नाश होता है। दरिद्रता की वृद्धि नहीं होने पाती। बुद्धि शुद्ध होती रहती है। इसलिये उनके यहाँ न तो दीनता ही फटकती है और न उनके कुल में कोई मूर्ख नास्तिक ही जन्म लेता है। लक्ष्मी की इच्छा वाले को खाट पर बैठकर तथा विना हाथ पैर धोये भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। किसी के साथ मिलकर एक पात्र में नहीं खाना चाहिए। घर में उच्छिष्ट पात्रों की शीघ्र शुद्धि कर लेनी चाहिये।

हे शिष्य! धन उपासना को समाप्त करते हुए आगे पुत्र-कामना विधायक अग्नि की उपासना प्रारम्भ करते हैं। जिस पुरुष को भक्तपुत्र की इच्छा हो उसको अग्नि में आहुति की नाई विधिपूर्वक ऋतुकाल में अपनी विवाहिता स्त्री को वीर्य का दान करना चाहिये। जो पशु की नाई वीर्य को वृथा नष्ट नहीं करता, वह दोनों लोकों में शोभा पाता है। जो पुरुष पशु की नाई वीर्य को नष्ट करता है, उसके दोनों लोक नष्ट हो जाते हैं और वह इस शरीर का त्याग करके मरण के पश्चात् कुत्ता, बिल्ली, सूकर, गिद्ध तथा वृक्ष, पर्वत आदि महान नीच शरीरों को धारण करता है। उसका बल, तेज, कान्ति, इन्द्रिय, बुद्धि और मन आदि सब के सब वीर्य द्वारा पृथ्वी खींच लेती है और खाली देखकर अपने पाप ऐसे मूर्ख प्राणी को दे देती है। इसलिये हे शिष्य! भक्तपुत्र को उत्पन्न करने के लिये शुद्ध आहार को करता हुआ, वीर्य की रक्षा करता हुआ, भगवान की कथा, कीर्तन नित्य करते रहना यथेष्ट है। भगवत-भक्तों के जीवन-चरित्रों का पाठ और महात्माओं का सत्संग-दर्शन तथा घर में धर्मात्माओं के चित्र भी लगाने चाहियें। इस पुत्र-कामना अग्नि की उपासना समाप्त करते हुए आगे पंचाग्नि विद्या को प्रतिपादन करते हैं।

हे शिष्य! देखो, यज्ञों का सार वर्षा है और वर्षा का सार घास-फूंस है। घास-फूंस का सार फूल है और फूलों का सार फल है। फलों का सार पुरुष है और पुरुष का सार शुक्र है। इस प्रकार परम्परा से शुक्र सब सारों का सार है। अर्थात् अमूल्य धन है या यों कहो कि रत्न है।

शिष्य—हे गुरु! वेद ने गृहस्थ पुरुषों को किस प्रकार वीर्य का दान कहा है?

गुरु—हे शिष्य! प्रथम तो द्विजन्मा गुरुमुख द्वारा अंगों सहित वेद का श्रवण करके, ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, पुरुष के सार को अच्छे प्रकार जानकर, प्राण के महत्व को समझ ले। पश्चात् अपने वर्णकुलोत्पन्न विवाहिता स्त्री को ऋतुकाल के चार दिन के पश्चात् (आमावास्या, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णमासी तथा संक्रान्ति—इन तिथियों को छोड़कर) मध्याह्न रात्रि में वीर्य का दान करे। जो पुरुष प्रमाद से पूर्णमासी, जो कि देवताओं की तिथि है और आमावास्या जो पित्रों की तिथि है, को स्त्री-समागम करता है, प्रथम तो वह पुरुष ही निर्लज्ज है, मानो वह पशु संज्ञा में है। उस समय की उत्पन्न हुई सन्तान शारीरिक रोगों वाली होगी। उसके माता-पिता को वैद्य-डाक्टरों के द्वार पर ही बार-बार जाना होगा। इस में संशय नहीं।

हे शिष्य! इस कारण बड़े कुलों के पुरुष इन तिथियों में समागम से बचने के लिए जप, तप, व्रत, यज्ञ, तीर्थ-सेवन, स्वाध्याय, सत्संग, तीर्थ-स्नान, दान आदि में लगे रहते हैं। इन तिथियों में वेद का पढ़ना-पढ़ाना यंत्र-सा ही रहता है। इसलिये गृहस्थी को उचित है कि स्त्री को स्त्री-रूप न जानकर

अग्निरूप से चिन्तन करे कि मानो स्त्री अग्नि है। भोग बुद्धि कदापि न करे। काम तथा विलासता से जो पुरुष मैथुन करेगा उसकी सन्तान भी वैसे ही स्वभाव वाली उत्पन्न होगी। यदि माता-पिता केवल कामवश हुए काम भावना को लेकर परस्पर क्रीड़ा करेंगे तो उनकी सन्तान भी काम-क्रीड़ा वाली तथा माता-पिता की आज्ञा को भंग करने वाली, अनाचारी, कपटी, क्रोधी उत्पन्न होगी। वह संतान शास्त्रों का उल्लङ्घन करके धर्म-कर्म का आचरण कदापि न करेगी, ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं।

अपनी तथा देश की रक्षा करनी हो तो इन तिथियों में कदापि स्त्री-पुरुष समागम न करें। हे शिष्य! और भी सुनो। जो स्त्री-पुरुष दिन में क्रीड़ा अर्थात् समागम करते हैं, मानो वह अपने प्राणों को ही नष्ट करते हैं। दिन के गर्भ का बच्चा भी थोड़ी आयु वाला तथा रोगग्रस्त होता है। स्त्री-पुरुषों का समागम जो पहिली या पश्चात् की रात्रि में होगा तो उस गर्भ से उनकी सन्तान अनाचारी, धूर्त, पाखण्डी, धर्मभ्रष्ट, मर्यादा को तोड़ने वाली उत्पन्न होगी। अब आगे शास्त्र-मर्यादा की सन्तान भी सुनो। स्त्री में अग्निदेव की भावना करके दान दिया हुआ वीर्य वेद का वक्ता, धर्मज्ञ, आस्तिक, देश-जाति-कुल की मर्यादा की रक्षा करने वाला पुत्र बनकर जन्मता है। वह समस्त शुभ-गुणों से सम्पन्न भी होता है, यहाँ तक कि वह ब्रह्मलोक तक जाने में समर्थ होता है और अपने माता-पिता को भी अपने शुभ-कर्मों द्वारा स्वर्गलोक में पहुंचाने के लिए समर्थ होता है। मनुष्यों में कीर्तिमान भी होता है। इस कारण से ऐसे वीर्यरूपी धन को वृथा कभी नष्ट नहीं करना चाहिए।

जो मनुष्य देश, काल तथा विधि का विचार न करते हुए भोग परायण होता है, उसके पुण्य; दान, तप, व्रत, बल, तेज, धैर्य आदि सबके सब स्त्री ले लेती है और अपनी कायरता, चपलता, अविवेक, मोह, लज्जा, शृङ्गार, डरपोकपना, मिथ्या बकवादपना आदि उसको दे देती है। ऐसे पुरुष मरकर वृक्ष, पाषाण, कांटेदार वृक्ष तथा चाण्डाल आदि योनियों को प्राप्त होते हैं। फिर भोग भोगने को स्पष्ट इन्द्रियाँ भी नहीं मिलतीं क्योंकि अपने पुण्य, बल तथा विवेक आदि सब की सब इन्द्रियाँ इसने स्त्री को सौंप दिये हैं किंवा शास्त्र मर्यादा भंग करके कामवश क्रीड़ा करने से स्त्री ने छीन लिए हैं। फिर खाली का खाली हो गया है।

शिष्य—हे गुरु! जो स्त्री-पुरुष शास्त्र-मर्यादा द्वारा समागम करते हैं, उस गर्भस्थ सन्तान से माता के विचार कैसे होने लगते हैं?

गुरु—हे शिष्य! यह भी सुनो—शुद्धगर्भ से बच्चे की माता को शुभ-इच्छायें उत्पन्न होने लग पड़ती हैं। माता को राजा तथा ईश्वर के दर्शन की इच्छा होती है। कहीं देवताओं के पूजन की इच्छा, कहीं व्रत करने की इच्छा, कहीं दान की, कहीं भगवान् की कथा आदि में रुचि होने लग पड़ती है। ऐसी इच्छा वाली गर्भवती माता परम सौभाग्यशाली और धनवान् पुत्र को उत्पन्न करती है। यदि वह देवमूर्ति के दर्शन की इच्छा करे तो समझ लो कि उसके गर्भ से श्रेष्ठ भगवत्-भक्त उत्पन्न होगा। जो गर्भवती माता सर्प, हिंसक जीवों के दर्शन करने की इच्छा करती हो तो उसके गर्भ में हिंसक, चोर, ज्वारी, कुचाली, व्यभिचारी स्वभाव वाला बालक उत्पन्न होगा। यदि गर्भवती माता सिनेमा, नाच, तमाशे देखने की इच्छा करे तो समझ लो कि बालक वेद, शास्त्र, कुल, जाति की मर्यादा को उल्लङ्घन करने वाला उत्पन्न होगा।

स्त्री-पुरुष को चाहिये कि शुभ-लक्षणों वाली सन्तान उत्पन्न करें। घरों में महात्माओं और अवतारों के चित्र लगावें। बुद्धिमान, बलवान, धर्मात्माओं के चित्र लगाकर दोनों स्त्री-पुरुष उनका ध्यान करते हुए अर्धरात्रि में गर्भाधान संस्कार करें। कुछ काल पहिले से ही शुद्ध, सात्विक आहार करें। अन्न की ब्रह्मरूप से तथा स्त्री की अग्निरूप से उपासना समाप्त करते हुए अब आगे भविष्य गुरु की वाणी का कथन करते हैं।

जो पुरुष भोग-विलासता में पड़े हुये स्त्रियों जैसा शृङ्गार करते-कराते हैं, वह सबके-सब नीच गति को प्राप्त होंगे। इसलिए, हे शिष्य! तुम कहीं स्त्रियों के समान स्वभाव नहीं बनाना, नहीं तो वृक्ष, गधा, घोड़ा, आदि मूढ़ योनियों के जेलखाने में ठोक दिये जाओगे। कलिकाल में धार्मिक शिक्षा के अभाव से बहुत से पुरुष स्त्रियों जैसा स्वभाव बनाने लग जायेंगे। जैसे मुँह की मूछें मुँड़ाना, शीशादि को सामने रखकर मुख को बार-बार देखना, तामसी पदार्थों अर्थात् तैल, खटाई, मिर्च, प्याज, अण्डे, लहसुन का सेवन करना। इन सब लक्षणों से जाना जाता है कि ऐसे आचरण करने वाले पुरुष भविष्यय में मूढ़ योनियों को प्राप्त होंगे। हे शिष्य! तुम अपना स्वभाव पुरुष का ही रखना अर्थात् धैर्य, सन्तोष, विचार के द्वारा स्वाध्याय और सत्सङ्ग के साधनों से काम, क्रोध, लोभ, मोह की वृत्तियों को पराजित करते रहना। इनके वशवर्ती न होना।

यह सम्पूर्ण उपदेश वेद भगवान् ने तुम्हारे जानने के लिए अनेक युक्तियों के द्वारा किया है। अब तुम जाग्रत होकर अपने महत्व की तरफ देखो। तुम अज्ञानरूपी निद्रा में अनादिकाल से सो रहे थे। उस निद्रा के वशवर्ती होकर स्वयं को सुखी, दुःखी, दीन, हीन, जीव मानते तथा कर्त्ता-भरता, जन्म-मरण वाला जानते थे। परन्तु वास्तविक स्वरूप जो तुम्हारा पहिले था, वही अब भी है। तू स्वतः सिद्ध है और सब प्रकाशों का प्रकाश, अद्वैत, चैतन्य, आनन्दघन स्वरूप है। तू माया का कार्य पाँच भौतिक शरीर नहीं है। इस शरीर अभिमान को त्याग और सुखी हो। असंग रूपी शस्त्र अर्थात् विवेक, वैराग्य से इस मिथ्या अहंकार को काट डाल। किसी का भय मत कर और निर्भयता से संसार में विचर। हे शिष्य! बता, अब क्या चाहता है? क्या इच्छा है? कोई शङ्का है? यदि है तो उसको भी निवारण कर ले क्योंकि हम भी अब जाते हैं। हम तो तुमको समझाने के लिए यहाँ आये थे।

शिष्य—हे गुरु! कोई शङ्का नहीं। आपकी कृपा से मैं अपने चैतन्य, अद्वैत, एकरस, आनन्द स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ। मैं एक से अनेक हूँ और अनेक से एक भी मैं ही हूँ। वास्तव में मैं शुद्ध हूँ। अभय, अक्रिय, अविनाशी हूँ। कूटस्थ, साक्षी, भूमा आदि सब-के-सब मुझ आत्मा के ही नाम हैं। हे गुरु महाराज! आपकी कृपा से अब कृतकृत्य हुआ हूँ। गुरु की ठोकर लगी, मैं जग गया। मेरा स्वप्न भंग हो गया। मैं धन्य हूँ! मैं धन्य हूँ!! मेरी शान्ति की उपमा कहीं नहीं मिलती। अहो आनन्द! अहो आनन्द!! अहो आनन्द!!!

जो पुरुष इस भाषा के ग्रन्थ का तात्पर्य समझ कर, साधन-सम्पन्न होकर स्वाध्याय करेगा, वह पुरुष जीवनमुक्त होकर प्रारब्ध पर्यन्त जल में पद्म-पत्र की तरह संसार में असङ्ग होकर विचरेगा और अन्त में विदेह मुक्ति को प्राप्त होगा।

॥ इति ओंकार की ब्रह्मरूप से उपासना नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।